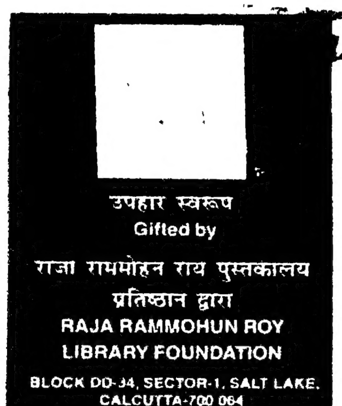


प्रेमचंद रचनावली

13

प्रेमचंद रचनावली

13



कहानियां : 1924-1927

प्रेमचंद रचनावली

खण्ड : तेरह

भूमिका एवं मार्गदर्शन

डॉ० रामविलास शर्मा





प्रकाशकीय

'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन **जनवाणी** के लिए गौरव की बात है। कॉपीराइट समाप्त होने के बाद प्रेमचंद साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित-प्रचारित हुआ। पर उनका सम्पूर्ण साहित्य अब तक कहीं भी एक जगह उपलब्ध नहीं था। लगातार यह जरूरत महसूस की जा रही थी कि उनके सम्पूर्ण साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन हो।

श्रेष्ठ और कालजयी साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। इसी आलोक में **'प्रेमचंद रचनावली'** की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख बहुत आवश्यक है। इस रचनावली में पहली बार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक मूल पाठ के साथ सामने आया है। सम्पूर्ण रचनाओं का विभाजन पहले विधावार तत्पश्चात् कालक्रमानुसार किया गया है। रचनाओं के प्रथम प्रकाशन एवं उनके कालक्रम संबंधी प्रामाणिक जानकारी प्रत्येक रचना के अन्त में दी गई है जिससे प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और मूल्यांकन में विशेष सुविधा होगी। इसकी अधिकांश सामग्री प्रथम संस्करणों या काफी पुराने संस्करणों से ली गई है। प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के लिए इस रचनावली का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रेमचंद की अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण तथा अद्यतन सामग्री का समावेश कर लिया गया है। रचनावली के बीस खण्डों का क्रमबद्ध प्रारूप इस प्रकार है—

> **खण्ड 1-6 :** मौलिक उपन्यास, **खण्ड 7-9 :** लेख, भाषण, संस्मरण, संपादकीय, भूमिकाएं समीक्षाएं; **खण्ड 10 :** मौलिक नाटक, **खण्ड 11-15:** सम्पूर्ण कहानियां (302); **खण्ड 16-17 :** अनुवाद (उपन्यास, नाटक, कहानी); **खण्ड 18 :** जीवनी एवं बाल साहित्य; **खण्ड 19 :** पत्र (चिट्ठी-पत्री); **खण्ड 20 :** विविध।

रचनावली की विस्तृत भूमिका मूर्धन्य आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा ने लिखी है, जो इस रचनावली की सबसे बड़ी उपलब्धि है। डॉ॰ शर्मा ने अपनी साहित्य-साधना के व्यस्त क्षणों में भी हर कदम पर हमारा मार्गदर्शन किया। रचनावली का जो यह उत्कृष्ट रूप सामने आया है यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है। इस कृपा और सहयोग के लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं।

बिहार विधान परिषद् के माननीय सभापति, हिन्दी और उर्दू के वरिष्ठ साहित्यकार प्रो॰ जाबिर हुसेन ने प्रेमचंद रचनावली के संपादक-मण्डल का अध्यक्ष होना स्वीकार किया और रचनावली के संपादन कार्य में हमारा उचित मार्गदर्शन किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही संपादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

श्री केशवदेव शर्मा ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद सम्पादन कार्य में जिस गहरी लगन, समझदारी और आत्मीयता से सहयोग किया है उसके लिए उनके प्रति अनेकशः धन्यवाद। उनका अहर्निश सानिध्य मुझे स्फूर्ति प्रदान करता रहा। डॉ॰ गीता शर्मा एवं डॉ॰ अशोक कुमार शर्मा, वेद प्रकाश सोनी तथा डॉ॰ विनय के प्रति भी उनके हार्दिक सहयोग के लिए आभारी हूं।

भाई राम आनंद साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही प्रेमचंद द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्थान **'सरस्वती प्रेस'** से जुड़ गए थे। लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने स्व॰ श्रीपत राय (प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र) के मार्गदर्शन में अप्राप्य प्रेमचंद साहित्य पर शोध कार्य किया। वे स्व॰ श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने वाली विख्यात कथा-पत्रिका **'कहानी'** के सहायक संपादक रहे। श्रीपत राय के देहांत के बाद उन्होंने **'कहानी'** का स्वतंत्र रूप से संपादन किया और उसे नया रूप तथा गरिमा प्रदान की। उन्होंने जिस गहरी सूझ-बूझ, लगन, धैर्य और निष्ठा से इस रचनावली के संपादन कार्य को इतने सुरुचिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से संपन्न किया, इसके लिए वे हम सबों के साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हरीशचन्द्र वार्ष्णेय, श्री प्रेमशंकर शर्मा, श्री उदयकान्त पाठक ने प्रूफ-संशोधन और सम्पूर्ण मुद्रण कार्य में विशेष जागरूकता और मनस्विता का परिचय दिया; इनके साथ विमलसिंह, आर॰ के॰ यादव, सुनील जैन, शिवानंदसिंह तथा संस्था के अन्य सभी सहकर्मियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं क्योंकि इन सबके सहयोग और सद्भाव के बिना यह काम पूरा होना लगभग असंभव था।

मेरी भ्रातृजा रीमा और भ्रातृज संदीप, संजीव, मनीष, विक्रांत, चेतन की लगन और सूझबूझ ने भी मुझे सदैव प्रेरित और उत्साहित किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

रचनावली के मुद्रण का कार्य श्री कान्तीप्रसाद शर्मा की देखरेख में हुआ है। उनकी सूझबूझ और श्रमनिष्ठा के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वश्री विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', रामकुमार कृपक, स्वामी प्रेम जहीर, डॉ॰ कुसुम वियोगी, रामकुमार शर्मा आदि सभी मित्रों के सुझावों के लिए भी आभारी हूं।

इस कार्य में पूज्य माताजी श्रीमती जसवन्ती देवी का आशीर्वाद और पिताश्री प्रेमनाथ शर्मा का दीर्घकालीन प्रकाशन-व्यवसाय का अनुभव और आशीर्वाद मेरे विशेष प्रेरणा स्रोत रहे। इनके साथ मातृतुल्या भाभी श्रीमती ललिता शर्मा, अग्रज राजकुमार शर्मा, चमनलाल शर्मा, धर्मपाल शर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी इन्दु शर्मा के साथ भाई हरीशकुमार शर्मा एवं सुभाषचन्द्र शर्मा के साथ ही चाचा श्री दीनानाथ शर्मा का भी आभारी हूं जिन्होंने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। और सबसे अंत में सहधर्मिणी श्रीमती गीता शर्मा ने जो सहयोग और संबल प्रदान किया उसके लिए आभार अथवा धन्यवाद जैसा शब्द बहुत कम होगा। सारा श्रेय उन्हीं का है।

नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता के सहयोग से दुर्लभ पुस्तक 'महात्मा शेखसादी' लगभग सत्तर वर्ष बाद एक बार फिर इस रचनावली के मार्फत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। मैं नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। उन समस्त संस्थानों, पुस्तकालयों, विभागों, संस्थाओं, लेखकों, संपादकों, अधिकारियों और व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने इस रचनावली के आयोजन में सहयोग किया।

अन्त में विद्वान पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस रचनावली की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें ताकि आगामी संस्करणों में उन्हें दूर किया जा सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस बहु-प्रतीक्षित रचनावली का हार्दिक स्वागत करेगा।

अरुण कुमार

(प्रबंध निदेशक)



प्रेमचंद और शिवरानी देवी, सद्गृहस्थ



स्वर्गीय प्रेमचंद और श्री जनार्दन प्रमाद झा 'द्विज'

कथाक्रम

सैलानी बंदर

जीवनदास नाम का एक गरीब मदारी अपने बंदर मन्नू को नचाकर अपनी जीविका चलाया करता था। वह और उसकी स्त्री बुधिया दोनों ही मन्नू को बहुत प्यार करते थे। उनके कोई संतान न थी, मन्नू ही उनके स्नेह और प्रेम का पात्र था। दोनों उसे अपने साथ खाना खिलाते और अपने साथ सुलाते थे। उनकी दृष्टि में मन्नू से अधिक प्रिय कोई वस्तु न थी। जीवनदास उसके लिए एक गेंद लाया था। मन्नू आंगन में गेंद खेला करता था। उसके भोजन करने को एक मिट्टी का प्याला था, ओढ़ने को कंबल का एक टुकड़ा, सोने को एक बोरिया और उचकने के लिए छप्पर में एक रस्सी। मन्नू इन वस्तुओं पर जान देता था। जब तक उसके प्याले में कोई चीज न रख दी जाए वह भोजन न करता था। अपना टाट और कंबल का टुकड़ा उसे शाल और गद्दे से भी प्यारा था। उसके दिन बड़े सुख से बीतते थे। वह प्रातःकाल रोटियां खाकर मदारी के साथ तमाशा करने जाता था। वह नकलें करने में इतना निपुण था कि दर्शकवृंद तमाशा देखकर मुग्ध हो जाते थे। लकड़ी हाथ में लेकर वृद्धों की भांति चलता, आसन मारकर पूजा करता, तिलक-मुद्रा लगाता, फिर पोथी बगल में दबाकर पाठ करने चलता। ढोल बजाकर गाने की नकल इतनी मनोहर थी कि दर्शक लोग लोट-पोट हो जाते थे। तमाशा खत्म हो जाने पर वह सबको सलाम करता था, लोगों के पैर पकड़कर पैसे वसूल करता था। मन्नू का कटोरा पैसों से भर जाता था। इसके उपरांत कोई मन्नू को एक अमरूद खिला देता, कोई उसके सामने मिठाई फेंक देता। लड़कों का तो उसे देखने से जी ही न भरता था। वे अपने-अपने घर से दौड़-दौड़कर रोटियां लाते और उसे खिलाते थे। मुहल्ले के लोगों के लिए भी मन्नू मनोरंजन की सामग्री था। जब वह घर पर रहता तो एक-न-एक आदमी आकर उससे खेलता रहता। खोंचे वाले फेरी करते हुए उसे कुछ-न-कुछ दे देते थे। जो बिना दिए निकल जाने की चेष्टा करता उससे भी मन्नू पैर पकड़कर वसूल कर लिया करता था, क्योंकि घर पर वह खुला रहता था। मन्नू को अगर चिढ़ थी तो कुत्तों से। उसके मारे उधर से कोई कुत्ता न निकलने पाता था और यदि कोई आ जाता, तो मन्नू उसे अवश्य ही दो-चार कनेठियां और झापड़ लगाता था। उसके सर्वप्रिय होने का यह एक और कारण था। दिन को कभी-कभी बुधिया धूप में लेट जाती, तो मन्नू उसके सिर की जुएं निकालता और वह उसे गाना सुनाती। वह जहां कहीं जाती थी वहां मन्नू उसके पीछे-पीछे जाता था। माता और पुत्र में भी इससे अधिक प्रेम न हो सकता था।

2

एक दिन मन्नू के जी में आया कि चलकर कहीं फल खाना चाहिए। फल खाने को मिलते तो थे पर वृक्षों पर चढ़कर डालियों पर उचकने, कुछ खाने और कुछ गिराने में कुछ और ही मजा था। बंदर विनोदशील होते ही हैं और मन्नू में इसकी मात्रा कुछ अधिक थी भी। कभी पकड़-धकड़ और मारपीट की नौबत न आई थी। पेड़ों पर चढ़कर फल खाना उसको स्वाभाविक जान पड़ता था। यह न जानता था कि वहां प्राकृतिक वस्तुओं पर भी किसी-न-किसी की छाप लगी हुई है, जल, वायु और प्रकाश पर भी लोगों ने अधिकार जमा रखा है, फिर बाग-बगीचों का तो कहना ही क्या। दोपहर को जब जीवनदास तमाशा दिखाकर लौटा, तो मन्नू लंबा हुआ। वह यों भी मुहल्ले में चला जाया करता था, इसलिए किसी को संदेह न हुआ कि वह कहीं चला गया। उधर वह घूमता-घामता, खपरैलों पर उछलता-कूदता एक बगीचे में जा पहुंचा। देखा तो फलों से पेड़ लदे हुए हैं। आंवले, कटहल, लीची, आम, पपीते वगैरह लटकते देखकर उसका चित्त प्रसन्न हो गया। मानो वे वृक्ष उसे अपनी ओर बुला रहे थे कि खाओ, जहां तक खाया जाए, यहां किसी की रोक-टोक नहीं है। तुरंत एक छलांग मारकर वह चहारदीवारी पर चढ़ गया। दूसरी छलांग में पेड़ों पर जा पहुंचा। कुछ आम खाए, कुछ लीचियां खाईं। खुश हो-होकर गुठलियां इधर-उधर फेंकना शुरू किया। फिर सबसे ऊंची डाल पर जा पहुंचा और डालियों को हिलाने लगा। पके आम जमीन पर बिछ गए। खड़खड़ाहट हुई तो माली दोपहर की नींद से चौंका और मन्नू को देखते ही उसे पत्थरों से मारने लगा। पर या तो पत्थर उसके पास तक पहुंचते ही न थे या वह सिर और शरीर हिलाकर पत्थरों को बचा जाता था। बीच-बीच में बागवान को दांत निकालकर डराता भी था। कभी मुह बनाकर उसे काटने की धमकी भी देता था। माली बंदर-घुड़कियों से डरकर भागता था और फिर पत्थर लेकर आ जाता था। यह कौतुक देखकर मुहल्ले के बालक जमा हो गए और शोर मचाने लगे--

ओ बंदरवा लोलयाय, बाल उखाड़ूं टोयटाय।
ओ बंदर तेरा मुंह है लाल, पिचके-चिपके तेरे गाल।
मर गई नानी बंदर की,
टूटी टांग मुछंदर की।

मन्नू को इस शोर-गुल में बड़ा आनन्द आ रहा था। वह आधे फल खा-खाकर नीचे गिराता था और लड़के लपक-लपककर चुन लेते और तालियां बजा-बजाकर कहते थे--

बंदर मामू और,
कहां तुम्हारा ठौर।

माली ने जब देखा कि यह विप्लव शांत होने नहीं आता, तो जाकर अपने स्वामी को खबर दी। वह हज़रत पुलिस विभाग के कर्मचारी थे। सुनते ही जामे से बाहर हो गए। बंदर की इतनी मजाल कि मेरे बगीचे में आकर ऊधम मचावे। बंगले का किराया मैं देता हूं, कुछ बंदर नहीं देता। यहां कितने ही असहयोगियों को लदवा दिया, अखबार वाले मेरे नाम से कांपते हैं, बंदर की क्या हस्ती है ! तुरंत बंदूक उठाई और बगीचे में आ पहुंचे। देखा मन्नू एक पेड़ को जोर-जोर से हिला रहा है। लाल हो गए और उसकी तरफ बंदूक तानी। बंदूक देखते ही मन्नू के होश उड़ गए। उस पर आज तक किसी ने बंदूक नहीं तानी थी। पर

उसने बंदूक की आवाज सुनी थी, चिड़ियों को मारे जाते देखा था और न देखा होता तो भी बंदूक से उसे स्वाभाविक भय होता। पशु-बुद्धि अपने शत्रुओं से स्वतः सशंक हो जाती है। मन्नू के पांव मानो सुन्न हो गए। वह उछलकर किसी दूसरे वृक्ष पर भी न जा सका। उसी डाल पर दबककर बैठ गया। साहब को उसकी यह कला पसंद आई, दया आ गई। माली को भेजा, जाकर बंदर को पकड़ ला। माली दिल में तो डरा, पर साहब के गुस्से को जानता था, चुपके से वृक्ष पर चढ़ गया और हजरत बंदर को एक रस्सी में बांध लाया। मन्नू को साहब के बरामदे में एक खम्भे से बांध दिया गया। उसकी स्वच्छंदता का अंत हो गया। संध्या तक वहीं पड़ा हुआ करुण स्वर में कूं-कूं करता रहा। सांझ हो गई तो एक नौकर उसके सामने एक मुट्ठी चने डाल गया। अब मन्नू को अपनी स्थिति के परिवर्तन का ज्ञान हुआ। न कंबल, न टाट, जमीन पर पड़ा बिसूर रहा था। चने उसने छुए भी नहीं। पछता रहा था कि कहां से कहां फल खाने निकला। मदारी का प्रेम याद आया। बेचारा मुझे खोजता-फिरता होगा। मदारिन प्याले में रोटी और दूध लिए मुझे मन्नू, मन्नू पुकार रही होगी। हा विपत्ति ! तूने मुझे कहां लाकर छोड़ा। रात-भर वह जागता और बार-बार खंभे के चक्कर लगाता रहा। साहब का कुत्ता टामी बार-बार डराता और भूंकता था। मन्नू को उस पर ऐसा क्रोध आता था कि पाऊं तो मारे चपतों के चौंधिया दूं, पर कुत्ता निकट न आता, दूर ही से गरजकर रह जाता था।

रात गुजरी, तो साहब ने आकर मन्नू को दो-तीन ठोकरे जमाई। सूअर ! रात-भर चिल्ला-चिल्लाकर नींद हराम कर दी। आंख तक न लगी ! बचा, आज भी तुमने गुल मचाया, तो गोली मार दूंगा। यह कहकर वह तो चले गए, अब नटखट लड़कों की बारी आई। कुछ घर के और कुछ बाहर के लड़के जमा हो गए। कोई मन्नू को मुंह चिढ़ाता, कोई उस पर पत्थर फेंकता और कोई उसको मिठाई दिखाकर ललचाता था। कोई उसका रक्षक न था, किसी को उस पर दया न आती थी। आत्मरक्षा की जितनी क्रियाए उसे मालूम थीं, सब करके हार गया। प्रणाम किया, पूजा-पाठ किया लेकिन इसका उपहार यही मिला कि लड़कों ने उसे और भी दिक करना शुरू किया। आज किसी ने उसके सामने चने भी न डाले। और यदि डाले भी होते तो वह खा न सकता। शोक ने भोजन की इच्छा न रक्खी थी।

संध्या समय मदारी पता लगाता हुआ साहब के घर पहुंचा। मन्नू उसे देखते ही ऐसा अधीर हुआ, मानो जंजीर तोड़ डालेगा, खंभे को गिरा देगा। मदारी ने जाकर मन्नू को गले से लगा लिया और साहब से बोला–"हुजूर, भूल-चूक तो आदमी से भी हो जाती है, यह तो पशु है। मुझे चाहे जो सजा दीजिए पर इसे छोड़ दीजिए। सरकार, यही मेरी रोटियों का सहारा है। इसके बिना हम दो प्राणी भूखों मर जाएंगे। इसे हमने लड़के की तरह पाला है। जब से यह भागा है, मदारिन ने दाना-पानी छोड़ दिया है। इतनी दया कीजिए सरकार, आपका इकबाल सदा रोशन रहे, इससे भी बड़ा ओहदा मिले, कलम चाक हो, मुद्दई बेबाक हो। आप हैं सपूत, सदा रहें मजबूत। आपके बैरी को दाबे भूत।" मगर साहब ने दया का पाठ न पढ़ा। घुड़ककर बोले–"चुप रह पाजी, टें-टें करके दिमाग चाट गया। बचा, बंदर छोड़कर बाग का सत्यानाश करा डाला, अब खुशामद करने चले हो। जाकर देख तो, इसने कितने फल खराब कर दिए। अगर इसे ले जाना चाहता है तो दस रुपया लाकर मेरी नजर

कर नहीं तो चुपके से अपनी राह पकड़। यह या तो यहीं बंधे-बंधे मर जाएगा या कोई इतने दाम देकर इसे ले जाएगा।''

मदारी निराश होकर चला गया। दस रुपये कहां से लाता ? बुधिया से जाकर हाल कहा। बुधिया को अपनी तरस पैदा करने की शक्ति पर ज्यादा भरोसा था। बोली—''बस, देख ली तुम्हारी करतूत ! जाकर लाठी-सी मारी होगी। हाकिमों से बड़े दांव-पेच की बातें की जाती हैं, तब कहीं जाकर वे पसीजते हैं। चलो मेरे साथ, देखो छुड़ा लाती हूं कि नहीं।'' यह कहकर उसने मन्नू का सब सामान एक गठरी में बांधा और मदारी के साथ साहब के पास आई। मन्नू अब की इतने जोर से उछला कि खंभा हिल उठा। बुधिया ने कहा—''सरकार, हम आपके द्वार पर भीख मांगने आए हैं, यह बंदर हमको दान दे दीजिए।''

साहब—हम दान देना पाप समझते हैं।

मदारिन—हम देस-देस घूमते हैं। आपका जस गावेंगे।

साहब—हमें जस की चाह या परवाह नहीं है।

मदारिन—भगवान् आपको इसका फल देंगे।

साहब—मैं नहीं जानता भगवान् कौन बला है।

मदारिन—महाराज, क्षमा की बड़ी महिमा है।

साहब—हमारे यहां सबसे बड़ी महिमा दंड की है।

मदारिन—हुजूर, आप हाकिम हैं। हाकिमों का काम है न्याय करना। फलों के पीछे दो आदमियों की जान न लीजिए। न्याय ही से हाकिम की बड़ाई होती है।

साहब—हमारी बड़ाई क्षमा और न्याय से नहीं है और न न्याय करना हमारा काम है, हमारा काम है मौज करना।

बुधिया की एक भी युक्ति इस अहंकार-मूर्ति के सामने न चली। अंत को निराश होकर वह बोली—हुजूर इतना हुक्म तो दे दें कि ये चीजें बंदर के पास रख दूं। इन पर यह जान देता है।

साहब—मेरे यहां यह कूड़ा-करकट रखने की जगह नहीं है।

आखिर बुधिया हताश होकर चली गई।

3

टामी ने देखा, मन्नू कुछ बोलता नहीं, तो शेर हो गया। भूंकता-भूंकता मन्नू के पास चला आया। मन्नू ने लपककर उसके दोनों कान पकड़ लिए और इतने तमाचे लगाये कि उसे छठी का दूध याद आ गया। उसकी चिल्लाहट सुनकर साहब कमरे से बाहर निकल आए और मन्नू के कई ठोकरें लगाई। नौकर को आज्ञा दी कि इस बदमाश को तीन दिन तक कुछ खाने को मत दो।

संयोग से उसी दिन एक सर्कस कंपनी का मैनेजर साहब से तमाशा करने की आज्ञा लेने आया। उसने मन्नू को बंधे, रोनी सूरत बनाए बैठे देखा, तो पास आकर उसे पुचकारा। मन्नू उछलकर उसकी टांगों से लिपट गया और उसे सलाम करने लगा। मैनेजर समझ गया कि यह पालतू जानवर है। उसे अपने तमाशे के लिए एक बंदर की जरूरत थी। साहब से बातचीत की, उसका उचित मूल्य दिया और अपने साथ ले गया। किंतु मन्नू को शीघ्र ही

विदित हो गया कि यहां मैं और भी बुरा फंसा। मैनेजर ने उसे बंदरों के रखवाले को सौंप दिया। रखवाला बड़ा निष्ठुर और क्रूर प्रकृति का प्राणी था। उसके अधीन और भी कई बंदर थे। सभी उसके हाथों कष्ट भोग रहे थे। वह उनके भोजन की सामग्री खुद खा जाता था। अन्य बंदरों ने मन्नू का सहर्ष स्वागत नहीं किया। उसके आने से उनमें बड़ा कोलाहल मचा। अगर रखवाले ने उसे अलग न कर दिया होता तो वे सब उसे नोचकर खा जाते। मन्नू को अब नई विद्या सीखनी पड़ी। पैरगाड़ी पर चढ़ना, दौड़ते घोड़े की पीठ पर दो टांगों से खड़े हो जाना, पतली रस्सी पर चलना इत्यादि बड़ी ही कष्टप्रद साधनाएं थीं। मन्नू को ये सब कौशल सीखने में बहुत मार खानी पड़ती। जरा भी चूकता तो पीठ पर डंडा पड़ जाता था। उससे अधिक कष्ट की बात यह थी कि उसे दिन-भर एक कठघरे में बंद रखा जाता था, जिससे कोई उसे देख न ले। मदारी के यहां भी उसे तमाशा ही दिखाना पड़ता था किंतु उस तमाशे और इस तमाशे में बड़ा अंतर था। कहां वे मदारी की मीठी-मीठी बातें, उसका दुलार और प्यार, कहां यह कारावास और डंडों की मार ! ये काम सीखने में उसे इसलिए और भी देर लगती थी कि वह अभी तक जीवनदास के पास भाग जाने के विचार को भूला न था। नित्य इसी ताक में रहता कि मौका पाऊं और निकल जाऊं। लेकिन वहां जानवरों पर बड़ी कड़ी निगाह रखी जाती थी। बाहर की हवा तक न मिलती थी, भागने की तो बात ही क्या ! काम लेने वाले सब थे, मगर भोजन की खबर लेने वाला कोई भी न था। साहब की कैद से तो मन्नू जल्द ही छूट गया था, लेकिन इस कैद में तीन महीने बीत गए। शरीर घुल गया, नित्य चिंता घेरे रहती थी, पर भागने का कोई ठीक-ठिकाना न था। जी चाहे या न चाहे, उसे काम अवश्य करना पड़ता था। स्वामी को पैसों से काम था, वह जिए चाहे मरे।

संयोगवश एक दिन सर्कस के पंडाल में आग लग गई। सर्कस के नौकर-चाकर सब जुआरी थे। दिन भर जुआ खेलते, शराब पीते और लड़ाई-झगडा करते थे। इन्हीं झंझटों में एकाएक गैस की नली फट गई। हाहाकार मच गया। दर्शक-वृंद जान लेकर भागे। कंपनी के कर्मचारी अपनी चीजें निकालने लगे। पशुओं की किसी को खबर न रही। सर्कस में बड़े-बड़े भयंकर जीव-जंतु तमाशा करते थे। दो शेर, कई चीते, एक हाथी, एक रीछ था। कुत्तों, घोड़ों तथा बंदरों की संख्या तो इससे कहीं अधिक थी। कंपनी धन कमाने के लिए अपने नौकरों की जान को कोई चीज नहीं समझती थी। वे सबके सब जीव इस समय तमाशे के लिए खोले गए थे। आग लगते ही वे चिल्ला-चिल्लाकर भागे। मन्नू भी भाग खड़ा हुआ। पीछे-फिरकर भी न देखा कि पंडाल जला या बचा।

मन्नू कूदता-फांदता सीधे उसी घर पहुंचा, जहां जीवनदास रहता था, लेकिन द्वार बंद था। खपरैल पर चढ़कर वह घर में घुस गया, मगर किसी आदमी का चिह्न नहीं मिला। वह स्थान, जहां वह सोता था और जिसे बुधिया गोबर से लीपकर साफ रखा करती थी, अब घास-पात से ढंका हुआ था। वह लकड़ी जिस पर चढ़कर वह कूदा करता था, दीमकों ने खा ली थी। मुहल्ले वाले उसे देखते ही पहचान गए। शोर मच गया—मन्नू आया, मन्नू आया।

मन्नू उस दिन से रोज संध्या के समय उसी घर में आ जाता और अपने पुराने स्थान पर लेट रहता। वह दिन-भर मुहल्ले में घूमा करता था, कोई कुछ दे देता, तो खा लेता था, मगर किसी की कोई चीज नहीं छूता था। उसे अब भी आशा थी कि मेरा स्वामी यहां मुझसे

अवश्य मिलेगा। रातों को उसके कराहने की करुण ध्वनि सुनाई देती थी। उसकी दीनता पर देखने वालों की आंखों से आंसू निकल पड़ते थे।

इस प्रकार कई महीने बीत गए। एक दिन मन्नू गली में बैठा हुआ था, इतने में लड़कों का शोर सुनाई दिया। उसने देखा, एक बुढ़िया नंगे सिर, नंगे बदन, एक चिथड़ा कमर में लपेटे, सिर के बाल छिटकाए, भुतनियों की तरह चली आ रही है, और कई लड़के उसके पीछे पत्थर फेंकते 'पगली नानी ! पगली नानी !!' की हांक लगाते, तालियां बजाते चले आ रहे हैं। वह रह-रहकर रुक जाती है और लड़कों से कहती है—"मैं पगली नहीं हूं, मुझे पगली क्यों कहते हो ?" आखिर बुढ़िया जमीन पर बैठ गई और बोली—"बताओ, मुझे पगली क्यों कहते हो ?" उसे लड़कों पर लेशमात्र भी क्रोध न आता था। वह न रोती थी, न हंसती थी। पत्थर लग भी जाते तो चुप हो जाती थी।

एक लड़के ने कहा—तू कपड़े क्यों नहीं पहनती ? तू पागल नहीं तो और क्या है ?

बुढ़िया—कपड़े जाड़े में सर्दी से बचने के लिए पहने जाते हैं। आजकल तो गर्मी है।

लड़का—तुझे शर्म नहीं आती ?

बुढिया—शर्म किसे कहते हैं बेटा, इतने साधू-संन्यासी नंगे रहते हैं, उनको पत्थर से क्यों नहीं मारते ?

लड़का—वे तो मर्द हैं।

बुढ़िया—क्या शर्म औरतों ही के लिए है, मर्दों को शर्म नहीं आनी चाहिए ?

लड़का—तुझे जो कोई जो कुछ दे देता है, उसे तू खा लेती है। तू पागल नहीं तो और क्या है ?

बुढ़िया—इसमें पागलपन की क्या बात है बेटा ? भूख लगती है, पेट भर लेती हूं।

लड़का—तुझे कुछ विचार नहीं है। किसी के हाथ की चीज खाते घिन नहीं आती ?

बुढ़िया—घिन किसे कहते हैं बेटा, मैं भूल गई।

लड़का—सभी को घिन आती है, क्या बता दूं, घिन किसे कहते हैं ?

दूसरा लड़का—तू पैसे क्यों हाथ से फेंक देती है ? कोई कपड़े देता है तो क्यों छोड़कर चल देती है ? पगली नहीं तो और क्या है ?

बुढ़िया—पैसे, कपड़े लेकर क्या करूं बेटा ?

लड़का—और लोग क्या करते हैं ? पैसे-रुपये का लालच सभी को होता है।

बुढ़िया—लालच किसे कहते हैं बेटा, मैं भूल गई।

लड़का—इसी से तो तुझे पगली नानी कहते हैं। तुझे न लोभ है, न घिन है, न विचार है, न लाज है। ऐसों ही को पागल कहते हैं।

बुढ़िया—तो यही कहो, मैं पगली हूं।

लड़का—तुझे क्रोध क्यों नहीं आता ?

बुढ़िया—क्या जाने बेटा ! मुझे तो क्रोध नहीं आता। क्या किसी को क्रोध भी आता है ? मैं तो भूल गई।

कई लड़कों ने इस पर 'पगली, पगली' का शोर मचाया और बुढ़िया उसी तरह शांत भाव से आगे चली। जब वह निकट आई तो मन्नू उसे पहचान गया। यह तो मेरी बुधिया

है। वह दौड़कर उसके पैरों से लिपट गया। बुढ़िया ने चौंककर मन्नू को देखा, पहचान गई। उसने उसे छाती से लगा लिया।

4

मन्नू को गोद में लेते ही बुधिया को अनुभव हुआ कि मैं नग्न हूं। मारे शर्म के वह खड़ी न रह सकी। बैठकर एक लड़के से बोली—बेटा, मुझे कुछ पहनने को दोगे ?

लड़का—तुझे तो लाज ही नहीं आती न ?

बुढ़िया—नहीं बेटा, अब तो आ रही है। मुझे न जाने क्या हो गया था।

लड़कों ने फिर 'पगली, पगली' का शोर मचाया तो उसने पत्थर फेंककर लड़कों को मारना शुरू किया। उनके पीछे दौड़ी।

एक लड़के ने पूछा—अभी तो तुझे क्रोध नहीं आता था। अब क्यों आ रहा है?

बुढ़िया—क्या जानें क्यों अब क्रोध आ रहा है। फिर किसी ने पगली कहा तो बंदर से कटवा दूंगी।

एक लडका दौड़कर एक फटा हुआ कपड़ा ले आया। बुढ़िया ने वह कपड़ा पहन लि[illegible] [illegible] समेट लिए। उसके मुख पर जो एक अमानुषी आभा थी, उसकी जगह चिंता का पीलापन दिखाई देने लगा। वह रो-रोकर मन्नू से कहने लगी—बेटा, तुम कहां चले गए थे। इतने दिन हो गए, हमारी सुध न ली। तुम्हारा मदारी तुम्हारे ही वियोग में परलोक सिधारा, मैं भिक्षा मांगकर अपना पेट पालने लगी, घर-द्वार तहस-नहस हो गया। तुम थे तो खाने की, पहनने की, गहने की, घर की इच्छा थ[illegible], तुम्हारे जाते ही सब इच्छाएं लुप्त हो गई। अकेली भूख तो सताती थी, पर संसार में और किसी बात की चिंता न थी। तुम्हारा मदारी मरा, पर मेरी आंखों में आंसू न आए। वह खाट पर पड़ा कराहता था और मेरा कलेजा ऐसा पत्थर हो गया था कि उसकी दवा-दारू की कौन कहे, उसके पास खड़ी तक न होती थी। सोचती थी—यह मेरा कौन है ? अब आज से सब बातें और [illegible]नी वह दशा याद आती है, तो यही कहना पड़ता है कि मैं सचमुच पगली हो गई थी, और [illegible]कों का मुझे पगली नानी कहकर चिढ़ाना ठीक ही था।

यह कहकर बुधिया मन्नू को लिए हुए शहर के बाहर एक बाग में गई, जहां वह एक पेड़ के नीचे रहती थी। वहां थोड़ी-सी पुआल बिछी हुई थी। इसके सिवा मनुष्य के बसेरे का और कोई चिह्न न था।

आज से मन्नू बुधिया के पास रहने लगा। वह सवेरे घर से निकल जाता और नकलें करके, भीख मांगकर बुधिया के खाने भर को नाज या रोटियां ले आता था। पुत्र भी अगर होता तो वह इतने प्रेम से माता की सेवा न करता। उसकी नकलों से खुश होकर लोग उसे पैसे भी देते थे। उन पैसों से बुधिया खाने की चीजें बाजार से लाती [illegible]ी।

लोग बुधिया के प्रति बंदर का यह प्र[illegible] देखकर चकित हो जाते और कहते थे कि यह बंदर नहीं, कोई देवता है।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' में, फरवरी, 1924 में प्रकाशित। केवल हिन्दी में प्रकाशित। 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित।]

नबी का नीति-निर्वाह

हजरत मुहम्मद को इलहाम हुए थोड़े ही दिन हुए थे, दस-पांच पड़ोसियों और निकट-संबंधियों के सिवा अभी और कोई उनके दीन पर ईमान न लाया था। यहां तक कि उनकी लड़की जैनब और दामाद अबुलआस भी, जिनका विवाह इलहाम के पहले ही हो चुका था, अभी तक नए धर्म में दीक्षित न हुए थे। जैनब कई बार अपने मैके गई थी और अपने पिता के ज्ञानोपदेश सुने थे। वह दिल से इस्लाम पर श्रद्धा रखती थी, लेकिन अबुलआस के कारण दीक्षा लेने का साहस न कर सकती थी। अबुलआस विचार-स्वातंत्र्य का समर्थक था। वह कुशल व्यापारी था। मक्के से खजूर, मेवे आदि जिंसें लेकर बंदरगाहों को चालान किया करता था। बहुत ही ईमानदार, लेन-देन का खरा, श्रमशील मनुष्य था, जिसे इहलोक से इतनी फुर्सत न मिलती थी कि परलोक की चिंता करे। जैनब के सामने कठिन समस्या थी. आत्मा धर्म की ओर थी, हदय पति की ओर, न धर्म को छोड़ सकती, न पति को। घर के अन्य प्राणी मूर्तिपूजक थे और इस नए संप्रदाय के शत्रु। जैनब अपनी लगन को छुपाती रहती, यहां तक कि पति से भी अपनी व्यथा न कह सकती। वे धार्मिक सहिष्णुता के दिन न थे। बात-बात पर खून की नदियां बहती थीं। खानदान के खानदान मिट जाते थे। अरब की अलौकिक वीरता पारस्परिक कलहों में व्यक्त होती थी। राजनैतिक संगठन का नाम न था। खून का बदला खून, धनहानि का बदला खून, अपमान का बदला खून--मानव-रक्त ही से सभी झगड़ों का निबटारा होता था। ऐसी अवस्था में अपने धर्मानुराग को प्रगट करना अबुलआस के शक्तिशाली परिवार को मुहम्मद और उनके गिने-गिनाए अनुयायियों से टकराना था। उधर प्रेम का बंधन पैरों को जकड़े हुए था। नए धर्म में प्रविष्ट होना अपने प्राण-प्रिय पति से सदा के लिए बिछुड़ जाना था। कुरेश जाति में लोग ऐसे विवाहों को परिवार के लिए कलंक समझते थे। माया और धर्म की दुविधा में पड़ी हुई जैनब कुढ़ती रहती थी।

2

धर्म का अनुराग एक दुर्लभ वस्तु है, किंतु जब उसका वेग उठता है तब बड़े प्रचंड रूप से उठता है। दोपहर का समय था। धूप इतनी तेज थी कि उसकी ओर ताकते हुए आंखों से चिनगारियां निकलती थीं। हजरत मुहम्मद अपने मकान में चिंता-मग्न बैठे हुए थे। निराशा चारों ओर अंधकार के रूप में दिखाई देती थी। खुदैजा भी पास ही बैठी हुई एक फटा कुर्ता सी रही थी। धन-संपत्ति सब कुछ इस लगन के भेंट हो चुकी थी। विधर्मियों का दुराग्रह दिनोंदिन बढ़ता जाता था। इस्लाम के अनुयायियों को भांति-भांति की यातनाएं दी जा रही थीं। स्वयं हजरत को घर से निकलना मुश्किल था। खौफ होता था कि कहीं लोग उन पर ईट-पत्थर न फेंकने लगें। खबर आती थी कि आज अमुक मुसलमान का घर लूटा गया, आज फलां को लोगों ने आहत किया। हजरत ये खबरें सुन-सुनकर विकल हो जाते थे और बार-बार खुदा से धैर्य और क्षमा की याचना करते थे।

हजरत ने फरमाया--मुझे ये लोग अब यहां न रहने देंगे। मैं खुद सब कुछ झेल सकता हूं पर अपने दोस्तों की तकलीफ नहीं देखी जाती।

खुदैजा—हमारे चले जाने से तो इन बेचारों को और भी कोई शरण न रहेगी। अभी कम-से-कम आपके पास आकर रो तो लेते हैं। मुसीबत में रोने का सहारा कम नहीं होता।

हजरत—तो मैं अकेले थोड़े ही जाना चाहता हूं। मैं अपने सब दोस्तों को साथ लेकर जाने का इरादा रखता हूं। अभी हम लोग यहां बिखरे हुए हैं। कोई किसी की मदद को नहीं पहुंच सकता। हम सब एक ही जगह एक कुटुंब की तरह रहेंगे तो किसी को हमारे ऊपर हमला करने की हिम्मत न होगी। हम अपनी मिली हुई शक्ति से बालू का ढेर तो हो ही सकते हैं जिस पर चढ़ने का किसी को साहस न होगा।

सहसा जैनब घर में दाखिल हुई। उसके साथ न कोई आदमी था न कोई आदमजाद, ऐसा मालूम होता था कि कहीं से भगी चली आ रही है। खुदैजा ने उसे गले लगाकर कहा—क्या हुआ जैनब, खैरियत तो है ?

जैनब ने अपने अंतर्द्वंद्व की कथा सुनाई और पिता से दीक्षा की प्रार्थना की। हजरत मुहम्मद आंखों में आंसू भरकर बोले—जैनब, मेरे लिए इससे ज्यादा खुशी की और कोई बात नहीं हो सकती। लेकिन डरता हूं कि तुम्हारा क्या हाल होगा।

जैनब—या हजरत, मैंने खुदा की राह में सब कुछ त्याग देने का निश्चय किया है। दुनिया के लिए अपनी आकबत को नहीं खोना चाहती।

हजरत—जैनब, खुदा की राह में कांटे हैं।

जैनब—लगन को कांटों की परवा नहीं होती।

हजरत—ससुराल से नाता टूट जाएगा।

जैनब—खुदा से तो नाता जुड़ जाएगा।

हजरत—और अबुलआस ?

जैनब की आंखों में आंसू डबडबा आए। कातर स्वर में बोली—अब्बाजान, इसी बेड़ी ने इतने दिनों मुझे बांध रक्खा था, नहीं तो मैं कब की आपकी शरण में आ चुकी होती। मैं जानती हूं उनसे जुदा होकर जीती न रहूंगी और शायद उनको भी मेरा वियोग दुस्सह्य होगा, पर मुझे विश्वास है कि एक दिन जरूर आएगा जब वे खुदा पर ईमान लाएंगे और मुझे फिर उनकी सेवा का अवसर मिलेगा।

हजरत—बेटी, अबुलआस ईमानदार है, दयाशील है, सत्यवक्ता है, किंतु उसका अहंकार शायद अंत तक उसे ईश्वर से विमुख रखे। वह तकदीर को नहीं मानता, आत्मा को नहीं मानता, स्वर्ग और नरक को नहीं मानता। कहता है, 'सृष्टि-संचालन के लिए खुदा की जरूरत ही क्या है ? हम उससे क्यों डरें ? विवेक और बुद्धि की हिदायत हमारे लिए काफी है।' ऐसा आदमी खुदा पर ईमान नहीं ला सकता। अधर्म को जीतना आसान है, पर जब वह दर्शन का रूप धारण कर लेता है तो अजेय हो जाता है।

जैनब ने निश्चयात्मक भाव से कहा—हजरत, आत्मा का उपकार जिसमें हो मुझे वही चाहिए। मैं किसी इन्सान को अपने और खुदा के बीच में न रहने दूंगी।

हजरत—खुदा तुझ पर दया करे बेटी ! तेरी बातों ने दिल खुश कर दिया। यह कहकर उन्होंने जैनब को प्रेम से गले लगा लिया।

3

दूसरे दिन जैनब को जामा मस्जिद में यथाविधि कलमा पढ़ाया गया।

कुरैशियों ने जन यह खबर पाई तब वे जल उठे। गजब खुदा का ! इस्लाम ने तो बड़े-बड़े घरों पर हाथ साफ करना शुरू किया। अगर यही हाल रहा तो धीरे-धीरे उसकी शक्ति इतनी बढ़ जाएगी कि उसका सामना करना कठिन हो जाएगा। लोग अबुलआस के घर पर जमा हुए। अबूसिफियान ने, जो इस्लाम के शत्रुओं में सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति था (और जो बाद को इस्लाम पर ईमान लाया), अबुलआस से कहा—तुम्हें अपनी बीवी को तलाक देना पड़ेगा।

अबु.—हर्गिज नहीं।

अबूसि.—तो क्या तुम भी मुसलमान हो जाओगे ?

अबू.—हर्गिज नहीं।

अबूसि.—तो उसे मुहम्मद ही के घर रहना पड़ेगा।

अबु.—हर्गिज नहीं। आप मुझे आज्ञा दीजिए कि उसे अपने घर लाऊं।

अबूसि.—हर्गिज नहीं।

अबू.—क्या यह नहीं हो सकता कि मेरे घर में रहकर वह अपने मतानुसार खुदा की बंदगी करे ?

अबूसि.—हर्गिज नहीं।

अबु.—मेरी कौम मेरे साथ इतनी भी सहानुभूति न करेगी ?

अबूसि.—हर्गिज नहीं।

अबु.—तो फिर आप लोग मुझे अपने समाज से पतित कर दीजिए। मुझे पतित होना मंजूर है। आप लोग चाहे जो सजा दें वह सब मंजूर है। पर मैं अपनी बीवी को तलाक नहीं दे सकता। मैं किसी की धार्मिक स्वाधीनता का अपहरण नहीं करना चाहता, वह भी अपनी बीवी की।

अबूसि.—कुरैश में क्या और लड़कियां नहीं हैं ?

अबु.—जैनब की-सी कोई नहीं।

अबूसि.—हम ऐसी लड़कियां बता सकते हैं जो चांद को लज्जित कर दे।

अबु.—मैं सौन्दर्य का उपासक नहीं।

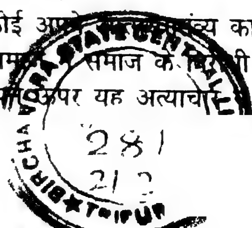
अबूसि.—ऐसी लड़कियां दे सकता हूं जो गृह-प्रबंध में निपुण हों, बातें ऐसी करें जो मुंह से फूल झरें, भोजन ऐसा बनाएं कि बीमार को भी रुचि हो और सीने-पिरोने में इतनी कुशल कि पुराने कपड़े को नया कर दें।

अबु.—मैं इन गुणों में से किसी का भी उपासक नहीं। मैं प्रेम और केवल प्रेम का भक्त हूं और मुझे वि[illegible]ास है कि जैनब का-सा प्रेम मुझे सारी दुनिया में नहीं मिल सकता।

अबूसि.—प्रेम होता तो तुम्हें छोड़कर दगा न करती।

अबु.—मैं नहीं चाहता कि प्रेम के लिए कोई अप[illegible]व्य का त्याग करे।

अबूसि.—इसका आशय यह है कि तुम सम[illegible] समाज के वि[illegible]ी बनकर रहना चाहते हो। अपनी आंखों की कसम, समाज अप[illegible]ऊपर यह अत्याचार[illegible] होने देगा, मैं समझाए जाता हूं, न मानोगे तो रोओगे।



4

अबूसिफियान और उनकी टोली के लोग तो धमकियां देकर उधर गए, इधर अबुलआस ने लकड़ी सम्हाली और ससुराल जा पहुंचे। शाम हो गई थी। हजरत अपने मुरीदों के साथ मगरिब की नमाज पढ़ रहे थे। अबुलआस ने उन्हें सलाम किया और जब तक नमाज होती रही, गौर से देखते रहे। आदमियों की क़तारों का एक साथ उठना-बैठना और सिजदे करना देखकर उनके दिल पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। वह अज्ञान भाव से संगत के साथ बैठते, झुकते और खड़े हो जाते थे। वहां एक-एक परमाणु इस समय ईश्वरमय हो रहा था। एक क्षण के लिए अबुलआस भी उसी भक्ति-प्रवाह में आ गए।

जब नमाज खत्म हो गई तब अबुलआस ने हजरत से कहा—मैं जैनब को विदा कराने आया हूं।

हजरत ने विस्मित होकर कहा—तुम्हें मालूम नहीं कि वह खुदा और रसूल पर ईमान ला चुकी है ?

अबु.—जी हां, मालूम है।

हज.—इस्लाम ऐसे संबंधों का निषेध करता है।

अबु.—क्या इसका यह मतलब है कि जैनब ने मुझे तलाक दे दिया ?

हज.—अगर यही मतलब हो तो ?

अबु.—तो कुछ नहीं, जैनब को खुदा और रसूल की बंदगी मुबारक हो। मैं एक बार उससे मिलकर घर चला जाऊंगा और फिर कभी आपको अपनी सूरत न दिखाऊंगा। लेकिन उस दशा में अगर कुरैश जाति आपसे लड़ने के लिए तैयार हो जाए तो इसका इल्जाम मुझ पर न होगा। हां, अगर जैनब मेरे साथ जाएगी तो कुरैश के क्रोध का भाजन मैं हूंगा। आप और आपके मुरीदों पर कोई आफत न आएगी।

हज.—तुम दबाव में आकर जैनब को खुदा की तरफ से फेरने का तो यत्न न करोगे ?

अबु.—मैं किसी के धर्म में विघ्न डालना लज्जाजनक समझता हूं।

हज.—तुम्हें लोग जैनब को तलाक देने पर तो मजबूर न करेंगे ?

अबु.—मैं जैनब को तलाक देने के पहले जिंदगी को तलाक दे दूंगा।

हजरत को अबुलआस की बातों से इत्मीनान हो गया। आस को हरम में जैनब से मिलने का अवसर मिला। आस ने पूछा—जैनब, मैं तुम्हें साथ ले चलने आया हूं। धर्म के बदलने से कहीं तुम्हारा मन तो नहीं बदल गया ?

जैनब रोती हुई पति के पैरों पर गिर पड़ी और बोली—स्वामी, धर्म बार-बार मिलता है, हृदय केवल एक बार। मैं आपकी हूं। चाहे यहां रहूं चाहे वहां। लेकिन समाज मुझे आपकी सेवा में रहने देगा ?

अबु.—यदि समाज न रहने देगा तो मैं समाज ही से निकल जाऊंगा। दुनिया में रहने के लिए बहुत स्थान हैं। रहा मैं, तुम खूब जानती हो कि किसी के धर्म में विघ्न डालना मेरे सिद्धांत के प्रतिकूल है।

जैनब चली तो खुदैजा ने उसे बदख्शां के लालों का एक बहुमूल्य हार विदाई में दिया।

5

इस्लाम पर विधर्मियों के अत्याचार दिन-दिन बढ़ने लगे। अवहेलना की दशा से निकलकर उसने भय के क्षेत्र में प्रवेश किया। शत्रुओं ने उसे समूल नाश करने की आयोजना करना शुरू की। दूर-दूर के कबीलों से मदद मांगी गई। इस्लाम में इतनी शक्ति न थी कि शस्त्रबल से शत्रुओं को दबा सके। हजरत मुहम्मद ने अंत को मक्का छोड़कर मदीने की राह ली। उनके कितने ही भक्तों ने उनके साथ हिजरत की। मदीने में पहुंचकर मुसलमानों में एक नई शक्ति, एक नई स्फूर्ति का उदय हुआ। वे निःशंक होकर धर्म का पालन करने लगे। अब पड़ोसियों से दबने और छिपने की जरूरत न थी। आत्मविश्वास बढ़ा। इधर भी विधर्मियों का सामना करने की तैयारियां होने लगीं।

एक दिन अबुलआस ने आकर स्त्री से कहा—जैनब, हमारे नेताओं ने इस्लाम पर जिहाद करने की घोषणा कर दी।

जैनब ने घबराकर कहा—अब तो वे लोग यहां से चले गए फिर जिहाद की क्या जरूरत ?

अबु.—मक्का से चले गए, अरब से तो नहीं चले गए। उनकी ज्यादतियां बढ़ती जा रही हैं। जिहाद के सिवा और कोई उपाय नहीं। मेरा उस जिहाद में शरीक होना बहुत जरूरी है।

जैन.—अगर तुम्हारा दिल तुम्हें मजबूर कर रहा है तो शौक से जाओ लेकिन मुझे भी साथ लेते चलो।

अबु.—अपने साथ ?

जैन.—हां, मैं वहां आहत मुसलमानों की सेवा-शुश्रूषा करूंगी।

अबु.—शौक से चलो।

6

घोर संग्राम हुआ। दोनों दलों ने खूब दिल के अरमान निकाले। भाई भाई से, मित्र मित्र से, बाप बेटे से लड़ा। सिद्ध हो गया कि धर्म का बंधन रक्त और वीर्य के बंधन से सुदृढ़ है।

दोनों दल वाले वीर थे। अंतर यह था कि मुसलमानों में नया धर्मानुराग था, मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की आशा थी, दिलों में वह आत्मविश्वास था जो नवजात संप्रदायों का लक्षण है। विधर्मियों में बलिदान का यह भाव लुप्त था।

कई दिन तक लड़ाई होती रही। मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी, पर अंत में उनके धर्मोत्साह ने मैदान मार लिया। विधर्मियों में अधिकांश काम आए, कुछ घायल हुए और कुछ कैद कर लिए गए। अबुलआस भी इन्हीं कैदियों में थे।

जैनब को ज्योंही यह मालूम हुआ उसने हजरत मुहम्मद की सेवा में अबुलआस का फदिया (मुक्तिधन) भेजा। यह वही बहुमूल्य हार था, जो खुदैजा ने उसे दिया था। वह अपने पिता को उस धर्म-संकट में न डालना चाहती थी जो मुक्तिधन के अभाव की दशा में उन पर पड़ता। हजरत ने यह हार देखा तो खुदैजा की याद ताजी हो गई। मधुर स्मृतियों से चित्त चंचल हो उठा। अगर खुदैजा जीवित होती तो उसकी सिफारिश का असर उन पर

इससे ज्यादा न होता जितना इस हार से हुआ, मानो स्वयं खुदैजा इस हार के रूप में आई थी। अबुलआस के प्रति हृदय कोमल हो गया। उसे सजा दी गई, यह हार ले लिया गया तो खुदैजा की आत्मा को कितना दुःख होगा। उन्होंने कैदियों का फैसला करने के लिए एक पंचायत नियुक्त कर दी थी। यद्यपि पंचों में सभी हजरत के इष्ट-मित्र थे, पर इस्लाम की शिक्षा उनके दिलों से पुरानी आदतें, पुरानी चेष्टाएं न मिटा सकी थी। उनमें अधिकांश ऐसे थे जिनको अबुलआस से पारिवारिक द्वेष था, जो उनसे किसी पुराने खून का बदला लेना चाहते थे। इस्लाम ने उनमें क्षमा और अहिंसा के भावों को अंकुरित न किया हो, पर साम्यवाद को उनके रोम-रोम में प्रविष्ट कर दिया था। वे धर्म के विषय में किसी के साथ रू-रिआयत न कर सकते थे, चाहे वह हजरत का निकट संबंधी ही क्यों न हो। अबुलआस सिर झुकाए पंचों के सामने खड़े थे और कैदी पेश होते थे। उनके मुक्तिधन का मुलाहिजा होता था और वे छोड़ दिए जाते थे। अबुलआस को कोई पूछता ही न था, यद्यपि वह हार एक तश्तरी में पंचों के सम्मुख रक्खा हुआ था। हजरत के मन में बार-बार प्रबल इच्छा होती थी कि सहाबियों से कहें, यह हार कितना बहुमूल्य है। पर धर्म का बंधन, जिसे उन्होंने स्वयं प्रतिष्ठित किया था, मुंह से एक शब्द भी न निकलने देता था। यहां तक कि समस्त बंदीजन मुक्त हो गए, अबुलआस अकेला सिर झुकाए खड़ा रहा—हजरत मुहम्मद के दामाद के साथ इतना लिहाज भी न किया गया कि बैठने की आज्ञा तो दे दी जाती। सहसा जैद ने अबुलआस की ओर कटाक्ष करके कहा—देखा, खुदा इस्लाम की कितनी हिमायत करता है। तुम्हारे पास हमसे पंचगुनी सेना थी, पर खुदा ने तुम्हारा मुंह काला किया। देखा या अब भी आंखें नहीं खुलीं ?

अबुलआस ने विरक्त भाव से उत्तर दिया—जब आप लोग यह मानते हैं कि खुदा सबका मालिक है तब वह अपने एक बंदे को दूसरे की गर्दन काटने में मदद न देगा। मुसलमानों ने इसलिए विजय पाई कि गलत या सही उन्हें अटल विश्वास है कि मृत्यु के बाद हम स्वर्ग में जाएंगे। खुदा को आप नाहक बदनाम करते हैं।

जैद—तुम्हारा मुक्तिधन काफी नहीं है।

अबुलआस—मैं इस हार को अपनी जान से ज्यादा कीमती समझता हूं। मेरे घर में इससे बहुमूल्य और कोई वस्तु नहीं है।

जैद—तुम्हारे घर में जैनब हैं, जिन पर ऐसे सैकड़ों हार कुर्बान किए जा सकते हैं।

अबु.—तो आपकी मंशा है कि मेरी बीवी मेरा फदिया हो। इससे तो यही कहीं बेहतर है कि मैं कत्ल कर दिया जाता। अच्छा, अगर मैं वह फदिया न दूं तो ?

जैद—तो तुम्हें आजीवन यहां गुलामों की तरह रहना पड़ेगा। तुम हमारे रसूल के दामाद हो, इस रिश्ते से हम तुम्हारा लिहाज करेंगे, पर तुम गुलाम ही समझे जाओगे।

हजरत मुहम्मद निकट बैठे हुए ये बातें सुन रहे थे। वे जानते थे जैनब और आस एक-दूसरे पर जान देते हैं। उनका वियोग दोनों ही के लिए घातक होगा। दोनों घुल-घुलकर मर जाएंगे। सहाबियों को एक बार पंच चुन लेने के बाद उनके फैसलों में दखल देना नीति विरुद्ध था। इससे इस्लाम की मर्यादा भंग होती थी। कठिन आत्म-वेदना हुई। यहां बैठे न रह सके। उठकर अंदर चले गए। उन्हें ऐसा मालूम हो रहा था कि जैनब की गर्दन पर तलवार फेरी जा रही है। जैनब की दीन, करुणापूर्ण मूर्ति आंखों के सामने खड़ी मालूम

होती थी। पर मर्यादा, निर्दय, निष्ठुर मर्यादा यह बलिदान मांग रही थी।

अबुलआस के सामने भी विषम समस्या थी। इधर गुलामी का अपमान था, उधर वियोग की दारुण वेदना थी।

अंत में उन्होंने निश्चय किया, यह वेदना सहूंगा, अपमान न सहूंगा। प्रेम को गौरव पर समर्पित कर दूंगा। बोले—मुझे आपका फैसला मंजूर है। जैनब मेरा फदिया होगी।

7

निश्चय किया गया कि जैद अबुलआस के साथ जाएं और आबादी से बाहर ठहरें। आस घर जाकर तुरंत जैनब को वहां भेज दें। आस पर इतना विश्वास था कि वे अपना वचन पूरा करेंगे।

आस घर पहुंचे तो जैनब उनसे गले मिलने दौड़ी। आस हट गए और कातर स्वर में बोले—नहीं जैनब, मैं तुमसे गले न मिलूंगा। मैं तुम्हें अपने फदिए के रूप में दे आया। अब मेरा तुमसे कोई संबंध नहीं है। यह तुम्हारा हार है, ले लो और फौरन यहां से चलने की तैयारी करो। जैद तुम्हें लेने को आए हैं।

जैनब पर वज्र-सा गिर पड़ा। पैर बंध गए, वहीं चित्र की भांति खड़ी रह गई। वज्र ने रक्त को जला दिया, आंसुओं को सुखा दिया, चेतना ही न रही, रोती और विलखती क्या। एक क्षण के बाद उसने एक बार माथा ठोंका—निर्दय तकदीर के सामने सिर झुका दिया। चलने को तैयार हो गई। घोर नैराश्य इतना दुखदाई नहीं होता जितना हम समझते हैं। उसमें एक रसहीन शांति होती है। जहां सुख की आशा नहीं वहा दुख का कष्ट कहां !

मदीने में रसूल की बेटी की जितनी इज्जत होनी चाहिए उतनी होती थी। वह पितागृह की स्वामिनी थी। धन था, मान था, गौरव था, धर्म था, प्रेम न था। आंख में सब कुछ था, केवल पुतली न थी। पति के वियोग में रोया करती थी। जिंदा थी मगर जिंदा दरगोर। तीन साल तीन युगों की भांति बीते। घंटे, दिन और वर्ष साधारण व्यवहारों के लिए हैं, प्रेम के यहां समय का माप कुछ और ही है।

उधर अबुलआस द्विगुण उत्साह के साथ धनोपार्जन में लीन हुआ, महीनों घर न आता, हंसना-बोलना सब भूल गया। धन ही उसके जीवन का एकमात्र आधार था; उसके प्रणय-वंचित हृदय को किसी विस्मृतिकारक वस्तु की चाह थी। नैराश्य और चिंता बहुधा शराब से शांत होती है, प्रेम उन्माद से, अबुलआस को धनोन्माद हो गया। धन के आवरण में छिपा हुआ वियोग-दुख था, माया के पर्दे में छिपा हुआ प्रेम-वैराग्य।

जाड़ों के दिन थे। नाड़ियों में रुधिर जम जाता था। अबुलआस मक्का से माल लादकर एक काफिले के साथ चला। रकफों का एक दल भी साथ था। कुरैशियों ने मुसलमानों के कई काफिले लूट लिए थे। अबुलआस को संशय था कि मुसलमानों का आक्रमण होगा, इसलिए उन्होंने मदीने की राह छोड़कर एक दूसरा रास्ता अख्तियार किया। पर दुर्दैव, मुसलमानों को टोह मिल ही गई। जैद ने सत्तर चुने हुए आदमियों के साथ काफिले पर धावा कर दिया। धन के भक्त धर्म के सेवकों से क्या बाजी ले जाते। सत्तर ने सात सौ को मार भगाया। कुछ मरे, अधिकांश भागे, कुछ कैद हो गए। मुसलमानों को अतुल धन हाथ लगा। कैदी घाते में मिले। अबुलआस फिर कैद हो गया।

8

कैदियों के भाग्य-निर्णय के लिए नीति के अनुसार पंचायत चुनी गई।

जैनब को यह खबर मिली तो आशाएं जाग उठीं; आशा मरती नहीं केवल सो जाती है। पिंजरे में बंद पक्षी की भांति तड़फड़ाने लगी, पर क्या करे, किससे कहे, अबकी तो फदिए का भी कोई ठिकाना न था। या खुदा, क्या होगा ?

पंचों ने अबकी हजरत मुहम्मद ही को अपना प्रधान बनाया। हजरत ने इंकार किया, पर अंत में उनके आग्रह से विवश हो गए।

अबुलआस सिर झुकाए बैठे हुए थे। हजरत ने एक बार उन पर करुणासूचक दृष्टि डाली, फिर सिर झुका लिया।

पंचायत शुरू हुई। अन्य कैदियों के घरों से मुक्तिधन आ गया था। वे मुक्त किए गए। अबुलआस के घर से मुक्तिधन न आया था। हजरत ने हुक्म दिया—इनका सारा माल और असबाब जब्त कर लिया जाए और ये उस वक्त तक बंदी रहें जब तक इन्हें कोई छुड़ाने न आए। उनके अंतिम शब्द ये थे—अबुलआस, इस्लाम की रणनीति के अनुसार तुम गुलाम हो। तुम्हें बाजार में बेचकर रुपया मुसलमानों में तकसीम होना चाहिए था। पर तुम ईमानदार आदमी हो, इसलिए तुम्हारे साथ इतनी रियायत की गई।

जैनब दरवाजे के पास आड़ में बैठी हुई थी। हजरत का यह फैसला सुनकर रो पड़ी, तब घर से बाहर निकल आई और अबुलआस का हाथ पकड़कर बोली—अगर मेरा शौहर गुलाम है तो मैं उसकी लौंडी हूं। हम दोनों साथ बिकेंगे या साथ कैद होंगे।

हजरत—जैनब, मुझे लज्जित मत करो, मैं वही कर रहा हूं जो मेरा कर्त्तव्य है; न्याय पर बैठने वाले मनुष्य को प्रेम और द्वेष दोनों ही से मुक्त होना चाहिए। यद्यपि इस नीति का संस्कार मैंने ही किया है, पर अब मैं उसका स्वामी नहीं, दास हूं। अबुलआस से मुझे जितना प्रेम है यह खुदा के सिवा और कोई नहीं जान सकता। यह हुक्म देते हुए मुझे जितना मानसिक और आत्मिक कष्ट हो रहा है उसका अनुमान हर एक पिता कर सकता है। पर खुदा का रसूल, न्याय और नीति को अपने व्यक्तिगत भावों से कलंकित नहीं करता।

सहाबियों ने हजरत की न्याय-व्याख्या सुनी तो मुग्ध हो गए। अबूजफर ने अर्ज की—हजरत, आपने अपना फैसला सुना दिया, लेकिन हम सब इस विषय में सहमत हैं कि अबुलआस जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए यह दंड न्यायोचित होते हुए भी अति कठोर है और हम सर्वसम्मति से उसे मुक्त करते हैं और उसका लूटा हुआ धन लौटा देने की आज्ञा मांगते हैं।

अबुलआस हजरत मुहम्मद की न्यायपरायणता पर चकित हो गए। न्याय का इतना ऊंचा आदर्श ! मर्यादा का इतना महत्त्व ! आह, नीति पर अपना संतान-प्रेम तक न्यौछावर कर दिया ! महात्मा, तुम धन्य हो। ऐसे ही ममताहीन सद्पुरुषों से संसार का कल्याण होता है। ऐसे ही नीतिपालकों के हाथो जातियां बनती हैं, सभ्यताएं परिष्कृत होती हैं।

मक्के आकर अबुलआस ने अपना हिसाब-किताब साफ किया, लोगों के माल लौटाए, ऋण चुकाए और घर-बार त्यागकर हजरत मुहम्मद की सेवा में पहुंच गए।

जैनब की मुराद पूरी हुई।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन मासिक पत्रिका 'सरस्वती', मार्च, 1924। 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित। इस कहानी का पाठ 'मानसरोवर' भाग-2 में संकलित 'न्याय' शीर्षक कहानी से काफी मिलता-जुलता है।]

वज्रपात

दिल्ली की गलियाँ दिल्ली-निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतंक जमा रखा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उनकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचंड क्रोध किसी भाँति शांत ही नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके कोप की आग को बुझा नहीं सकती।

नादिरशाह दरबार-आम में तख्त पर बैठा हुआ है। उसकी आँखों से जैसे ज्वालाएँ निकल रही हैं। दिल्लीवालों की इतनी हिम्मत कि उसके सिपाहियों का अपमान करें! उन कापुरुषों की यह मजाल। वह काफिर तो उसकी सेना की एक ललकार पर रणक्षेत्र से निकल भागे थे ! नगर-निवासियों का आर्तनाद सुन-सुन कर स्वयं सेना के दिल काँप जाते हैं; मगर नादिरशाह की क्रोधाग्नि शांत नहीं होती। यहाँ तक कि उसका सेनापति भी उसके सम्मुख जाने का साहस नहीं कर सकता। वीर पुरुष दयालु होते हैं। असहायों पर, दुर्बलों पर, स्त्रियों पर उन्हें क्रोध नहीं आता। इन पर क्रोध करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं; किंतु निष्ठुर नादिरशाह की वीरता दया शून्य थी।

दिल्ली का बादशाह सिर झुकाये नादिरशाह के पास बैठा हुआ था। हरमसरा में विलास करनेवाला बादशाह नादिरशाह की अविनयपूर्ण बातें सुन रहा था; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जान के लाले पड़े हुए थे, पीड़ित प्रजा की रक्षा कौन करे ? वह सोचता था, मेरे मुँह से कुछ निकले और वह मुझी को डाँट बैठे तो थे !

अंत में जब सेना की पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठा को पहुँच गयी, तो मुहम्मदशाह के वजीर से न रहा गया। वह कविता का मर्मज्ञ था, ख़ुद भी कवि था। जान पर खेल कर नादिरशाह के सामने पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

कसे न मांद कि दीगर व तेग़े नज़ा क़ुशी;
मगर कि ज़िन्दा कुनी खल्करा व बाज़ क़ुशी।

अर्थात् तेरी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर जिला कर कत्ल कर।

शेर ने दिल पर चोट किया। पत्थर में भी सुराख होते हैं; पहाड़ों में भी हरियाली होती है; पाषाण हृदयों में भी रस होता है। इस शेर ने पत्थर को पिंघला दिया। नादिरशाह ने सेनापति को बुला कर कत्लेआम बंद करने का हुक्म दिया। एकदम तलवारें म्यान में चली गयीं। कातिलों के उठे हुए हाथ उठे ही रह गये। जो सिपाही जहाँ था; वहीं बुत बन गया।

शाम हो गयी थी। नादिरशाह शाही बाग़ में सैर कर रहा था। बार-बार वही शेर

पढ़ता और झूमता—

कसे न मॉंद कि दीगर व तेगे नाज कुशी;
मगर कि जिंदा कुनी खल्करा व बाज़ कुशी।

2

दिल्ली का खजाना लुट रहा है। शाही महल पर पहरा है। कोई अंदर से बाहर या बाहर से अंदर आ-जा नहीं सकता। बेगमें भी अपने महलों से बाहर बाग में निकलने की हिम्मत नहीं कर सकतीं। महज खजाने पर ही आफत नहीं आयी हुई है, सोने-चाँदी के बरतनों, बेशकीमत तसवीरों और आराइश की अन्य सामग्रियों पर भी हाथ साफ किया जा रहा है। नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ हीरे और जवाहरात के ढेरों को गौर से देख रहा है; पर वह चीज नजर नहीं आती, जिसके लिए मुद्दत से उनका चित्त लालायित हो रहा था। उसने मुगलआजम नाम के हीरे की प्रशंसा, उसकी करामातों की चरचा सुनी थी—उसको धारण करनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी होता है, कोई रोग उसके निकट नहीं आता, उस रत्न में पुत्रदायिनी शक्ति है, इत्यादि। दिल्ली पर आक्रमण करने के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ इस रत्न को प्राप्त करना भी एक कारण था। सोने-चाँदी के ढेरों और बहुमूल्य रत्नों की चमक-दमक से उनकी आँखें भले ही चौंधिया जायँ, पर हृदय उल्लसित न होता था। उसे तो मुगलआजम की धुन थी और मुगलआजम का वहाँ कहीं पता न था। वह क्रोध से उन्मत्त हो कर शाही मंत्रियों की ओर देखता और अपने अफसरों को झिड़कियाँ देता था। पर अपना अभिप्राय खोल कर न कह सकता था। किसी की समझ में न आता था कि वह इतना आतुर क्यों हो रहा है। यह तो खुशी से फूले न समाने का अवसर है। अतुल सम्पत्ति सामने पड़ी हुई है, संख्या में इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसकी गणना कर सके ! संसार का कोई भी महीपति इस विपुल धन का एक अंश भी पा कर अपने को भाग्यशाली समझता; परंतु यह पुरुष जिसने इस धनराशि का शतांश भी पहले कभी आँखों से न देखा होगा, जिसकी उम्र भेड़ें चराने में ही गुजरी, क्यों इतना उदासीन है ? आखिर जब रात हुई, बादशाह का खज़ाना खाली हो गया और उस रत्न के दर्शन न हुए, तो नादिरशाह की क्रोधाग्नि फिर भड़क उठी। उसने बादशाह के मंत्री को—उसी मंत्री को, जिसकी काव्य-मर्मज्ञता ने प्रजा के प्राण बचाये थे—एकांत में बुलाया और कहा—मेरा गुस्सा तुम देख चुके हो ! अगर फिर उसे नहीं देखना चाहते तो लाजिम है कि मेरे साथ कामिल सफाई का बरताव करो। वरना दोबारा यह शोला भड़का, तो दिल्ली की खैरियत नहीं।

वजीर—जहाँपनाह, गुलामों से तो कोई खता सरजद नहीं हुई। खजाने की सब कुंजियाँ जनाबेआली के सिपहसालार के हवाले कर दी गयी हैं।

नादिर—तुमने मेरे साथ दगा की है।

वज़ीर—(त्योरी चढ़ा कर) आपके हाथ में तलवार है और हम कमजोर हैं, जो चाहे फरमावें; पर इल्जाम के तसलीम करने में मुझे उज्र है।

नादिर—क्या उसके सबूत की जरूरत है ?

वजीर—जी हाँ, क्योंकि दगा की सजा कत्ल है और कोई बिला सबब अपने कत्ल पर रजामंद न होगा।

नादिर—इसका सबूत मेरे पास है, हालाँकि नादिर ने कभी किसी को सबूत नहीं दिया। वह अपनी मरजी का बादशाह है और किसी को सबूत देना अपनी शान के खिलाफ समझता है। पर यहाँ जाती मुआमिला है। तुमने मुगलआजम हीरा क्यों छिपा दिया ?

वज़ीर के चेहरे का रंग उड़ गया। वह सोचने लगा—यह हीरा बादशाह को जान से भी ज्यादा अजीज है। वह इसे एक क्षण भी अपने पास से जुदा नहीं करते। उनसे क्योंकर कहूँ ? उन्हें कितना सदमा होगा ! मुल्क गया, खजाना गया, इज्जत गयी। बादशाही की यही एक निशानी उनके पास रह गयी है। उनसे कैसे कहूँ ? मुमकिन है वह गुस्से में आ कर इसे कहीं फेंक दें, या तुड़वा डालें। इन्सान की आदत है कि वह अपनी चीज दुश्मन को देने की अपेक्षा उसे नष्ट कर देना अच्छा समझता है। बादशाह, बादशाह हैं मुल्क न सही, अधिकार न सही, सेना न सही; पर जिंदगी भर की स्वेच्छाचारिता एक दिन में नहीं मिट सकती। यदि नादिर को हीरा न मिला, तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढाये। आह! उसकी कल्पना ही से रोमांच हो जाता है। खुदा न करे, दिल्ली को फिर यह दिन देखना पड़े।

सहसा—नादिर ने पूछा—मैं तुम्हारे जवाब का मुंतजिर हूँ ? क्या यह तुम्हारी दगा का काफी सबूत नहीं है।

वज़ीर—जहाँपनाह, वह हीरा बादशाह सलामत को जान से ज्यादा अजीज है। वह हमेशा अपने पास रखते हैं।

नादिर—झूठ मत बोलो, हीरा बादशाह के लिए है, बादशाह हीरे के लिए नहीं. बादशाह को हीरा जान से ज्यादा अजीज है—का मतलब सिर्फ इतना है कि वह बादशाह का बहुत अजीज है, और यह कोई वजह नहीं कि मैं उस हीरे को उनसे न लूँ। अगर बादशाह यों न देंगे, तो मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना होगा। तुम जाकर इस मुआमिले में नाजुकफ़हमी से काम लो, जो तुमने कल दिखाई थी। आह, कितना ला-जवाब शेर था—

कसें न मौंद कि दीगर व तेगे नाज कुशी;
मगर कि जिंदा कुनी ख ल्करा व बाज़ कुशी।

3

मंत्री_सोचता हुआ चला कि यह समस्या क्योंकर हल करूँ ? बादशाह के दीवानखाने में पहुँचा तो देखा, बादशाह उसी हीरे को हाथ में लिये चिंता में मग्न बैठे हुए हैं।

बादशाह को इस वक्त इसी हीरे की फिक्र थी। लुटे हुए पथिक की भाँति वह अपनी वह लकड़ी हाथ से न देना चाहता था। वह जानता था कि नादिर को इस हीरे की खबर है। वह यह भी जानता था कि खजाने में इसे न पा कर उनके क्रोध की सीमा न रहेगी। लेकिन सब कुछ जानते हुए भी, वह हीरे को हाथ से न जाने देना चाहता था। अंत को उसने निश्चय किया, मैं इसे न दूँगा, चाहे मेरी जान ही पर क्यों न बन जाय। रोगी की इस अंतिम साँस को न निकलने दूँगा। हाय कहाँ छिपाऊँ ? इतना बड़ा मकान है कि उसमें एक नगर समा सकता है, पर इस नन्हीं-सी चीज के लिए कहीं जगह नहीं, जैसे किसी अभागे को इतनी बड़ी दुनिया में भी कहीं पनाह नहीं मिलती। किसी सुरक्षित स्थान में न रख कर क्यों न इसे किसी ऐसी जगह रख दूँ, जहाँ किसी का खयाल ही न पहुँचे। कौन

अनुमान कर सकता है कि मैंने हीरे को अपनी सुराही में रखा होगा ? अच्छा, हुक्के की फर्शी में क्यों न डाल दूँ ? फरिश्तों को भी खबर न होगी।

यह निश्चय करके उसने हीरे को फर्शी में डाल दिया। पर तुरंत ही शंका हुई कि ऐसे बहुमूल्य रत्न को इस जगह रखना उचित नहीं। कौन जाने, जालिम को मेरी यह गुड़गुड़ी ही पसंद आ जाय। उसने तुरंत गुड़गुड़ी का पानी तश्तरी में उँड़ेल दिया और हीरे को निकाल लिया। पानी की दुर्गन्ध उड़ी पर इतनी हिम्मत न पड़ती थी कि खिदमतगार को बुला कर पानी फिंकवा दे। भय होता था, कहीं वह ताड़ न जाय।

वह इसी दुविधा में पड़ा हुआ था कि मंत्री ने आ कर बंदगी की। बादशाह को उस पर पूरा विश्वास था; किंतु उसे अपनी क्षुद्रता पर इतनी लज्जा आयी कि वह इस रहस्य को उस पर भी प्रकट न कर सका। गुमशुम हो कर उसकी ओर ताकने लगा।

मंत्री ने बात छेड़ी—आज खजाने में हीरा न मिला, तो नादिर बहुत झल्लाया। कहने लगा, तुमने मेरे साथ दगा की है; मैं शहर लुटवा दूँगा, कत्लेआम कर दूँगा, सारे शहर को खाक सियाह कर डालूँगा। मैंने कहा, जनाबेआली को अख्तियार है, जो चाहे करें। पर हमने खजाने की सब कुंजियाँ आपके सिपहसालार को दे दी हैं। वह कुछ साफ़-साफ़ तो कहता न था, बस कनायों में बातें कर रहा था और भूले गीदड़ की तरह इधर-उधर बौखलाया फिरता था कि किसे पाये, और नोच खाये।

मुहम्मदशाह—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा खौफ मालूम होता है, गोया किसी शेर का सामना हो। जालिम की आँखें कितनी तुंद और गजबनाक हैं। आदमी क्या है, शैतान है। खैर मैं भी उधेड़बुन में पड़ा हुआ हूँ फिर इसे क्योंकर छिपाऊँ। सल्तनत जाय गम नहीं; पर इस हीरे को मैं उस वक्त तक न दूँगा, जब तक कोई गरदन पर सवार हो कर इसे छीन न ले।

वज़ीर—खुदा न करे कि हुजूर के दुश्मनों को यह जिल्लत उठानी पड़े। मैं एक तरकीब बतलाऊँ। हुजूर इसे अपने अमामे (पगड़ी) में रख लें। वहाँ तक उसके फरिश्तों का भी खयाल न पहुँचेगा।

मुहम्मदशाह—(उछल कर) वल्लाह, तुमने खूब सोचा; वाकई तुम्हें खूब सूझी। हजरत इधर-उधर टटोलने के बाद अपना-सा मुँह ले कर रह जायँगे। मेरे अमामे को कौन देखेगा ? इसी से तो मैंने तुम्हें लुकमान का खिताब दिया है। बस, यही तय रहा। कहीं तुम जरा देर पहले आ जाते, तो मुझे इतना दर्द-सर न उठाना पड़ता।

4

दूसरे ही दिन दोनों बादशाहों में सुलह हो गयी। वजीर नादिरशाह के कदमों पर गिर पड़ा और अर्ज की—अब इस डूबती हुई किश्ती को आप ही पार लगा सकते हैं; वरना इसका अल्लाह ही वली है ! हिंदुओं ने सिर उठाना शुरू कर दिया है; मरहठे, राजपूत, सिख सभी अपनी-अपनी ताकतों को मुकम्मिल कर रहे हैं। जिस दिन उनमें मेल-मिलाप हुआ उसी दिन यह नाव भँवर में पड़ जायगी, और दो-चार चक्कर खा कर हमेशा के लिए नीचे बैठ जायगी।

नादिरशाह को ईरान से चले अरसा हो गया था। वहाँ से रोजाना बागियों की बगावत

की खबरें आ रही थीं। नादिरशाह जल्द वहाँ लौट जाना चाहता था। इस समय उसे दिल्ली में अपनी सल्तनत कायम करने का अवकाश न था। सुलह पर राजी हो गया। संधि-पत्र पर दोनों बादशाहों ने हस्ताक्षर कर दिये।

दोनों बादशाहों ने एक ही साथ नमाज पढ़ी, एक ही दस्तरख्वान पर खाना खाया एक ही हुक्का पिया, और एक-दूसरे से गले मिल कर अपने-अपने स्थान को चले।

मुहम्मदशाह खुश था। राज्य बच जाने की उतनी खुशी न थी, जितनी हीरे के बच जाने की।

मगर नादिरशाह हीरा न पा कर भी दुःखी न था। सबसे हँस-हँस कर बातें करता था, मानो शील और विनय का साक्षात् अवतार हो।

5

प्रातःकाल है; दिल्ली में नौबतें बज रही हैं। खुशी की महफिलें सजाई जा रही हैं। तीन दिन पहले यहाँ रक्त की नदी बही थी। आज आनंद की लहरें उठ रही हैं। आज नादिरशाह दिल्ली से रुखसत हो रहा है।

अशर्फियों से लदे हुए ऊँटों की कतार शाही महल के सामने रवाना होने को तैयार खड़ी है। बहुमूल्य वस्तुएँ गाड़ियों में लदी हुई हैं। दोनों तरफ की फौजें गले मिल रही हैं। अभी कल दोनों पक्ष एक-दूसरे के खून के प्यासे थे। आज भाई-भाई हो रहे हैं।

नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ है। मुहम्मदशाह भी उसी तख्त पर उसकी बगल में बैठे हुए हैं। यहाँ भी परस्पर प्रेम का व्यवहार है। नादिरशाह ने मुस्करा कर कहा—खुदा करे, यह सुलह हमेशा कायम रहे और लोगों के दिलों से इन खूनी दिनों की याद मिट जाय।

मुहम्मदशाह—मेरी तरफ़ से ऐसी कोई बात न होगी जो सुलह को खतरे में डाले। मैं खुदा से यह दोस्ती क़ायम रखने के लिए हमेशा दुआ करता रहूँगा।

नादिरशाह—सुलह की जितनी शर्तें थीं, सब पूरी हो चुकीं। सिर्फ एक बात बाकी है! मेरे यहाँ दस्तूर है कि सुलह के वक्त अमामे बदल दिये जाते हैं। इसके बगैर सुलह की कारवाई पूरी नहीं होती। आइए, हम लोग भी अपने-अपने अमामे बदल लें। लीजिए, यह मेरा अमामा हाज़िर है।

यह कह कर नादिर ने अपना अमामा उतार कर मुहम्मदशाह की तरफ़ बढ़ाया। बादशाह के हाथों के तोते उड़ गये। समझ गया, मुझसे दगा की गयी, दोनों तरफ के शूर-सामंत सामने खड़े थे। न कुछ कहते बनता था न सुनते। बचने का कोई उपाय न था और न कोई उपाय सोच निकालने का अवसर ही। कोई जवाब न सूझा। इनकार की गुंजाइश न थी। मन मसोस कर रह गया। चुपके से अमामा सिर से उतारा, और नादिरशाह की तरफ़ बढ़ा दिया। हाथ काँप रहे थे, आँखों में क्रोध और विषाद के आँसू भरे हुए थे। मुख पर हलकी-सी मुस्कराहट झलक रही थी—वह मुस्कराहट, जो अश्रुपात से भी कहीं अधिक करुण और व्यथा-पूर्ण होती है। कदाचित् अपने प्राण निकाल कर देने में भी उसे इससे अधिक पीड़ा न होती।

6

नादिरशाह पहाड़ों और नदियों को लाँघता हुआ ईरान को चला जा रहा था। सत्तर ऊँटों और इतनी ही बैलगाड़ियों की कतार देख-देख कर उसका हृदय बाँसों उछल रहा था। वह बार-बार खुदा को धन्यवाद देता था, जिसकी असीम कृपा ने आज उसकी कीर्ति को उज्ज्वल बनाया था। अब वह केवल ईरान ही का बादशाह नहीं, हिंदुस्तान जैसे विस्तृत प्रदेश का भी स्वामी था। पर सबसे ज्यादा खुशी उसे मुगलआजम हीरा पाने की थी, जिसे बार-बार देख कर भी उसकी आँखें तृप्त न होती थीं। सोचता था, जिस समय मैं दरबार में यह रत्न धारण करके आऊँगा सबकी आँखें झपक जायेंगी, लोग आश्चर्य से चकित रह जायेंगे।

उसकी सेना अन्न-जल के कठिन कष्ट भोग रही थी। सरहदों की विद्रोही सेनाएँ पीछे से उसको दिक कर रही थीं। नित्य दस-बीस आदमी मर जाते या मारे जाते थे, पर नादिरशाह को ठहरने की फुरसत न थी। वह भागा-भागा चला जा रहा था।

ईरान की स्थिति बड़ी भयंकर थी। शाहजादा खुद विद्रोह शांत करने के लिए गया हुआ था; पर विद्रोह दिन-दिन उग्र रूप धारण करता जाता था। शाही सेना कई युद्धों में परास्त हो चुकी थी। हर घड़ी यही भय होता था कि कहीं वह स्वयं शत्रुओं के बीच घिर न जाय।

पर वाह रे प्रताप ! शत्रुओं ने ज्योंही सुना कि नादिरशाह ईरान आ पहुँचा, त्योंही उनके हौसले पस्त हो गये। उसका सिंहनाद सुनते ही उनके हाथ-पाँव फूल गये। इधर नादिरशाह ने तेहरान में प्रवेश किया उधर विद्रोहियों ने शाहजादे से सुलह की प्रार्थना की, शरण में आ गये। नादिरशाह ने यह शुभ समाचार सुना, तो उसे निश्चय हो गया कि सब उसी हीरे की करामात है। यह उसी का चमत्कार है, जिसने शत्रुओं का सिर झुका दिया, हारी हुई बाजी जिता दी।

शाहजादा विजयी हो कर घर लौटा, तो प्रजा ने बड़े समारोह से उसका स्वागत और अभिवादन किया। सारा तेहरान दीपावली की ज्योति से जगमगा उठा। मंगलगान की ध्वनि से सब गली और कूचे गूँज उठे।

दरबार सजाया गया। शायरों ने कसीदे सुनाये। नादिरशाह ने गर्व से उठ कर शाहजादे के ताज को मुगलआजम हीरे से अलंकृत कर दिया। चारों ओर महरबा ! महरबा ! की आवाजें बुलंद हुई। शाहजादे के मुख की कांति हीरे के प्रकाश से दूनी चमक उठी। पितृस्नेह से हृदय पुलकित हो उठा। नादिर—वह नादिर, जिसने दिल्ली में खून की नदी बहायी थी—पुत्र-प्रेम से फूला न समाता था। उसकी ऑखों से गर्व और हार्दिक उल्लास के आँसू बह रहे थे।

7

महसा बंदूक की आवाज आयी—धाँय ! धाँय ! दरबार हिल उठा। लोगों के कलेजे धड़क उठे। हाय ! वज्रपात हो गया ! हाय रे दुर्भाग्य ! बंदूक की आवाजें कानों में गूँज ही रही थीं कि शाहजादा कटे हुए पेड़ की तरह गिर पड़ा। साथ ही वह रत्नजटित मुकुट भी नादिरशाह

के पैरों के पास आ गिरा।

नादिरशाह ने उन्मत्त की भाँति हाथ उठा कर कहा—कातिलों को पकड़ो ! साथ ही शोक से विह्वल हो कर वह शाहजादे के प्राण-हीन शरीर पर गिर पड़ा। जीवन की सारी अभिलाषाओं का अंत हो गया।

लोग कातिलों की तरफ दौड़े। फिर धाँय-धाँय की आवाज आयी और दोनों कातिल गिर पड़े। उन्होंने आत्महत्या कर ली। दोनों विद्रोही-पक्ष के नेता थे।

हाय रे मनुष्य के मनोरथ, तेरी भित्ति कितनी अस्थिर है ! बालू पर की दीवार तो वर्षा में गिरती है। पर तेरी दीवार बिना पानी-बूँद के ढह जाती है। आँधी में दीपक का कुछ भरोसा किया जा सकता है, पर तेरा नहीं। तेरी अस्थिरता के आगे बालकों का घरौंदा अचल पर्वत है, वेश्या का प्रेम सती की प्रतिज्ञा की भाँति अटल !

नादिरशाह को लोगों ने लाश पर से उठाया। उसका करुण क्रंदन हृदयों को हिलाये देता था। सभी की आँखों से आँसू बह रहे थे। होनहार कितना प्रबल, कितना निष्ठुर, कितना निर्दय और कितना निर्मम है !

नादिरशाह ने हीरे को जमीन से उठा लिया। एक बार उसे विषादपूर्ण नेत्रों से देखा। फिर मुकुट को शाहजादे के सिर पर रख दिया और वजीर से कहा—यह हीरा इसी लाश के साथ दफन होगा।

रात का समय था। तेहरान में मातम छाया हुआ था। कहीं दीपक या अग्नि का प्रकाश न था। न किसी ने दिया जलाया, और न भोजन बनाया। अफीमचियों की चिलमें भी आज ठंडी हो रही थीं। मगर कब्रिस्तान में मशालें रोशन थीं—शाहजादे की अंतिम क्रिया हो रही थी।

जब फातिहा ख़तम हुआ, नादिरशाह ने अपने हाथों से मुकुट को लाश के साथ कब्र में रख दिया। राज और संगतराश हाजिर थे। उसी वक्त कब्र पर ईट-पत्थर और चूने का मजार बनने लगा।

नादिर एक महीने तक एक क्षण के लिए भी वहाँ से न हटा। वहीं सोता था, वहीं राज्य करता। उसके दिल में यह बात बैठ गयी थी कि मेरा अहित इसी हीरे के कारण हुआ। यही मेरे सर्वनाश और अचानक वज्रपात का कारण है।

[हिन्दी कहानी। 'माधुरी' (मासिक पत्रिका), मार्च, 1924 में प्रकाशित। मानसरोवर भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'नुजूले बर्क' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'फिरदौसे ख्याल' में संकलित।]

मुक्ति-मार्ग

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देख कर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता। तीन बीघे ऊख थी। इसके छः सौ रुपये तो अनायास ही मिल जायंगे। और जो कहीं भगवान् ने डाड़ी

तेज कर दी तो फिर क्या पूछना ! दोनों बैल बुड्ढे हो गये। अबकी नयी गोई बटेसर के मेले से ले आयेगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गये, तो लिखा लेगा। रुपये की क्या चिंता। बनिये अभी से उसकी खुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन संध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिए मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का एक झुंड अपनी तरफ आता दिखायी दिया। वह अपने मन में कहने लगा—इधर से भेड़ों के निकलने का रास्ता न था। क्या खेत की मेंड़ पर से भेड़ों का झुंड नहीं जा सकता था ? भेड़ों को इधर से लाने की क्या जरूरत ? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा ? मालूम होता है, बुद्धू गडेरिया है। बचा को घमंड हो गया है; तभी तो खेतों के बीच से भेड़ें लिये चला आता है। जरा इसकी ढिठाई तो देखो। देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रियायत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ ? अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ तो पाँच ही रुपये सुनावेगा। सारी दुनिया में चार रुपये के कम्बल बिकते हैं, पर यह पाँच रुपये से नीचे की बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गयीं। झींगुर ने ललकार कर कहा—अरे, ये भेड़ कहाँ लिये आते हो ?

बुद्धू नम्र भाव से बोला—महतो, डाँड़ पर से निकल जायेंगी। घूम कर जाऊँगा तो कोस-भर का चक्कर पड़ेगा।

झींगुर—तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिए मैं अपने खेत क्यों कुचलवाऊँ ? डाँड़ ही पर से ले जाना है, तो और खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गये ? क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है ? या धन का घमंड हो गया है ? लौटाओ इनको !

बुद्धू—महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ तो जो सजा चाहे देना।

झींगुर—कह दिया कि लौटाओ इन्हें ! अगर एक भेड़ भी मेंड़ पर आयी तो समझ लो, तुम्हारी खैर नहीं।

बुद्धू—महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों-तले आ जाय, तो मुझे बैठा कर सौ गालियाँ देना।

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किंतु लौटाने में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा, इसी तरह ज़रा-जरा धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका। आज लौट जाऊँ, तो कल को कहीं निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। बारह कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिए फी रात ।) कोड़ी मज़दूरी मिलती थी, इसके उपरान्त दूध बेचता था; ऊन के कम्बल बनाता था। सोचने लगा—इतने गरम हो रहे हैं, मेरा कर ही क्या लेंगे ? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर हो गयीं। खेत में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार-मार कर खेत के किनारे हटाता था और वे इधर-उधर से निकल कर खेत में जा पड़ती थीं। झींगुर ने आग हो कर कहा—तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा !

बुद्धू–तुम्हें देख कर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ।

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया और अपना डंडा सँभाल कर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सबने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों को हांकता था, न झींगुर से कुछ कहता था, बस खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला–अब सीधे चले जाओ ! फिर इधर से आने का नाम न लेना।

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा–झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे।

2

केले को काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना ! उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है। और जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी संधि कर ली तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने घर आ कर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तांत कहा, तो लोग समझाने लगे–झींगुर, तुमने बड़ा अनर्थ किया। जान कर अनजान बनते हो। बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जा कर उसे मना लो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफ्त आ जायगी। झींगुर की समझ में बात आयी। पछताने लगा कि मैंने कहाँ-से-कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्याण दबे रहने में ही है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठा कर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किंतु दूसरों के आग्रह से मजबूर हो कर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था, चारों ओर अंधकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देख कर चौक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, यह आशामय भ्रम शांत होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिए वह घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानों बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा ! अंत में जब वह खेत पर पहुँचा, तो आग प्रचंड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने 'हाय-हाय' मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े और खेतों से अरहर के पौधे उखाड़ कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त हो कर शस्त्र-प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाये, प्राण हथेली पर लिये, अग्निराशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बच कर, निकल

आता था। अन्त में मानव-दल की विजय हुई; किन्तु ऐसी विजय जिस पर हार भी हँसती। गाँव भर की ऊख जल कर भस्म हो गयी, और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गयीं।

3

आग किसने लगायी यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाणहीन तर्क का मूल्य ही क्या ? झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोक प्रत्यक्ष कहते थे—यह आग तुमने लगवायी। तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया। तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आप-के-आप गये, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता ? झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का? दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगंध उड़ती रहती थी, भट्ठियां जलती रहती थीं और लोग भट्ठियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंड के मारे लोग साँझ ही से किवाड़ें बंद करके पड़ रहते और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था। ऊख केवल धनदाता ही नहीं, किसानों का जीवनदाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियां तापते हैं, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते जो रात को भट्ठियों की राख में सोया करते थे ठंड से मर गये। कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ और सारा गाँव खाँसी-बुखार में ग्रस्त हो गया। और यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की !

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया और वह चैन की बंशी बजा रहा है ! मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा।

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था। झींगुर ने उससे रब्त-जब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू का दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल सन्देह नहीं है। एक दिन कम्बल लेने के बहाने गया। फिर दूध लेने के बहाने गया। बुद्धू उसका खूब आदर-सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है, वह उसे बिना दूध और शरबत पिलाये न आने देता। झींगुर आजकल एक सन लपेटनेवाली कल में मजदूरी करने जाया करता था। बहुधा कई-कई दिनों की मजदूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोजाना खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने खूब रब्त-जब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो ? सच कहना।

झींगुर ने गम्भीर भाव से कहा—मैं उससे कहूँ, भैया तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मेरा घमंड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।

बूद्धू—में जो तुम्हारी जगह होता, तो बिना उसका घर जलाये न मानता।

झींगुर—चार दिन की जिंदगानी में बैर-विरोध बढ़ाने से क्या फायदा है ? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा ?

बुद्धू—बस, यही आदमी का धर्म है। पर भाई क्रोध के बस में हो कर बुद्धि उलटी हो जाती है।

4

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिए खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाजार गरम था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज करता तो बेलाग कहता—तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे, मत रखो। लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती ! ग़रज थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे घेरे ही रहते थे, मानो पंडे किसी यात्री के पीछे हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट् आकार समेट कर उसे कागज़ के चंद अक्षरों में छिपा लेती है। कभी-कभी मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती है; आकार का लोप हो जाता है। किंतु उनके रहने को बहुत स्थान की जरूरत होती है। वह आयी, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवायी गयीं। यों कहिए कि मकान नये सिरे से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी के खपरों का आँवा लगाने के लिए उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकंडे। दीवार की उठवायी देनी पड़ी। वह भी नकद नहीं; भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ्त में अच्छा-खासा घर तैयार हो गया। गृह-प्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मजदूरी करता, तो कहीं आधा पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था ? यह अन्याय किससे सहा जायगा ?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर 'राम-राम' की, और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर-थर काँपते थे।

झींगुर ने चिलम पीते-पीते कहा—आजकल फाग-वाग नहीं होता क्या ? सुनायी नहीं देता।

हरिहर—फाग क्या हो, पेट के धंधे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो, तुम्हारी आजकल कैसी निभती है ?

झींगुर—क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल ! दिन-भर कल में मजदूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं ! अब गृहपरवेस की धूम है। सातों गाँव में सुपारी जायगी!

हरिहर—लच्छिमी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है। पर उसको देखो, धरती पर पैर नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठ ही कर बोलता है।

झींगुर—क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का ! पर यार, यह अनीति

तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे, तो सिर झुका कर चलना चाहिए। यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बानी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाये खेतों में कौए हँकाया करता था आज उसका आसमान में दिया जलता है।

हरिहर—कहो, तो कुछ उतजोग करूँ ?

झींगुर—क्या करोगे ! इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।

हरिहर—भेड़ें तो हैं।

झींगुर—क्या, बगला मारे पखना हाथ।

हरिहर-फिर तुम्हीं सोचो।

झींगुर—ऐसी जुगुत निकालो कि फिर पनपने न पावे।

इसके बाद फुस-फुस करके बातें होने लगीं। वह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम। विद्वान् विद्वान् को देख कर, साधु साधु को देख कर और कवि कवि को देख कर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता। पर जुआरी जुआरी को देख कर, शराबी शराबी को देख कर, चोर चोर को देख कर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है। एक पंडितजी अगर अँधेरे में ठोकर खा कर गिर पड़ें, तो दूसरे पंडितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगायेंगे कि वह फिर उठ ही न सकें। पर एक चोर पर आफ़त आयी देख दूसरा चोर उसकी मदद करता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिए बुरों में परस्पर प्रेम होता है। भलाई की सारा संसार प्रशंसा करता है, इसलिए भलों से विरोध होता है। चोर को मार कर चोर क्या पायेगा ? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पायेगा ? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली। षड्यंत्र रचने की विधि सोची गयी। उसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया गया। झींगुर चला, तो अकड़ा जाता था। मार लिया दुश्मन को, अब कहाँ जाता है !

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा। बुद्धू ने पूछा—क्यों, आज नहीं गये क्या ?

झींगुर—जा तो रहा हूँ। तुमसे यही कहने आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया करते। बेचारी खूँटे में बँधी-बँधी मरी जाती है। न घास, न चारा, क्या खिलायें ?

बुद्धू—भैया, मैं गाय-भैंस नही रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरिहर ने मेरी दो गउएं मार डालीं। न जाने क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा। लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसका कोई क्या करेगा। जब चाहो, पहुँचा दो।

यह कह कर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगे। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रखा था। केवल सत्यनारायण की कथा की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गयीं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी और न किसी को करते देखी थी। मजदूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुँचाना था। उसी रात को बुद्धू के यहां सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्मभोज भी किया

गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुजरी। भेड़ों के झुंड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकाल भोजन करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सबेरे मिला) कि एक आदमी ने आ कर खबर कर दी—बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है ! भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी !

बुद्धू ने सुना, और मानो ठोकर लग गयी। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला—हाय-हाय, मेरी बछिया ! चलो, जरा देखूँ तो। मैंने तो पगहिया नहीं लगायी थी। उसे भेड़ों में पहुँचा कर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी ?

बुद्धू—भगवान् जाने जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।

झींगुर—जाते न तो पगहिया कौन लगा देता ? गये होगे, याद न आती होगी।

एक ब्राह्मण—मरी तो भेड़ों में ही न ? दुनिया तो यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।

हरिहर—मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाँधते देखा था।

बुद्धू—मुझे ?

हरिहर—तुम नहीं लाठी कंधे पर रखे बछिया को बाँध रहे थे ?

बुद्धू—बड़ा सच्चा है तू ! तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था ?

हरिहर—तो मुझ पर काहे बिगड़ते हो भाई ? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।

ब्राह्मण—इसका निश्चय करना होगा। गोहत्या का प्रायश्चित करना पड़ेगा। कुछ हँसी ठट्ठा है।

झींगुर—महाराज, कुछ जान-बूझ कर तो बाँधी नहीं।

ब्राह्मण—इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है; कोई गऊ को मारने नहीं जाता।

झींगुर—हाँ, गऊओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।

ब्राह्मण—शास्त्रों में इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।

झींगुर—हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इनका मान होता है। जो माता, सो गऊ। लेकिन महाराज, चूक हो गयी। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बेचारा निपट जाय ?

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूटनीति भी समझ रहा था। मैं लाख कहूँ, मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन ? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित से बचने के लिए ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित कराने में कल्याण होता था। भला ऐसे अवसर पर कब चूकने वाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गयी। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की घात मिली। तीन मास का भिक्षा दंड दिया, फिर सात तीर्थस्थानों की यात्रा; उस पर पांच सौ विप्रों का भोजन और पांच गउओं का दान। बुद्धू ने सुना, तो बधिया बैठ गयी। रोने लगा, तो डंड घटा कर दो मास कर दिया। इसके सिवा कोई रियायत नहीं हो सकी। न कहीं अपील, न कहीं फ़रियाद ! बेचारे को यह दंड स्वीकार करना पड़ा।

बूद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपीं। लड़के छोटे थे। स्त्री अकेली क्या-क्या करती। ग़रीब जा कर द्वारों पर खड़ा होता और मुँह छिपाये हुए कहता—गाय की बाछी दिया बनवास। भिक्षा तो मिल जाती, किंतु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर अपमानजनक शब्द भी सुनने पड़ते। दिन को जो-कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बना कर खा लेता और वहीं पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी। पर करे क्या ?

दो महीने के बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना, मानो साठ वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थयात्रा के लिए रुपयों का प्रबन्ध करना था, गड़रियों को कौन महाजन कर्ज़ दे! भेड़ों का भरोसा क्या ? कभी-कभी रोग फैलता है, तो रात भर में दल-का-दल साफ़ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना, जब भेड़ों से कोई आदमनी होने की आशा नहीं। एक तेली राजी भी हुआ, तो दो रुपये ब्याज पर। आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो जायगा। यहाँ कर्ज़ लेने की हिम्मत न पड़ी। इधर दो महीनों में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गयी थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँव वाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते और पीछे मार कर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड न सकते, और जो देख भी लेते तो लडें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश हो कर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुलाया और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। 500 रु. हाथ लगे। उसमें से दो सौ रुपये ले कर तीर्थयात्रा करने गया। शेष रुपये ब्रह्मभोज आदि के लिए छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार सेंध लगी। पर यह कुशल हुई कि जगहट हो जाने के कारण रुपये बच गये।

5

सावन का महीना था। चारों ओर हरियाली छायी हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बटाई पर दे दिये थे। बुद्धू प्रायश्चित से निवृत्त हो गया था और उसके साथ ही माया के फन्दे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता और किस लिए जलता ?

सन की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था। शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हजारों मजदूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मजदूरी के पैसे ले कर घर आता था और रात-भर रह कर सबेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मजदूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा दुर्बल आदमी है, कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिए रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रखे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। 'राम-राम' हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन-भर दोनों चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

संध्या समय झींगुर ने पूछा—कुछ बनाओगे न ?

बुद्धू—नहीं तो खाऊँगा क्या ?

झींगुर—मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे।

बुद्धू—इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान् पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।

झींगुर—तवा भी तो नहीं है ?

बुद्धू—तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँजे लेता हूँ।

आग जली, आटा गूँथा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनायीं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खायीं। फिर चिलम भरी गयी। दोनों आदमी पत्थर की शिलों पर लेटे, और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगायी थी।

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—जानता हूँ।

थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—बछिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—जानता हूँ।

फिर दोनों सो गये।

[हिन्दी कहानी। 'विशाल भारत' (मासिक पत्रिका), अप्रैल, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'राहे नजात' शीर्षक से 'फिरदौसे ख्याल' (उर्दू कहानी-संग्रह) में संकलित।]

मुक्तिधन

भारतवर्ष में जितने व्यवसाय हैं, उन सबमें लेन-देन का व्यवसाय सबसे लाभदायक है। आमतौर पर सूद की दर पच्चीस रुपये सैकड़ा सालाना है। प्रचुर स्थावर या जंगम सम्पत्ति पर बारह रुपये सैकड़े सालाना सूद लिया जाता है, इससे कम ब्याज पर रुपया मिलना प्रायः असंभव है। बहुत कम ऐसे व्यवसाय हैं, जिनमें पन्द्रह रुपये सैकड़े से अधिक लाभ हो और वह भी बिना किसी झंझट के। उस पर नजराने की रकम अलग, लिखायी, दलाली अलग, अदालत का खर्चा अलग। ये सब रकमें भी किसी न किसी तरह महाजन ही की जेब में जाती हैं। यही कारण है कि यहाँ लेन-देन का धंधा इतनी तरक्क़ी पर है। वकील, डॉक्टर, सरकारी कर्मचारी, जमींदार कोई भी जिसके पास कुछ फालतू धन हो, यह व्यवसाय कर सकता है। अपनी पूँजी का सदुपयोग का यह सर्वोत्तम साधन है। लाला दाऊदयाल भी इसी श्रेणी के महाजन थे। वह कचहरी मे मुख्तारगिरी करते थे और जो कुछ बचत होती थी, उसे पच्चीस-तीस रुपये सैकड़ा वार्षिक ब्याज पर उठा देते थे। उनका व्यवहार अधिकतर निम्न श्रेणी के मनुष्यों से ही रहता था। उच्च वर्ण वालों से वह चौकन्ने रहते थे,

उन्हें अपने यहाँ फटकने ही न देते थे। उनका कहना था (और प्रत्येक व्यवसायी पुरुष उसका समर्थन करता है) कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या कायस्थ को रुपये देने से यह कहीं अच्छा है कि रुपया कुएँ में डाल दिया जाय। इनके पास रुपये लेते समय तो अतुल सम्पत्ति होती है; लेकिन रुपये हाथ में आते ही वह सारी सम्पत्ति गायब हो जाती है। उस पर पत्नी, पुत्र या भाई का अधिकार हो जाता है अथवा यह प्रकट होता है कि उस सम्पत्ति का अस्तित्व ही न था। इनकी कानूनी व्यवस्थाओं के सामने बड़े-बड़े नीति-शास्त्र के विद्वान् भी मुँह की खा जाते हैं।

लाला दाऊदयाल एक दिन कचहरी से घर आ रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक विचित्र घटना देखी। एक मुसलमान खड़ा अपनी गऊ बेच रहा था, और कई आदमी उसे घेरे खड़े थे। कोई उसके हाथ में रुपये रखे देता था, कोई उसके हाथ से गऊ की पगहिया छीनने की चेष्टा करता था; किंतु वह ग़रीब मुसलमान एक बार उन ग्राहकों के मुँह की ओर देखता था और कुछ सोच कर पगहिया को और भी मजबूत पकड़ लेता था। गऊ मोहनी-रूप थी। छोटी-सी गरदन, भारी पुट्ठे और दूध से भरे हुए थन थे। पास ही एक सुन्दर, बलिष्ठ बछड़ा गऊ की गर्दन से लगा हुआ खड़ा था। मुसलमान बहुत क्षुब्ध और दुखी मालूम होता था। वह करुण नेत्रों से गऊ को देखता और दिल ममोस कर रह जाता था। दाऊदयाल गऊ को देख कर रीझ गये। पूछा—क्यों जी, यह गऊ बेचते हो ? क्या नाम है तुम्हारा ?

मुसलमान ने दाऊदयाल को देखा तो, प्रसन्नमुख उनके समीप जा कर बोला—हाँ हुज़ूर, बेचता हूँ।

दाऊ.—कहाँ से लाये हो ? तुम्हारा नाम क्या है ?

मुस.—नाम तो है रहमान। पचौली में रहता हूँ।

दाऊ.—दूध देती है ?

मुस.—हाँ हजूर, एक बेला में तीन सेर दुह लीजिये। अभी दूसरा ही तो बेत है। इतनी सीधी है कि बच्चा भी दुह ले। बच्चे पैर के पास खेलते रहते हैं, पर क्या मज़ाल कि सिर भी हिलावे।

दाऊ.—कोई तुम्हें यहाँ पहचानता है ?

मुख्तार साहब को शुबहा हुआ कि कहीं चोरी का माल न हो।

मुस.—नहीं, हजूर, ग़रीब आदमी हूँ, मेरी किसी से जान-पहचान नहीं है।

दाऊ.—क्या दाम माँगते हो ?

रहमान ने पचास रुपये बतलाये। मुख्तार साहब को तीस रुपये का माल जँचा। कुछ देर तक दोनों ओर से मोल-भाव होता रहा। एक को रुपयों की ग़रज थी और दूसरे को गऊ की चाह। सौदा पटने में कोई कठिनाई न हुई। पैंतीस रुपये पर सौदा तय हो गया।

रहमान ने सौदा तो चुका लिया; पर अब भी वह मोह के बंधन में पड़ा हुआ था। कुछ देर तक सोच में डूबा खड़ा रहा, फिर गऊ को लिये मंद गति से दाऊदयाल के पीछे-पीछे चला। तब एक आदमी ने कहा—अबे हम छत्तीस रुपये देते हैं। हमारे साथ चल।

रहमान—नहीं देते तुम्हें; क्या कुछ ज़बरदस्ती है ?

दूसरे आदमी ने कहा—हमसे चालीस रुपये ले ले, अब तो खुश हुआ ?

यह कह कर उसने रहमान के हाथ से गाय को ले लेना चाहा; मगर रहमान ने हामी

न भरी। आखिर उन सबने निराश होकर अपनी राह ली।

रहमान जब जरा दूर निकाल गया, तो दाऊदयाल से बोला—हजूर, आप हिंदू हैं इसे लेकर आप पालेंगे, इसकी सेवा करेंगे। ये सब कसाई हैं, इनके हाथ मैं पचास रुपये को भी कभी न बेचता। आप बड़े मौके से आ गये, नहीं तो ये सब ज़बरदस्ती से गऊ को छीन ले जाते। बड़ी विपत में पड़ गया हूँ, सरकार, तब यह गाय बेचने निकला हूँ। नहीं तो इस घर की लक्ष्मी को कभी न बेचता। इसे अपने हाथों से पाला-पोसा है। कसाइयों के हाथ कैसे बेच देता ? सरकार इसे जितनी ही खली देंगे, उतना ही यह दूध देगी। भैंस का दूध भी इतना मीठा और गाढ़ा नहीं होता। हजूर से एक अरज और है, अपने चरवाहे को डाँट दीजियेगा कि इसे मारे-पीटे नहीं।

दाऊदयाल ने चकित हो कर रहमान की ओर देखा। भगवान ! इस श्रेणी के मनुष्य में भी इतना सौजन्य, इतनी सहृदयता है ! यहाँ तो बड़े-बड़े तिलक त्रिपुंडधारी महात्मा कसाइयों के हाथ गउएँ बेच जाते हैं; एक पैसे का घाटा भी नहीं उठाना चाहते। और यह ग़रीब पांच रुपये का घाटा सह कर इसलिए मेरे हाथ गऊ बेच रहा है कि यह किसी कसाई के हाथ न पड़ जाय। गरीबों में भी इतनी समझ हो सकती है !

उन्होंने घर आ कर रहमान को रुपये दिये। रहमान ने रुपये गाँठ में बाँधे, एक बार फिर गऊ को प्रेम-भरी आँखों से देखा और दाऊदयाल को सलाम करके चला गया।

रहमान एक ग़रीब किसान था और ग़रीब के सभी दुश्मन होते हैं। ज़मींदार ने इजाफा-लगान का दावा दायर किया था। उसी की जवाबदेही करने के लिए रुपयों की जरूरत थी। घर में बैलों के सिवा और कोई सम्पत्ति न थी। वह इस गऊ को प्राणों से भी प्रिय समझता था; पर रुपयों की कोई तदबीर न हो सकी, तो विवश हो कर गाय बेचनी पडी।

2

पचौली में मुसलमाना के कई घर थे। अबकी कई साल के बाद हज का रास्ता खुला था। पाश्चात्य महासमर के दिनों में राह बंद थी। गाँव के कितने ही स्त्री-पुरुष हज करने चले। रहमान की बूढ़ी माता भी हज के लिए तैयार हुई। रहमान से बोली—बेटा इतना सवाब करो। बस मेरे दिल में यही एक अरमान बाकी है। इस अरमान को लिए हुए क्यों दुनिया से जाऊँ; खुदा तुमको इस नेकी की सज़ा (फल) देगा। मातृभक्ति ग्रामीणों का विशिष्ट गुण है। रहमान के पास इतने रुपये कहाँ थे कि हज के लिए काफी होते; पर माता की आज्ञा कैसे टालता ? सोचने लगा, किसी से उधार ले लूं। कुछ अबकी ऊख पेर कर दे दूँगा, कुछ अगले साल चुका दूँगा। अल्लाह के फ़जल से ऊख ऐसी हुई कि कभी न हुई थी। यह माँ की दुआ ही का फल है। मगर किससे लूँ ? कम से कम दो सौ रुपये हों, तो काम चले। किसी महाजन से जान-पहचान भी तो नहीं है। यहाँ जो दो-एक बनिये लेन-देन करते हैं, वे तो असामियों की गरदन ही रेतते हैं। चलूँ, लाला दाऊदयाल के पास। इन सबसे तो वही अच्छे हैं। सुना है, वादे पर रुपये लेते हैं, किसी तरह नहीं छोड़ते, लोनी चाहे दीवार को छोड़ दे, दीमक चाहे लकड़ी को छोड़ दे पर वादे पर रुपये न मिले, तो वह असामियों को नहीं छोड़ते। बात पीछे करते हैं, नालिश पहले। हाँ, इतना है कि असामियों की आँख में धूल नहीं

झांकते, हिसाब-किताब साफ रखते हैं। कई दिन वह इसी सोच-विचार में पड़ा रहा कि उनके पास जाऊँ या न जाऊँ। अगर कहीं वादे पर रुपये न पहुँचे, तो ? बिना नालिश किये न मानेंगे। घर-बार, बैल-बधिया, सब नीलाम करा लेंगे। लेकिन जब कोई वश न चला, तो हार कर दाऊदयाल के ही पास गया और रुपये कर्ज़ माँगे।

दाऊ.—तुम्हीं ने तो मेरे हाथ गऊ वेची थी न ?

रहमान—हाँ हजूर !

दाऊ.—रुपये तो तुम्हें दे दूँगा, लेकिन मैं वादे पर रुपये लता हूँ। अगर वादा पूरा न किया, तो तुम जानो। फिर मैं जरा भी रियायत न करूँगा। बताओ कब दोगे?

रहमान ने मन में हिसाब लगा कर कहा—सरकार, दो साल की मियाद रख लें।

दाऊ.—अगर दो साल में न दोगे, तो ब्याज की दर बत्तीस रु. सैकड़े हो जायगी। तुम्हारे साथ इतनी मुरौवत करूँगा कि नालिश न करूँगा ?

रहमान—जो चाहे कीजिएगा। हजूर के हाथ में ही तो हूँ।

रहमान को दो सौ रुपये के एक सौ अस्सी रुपये मिले। कुछ लिखाई कट गई, कुछ नजराना निकल गया, कुछ दलाली में आ गया। घर आया, थोड़ा-सा गुड़ रखा हुआ था, उसे बेचा और स्त्री को समझा-बुझा कर माता के साथ हज को चला।

3

मियाद गुज़र जाने पर लाला दाऊदयाल ने तकाज़ा किया। एक आदमी रहमान के घर भेज कर उसे बुलाया और कठोर स्वर में बोले—क्या अभी दो साल नहीं पूरे हुए ! लाओ, रुपये कहाँ हैं ?

रहमान ने बड़े दीन भाव से कहा—हजूर बड़ी गर्दिश में हूँ। अम्माँ जब से हज करके आयी हैं, तभी से बीमार पड़ी हुई हैं। रात-दिन उन्हीं की दवा-दारू में दौड़ते गुज़रता है। जब तक जीती हैं हजूर कुछ सेवा कर लूँ, पेट का धंधा तो जिन्दगी-भर लगा रहेगा। अबकी कुछ फसिल नहीं हुई हजूर। ऊख पानी बिना सूख गयी। सन खेत में पड़े-पड़े सूख गया। ढोने की मुहलत न मिली। रबी के लिए खेत जोत न सका, परती पड़े हुए हैं। अल्लाह ही जानता है, किस मुसीबत से दिन कट रहे हैं। हजूर के रुपये कौड़ी-कौड़ी अदा करूँगा, साल-भर की और मुहलत दीजिए। अम्माँ अच्छी हुई और मेरे सिर से बला टली।

दाऊदयाल ने कहा—बत्तीस रुपये सैकड़े ब्याज हो जायगा।

रहमान ने जवाब दिया—जैसी हजूर की मरज़ी।

रहमान यह वादा करके घर आया, तो देखा माँ का अंतिम समय आ पहुँचा है। प्राण-पीड़ा हो रही है, दर्शन बदे थे, सो हो गये। माँ ने बेटे को एक बार वात्सल्य दृष्टि से देखा, आशीर्वाद दिया और परलोक सिधारी। रहमान अब तक गरदन तक पानी में था, अब पानी सिर पर आ गया।

इस वक्त पड़ोसियों से कुछ उधार ले कर दफ़न-कफ़न का प्रबंध किया, किंतु मृत आत्मा की शांति और परितोष के लिए ज़कात और फ़ातिहे की जरूरत थी, कब्र बनवानी ज़रूरी थी, बिरादरी का खाना, ग़रीबों को खैरात, कुरान की तलावत और ऐसे कितने ही संस्कार करने परमावश्यक थे।

मातृ-सेवा का इसके सिवा अब और कौन-सा अवसर हाथ आ सकता था। माता के प्रति समस्त सांसारिक और धार्मिक कर्त्तव्यों का अन्त हो रहा था। फिर तो माता की स्मृति-मात्र रह जायगी, संकट के समय फ़रियाद सुनाने के लिए ? मुझे खुदा ने सामर्थ्य दी होती, तो इस वक्त क्या कुछ न करता; लेकिन अब क्या अपने पड़ोसियों से भी गया-गुजरा हूँ !

उसने सोचना शुरू किया, रुपये लाऊँ कहाँ से ? अब तो लाला दाऊदयाल भी न देंगे। एक बार उनके पास जा कर देखूँ तो सही, कौन जाने, मेरी विपत्ति का हाल सुन कर उन्हें दया आ जाय। बड़े आदमी हैं, कृपादृष्टि हो गयी, तो सौ-दो सौ उनके लिए कौन बड़ी बात है।

इस भाँति मन में सोच-विचार करता हुआ वह लाला दाऊदयाल के पास चला। रास्ते में एक-एक कदम मुश्किल से उठता था। कौन मुँह लेकर जाऊँ ? अभी तीन ही दिन हुए हैं, साल-भर में पिछले रुपये अदा करने का वादा करके आया हूँ। अब जो दौ सौ रुपये और माँगूगा, तो वह क्या कहेंगे। मैं ही उनकी जगह पर होता तो कभी न देता। उन्हें ज़रूर संदेह होगा कि यह आदमी नीयत का बुरा है। कहीं दुत्कार दिया, घुड़कियाँ दीं, तो ? पूछें, तेरे पास ऐसी कौन-सी बड़ी जायदाद है, जिस पर रुपये की थैली दे दूँ, तो क्या जवाब दूँगा? जो कुछ जायदाद है, वह यही दोनों हाथ हैं। उसके सिवा यहाँ क्या है ? घर को कोई सेंत भी न पूछेगा। खेत हैं, तो ज़मींदार के, उन पर अपना कोई काबू ही नहीं। बेकार जा रहा हूं वहाँ धक्के खाकर निकलना पड़ेगा, रही-सही आबरू भी मिट्टी में मिल जायगी।

परन्तु इन निराशाजनक शंकाओं के होने पर भी वह धीरे-धीरे आगे बढ़ा चला जाता था, जैसे कोई अनाथ विधवा थाने फरियाद करने जा रही हो।

लाला दाऊदयाल कचहरी से आ कर अपने स्वभाव के अनुसार नौकरों पर बिगड़ रहे थे—द्वार पर पानी क्यों नहीं छिड़का, बरामदे में कुर्सियाँ क्यों नहीं निकाल रखीं ? इतने में रहमान सामने जा कर खड़ा हो गया।

लाला साहब झल्लाये तो बैठे थे रुष्ट हो कर बोले—तुम क्या करने आये हो जी ? क्यों मेरे पीछे पड़े हो। मुझे इस वक्त बातचीत करने की फुरसत नहीं है।

रहमान कुछ न बोल सका। यह डाँट सुन कर इतना हताश हुआ कि उलटे पैरों लौट पड़ा। हुई न वही बात ! यही सुनने तो मैं आया था ? मेरी अकल पर पत्थर पड़ गये थे !

दाऊदयाल को कुछ दया आ गयी। जब रहमान बरामदे के नीचे उतर गया, तो बुलाया, जरा नर्म हो कर बोले—कैसे आये थे जी ! क्या कुछ काम था ?

रहमान—नहीं सरकार, यों ही सलाम करने चला आया था।

दाऊ.—एक कहावत है—सलामे रोस्ताई बेग़रज नेस्त—किसान बिना मतलब के सलाम नहीं करता। क्या मतलब है कहो।

रहमान फूट-फूट कर रोने लगा। दाऊदयाल ने अटकल से समझ लिया। इसकी माँ मर गयी। पूछा—क्यों रहमान, तुम्हारी माँ सिधार तो नहीं गयीं ?

रहमान—हाँ हजूर, आज तीसरा दिन है।

दाऊ.—रो न, रोने से क्या फायदा ? सब्र करो, ईश्वर को जो मंजूर था, वह हुआ। ऐसी मौत पर ग़म न करना चाहिए। तुम्हारे हाथों उनकी मिट्टी ठिकाने लग गयी।

अब और क्या चाहिए।

रहमान—हजूर, कुछ अरज करने आया हूँ, मगर हिम्मत नहीं पड़ती। अभी पिछला ही पड़ा हुआ है, और अब किस मुँह से माँगूँ ? लेकिन अल्लाह जानता है, कहीं से एक पैसा मिलने की उम्मेद नहीं और काम ऐसा आ पड़ा है कि अगर न करूँ, तो जिंदगी-भर पछतावा रहेगा। आपसे कुछ कह नहीं सकता। आगे आप मालिक हैं। यह समझ कर दीजिए कि कुएँ में डाल रहा हूँ। जिंदा रहूँगा तो एक-एक कौड़ी मय सूद के अदा कर दूँगा। मगर इस घड़ी नहीं न कीजिएगा।

दाऊ.—तीन सौ तो हो गये। दो सौ फिर माँगते हो। दो साल में कोई सात सौ रुपये हो जायँगे। इसकी खबर है या नहीं ?

रहमान—गरीबपरवर ! अल्लाह दे, तो दो बीघे ऊख में पाँच सौ आ सकते हैं। अल्लाह ने चाहा, तो मियाद के अंदर आपकी कौड़ी-कौड़ी अदा कर दूँगा।

दाऊदयाल ने दो सौ रुपये फिर दे दिये। जो लोग उनके व्यवहार से परिचित थे, उन्हें उनकी इस रियायत पर बड़ा आश्चर्य हो रहा था।

4

खेती की हालत अनाथ बालक की-सी है। जल और वायु अनुकूल हुए तो अनाज के ढेर लग गये। इनकी कृपा न हुई, तो लहलहाते हुए खेत कपटी मित्र की भाँति दगा दे गये। ओला और पाल, सूखा और बाढ़, टिड्डी और लाही, दीमक और आँधी से प्राण बचे तो फसल खलिहान में आयी ? और खलिहान से आग और बिजली दोनों ही का बैर है। इतने दुश्मनों से बची तो फ़सल नहीं तो फैसला ! रहमान ने कलेजा तोड़ कर मेहनत की। दिन को दिन और रात को रात न समझा। बीबी-बच्चे दिलोजान से निपट गये। ऐसी ऊख लगी कि हाथी घुसे, तो समा जाय। सारा गाँव दाँतों तले उँगली दबाता था। लोग रहमान से कहते—यार, अबकी तुम्हारे पौ-बारह हैं। हारे दर्जे सात सौ कहीं नहीं गये। अबकी बेड़ा पार है। रहमान सोचा करता अबकी ज्यों ही गुड़ के रुपये हाथ आये, सब के सब ले जा कर लाला दाऊदयाल के कदमों पर रख दूँगा। अगर वह उसमे से खुद दो-चार रुपये निकाल कर देंगे, तो ले लूँगा, नहीं तो अबकी साल और चूनी-चोकर खा कर काट दूँगा।

मगर भाग्य के लिखे को कौन मिटा सकता है। अगहन का महीना था; रहमान खेत की मेंड पर बैठा रखवाली कर रहा था। ओढ़ने को केवल एक पुराने गाढ़े की चादर थी, इसलिए ऊख के पत्ते जला दिये थे। सहसा हवा का एक ऐसा झोंका आया कि जलते हुए पत्ते उड़ कर खेत में जा पहुँचे। आग लग गयी। गाँव के लोग आग बुझाने दौड़े; मगर आग की लपटें टूटते तारों की भाँति एक हिस्से से उड़ कर दूसरे सिरे पर जा पहुँचती थीं, सारे उपाय व्यर्थ हुए। पूरा खेत जल कर राख का ढेर हो गया और खेत के साथ रहमान की सारी अभिलाषाएँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं। गरीब की कमर टूट गयी। दिल बैठ गया। हाथ-पाँव ढीले हो गये। परोसी हुई थाली सामने से छिन गयी। घर आया, तो दाऊदयाल के रुपयों की फिक्र सिर पर सवार हुई। अपनी कुछ फिक्र न थी। बाल-बच्चों की भी फ़िक्र न थी। भूखों और नंगे रहना तो किसान का काम ही है। फ़िक्र क़र्ज़ की। दूसरा साल बीत रहा है। चार दिन में लाला दाऊदयाल का आदमी आता होगा। उसे कौन मुँह दिखाऊँगा ? चल

कर उन्हीं से चिरौरी करूँ कि साल-भर की मुहलत और दीजिए। लेकिन साल-भर में तो सात सौ के नौ सौ हो जायेंगे। कहीं नालिश कर दी, तो हजार ही समझो। साल-भर में ऐसी क्या हुन बरस जायगी। बेचारे कितने भले आदमी हैं, दो सौ रुपये उठा कर दे दिया। खेत भी तो ऐसे नहीं कि बै-रिहन करके आबरू बचाऊँ। बैल भी ऐसे कौन से तैयार हैं कि दो-चार सौ मिल जायँ। आधे भी तो नहीं रहे। अब इज्जत खुदा के हाथ है। मैं तो अपनी-सी करके देख चुका।

सुबह का वक्त था। वह अपने खेत की मेंड पर खड़ा अपनी तबाही का दृश्य देख रहा था। देखा, दाऊदयाल का चपरासी कंधे पर लट्ठ रखे चला आ रहा है। प्राण सूख गये। खुदा, अब तू ही इस मुश्किल को आसान कर। कही आते-ही-आते गालियाँ न देने लगे। या अल्लाह कहाँ छिप जाऊँ ?

चपरासी ने समीप आ कर कहा—रुपये ले कर देना नहीं चाहते ? मियाद कल गुजर गयी। जानते हो न सरकार को ? एक दिन की भी देर हुई और उन्होंने नालिश ठोकी; बेभाव की पड़ेंगी।

रहमान काँप उठा। बोला—यहाँ का हाल तो देख रहे हो न ?

चपरासी—यहाँ हाल-हवाल सुनने का काम नहीं। ये चकमे किसी और को देना सात सौ रुपये ले चलो और चुपके से गिन कर चले आओ।

रहमान—जमादार, सारी ऊख जल गयी। अल्लाह जानता है, अबकी कौड़ी-कौड़ी बेबाक कर देता।

चपरासी—मैं यह कुछ नहीं जानता। तुम्हारी ऊख का किसी ने ठेका नहीं लिया अभी चलो सरकार बुला रहे हैं।

यह कह कर चपरासी उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ चला। गरीब को घर में जा कर पगड़ी बाँधने का मौका न दिया।

5

पाँच कोस का रास्ता कट गया, और रहमान ने एक बार भी सिर न उठाया। बस, रह-रहकर 'या अली मुश्किलकुशा !' उसके मुँह से निकल जाता था। उसे अब इस नाम का भरोसा था। यही जप हिम्मत को सँभाले हुए था, नहीं तो शायद वह वहीं गिर पड़ता। वह नैराश्य की उस दशा को पहुँच गया था, जब मनुष्य की चेतना नहीं उपचेतना शासन करती है।

दाऊदयाल द्वार पर टहल रहे थे। रहमान जा कर उनके कदमों पर गिर पड़ा और बोला—खुदाबंद, बड़ी विपत पड़ी हुई है। अल्लाह जानता है कहीं का नहीं रहा।

दाऊ.—क्या सब ऊख जल गयी ?

रहमान—हजूर सुन चुके हैं क्या ? सरकार जैसे किसी ने खेत में झाड़ू लगा दी हो गाँव के ऊपर ऊख लगी हुई थी गरीबपरवर, यह दैवी आफ़त न पड़ी होती, तो और तो नहीं कह सकता। हजूर से उरिन हो जाता।

दाऊ.—अब क्या सलाह है ? देते हो या नालिश कर दूँ।

रहमान—हजूर मालिक हैं, जो चाहें करें। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि हजूर के रुपये सिर पर हैं और मुझे कौड़ी-कौड़ी देनी है। अपनी सोची नहीं होती। दो बार वादे किये

दोनों बार झूठा पड़ा। अब वादा न करूँगा जब जो कुछ मिलेगा, ला कर हजूर के कदमों पर रख दूँगा। मिहनत-मजूरी से, पेट और तन काट कर, जिस तरह हो सकेगा आपके रुपये भरूँगा।

दाऊदयाल ने मुस्करा कर कहा—तुम्हारे मन में इस वक्त सबसे बड़ी कौन-सी आरजू है ?

रहमान—यही हजूर, कि आपके रुपये अदा हो जायँ। सच कहता हूँ हजूर अल्लाह जानता है।

दाऊ.—अच्छा तो समझ लो कि मेरे रुपये अदा हो गये।

रहमान—अरे हजूर, यह कैसे समझ लूँ यहाँ न दूँगा, तो वहाँ तो देने पड़ेंगे।

दाऊ.—नहीं रहमान, अब इसकी फिक्र मत करो। मैं तुम्हें आजमाता था।

रहमान—सरकार, ऐसा न कहें। इतना बोझ सिर पर ले कर न मरूँगा।

दाऊ.—कैसा बोझ जी, मेरा तुम्हारे ऊपर कुछ आता ही नहीं। अगर कुछ आता भी हो, तो मैंने माफ़ कर दिया; यहाँ भी, वहाँ भी। अब तुम मेरे एक पैसे के भी देनदार नहीं हो। असल में मैंने तुमसे जो कर्ज लिया था, वही अदा कर रहा हूँ। मैं तुम्हारा कर्ज़दार हूँ, तुम मेरे कर्ज़दार नहीं हो। तुम्हारी गऊ अब तक मेरे पास है। उसने मुझे कम से कम आठ सौ रुपये का दूध दिया है ! दो बछड़े नफे में अलग। अगर तुमने यह गऊ कसाइयों को दे दी होती, तो मुझे इतना फ़ायदा क्योंकर होता ? तुमने उस वक्त पाँच रुपये का नुकसान उठा कर गऊ मेरे हाथ बेची थी। वह शराफत मुझे याद है। उस एहसान का बदला चुकाना मेरी ताक़त से बाहर है। जब तुम इतने ग़रीब और नादान होकर एक गऊ की जान के लिए पाँच रुपये का नुकसान उठा सकते हो, तो मैं तुम्हारी सौगुनी हैसियत रख कर अगर चार-पाँच सौ रुपये माफ कर देता हूँ, तो कोई बड़ा काम नहीं कर रहा हूँ। तुमने भले ही जान कर मेरे ऊपर कोई एहसान न किया हो, पर असल में वह मेरे धर्म पर एहसान था। मैंने भी तो तुम्हें धर्म के काम ही के लिए रुपये दिये थे। बस हम-तुम दोनों बराबर हो गये। तुम्हारे दोनों बछड़े मेरे यहाँ हैं, जी चाहे लेते जाओ, तुम्हारी खेती में काम आयेंगे। तुम सच्चे और शरीफ़ आदमी हो, मैं तुम्हारी मदद करने को हमेशा तैयार रहूँगा। इस वक्त भी तुम्हें रुपयों की जरूरत हो, तो जितने चाहो, ले सकते हो।

रहमान को ऐसा मालूम हुआ कि उसके सामने कोई फ़रिश्ता बैठा हुआ है। मनुष्य उदार हो, तो फ़रिश्ता है; और नीच हो, तो शैतान। ये दोनों मानवी वृत्तियों ही के नाम हैं। रहमान के मुँह से धन्यवाद के शब्द भी न निकल सके। बड़ी मुश्किल से आँसुओं को रोक कर बोला—हजूर को इस नेकी का बदला खुदा देगा। मैं तो आज से अपने को आपका गुलाम ही समझूँगा।

दाऊ.—नहीं जी तुम मेरे दोस्त हो।

रहमान—नहीं हजूर, गुलाम।

दाऊ.—गुलाम छुटकारा पाने के लिए जो रुपये देता है, उसे मुक्तिधन कहते हैं। तुम बहुत पहले 'मुक्तिधन' अदा कर चुके। अब भूल कर भी यह शब्द मुँह से न निकालना।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'माधुरी', मई, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित।]

क्षमा

मुसलमानों को स्पेन-देश पर राज्य करते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मसजिदें बनती जाती थीं, घंटों की जगह अजान की आवाजें सुनाई देती थीं। ग़रनाता और अलहमरा में वे समय की नश्वर गति पर हँसनेवाले प्रासाद बन चुके थे, जिनके खंडहर अब तक देखनेवालों को अपने पूर्व ऐश्वर्य की झलक दिखाते हैं। ईसाइयों के गण्यमान्य स्त्री और पुरुष मसीह की शरण छोड़ कर इस्लामी भ्रातृत्व में सम्मिलित होते जाते थे, और आज तक इतिहासकारों को यह आश्चर्य है कि ईसाइयों का निशान वहाँ क्योंकर बाकी रहा! जो ईसाई-नेता अब तक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाते थे, और अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे उनमें एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद विद्वान और साहसी था। वह अपने इलाके में इस्लाम को कदम न जमाने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रांतों से आ कर उसके शरणागत होते थे और वह बड़ी उदारता से उनका पालन-पोषण करता था। मुलसमान दाऊद से सशंक रहते थे। वे धर्म-बल से उस पर विजय न पा कर उसे अस्त्र-बल से परास्त करना चाहते थे; पर दाऊद कभी उनका सामना न करता। हाँ, जहाँ कहीं ईसाइयों के मुसलमान होने की खबर पाता, हवा की तरह पहुँच जाता और तर्क या विनय से उन्हें अपने धर्म पर अचल रहने की प्रेरणा देता। अंत में मुसलमानों ने चारों तरफ से घेर कर उसे गिरफ्तार करने की तैयारी की। सेनाओं ने उसके इलाके को घेर लिया। दाऊद को प्राण-रक्षा के लिए अपने सम्बन्धियों के साथ भागना पड़ा। वह घर से भाग कर ग़रनाता में आया, जहाँ उन दिनों इस्लामी राजधानी थी। वहाँ सबसे अलग रह कर वह अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करने लगा। मुसलमानों के गुप्तचर उसका पता लगाने के लिए बहुत सिर मारते थे, उसे पकड़ लाने के लिए बड़े-बड़े इनामों की विज्ञप्ति निकाली जाती थीं; पर दाऊद की टोह न मिलती थी।

2

एक दिन एकांतवास से उकता कर दाऊद ग़रनाता के एक बाग में सैर करने चला गया। संध्या हो गयी थी। मुसलमान नीची अबाएँ पहने, बड़े-बड़े अमामे सिर पर बाँधे, कमर से तलवार लटकाये रविशों में टहल रहे थे। स्त्रियाँ सफेद बुरके ओढ़े, जरी की जूतियाँ पहने बेंचों और कुरसियों पर बैठी हुई थीं। दाऊद सबसे अलग हरी-हरी घास पर लेटा हुआ सोच रहा था कि वह दिन कब आयेगा जब हमारी जन्मभूमि इन अत्याचारियों के पंजे से छूटेगी ! वह अतीत काल की कल्पना कर रहा था, जब ईसाई स्त्री और पुरुष इन रविशों में टहलते होंगे, जब यह स्थान ईसाइयों के परस्पर वाग्विलास से गुलजार होगा।

सहसा एक मुसलमान युवक आ कर दाऊद के पास बैठ गया। वह उसे सिर से पाँव तक अपमान सूचक दृष्टि से देख कर बोला—क्या अभी तक तुम्हारा हृदय इस्लाम की ज्योति से प्रकाशित नहीं हुआ ?

दाऊद ने गम्भीर भाव से कहा—इस्लाम की ज्योति पर्वत-शृंगों को प्रकाशित कर सकती है। अँधेरी घाटियों में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

उस मुसलमान अरब का नाम जमाल था। यह आक्षेप सुन कर तीखे स्वर में

बोला—इससे तुम्हारा क्या मतलब है ?

दाऊद—इससे मेरा मतलब यही है कि ईसाइयों में जो लोग उच्च-श्रेणी के हैं, वे जागीरों और राज्याधिकारों के लोभ तथा राजदंड के भय से इस्लाम की शरण में आ सकते हैं; पर दुर्बल और दीन ईसाइयों के लिए इस्लाम में वह आसमान की बादशाहत कहाँ है जो हजरत मसीह के दामन में उन्हें नसीब होगी ! इस्लाम का प्रचार तलवार के बल से हुआ है, सेवा के बल से नहीं।

जमाल अपने धर्म का अपमान सुन कर तिलमिला उठा। गरम हो कर बोला—यह सर्वथा मिथ्या है। इस्लाम की शक्ति उसका आंतरिक भ्रातृत्व और साम्य है, तलवार नहीं।

दाऊद—इस्लाम ने धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया है, उसमें उसकी सारी मसजिदें डूब जायँगी।

जमाल—तलवार ने सदा सत्य की रक्षा की है।

दाऊद ने अविचलित भाव से कहा—जिसको तलवार का आश्रय लेना पड़े, वह सत्य ही नहीं।

जमाल जातीय गर्व से उन्मत्त हो कर बोला—जब तक मिथ्या के भक्त रहेंगे, तब तक तलवार की जरूरत भी रहेगी।

दाऊद—तलवार का मुँह ताकने वाला सत्य ही मिथ्या है।

अरब ने तलवार के कब्जे पर हाथ रख कर कहा—खुदा की कसम, अगर तुम निहत्थे न होते, तो तुम्हें इस्लाम की तौहीन करने का मजा चखा देता।

दाऊद ने अपनी छाती में छिपाई हुई कटार निकाल कर कहा—नहीं, मैं निहत्था नहीं हूँ। मुसलमानों पर जिस दिन इतना विश्वास करूँगा, उस दिन ईसाई न रहूँगा। तुम अपने दिल के अरमान निकाल लो।

दोनों ने तलवारें खींच लीं। एक दूसरे पर टूट पड़े। अरब की भारी तलवार ईसाई की हलकी कटार के सामने शिथिल हो गयी। एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उठती थी। लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी। दोनों योद्धाओं में कुछ देर तक चोटें होती रहीं। सहसा एक बार नागिन उछल कर अरब के अंतस्तल में जा पहुँची। वह भूमि पर गिर पड़ा।

3

जमाल के गिरते ही चारों तरफ से लोग दौड़ पड़े। वे दाऊद को घेरने की चेष्टा करने लगे। दाऊद ने देखा, लोग तलवारें लिये दौड़े चले आ रहे हैं। प्राण लेकर भागा; पर जिधर जाता था, सामने बाग की दीवार रास्ता रोक लेती थी। दीवार ऊँची थी, उसे फाँदना मुश्किल था। यह जीवन और मृत्यु का संग्राम था। कहीं शरण की आशा नहीं, कहीं छिपने का स्थान नहीं। उधर अरबों की रक्त-पिपासा प्रतिक्षण तीव्र होती जाती थी। यह केवल एक अपराधी को दंड देने की चेष्टा न थी। जातीय अपमान का बदला था। एक विजित ईसाई की यह हिम्मत कि अरब पर हाथ उठाये ! ऐसा अनर्थ !

जिस तरह पीछा करनेवाले कुत्तों के सामने गिलहरी इधर-उधर दौड़ती है, किसी वृक्ष पर चढ़ने की बार-बार चेष्टा करती है, पर हाथ-पाँव फूल जाने के कारण बार-बार गिर

पड़ती थी, वही दशा दाऊद की थी।

दौड़ते-दौड़ते उसका दम फूल गया; पैर मन-मन भर के हो गये। कई बार जी में आया; इन सब पर टूट पड़े और जितने महँगे प्राण बिक सकें, उतने महँगे बेचे; पर शत्रुओं की संख्या देख कर हतोत्साह हो जाता था।

लेना, दौड़ना, पकड़ना का शोर मचा हुआ था। कभी-कभी पीछा करनेवाले इतने निकट आ जाते थे कि मालूम होता था, अब संग्राम का अंत हुआ, वह तलवार पड़ी; पर पैरों की एक ही गति, एक कावा, एक कन्नी उसे खून की प्यासी तलवार से बाल-बाल बचा लेती थी।

दाऊद को अब इस संग्राम में खिलाड़ियों का-सा आनंद आने लगा। यह निश्चय था कि उसके प्राण नहीं बच सकते, मुसलमान दया करना नहीं जानते, इसलिए उसे अपने दाँव-पेंच में मजा आ रहा था। किसी वार से बचकर उसे अब इसकी खुशी न होती थी कि उसके प्राण बच गये, बल्कि इसका आनंद होता था कि उसने कातिल को कैसा ज़िच किया।

सहसा उसे अपनी दाहिनी ओर बाग की दीवार कुछ नीची नजर आयी। आह! यह देखते ही उसके पैरों में एक नयी शक्ति का संचार हो गया, धमनियों में नया रक्त दौड़ने लगा। वह हिरन की तरह उस तरफ दौड़ा और एक छलाँग में बाग के उस पार पहुँच गया। जिन्दगी और मौत में सिर्फ एक कदम का फासला था। पीछे मृत्यु थी और आगे जीवन का विस्तृत क्षेत्र। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, झाड़ियाँ ही झाड़ियाँ नजर आती थीं। जमीन पथरीली थी, कहीं ऊँची, कहीं, नीची। जगह-जगह पत्थर की शिलाएँ पड़ी हुई थीं। दाऊद एक शिला के नीचे छिप कर बैठ गया।

दम-भर में पीछे करनेवाले भी वहाँ आ पहुँचे और इधर-उधर झाड़ियों में, वृक्षों पर, गड्ढे में शिलाओं के नीचे तलाश करने लगे। एक अरब उस चट्टान पर आ कर खड़ा हो गया, जिसके नीचे दाऊद छिपा हुआ था। दाऊद का कलेजा धक्-धक् कर रहा था। अब जान गयी ! अरब ने जरा नीचे को झांका और प्राणों का अंत हुआ ? संयोग—केवल संयोग पर अब उसका जीवन निर्भर था। दाऊद ने साँस रोक ली, सन्नाटा खींच लिया। एक निगाह पर उसकी जिंदगी का फैसला था, जिंदगी और मौत में कितना सामीप्य है !

मगर अरबों को इतना अवकाश कहाँ था कि वे सावधान हो कर शिला के नीचे देखते। वहाँ तो हत्यारे को पकड़ने की जल्दी थी। दाऊद के सिर से बला टल गयी। वे इधर-उधर ताक-झाँक कर आगे बढ़ गये।

4

अँधेरा हो गया। आकाश में तारागण निकल आये और तारों के साथ दाऊद भी शिला के नीचे से निकला। लेकिन देखा, उस समय भी चारों तरफ हलचल मची हुई है, शत्रुओं का दल मशालें लिये झाड़ियों में घूम रहा है; नाकों पर भी पहरा है, कहीं निकल भागने का रास्ता नहीं है। दाऊद एक वृक्ष के नीचे खड़ा हो कर सोचने लगा कि अब क्योंकर जान बचे। उसे अपनी जान की वैसी परवा न थी। वह जीवन के सुख-दुख सब भोग चुका था। अगर उसे जीवन की लालसा थी, तो केवल यही देखने के लिए कि इस संग्राम का अंत क्या

होगा? मेरे देशवासी हतोत्साह हो जायेंगे, या अदम्य धैर्य के साथ संग्रामक्षेत्र में अटल रहेंगे।

जब रात अधिक बीत गयी और शत्रुओं की घातक चेष्टा कुछ कम न होती दीख पड़ी तो दाऊद खुदा का नाम लेकर झाड़ियों से निकला और दबे-पाँव, वृक्षों की आड़ में, आदमियों की नजर बचाता हुआ, एक तरफ को चला। वह इन झाड़ियों से निकल कर बस्ती में पहुँच जाना चाहता था। निर्जनता किसी की आड़ नहीं कर सकती। वस्ती का जनबाहुल्य स्वयं आड़ है।

कुछ दूर तक तो दाऊद के मार्ग में कोई बाधा न उपस्थित हुई। वन के वृक्षों ने उसकी रक्षा की, किन्तु जब वह असमतल भूमि से निकल कर समतल भूमि पर आया, तो एक अरब की निगाह उस पर पड़ गयी। उसने ललकारा। दाऊद भागा। 'कातिल भागा जाता है !' यह आवाज हवा में एक ही वार गूँजी और क्षण-भर में चारों तरफ से अरबों ने उसका पीछा किया। सामने बहुत दूर तक आदमी का नामोनिशान न था। बहुत दूर पर एक धुँधला-सा दीपक टिमटिमा रहा था। किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाऊँ। वह उस दीपक की ओर इतनी तेजी से दौड़ रहा था, मानो वहाँ पहुँचते ही अभय पा जायगा। आशा उसे उड़ाये लिये जाती थी। अरबों का समूह पीछे छूट गया; मशालों की ज्योति निष्प्रभ हो गयी। के [illegible] तारागण उसके साथ दौड़े चले आते थे। अंत को वह आशामय दीपक के सामने आ पहुँचा। एक छोटा-सा फूस का मकान था। एक बूढ़ा अरब ज़मीन पर बैठा हुआ रेहल पर कुरान रखे उसी दीपक के मंद प्रकाश से पढ़ रहा था। दाऊद आगे न जा सका। उसकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। वह वहीं शिथिल हो कर गिर पड़ा। रास्ते की थकान घर पहुँचने पर मालूम होती है।

अरब ने उठ कर कहा--तू कौन है ?

दाऊद—एक गरीब ईसाई। मुसीबत में फँस गया हूँ। अब आप ही शरण दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं।

अरब—खुदा-पाक तेरी मदद करेगा। तुम पर क्या मुसीबत पड़ी हुई है ?

दाऊद--डरता हूँ कहीं कह दूँ तो आप भी मेरे खून के [illegible] न हो जायँ।

अरब--अब तू मेरी शरण में आ गया, तो तुझे मुझसे कोई [illegible] न होनी चाहिए। हम मुसलमान हैं, जिसे एक बार अपनी शरण में ले लेते हैं उसकी जिंदगी-भर रक्षा करते हैं।

दाऊद—मैंने एक मुसलमान युवक की हत्या कर डाली है।

वृद्ध अरब का मुख क्रोध से विकृत हो गया, बोला—उसका नाम ?

दाऊद--उसका नाम जमाल था।

अरब सिर पकड़ कर वहीं बैठ गया। उसकी आँखें सुर्ख हो गयीं; गरदन की नसें तन गयीं; मुख पर अलौकिक तेजस्विता की आभा दिखायी दी, नथुने फड़कने लगे। ऐसा मालूम होता था कि उसके मन में भीषण द्वंद्व हो रहा है और वह समस्त विचार-शक्ति से अपने मनोभावों को दबा रहा है। दो-तीन [illegible] ट तक वह इसी उग्र [illegible]स्था में बैठा धरती की ओर ताकता रहा। अंत में अवरुद्ध कंठ से बोला—नहीं-नहीं, शरणागत की रक्षा करनी ही पड़ेगी। आह ! ज़ालिम ! तू जानता है, मैं कौन हूँ। मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ, जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है, तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है ? तूने मेरे खानदान का निशान मिटा दिया है ! मेरा चिराग़ गुल कर

दिया ! आह जमाल मेरा इकलौता बेटा था। मेरी सारी अभिलाषाएँ उसी पर निर्भर थीं। वह मेरी आँखों का उजाला; मुझ अँधे का सहारा, मेरे जीवन का आधार, मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। अभी-अभी उसे कब्र की गोद में लिटा आया हूँ। आह, मेरा शेर, आज खाक के नीचे सो रहा है। ऐसा दिलेर, ऐसा दीनदार, ऐसा सजीला जवान मेरी क़ौम में दूसरा न था। ज़ालिम, तुझे उस पर तलवार चलाते जरा भी दया न आयी। तेरा पत्थर का कलेजा जरा भी न पसीजा ! तू जानता है, मुझे इस वक्त तुझ पर कितना गुस्सा आ रहा है ? मेरा जी चाहता है कि अपने दोनों हाथों से तेरी गरदन पकड़ कर इस तरह दबाऊँ कि तेरी जबान बाहर निकल आये, तेरी आँखें कौड़ियों की तरह बाहर निकल पड़ें। पर नहीं, तूने मेरी शरण ली है, कर्तव्य मेरे हाथों को बाँधे हुए है, क्योंकि हमारे रसूल-पाक ने हिदायत की है, कि जो अपनी पनाह में आये, उस पर हाथ न उठाओ। मैं नहीं चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़ कर दुनिया के साथ अपनी आक़बत भी बिगाड़ लूँ। दुनिया तूने बिगाड़ी, दीन अपने हाथों बिगाड़ूँ ? नहीं। सब्र करना मुश्किल है; पर सब्र करूँगा ताकि नबी के सामने आँखें नीची न करनी पड़ें। आ, घर में आ। तेरा पीछा करनेवाले दौड़े आ रहे हैं। तुझे देख लेंगे, तो फिर मेरी सारी मिन्नत-समाजत तेरी जान न बचा सकेगी। तू नहीं जानता कि अरब लोग खून कभी माफ नहीं करते।

यह कह कर अरब ने दाऊद का हाथ पकड़ लिया, और उसे घर में ले जा कर एक कोठरी में छिपा दिया। वह घर से बाहर निकला ही था कि अरबों का एक दल द्वार पर आ पहुँचा।

एक आदमी ने पूछा—क्यों शेख हसन, तुमने इधर से किसी को भागते देखा है?'

'हाँ देखा है।'

'उसे पकड़ क्यों न लिया ? यही तो जमाल का कातिल था !'

'यह जान कर भी मैंने उसे छोड़ दिया।'

'ऐं ! ग़जब खुदा का ! यह तुमने क्या किया ? जमाल हिसाब के दिन हमारा दामन पकड़ेगा तो हम क्या जवाब देंगे ?'

'तुम कह देना कि तेरे बाप ने तेरे क़ातिल को माफ कर दिया।'

'अरब ने कभी क़ातिल का खून नहीं माफ किया।'

'यह तुम्हारी जिम्मेदारी है, मैं उसे अपने सिर क्यों लूँ ?'

अरबों ने शेख हसन से ज्यादा हुज्जत न की, क़ातिल की तलाश में दौड़े। शेख हसन फिर चटाई पर बैठ कर कुरान पढ़ने लगा, लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था। शत्रु से बदला लेने की प्रवृत्ति अरबों की प्रवृत्ति में बद्धमूल होती थी। खून का बदला खून था। इसके लिए खून की नदियाँ बह जाती थीं, क़बीले-के-क़बीले मर मिटते थे, शहर-के-शहर वीरान हो जाते थे। उस प्रवृत्ति पर विजय पाना शेख हसन को असाध्य-सा प्रतीत हो रहा था। बार-बार प्यारे पुत्र की सूरत उसकी आँखों के आगे फिरने लगती थी, बार-बार उसके मन में प्रबल उत्तेजना होती थी कि चल कर दाऊद के खून से अपने क्रोध की आग बुझाऊँ। अरब वीर होते थे। कटना-मरना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। मरनेवालों के लिए वे आँसुओं की कुछ बूँदें बहा कर फिर अपने काम में प्रवृत्त हो जाते थे। वे मृत व्यक्ति की स्मृति को केवल उसी दशा में जीवित रखते थे, जब उसके खून का बदला

लेना होता था। अन्त को शेख हसन अधीर हो उठा। उसको भय हुआ कि अब मैं अपने ऊपर काबू नहीं रख सकता। उसने तलवार म्यान से निकाल ली और दबे पाँव उस कोठरी के द्वार पर आ कर खड़ा हो गया, जिसमें दाऊद छिपा हुआ था। तलवार को दामन में छिपा कर उसने धीरे से द्वार खोला। दाऊद टहल रहा था। बूढ़े अरब का रौद्र रूप देख कर दाऊद उसके मनोवेग को ताड़ गया। उसे बूढ़े से सहानुभूति हो गयी। उसने सोचा, यह धर्म का दोष नहीं, जाति का दोष नहीं। मेरे पुत्र की किसी ने हत्या की होती, तो कदाचित् मैं भी उसके खून का प्यासा हो जाता। यही मानव प्रकृति है।

अरब ने कहा--दाऊद, तुम्हें मालूम है बेटे की मौत का कितना गम होता है।

दाऊद—इसका अनुभव तो नहीं, पर अनुमान कर सकता हूँ। अगर मेरी जान से आपके उस ग़म का एक हिस्सा भी मिट सके, तो लीजिए, यह सिर हाजिर है। मैं इसे शौक़ से आपकी नज़र करता हूँ। आपने दाऊद का नाम सुना होगा।

अरब—क्या पीटर का बेटा ?

दाऊद—जी हाँ। मैं वही बदनसीब दाऊद हूँ। मैं केवल आपके बेटे का घातक ही नहीं, इस्लाम का दुश्मन हूँ। मेरी जान ले कर आप जमाल के खून का बदला ही न लेंगे, बल्कि अपने जाति और धर्म की सच्ची सेवा भी करेंगे।

शेख हसन ने गम्भीर भाव से कहा—दाऊद, मैंने तुम्हें माफ़ किया। मैं जानता हूँ, मुसलमानों के हाथ ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँची हैं, मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है ! लेकिन यह इस्लाम का नहीं, मुसलमानों का कसूर है। विजय-गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिस पर आज हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया का सर्वोच्च आदर्श हैं। मैं इस्लाम के नाम को बट्टा न लगाऊँगा। मेरी ऊँटनी ले लो और रातों-रात जहाँ तक भागा जाय, भागो। कहीं एक क्षण के लिए भी न ठहरना। अरबों को तुम्हारी बू भी मिल गयी, तो तुम्हारी जान की खैरियत नहीं। जाओ, तुम्हें खुदा-ए-पाक घर पहुँचावे। बूढ़े शेख हसन और उसके बेटे जमाल के लिए खुदा से दुआ किया करना।

दाऊद खैरियत से घर पहुँच गया; किंतु अब वह दाऊद न था, जो इस्लाम को जड़ से खोद कर फेंक देना चाहता था। उसके विचारों में गहरा परिवर्तन हो गया था। अब वह मुलसमानों का आदर करता और इस्लाम का नाम इज्जत से लेता था।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'माधुरी', जून, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'अफ़्व' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', मई, 1924 में प्रकाशित।]

निर्वासन

परशुराम—वहीं-वहीं दालान में ठहरो !

मर्यादा—क्यों, क्या मुझमें कुछ छूत लग गयी

परशुराम—पहले यह बताओ तुम इतने दिनों कहाँ रहीं, किसके साथ रहीं, किस तरह रहीं और फिर यहाँ किसके साथ आयीं ? तब, तब विचार... देखी जायगी।

मर्यादा—क्या इन बातों के पूछने का यही वक्त है; फिर अवसर न मिलेगा ?

परशुराम—हाँ, यही बात है। तुम स्नान करके नदी से तो मेरे साथ ही निकली थीं। मेरे पीछे-पीछे कुछ देर तक आयीं भी; मैं पीछे फिर-फिर कर तुम्हें देखता जाता था, फिर एकाएक तुम कहाँ गायब हो गयीं ?

मर्यादा—तुमने देखा नहीं, नागा साधुओं का एक दल सामने से आ गया। सब आदमी इधर-उधर दौड़ने लगे। मैं भी धक्के में पड़ कर जाने किधर चली गयी। जरा भीड़ कम हुई तो तुम्हें ढूँढने लगी। बासू का नाम ले-ले कर पुकारने लगी, पर तुम न दिखायी दिये।

परशुराम—अच्छा तब ?

मर्यादा—तब मैं एक किनारे बैठ कर रोने लगी, कुछ सूझ ही न पड़ता कि कहां जाऊँ, किससे कहूँ, आदमियों से डर लगता था। संध्या तक वहीं बैठी रोती रही।

परशुराम—इतना तूल क्यों देती हो ? वहाँ से फिर कहाँ गयीं ?

मर्यादा—संध्या को एक युवक ने आ कर मुझसे पूछा, तुम्हारे घर के लोग खो तो नहीं गये हैं ? मैंने कहा—हाँ। तब उसने तुम्हारा नाम, पता ठिकाना पूछा। उसने सब एक किताब पर लिख लिया और मुझसे बोला—मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें तुम्हारे घर भेज दूँगा।

परशुराम—वह आदमी कौन था ?

मर्यादा—वहाँ की सेवा-समिति का स्वयंसेवक था।

परशुराम—तो तुम उसके साथ हो लीं ?

मर्यादा—और क्या करती ? वह मुझे समिति के कार्यालय में ले गया। वहाँ एक शामियाने में एक लम्बी दाढ़ीवाला मनुष्य बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। वही उन सेवकों का अध्यक्ष था। और भी कितने ही सेवक वहाँ खड़े थे। उसने मेरा पता-ठिकाना रजिस्टर में लिख कर मुझे एक अलग शामियाने में भेज दिया, जहां और भी कितनी खोयी हुई स्त्रियां बैठी हुई थीं।

परशुराम—तुमने उसी वक्त अध्यक्ष से क्यों न कहा कि मुझे पहुँचा दीजिए ?

मर्यादा—मैंने एक बार नहीं सैकड़ों बार कहा; लेकिन वह यही कहते रहे, जब तक मेला न खत्म हो जाय और सब खोयी हुई स्त्रियाँ एकत्र न हो जायं, मैं भेजने का प्रवन्ध नहीं कर सकता। मेरे पास न इतने आदमी हैं, न इतना धन।

परशुराम—धन की तुम्हें क्या कमी थी, कोई एक सोने की चीज बेच देती तो काफी रुपये मिल जाते।

मर्यादा—आदमी तो नहीं थे।

परशुराम—तुमने यह कहा था कि खर्च की कुछ चिंता न कीजिए, मैं अपना गहना बेच कर अदा कर दूँगी ?

मर्यादा—नहीं, यह तो मैंने नहीं कहा।

परशुराम—तुम्हें उस दशा में भी गहने इतने प्रिय थे ?

मर्यादा—सब स्त्रियाँ कहने लगीं, घबरायी क्यों जाती हो ? यहां किस बात का डर

है। हम सभी जल्द से जल्द अपने घर पहुँचना चाहती हैं; मगर क्या करें ? तब मैं भी चुप हो रही।

परशुराम—और सब स्त्रियाँ कुएँ में गिर पड़तीं तो तुम भी गिर पड़तीं ?

मर्यादा—जानती तो थी कि यह लोग धर्म के नाते मेरी रक्षा कर रहे हैं, कुछ मेरे नौकर या मजूर नहीं हैं, फिर आग्रह किस मुँह से करती ? यह बात भी है कि बहुत-सी स्त्रियों को वहाँ देख कर मुझे कुछ तसल्ली हो गयी।

परशुराम—हाँ, इससे बढ़ कर तस्कीन की और क्या बात हो सकती थी ? अच्छा, वहाँ के दिन तस्कीन का आनन्द उठाती रहीं ? मेला तो दूसरे ही दिन उठ गया होगा ?

मर्यादा—रात-भर मैं स्त्रियों के साथ उसी शामियाने में रही।

परशुराम—अच्छा, तुमने मुझे तार क्यों न दिलवा दिया ?

मर्यादा—मैंने समझा, जब यह लोग पहुँचाने को कहते ही हैं तो तार क्यों दूँ ?

परशुराम—खैर, रात को तुम वहीं रहीं। युवक बार-बार भीतर आते-जाते रहे होंगे।

मर्यादा—केवल एक बार एक सेवक भोजन के लिए पूछने आया था, जब हम सबों ने खाने से इनकार कर दिया तो वह चला गया और फिर कोई न आया। मैं रात-भर जागती ही रही।

परशुराम—यह मैं कभी न मानूँगा कि इतने युवक वहाँ थे और कोई अंदर न गया होगा। समिति के युवक आकाश के देवता नहीं होते। खैर, वह दाढ़ीवाला अध्यक्ष तो जरूर ही देखभाल करने गया होगा ?

मर्यादा—हाँ, वह आते थे; पर द्वार पर से पूछ-पूछ कर लौट जाते थे। हाँ, जब एक महिला के पेट में दर्द होने लगा था तो दो-तीन बार दवाएँ पिलाने आये थे।

परशुराम—निकली न वही बात ! मैं इन धूर्तों की नस-नस पहचानता हूँ। विशेषकर तिलक-मालाधारी दढ़ियलों को मैं गुरुघंटाल ही समझता हूं। तो वह महाशय कई बार दवाएँ देने गये ? क्यों, तुम्हारे पेट में तो दर्द नहीं होने लगा था ?

मर्यादा—तुम एक साधु पुरुष पर आक्षेप कर रहे हो। वह बेचारे एक तो मेरे बाप के बराबर थे, दूसरे आँखें नीची किये रहने के सिवाय कभी किसी पर सीधी निगाह नहीं करते थे।

परशुराम—हां, वहां सब देवता ही देवता जमा थे। खैर, तुम रात-भर वहाँ रहीं। दूसरे दिन क्या हुआ ?

मर्यादा—दूसरे दिन भी वहीं रही। एक स्वयंसेवक हम सब स्त्रियों को साथ लेकर मुख्य-मुख्य पवित्र स्थानों का दर्शन कराने गया। दोपहर को लौट कर सबों ने भोजन किया।

परशुराम—तो वहाँ तुमने सैर-सपाटा भी खूब किया, कोई कष्ट न होने पाया। भोजन के बाद गाना-बजाना हुआ होगा ?

मर्यादा—गाना-बजाना तो नहीं; हां, सब अपना-अपना दुखड़ा रोती रहीं। शाम तक मेला उठ गया तो दो सेवक हम लोगों को ले कर स्टेशन पर आये।

परशुराम—मगर तुम तो आज सातवें दिन आ रही हो और वह भी अकेली ?

मर्यादा—स्टेशन पर एक दुर्घटना हो गयी।

परशुराम—हाँ, यह तो मैं समझ ही रहा था। क्या दुर्घटना हुई ?

मर्यादा—जब सेवक टिकट लेने जा रहा था, तो एक आदमी ने आ कर उससे कहा—यहाँ गोपीनाथ की धर्मशाला में एक बाबू जी ठहरे हुए हैं, उनकी स्त्री खो गयी है, उनका भला-सा नाम है, गोरे-गोरे लम्बे-से खूबसूरत आदमी हैं, लखनऊ मकान है, झबाई टीले में। तुम्हारा हुलिया उसने ऐसा ठीक बयान किया कि मुझे उस पर विश्वास आ गया। मैं सामने आ कर बोली, तुम बाबू जी को जानते हो ? वह हँस कर बोला, जानता नहीं हूँ तो तुम्हें तलाश क्यों करता फिरता हूँ। तुम्हारा बच्चा रो-रो कर हलकान हो रहा है। सब औरतें कहने लगीं, चली जाओ, तुम्हारे स्वामी जी घबरा रहे होंगे। स्वयंसेवक ने उससे दो-चार बातें पूछ कर मुझे उसके साथ कर दिया। मुझे क्या मालूम था कि मैं किसी नर-पिशाच के हाथों में पड़ी जाती हूँ। दिल में खुशी थी कि अब बासू को देखूँगी, तुम्हारे दर्शन करूँगी। शायद इसी उत्सुकता ने मुझे असावधान कर दिया।

परशुराम—तो तुम उस आदमी के साथ चल दीं ? वह कौन था ?

मर्यादा—क्या बतलाऊँ कौन था ? मैं तो समझती हूँ, कोई दलाल था ?

परशुराम—तुम्हें यह न सूझी कि उससे कहतीं, जा कर बाबू जी को भेज दो ?

मर्यादा—अदिन आते हैं तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

परशुराम—कोई आ रहा है।

मर्यादा—मैं गुसलखाने में छिपी जाती हूँ।

परशुराम—आओ भाभी, क्या अभी सोयीं नहीं, दस तो बज गये होंगे।

भाभी—वासुदेव को देखने को जी चाहता था भैया, क्या सो गया ?

परशुराम—हाँ, वह तो अभी रोते-रोते सो गया है।

भाभी—कुछ मर्यादा का पता मिला ? अब पता मिले तो भी तुम्हारे किस काम की। घर से निकली हुई स्त्रियाँ थान से छूटी हुई घोड़ी है जिसका कुछ भरोसा नहीं।

परशुराम—कहाँ से कहाँ मैं उसे ले कर नहाने गया।

भाभी—होनहार है, भैया होनहार ! अच्छा तो मैं जाती हूँ।

मर्यादा—(बाहर आ कर) होनहार नहीं है, तुम्हारी चाल है। वासुदेव को प्यार करने के बहाने तुम इस घर पर अधिकार जमाना चाहती हो।

परशुराम—बको मत ! वह दलाल तुम्हें कहाँ ले गया ?

मर्यादा—स्वामी, यह न पूछिए, मुझे कहते लज्जा आती है।

परशुराम—यहाँ आते तो और भी लज्जा आनी चाहिए थी।

मर्यादा—मैं परमात्मा को साक्षी देती हूँ, कि मैंने उसे अपना अंग भी स्पर्श नहीं करने दिया।

परशुराम—उसका हुलिया बयान कर सकती हो ?

मर्यादा—साँवला-सा छोटे डील का आदमी था। नीचा कुरता पहने हुए था।

परशुराम—गले में तावीजें भी थीं ?

मर्यादा—हाँ, थीं तो।

परशुराम—वह धर्मशाले का मेहतर था। मैंने उससे तुम्हारे गुम हो जाने की चर्चा की थी। उस दुष्ट ने उसका वह स्वाँग रचा।

मर्यादा—मुझे तो वह कोई ब्राह्मण मालूम होता था।

परशुराम—नहीं मेहतर था। वह तुम्हें अपने घर ले गया ?

मर्यादा—हाँ, उसने मुझे ताँगे पर बैठाया और एक तंग गली में, एक छोटे-से मकान के अंदर ले जा कर बोला, तुम यहीं बैठो, तुम्हारे बाबू जी यहीं आयेंगे। अब मुझे विदित हुआ कि मुझे धोखा दिया गया। रोने लगी। वह आदमी थोड़ी देर के बाद चला गया और एक बुढ़िया आ कर मुझे भाँति-भाँति के प्रलोभन देने लगी। सारी रात रो कर काटी। दूसरे दिन दोनों फिर मुझे समझाने लगे कि रो-रो कर जान दे दोगी, मगर यहाँ कोई तुम्हारी मदद को न आयेगा। तुम्हारा एक घर छूट गया। हम तुम्हें उससे कहीं अच्छा घर देंगे जहाँ तुम सोने के कौर खाओगी और सोने से लद जाओगी। जब मैंने देखा कि यहाँ से किसी तरह नहीं निकल सकती तो मैंने कौशल करने का निश्चय किया।

परशुराम—खैर, सुन चुका। मैं तुम्हारा ही कहना मान लेता हूँ कि तुमने अपनी सतीत्व की रक्षा की, पर मेरा हृदय तुमसे घृणा करता है, तुम मेरे लिए फिर वह नहीं हो सकतीं जो पहले थीं। इस घर में तुम्हारे लिए स्थान नहीं है।

मर्यादा—स्वामी जी, यह अन्याय न कीजिए, मैं आपकी वही स्त्री हूँ जो पहले थी। सोचिए, मेरी क्या दशा होगी ?

परशुराम—मैं यह सब सोच चुका और निश्चय कर चुका। आज छः दिन से यही सोच रहा हूँ। तुम जानती हो कि मुझे समाज का भय नहीं है। छूत विचार को मैंने पहले ही तिलांजलि दे दी, देवी-देवताओं को पहले ही विदा कर चुका, पर जिस स्त्री पर दूसरी निगाहें पड़ चुकीं, जो एक सप्ताह तक न-जाने कहाँ और किस दशा में रही, उसे अंगीकार करना मेरे लिए असम्भव है। अगर यह अन्याय है तो ईश्वर की ओर से है, मेरा दोष नहीं।

मर्यादा—मेरी विवशता पर आपको जरा भी दया नहीं आती ?

परशुराम—जहाँ घृणा है वहाँ दया कहाँ ? मैं अब भी तुम्हारा भरण-पोषण करने को तैयार हूँ। जब तक जीऊँगा, तुम्हें अन्न-वस्त्र का कष्ट न होगा। पर तुम मेरी स्त्री नहीं हो सकतीं।

मर्यादा—मैं अपने पुत्र का मुँह न देखूँ अगर किसी ने मुझे स्पर्श भी किया हो।

परशुराम—तुम्हारा किसी अन्य पुरुष के साथ क्षण-भर भी एकांत में रहना तुम्हारे पतिव्रत को नष्ट करने के लिए बहुत है। यह विचित्र बंधन है, रहे तो जन्म-जन्मांतर तक रहे; टूटे तो क्षण-भर में टूट जाय। तुम्हीं बताओ, किसी मुसलमान ने जबरदस्ती मुझे अपना उच्छिष्ट भोजन खिला दिया होता तो तुम मुझे स्वीकार करतीं ?

मर्यादा—वह... वह... तो दूसरी बात है।

परशुराम—नहीं, एक ही बात है। जहाँ भावों का संबंध है, वहाँ तर्क और न्याय से काम नहीं चलता। यहां तक कि अगर कोई कह दे कि तुम्हारे पानी को मेहतर ने छू लिया है तब भी उसे ग्रहण करने से तुम्हें घृणा आयेगी। अपने ही दिल से सोचो कि तुम्हारे साथ न्याय कर रहा हूँ या अन्याय ?

मर्यादा—मैं तुम्हारी छुई हुई चीजें न खाती, तुमसे पृथक् रहती, पर तुम्हें घर से तो न निकाल सकती थी। मुझे इसीलिए न दुत्कार रहे हो कि तुम घर के स्वामी हो और समझते हो कि मैं इसका पालन करता हूँ।

परशुराम—यह बात नहीं है। मैं इतना नीच नहीं हूँ।

मर्यादा—तो तुम्हारा यह अंतिम निश्चय है ?

परशुराम—हॉं, अंतिम।

मर्यादा—जानते हो इसका परिणाम क्या होगा ?

परशुराम—जानता भी हूँ और नहीं भी जानता।

मर्यादा—मुझे वासुदेव को ले जाने दोगे ?

परशुराम—वासुदेव मेरा पुत्र है।

मर्यादा—उसे एक बार प्यार कर लेने दोगे ?

परशुराम—अपनी इच्छा से नहीं, तुम्हारी इच्छा हो तो दूर से देख सकती हो।

मर्यादा—तो जाने दो, न देखूँगी। समझ लूँगी कि विधवा भी हूँ और वॉंझ भी। चलो मन ! अब इस घर में तुम्हारा निवाह नहीं। चलो जहॉं भाग्य ले जाय !

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी। 'चांद' (मासिक पत्रिका), जून, 1924 मे प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 मे संकलित। उर्दू रूप 'अभागन' शीर्षक से उर्दू कहानी सग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

सौभाग्य के कोड़े

लड़के क्या अमीर के हों, क्या गरीब के, विनोदशील हुआ ही करते हैं। उनकी चंचलता बहुधा उनकी दशा और स्थिति की परवा नहीं करती। नथुवा के मॉं-बाप दोनों मर चुके थे, अनाथों की भांति वह राय भोलानाथ के द्वार पर पड़ा रहता था। रायसाहब दयाशील पुरुष थे। कभी-कभी एक-आधा पैसा दे देते, खाने को भी घर में इतना जूठा बचता था कि ऐसे-ऐसे कई अनाथ अफर सकते थे, पहनने को भी उनके लड़कों के उतारे मिल जाते थे, इसलिए नथुवा अनाथ होने पर भी दुखी नहीं था। रायसाहब ने उसे एक ईसाई के पंजे से छुड़ाया था। इन्हें इसकी परवा न हुई कि मिशन में उसकी शिक्षा होगी, आराम से रहेगा; उन्हें यह मंजूर था कि वह हिंदू रहे। अपने घर के जूठे भोजन को वह मिशन के भोजन से कहीं पवित्र समझते थे। उनके कमरों की सफ़ाई मिशन की पाठशाला की पढ़ाई से कहीं बढ़ कर थी। हिंदू रहे, चाहे जिस दशा में रहे। ईसाई हुआ तो फिर सदा के लिए हाथ से निकल गया।

नथुवा को बस रायसाहब के बंगले में झाड़ू लगा देने के सिवाय और कोई काम न था। भोजन करके खेलता-फिरता था। कर्मानुसार ही उसकी वर्णव्यवस्था भी हो गयी। घर के अन्य नौकर-चाकर उसे भंगी कहते थे और नथुवा को इसमें कोई एतराज न होता था। नाम का स्थिति पर क्या असर पड़ सकता है, इसका उस गरीब को कुछ खबर न थी। भंगी बनने में कुछ हानि भी न थी। उसे झाड़ू देते समय कभी पैसे पड़े मिल जाते, कभी और कोई चीज। इससे वह सिगरेट लिया करता था। नौकरों के साथ उठने-बैठने से उसे बचपन ही में तम्बाकू, सिगरेट और पान खाने का चस्का पड़ गया।

रायसाहब के घर में यों तो बालकों और बालिकाओं की कमी न थी, दरजनों भाँजे-भतीजे पड़े रहते थे; पर उनकी निज की संतान केवल एक पुत्री थी, जिसका नाम रत्ना था। रत्ना को पढ़ाने को दो मास्टर थे, एक मेमसाहब अँग्रेजी पढ़ाने आया करती थीं। रायसाहब की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि रत्ना सर्वगुण आगरी हो और जिस घर में जाय, उसकी लक्ष्मी बने। वह उसे अन्य बालकों के साथ न रहने देते। उसके लिए अपने बँगले में दो कमरे अलग कर दिये थे; एक पढ़ने के लिए, दूसरा सोने के लिए। लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से बच्चे जिद्दी और सरीर हो जाते हैं। रत्ना इतने लाड़-प्यार पर भी बड़ी सुशील बालिका थी। किसी नौकर को 'रे' न पुकारती, किसी भिखारी तक को न दुत्कारती। नथुवा को वह पैसे, मिठाइयाँ दे दिया करती थी। कभी-कभी उससे बातें भी किया करती थी। इससे वह लौंडा उसके मुँह लग गया था।

एक दिन नथुवा रत्ना के सोने के कमरे में झाड़ू लगा रहा था। रतना दूसरे कमरे में मेमसाहब से अँग्रेजी पढ़ रही थी। नथुवा की शामत जो आयी तो झाड़ू लगाते-लगाते उसके मन में यह इच्छा हुई कि रत्ना के पलंग पर सोऊँ; कैसी उजली चादर बिछी हुई है, गद्दा कितना नरम और मोटा है, कैसा सुन्दर दुशाला है ! रत्ना इस गद्दे पर कितने आराम से सोती है, जैसे चिड़िया के बच्चे घोंसले में। तभी तो रत्ना के हाथ इतने गोरे और कोमल हैं, मालूम होता है, देह में रुई भरी हुई है। यहाँ कौन देखता है। यह सोच कर उसने पैर फ़र्श से पोंछे और चटपट पलंग पर आ कर लेट गया और दुशाला ओढ़ लिया। गर्व और आनंद से उसका हृदय पुलकित हो गया। वह मारे खुशी के दो-तीन बार पलंग पर उछल पड़ा। उसे ऐसा मालूम हो रहा था, मानो मैं रुई में लेटा हूँ। जिधर करवट लेता था, देह अंगुल भर नीचे धँस जाती थी। यह स्वर्गीय सुख मुझे कहाँ नसीब! मुझे भगवान् ने रायसाहब का बेटा क्यों न बनाया ? सुख का अनुभव होते ही उसे अपनी दशा का वास्तविक ज्ञान हुआ और चित्त क्षुब्ध हो गया। एकाएक रायसाहब किसी जरूरत से कमरे में आये तो नथुवा को रत्ना के पलंग पर लेटे देखा। मारे क्रोध के जल उठे। बोले—क्यों बे सुअर, तू यह क्या कर रहा है ?

नथुवा ऐसा घबराया मानो नदी में पैर फिसल पड़े हों। चारपाई से कूद कर अलग खड़ा हो गया और फिर झाड़ू हाथ में ले ली।

रायसाहब ने फिर पूछा—यह क्या कर रहा था, बे ?

नथुवा—कुछ तो नहीं सरकार !

रायसाहब—अब तेरी इतनी हिम्मत हो गयी है कि रत्ना की चारपाई पर सोये? नमकहराम कहीं का ! लाना मेरा हंटर।

हंटर मँगवा कर रायसाहब ने नथुवा को खूब पीटा। बेचारा हाथ जोड़ता था, पैरों पड़ता था, मगर रायसाहब का क्रोध शांत होने का नाम न लेता था। सब नौकर जमा हो गये और नथुवा के जले पर नमक छिड़कने लगे। रायसाहब का क्रोध और भी बढ़ा। हंटर हाथ से फेंक कर ठोकरों से मारने लगे। रत्ना ने यह रोना सुना तो दौड़ी हुई आयी और समाचार सुन कर बोली—दादाजी बेचारा मर जायगा; अब इस पर दया कीजिए।

रायसाहब—मर जायगा, उठवा कर फेंकवा दूँगा। इस बदमाशी का मजा तो मिल जायगा।

रत्ना—मेरी ही चारपाई थी न, मैं उसे क्षमा करती हूँ।

रायसाहब—जरा देखो तो अपनी चारपाई की गत। पाजी के बदन की मैल भर गयी होगी। भला, इसे सूझी क्या ? क्यों बे, तुझे सूझी क्या ?

यह कर कर रायसाहब फिर लपके; मगर नथुवा अ. ़र रत्ना के पीछे दुबक गया। इसके सिवा और कहीं शरण न थी। रत्ना ने रोक कर कहा—दादाजी, मेरे कहने से अब इसका अपराध क्षमा कीजिए।

रायसाहब—क्या कहती हो रत्ना, ऐसे अपराधी कहीं क्षमा किये जाते हैं। खैर, तुम्हारे कहने पर छोड़ देता हूँ, नहीं तो आज जान ले कर छोड़ता। सुना बे, नथुवा, अपना भला चाहता है तो फिर यहाँ न आना, इसी दम निकल जा, सुअर, नालायक!

नथुवा प्राण छोड़ कर भागा। पीछे फिर कर न देखा। सड़क पर पहुँच कर वह खड़ा हो गया। यहाँ रायसाहब उसका कुछ नहीं कर सकते थे। यहाँ सब लोग उनकी मुँहदेखी तो न कहेंगे। कोई तो कहेगा कि लड़का था, भूल ही हो गयी तो क्या प्राण ले लीजिएगा ? यहाँ मारें तो देखूँ, गाली दे कर भागूँगा, फिर कौन मुझे पा सकता है। इस विचार से उसकी हिम्मत बँधी। बँगले की तरफ़ मुँह करके जोर से बोला—यहाँ आओ तो देखें, और फिर भागा कि कहीं रायसाहब ने सुन न लिया हो।

2

नथुवा थोड़ी ही दूर गया था कि रत्ना की मेम साहबा अपने टमटम पर सवार आती हुई दिखायी दीं। उसने समझा, शायद मुझे पकड़ने आ रही हैं। फिर भागा, किंतु जब पैरों में दौड़ने की शक्ति न रही तो खड़ा हो गया। उसके मन ने कहा, वह मेरा क्या कर लेंगी, मैंने उनका कुछ बिगाड़ा है ? एक क्षण में मेम साहबा आ पहुँची और टमटम रोक कर बोलीं—नाथू, कहाँ जा रहे हो ?

नथुवा—कहीं नहीं।

मेम.—रायसाहब के यहाँ फिर जायगा तो वह मारेंगे। क्यों नहीं मेरे साथ चलता। मिशन में आराम से रह। आदमी हो जायगा।

नथुवा—किरस्तान तो न बनाओगी ?

मेम.—किरस्तान क्या भंगी से भी बुरा है, पागल !

नथुवा—न भैया, किरस्तान न बनूँगा।

मेम.—तेरा जी चाहे न बनना, कोई जबरदस्ती थोड़े ही बना देगा। नथुवा थोड़ी देर तक टमटम के साथ चला; पर उसके मन में संशय बना हुआ था। सहसा वह उतर गया। मेम साहबा ने पूछा—क्यों, चलता क्यों नहीं ?

नथुवा—मैंने सुना है, मिशन में जो कोई जाता है किरस्तान हो जाता है। मैं न जाऊँगा। आप झाँसा देती हैं।

मेम.—अरे पागल, वहाँ तुझे पढ़ाया जायगा, किसी की चाकरी न करनी पड़ेगी। शाम को खेलने को छुट्टी मिलेगी। कोट-पतलून पहनने को मिलेगी। चल के दो-चार दिन देख तो ले।

नथुवा ने इस प्रलोभन का उत्तर न दिया। एक गली से हो कर भागा। जब टमटम

दूर निकल गया तो वह निश्चिंत हो कर सोचने लगा—जाऊँ ? कहीं कोई सिपाही पकड़ कर थाने न ले जाय। मेरी बिरादरी के लोग तो वहाँ रहते हैं। क्या वह मुझे अपने घर रखेंगे। कौन बैठ कर खाऊँगा, काम तो करूँगा। बस, किसी की पीठ पर रहना चाहिए। आज कोई मेरी पीठ पर होता तो मजाल थी कि रायसाहब मुझे यों मारते। सारी बिरादरी जमा हो जाती घेर लेती, घर की सफाई बंद हो जाती, कोई द्वार पर झाड़ू तक न लगाता। सारी रायसाहबी निकल जाती। यह निश्चय करके वह घूमता-फिरता भंगियों के मुहल्ले में पहुँचा। शाम हो गयी थी, कई भंगी एक पेड़ के नीचे चटाइयों पर बैठे शहनाई और तबला बजा रहे थे। वह नित्य इसका अभ्यास करते थे। यह उनकी जीविका थी। गान-विद्या की यहाँ जितनी छीछालेदर हुई है, उतनी और कहीं न हुई होगी ? नथुवा जा कर वहाँ खड़ा हो गया। उसे बहुत ध्यान से सुनते देख कर एक भंगी ने पूछा—कुछ गाता है ?

नथुवा—अभी तो नहीं गाता; पर सिखा दोगे तो गाने लगूँगा।

भंगी—बहाना मत कर, बैठ; कुछ गा कर सुना, मालूम तो हो कि तेरे गला भी है या नहीं, गला ही न होगा तो क्या कोई सिखायेगा।

नथुवा मामूली बाजार के लड़कों की तरह कुछ-न-कुछ गाना जानता ही था, रास्ता चलता तो कुछ-न-कुछ गाने लगता था। तुरंत गाने लगा। उस्ताद ने सुना। जौहरी था, समझ गया यह काच का टुकड़ा नहीं। बोला—कहाँ रहता है ?

नथुवा ने अपनी रामकहानी सुनायी, परिचय हो गया। उसे आश्रय मिल गया और विकास का वह अवसर मिल गया, जिसने उसे भूमि से आकाश पर पहुँचा दिया।

3

तीन साल उड़ गये, नथुवा के गाने की सारे शहर में धूम मच गयी। और वह केवल एक गुणी नहीं, सर्वगुणी था; गाना, शहनाई बजाना, पखावज, सारंगी, तम्बूरा, सितार—सभी कलाओं में दक्ष हो गया। उस्तादों को भी उसकी चमत्कारिक बुद्धि पर आश्चर्य होता था। ऐसा मालूम होता था कि उसने पहले ही पढ़ी हुई विद्या दुहरा ली है। लोग दस दस सालों तक सितार बजाना सीखते रहते हैं और नहीं आता, नथुवा को एक महीने में उसके तारों का ज्ञान हो गया। ऐसे कितने ही रत्न पड़े हुए हैं, जो किसी पारखी से भेंट न होने के कारण मिट्टी में मिल जाते हैं।

संयोग से इन्हीं दिनों ग्वालियर में एक संगीत-सम्मेलन हुआ। देश-देशांतरों से संगीत के आचार्य निमंत्रित हुए। उस्ताद घूरे को भी नेवता मिला। नथुवा इन्हीं का शिष्य था। उस्ताद ग्वालियर चले तो नाथू को भी साथ लेते गये। एक सप्ताह तक ग्वालियर में बड़ी धूमधाम रही। नाथूराम ने वहाँ खूब नाम कमाया। उसे सोने का तमगा इनाम मिला। ग्वालियर के संगीत-विद्यालय के अध्यक्ष ने उस्ताद घूरे से आग्रह किया कि नाथूराम को संगीत-विद्यालय में दाखिल करा दो। यहाँ संगीत के साथ उसकी शिक्षा भी हो जायगी। घूरे को मानना पड़ा। नाथूराम भी राजी हो गया।

नाथूराम ने पाँच वर्षों में विद्यालय की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर ली। इसके साथ-साथ भाषा, गणित और विज्ञान में उसकी बुद्धि ने अपनी प्रखरता का परिचय दिया। अब वह समाज का भूषण था। कोई उससे न पूछता था, कौन जाति हो। उसका रहन-

सहन, तौर-तरीका अब गायकों का-सा नहीं, शिक्षित समुदाय का-सा था। अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह ऊँचे वर्णवालों का-सा आचरण रखने लगा। मदिरा-मांस त्याग दिया, नियमित रूप से संध्योपासना करने लगा। कोई कुलीन ब्राह्मण भी इतना आचार-विचार न करता होगा। नाथूराम तो पहले ही उसका नाम हो चुका था। अब उसका कुछ और सुसंस्कार हुआ। वह ना. रा. आचार्य मशहूर हो गया। साधारणतः लोग 'आचार्य' ही कहा करते थे। राज्य-दरबार से उसे अच्छा वेतन मिलने लगा। अट्ठारह वर्ष की आयु में इतनी ख्याति बिरले ही किसी गुणी को नसीब होती है। लेकिन ख्याति-प्रेम वह प्यास है, जो कभी नहीं बुझती, वह अगस्त्य ऋषि की भाँति सागर को पी कर भी शांत नहीं होती। महाशय आचार्य ने योरोप को प्रस्थान किया। वह पाश्चात्य संगीत पर भी अधिकृत होना चाहते थे। जर्मनी के सबसे बड़े संगीत-विद्यालय में दाखिल हो गये और पाँच वर्षो के निरंतर परिश्रम और उद्योग के बाद आचार्य की पदवी ले कर इटली की सैर करते हुए ग्वालियर लौट आये और उसके एक ही सप्ताह के बाद मदन कम्पनी ने उन्हें तीन हजार रुपये मासिक वेतन पर अपनी शाखाओं का निरीक्षक नियुक्त किया। वह योरोप जाने के पहले ही हजारों रुपये जमा कर चुके थे। योरोप में भी ओपराओं और नाट्यशालाओं में उनकी खूब आवभगत हुई थी। कभी-कभी एक दिन में इतनी आमदनी हो जाती थी, जितनी यहाँ के बड़े-से-बड़े गवैयों को बरसों में भी नहीं होती। लखनऊ से विशेष प्रेम होने के कारण उन्होंने वहीं निवास करने का निश्चय किया।

4

आचार्य महाशय लखनऊ पहुँचे तो उनका चित्त गद्गद् हो गया। यहीं उनका बचपन बीता था, यहीं एक दिन वह अनाथ थे, यहीं गलियों में कनकौए लूटते फिरते थे, यहीं बाजारों में पैसे माँगते फिरते थे। आह ! यहीं उन पर हंटरों की मार पड़ी थी, जिसके निशान अब तक बने थे। अब वह दाग़ उन्हें सौभाग्य की रेखाओं से भी प्रिय लगते। यथार्थ में यह कोड़े की मार उनके लिए शिव का वरदान थी। रायसाहब के प्रति अब उनके दिल में क्रोध या प्रतिकार का लेशमात्र भी न था। उनकी बुराइयाँ भूल गयी थीं भलाइयाँ याद रह गयी थीं; और रत्ना तो उन्हें दया और वात्सल्य की मूर्ति-सी याद आती। विपत्ति पुराने घावों को बढ़ाती हैं, सम्पत्ति उन्हें भर देती है ! गाड़ी से उतरे तो छाती धड़क रही थी। दस वर्ष का बालक तेईस वर्ष का जवान, शिक्षित भद्र युवक हो गया था। उसकी माँ भी उसे देख कर न कह सकती कि यही मेरा नथुवा है। लेकिन उनकी कायापलट की अपेक्षा नगर की कायापलट और भी विस्मयकारी थी। यह लखनऊ नहीं, कोई दूसरा ही नगर था।

स्टेशन से बाहर निकलते ही देखा कि शहर के कितने ही छोटे-बड़े आदमी उनका स्वागत करने को खड़े हैं। उनमें एक युवती रमणी थी, जो रत्ना से बहुत मिलती थी। लोगों ने उससे हाथ मिलाया और रत्ना ने उनके गले में फूलों का हार डाल दिया। यह विदेश में भारत का नाम रोशन करने का पुरस्कार था। आचार्य के पैर डगमगाने लगे, ऐसा जान पड़ता था, अब नहीं खड़े रह सकते। यह वही रत्ना है। भोली-भाली बालिका ने सौंदर्य, लज्जा, गर्व और विनय की देवी का रूप धारण कर लिया है। उनकी हिम्मत न पड़ी कि रत्ना की तरफ सीधी आँखों देख सकें।

लोगों से हाथ मिलाने के बाद वह उस बँगले में आये जो उनके लिए पहले ही से सजाया गया था। उसको देख कर वे चौंक पड़े; यह वही बँगला था जहाँ रत्ना के साथ वह खेलते थे; सामान भी वही था, तसवीरें वही, कुर्सियाँ और मेजें वही, शीशे के आलात वही, यहाँ तक कि फर्श भी वही था। उसके अंदर क़दम रखते हुए आचार्य महाशय के हृदय में कुछ वही भाव जागृत हो रहे थे, जो किसी देवता के मंदिर में जा कर धर्मपरायण हिंदू के हृदय में होते हैं। वह रत्ना के शयनागार में पहुँचे तो उनके हृदय में ऐसी ऐंठन हुई कि आँसू बहने लगे—यह वही पलग है, वही बिस्तर और वही फ़र्श ! उन्होंने अधीर हो कर पूछा—यह किसका बँगला है ?

कम्पनी का मैनेजर साथ था, बोला—एक राय भोलानाथ हैं, उन्हीं का है।

आचार्य—रायसाहब कहाँ गये ?

मैनेजर—खुदा जाने कहाँ चले गये। यह बँगला कर्ज़ की इल्लत में नीलाम हो रहा था! मैंने देखा हमारे थियेटर से करीब है। अधिकारियों से खतोकिताबत की और इसे कम्पनी के नाम खरीद लिया, चालीस हजार में यह बँगला सामान समेत लिया गया।

आचार्य—मुफ्त मिल गया, तुम्हें रायसाहब की कुछ खबर नहीं ?

मैनेजर—सुना था कि कहीं तीर्थ करने गये थे, खुदा जाने लौटे या नहीं।

आचार्य महाशय जब शाम को सावधान हो कर बैठे तो एक आदमी से पूछा—क्यों जी, उस्ताद घूरे का भी हाल जानते हो, उनका नाम बहुत सुना है।

आदमी ने सकरुण भाव से कहा—खुदाबंद, उनका हाल कुछ न पूछिए, शराब पी कर घर आ रहे थे, रास्ते में बेहोश हो कर सड़क पर गिर पड़े। उधर से एक मोटर लारी आ रही थी। ड्राइवर ने देखा नहीं, लारी उनके ऊपर से निकल गयी। सुबह को लाश मिली। खुदावंद, अपने फन में एक था, अब उसकी मौत से लखनऊ वीरान हो गया, अब ऐसा कोई नहीं रहा जिस पर लखनऊ को घमंड हो। नथुवा नाम के एक लड़के को उन्होंने कुछ सिखाया था और उससे हम लोगों को उम्मीद थी कि उस्ताद का नाम जिंदा रखेगा, पर वह यहाँ से ग्वालियर चला गया, फिर पता नहीं कि कहाँ गया।

आचार्य महाशय के प्राण सूखे जाते थे कि अब बात खुली, अब खुली, दम रुका हुआ था जैसे कोई तलवार लिये सिर पर खड़ा हो। बारे कुशल हुई, घड़ा चोट खा कर भी बच गया।

5

आचार्य महाशय उस घर में रहते थे, किन्तु उसी तरह जैसे कोई नयी बहू अपने ससुराल में रहे। उनके हृदय से पुराने संस्कार न मिटते थे। उनकी आत्मा इस यथार्थ को स्वीकार न करती कि अब यह मेरा घर है। वह जोर से हँसते तो सहसा चौंक पड़ते। मित्रगण आ कर शोर मचाते तो उन्हें एक अज्ञात शंका होती थी। लिखने-पढ़ने के कमरे में शायद वह सोते तो उन्हें रात-भर नींद न आती, यह खयाल दिल में जमा हुआ था कि यह पढ़ने-लिखने का कमरा है। बहुत अच्छा होने पर भी वह पुराने सामान को बदल न सकते थे। और रत्ना के शयनागार को तो उन्होंने फिर कभी नहीं खोला। वह ज्यों-का-त्यों बंद पड़ा रहता था। उसके अंदर जाते हुए उनके पैर थरथराने लगते थे। उस पलंग पर सोने

का ध्यान ही उन्हें नहीं आया।

लखनऊ में कई बार उन्होंने विश्वविद्यालय में अपने संगीत-नैपुण्य का चमत्कार दिखाया। किसी राजा-रईस के घर अब वह गाने न जाते थे, चाहे कोई उन्हें लाखों रुपये ही क्यों न दे; यह उनका प्रण था। लोग उनका अलौकिक गान सुनकर अलौकिक आनंद उठाते थे।

एक दिन प्रातःकाल आचार्य महाशय संध्या से उठे थे कि राय भोलानाथ उनसे मिलने आये। रत्ना भी उनके साथ थी। आचार्य महाशय पर रोब छा गया। बड़े-बड़े योरोपी थियेटरों में भी उनका हृदय इतना भयभीत न हुआ था। उन्होंने जमीन तक झुक कर रायसाहब को सलाम किया। भोलानाथ उनकी नम्रता से कुछ विस्मति-से हो गये। बहुत दिन हुए जब लोग उन्हें सलाम किया करते थे। अब तो जहाँ जाते थे, हँसी उड़ाई जाती थी। रत्ना भी लज्जित हो गयी। रायसाहब ने कातर नेत्रों से इधर-उधर देख कर कहा—आपको यह जगह तो पसन्द आयी होगी ?

आचार्य—जी हाँ, इससे उत्तम स्थान की तो मैं कल्पना ही नहीं कर सकता।

भोलानाथ—यह मेरा ही बँगला है। मैंने ही इसे बनवाया और मैंने ही इसे बिगाड़ भी दिया।

रत्ना ने झेंपते हुए कहा—दादाजी, इन बातों से क्या फ़ायदा ?

भोला.—फ़ायदा नहीं है बेटी, नुकसान भी नहीं। सज्जनों से अपनी विपत्ति कह कर चित्त शांत होता है। महाशय, यह मेरा ही बँगला है, या यों कहिए कि था। 50 हजार सालाना इलाके से मिलते थे। कुछ आदमियों की संगत में मुझे सट्टे का चस्का पड़ गया। दो-तीन बार ताबड़-तोड़ बाजी हाथ आयी, हिम्मत खुल गयी, लाखों के वारे-न्यारे होने लगे, किंतु एक ही घाटे में सारी कसर निकल गयी। बधिया बैठ गयी। सारी जायदाद खो बैठा। सोचिए, पचीस लाख का सौदा था। कौड़ी चित्त पड़ती तो आज इस बँगले का कुछ और ही ठाठ होता, नहीं तो अब पिछले दिनों को याद कर-करके हाथ मलता हूँ। मेरी रत्ना को आपके गाने से बड़ा प्रेम है। जब देखो आप ही की चर्चा किया करती है। इसे मैंने बी.ए. तक पढ़ाया....

रत्ना का चेहरा शर्म से लाल हो गया। बोली—दादा जी, आचार्य महाशय मेरा हाल जानते हैं। उनको मेरे परिचय की जरूरत नहीं। महाशय, क्षमा कीजिएगा, पिता जी उस घाटे के कारण कुछ अव्यवस्थित चित्त-से हो गये हैं। वह आपसे यह प्रार्थना करने आये हैं कि यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो वह कभी-कभी इस बँगले को देखने आया करें। इससे उनके आँसू पुछ जायेंगे। उन्हें इस विचार से सन्तोष होगा कि मेरा कोई मित्र इसका स्वामी है। बस, यही कहने के लिए यह आपकी सेवा में आये हैं ?

आचार्य ने विनयपूर्ण शब्दों में कहा—इसके पूछने की जरूरत नहीं है। घर आपका है, जिस वक्त जी चाहे शौक से आयें, बल्कि आपकी इच्छा हो तो आप इसमें रह सकते हैं; मैं अपने लिए कोई दूसरा स्थान ठीक कर लूँगा।

रायसाहब ने धन्यवाद दिया और चले गये। वह दूसरे-तीसरे दिन यहाँ जरूर आते और घंटों बैठे रहते। रत्ना भी उनके साथ अवश्य आती, फिर वह एक बार प्रतिदिन आने लगे।

एक दिन उन्होंने आचार्य महाशय को एकांत में ले जा कर पूछा—क्षमा कीजिएगा, आप अपने बाल बच्चों को क्यों नहीं बुला लेते ? अकेले तो आपको बहुत कष्ट होता होगा।

आचार्य—मेरा तो अभी विवाह नहीं हुआ और न करना चाहता हूँ।

यह कहते ही आचार्य महाशय ने आँखें नीची कर लीं।

भोलानाथ—यह क्यों, विवाह से आपको क्यों द्वेष है ?

आचार्य—कोई विशेष कारण तो नहीं बता सकता, इच्छा ही तो है।

भोला.—आप ब्राह्मण हैं ?

आचार्य जी का रंग उड़ गया। सशंक होकर बोले—योरोप की यात्रा के बाद वर्णभेद नहीं रहता। जन्म से चाहे जो कुछ हूं, कर्म से तो शूद्र ही हूं।

भोलानाथ—आपकी नम्रता को धन्य है, संसार में ऐसे सज्जन लोग भी पड़े हुए हैं, मैं भी कर्मों ही से वर्ण मानता हूँ। नम्रता, शील, विनय, आचार, धर्मनिष्ठा, विद्याप्रेम, यह सब ब्राह्मणों के गुण हैं और मैं आपको ब्राह्मण ही समझता हूं। जिसमें यह गुण नहीं, वह ब्राह्मण नहीं; कदापि नही। रत्ना को आपसे बड़ा प्रेम है। आज तक कोई पुरुष उसकी आँखों में नहीं जँचा, किंतु आपने उसे वशीभूत कर लिया। इस धृष्टता को क्षमा कीजिएगा, आपके माता-पिता....

आचार्य—मेरे माता पिता तो आप ही हैं। जन्म किसने दिया, यह मैं स्वयं नहीं जानता। मैं बहुत छोटा था तभी उनका स्वर्गवास हो गया।

रायसाहब—आह ! वह आज जीवित होते तो आपको देख कर उनकी गज-भर की छाती होती। ऐसे सपूत बेटे कहाँ होते हैं।

इतने में रत्ना एक कागज लिये हुए आयी और रायसाहब से बोली—दादाजी, आचार्य महाशय काव्य-रचना भी करते हैं, मैं इनकी मेज़ पर से यह उठा लायी हूँ। सरोजिनी नायडू के सिवा ऐसी कविता मैंने और कहीं नहीं देखी।

आचार्य ने छिपी हुई निगाहों से एक बार रत्ना को देखा और झेंपते हुए बोले—यों ही कुछ लिख लिया था। मैं काव्य-रचना क्या जानूं ?

6

प्रेम से दोनों विह्वल हो रहे थे। रत्ना गुणों पर मोहित थी, आचार्य उसके मोह के वशीभूत थे। अगर रत्ना उनके रास्ते में न आती तो कदाचित् वह उससे परिचित भी न होते! किंतु प्रेम की फैली हुई बाहों का आकर्षण किस पर न होगा ? ऐसा हृदय कहाँ है, जिसे प्रेम जीत न सके ?

आचार्य महाशय बड़ी दुविधा में पड़े हुए थे। उनका दिल कहता था, जिस क्षण रत्ना पर मेरी असलियत खुल जायगी, उसी क्षण वह मुझसे सदैव के लिये मुँह फेर लेगी। वह कितनी ही उदार हो, जाति के बंधन को कितना ही कष्ट[illegible]य समझती हो, किंतु उस घृणा से मुक्त नहीं हो सकती जो स्वभावतः मेरे प्रति उत्पन्न होगी। मगर इस बात को जानते हुए भी उनकी हिम्मत न पड़ती थी कि अपना वास्तविक स्वरूप खोल कर दिखा दें। आह ! यदि घृणा ही तक होती तो कोई बात न थी, मगर उसे दुःख होगा, पीड़ा होगी, उसका हृदय विदीर्ण हो जायगा उस दशा में न जाने क्या कर बैठे। उसे इस अज्ञात दशा में रखे हुए

प्रणय-पाश को दृढ़ करना उन्हें परले सिरे की नीचता प्रतीत होती थी। यह कपट है, दग़ा है, धूर्तता है जो प्रेमाचरण में सर्वथा निषिद्ध है। इस संकट में पड़े हुए वह कुछ निश्चय न कर सकते थे कि क्या करना चाहिए। उधर रायसाहब की आमदोरफ़्त दिनोंदिन बढ़ती जाती थी। उनके मन की बात एक-एक शब्द से झलकती थी। रत्ना का आना-जाना बंद होता जाता था जो उनके आशय को और भी प्रकट करता था। इस प्रकार तीन-चार महीने व्यतीत हो गये। आचार्य महाशय सोचते, यह वही रायसाहब हैं, जिन्होंने केवल रत्ना की चारपाई पर जरा देर लेट रहने के लिए मुझे मारकर घर से निकाल दिया था। जब उन्हें मालूम होगा कि मैं वही अनाथ, अछूत, आश्रयहीन बालक हूँ तो उन्हें कितनी आत्मवेदना, कितनी अपमान-पी ा, कितनी लज्जा, कितनी दुराशा, कितना पश्चात्ताप होगा !

एक दिन रायसाहब ने कहा—विवाह की तिथि निश्चित कर लेनी चाहिए। इस लग्न में मैं इस ऋण से उऋण हो जाना चाहता हूँ।

आचार्य महाशय ने बात का मतलब समझ कर भी प्रश्न किया—कैसी तिथि ?

रायसाहब—यही रत्ना के विवाह की। मैं कुंडली का तो कायल नहीं, पर विवाह तो शुभ मुहूर्त में ही होगा।

आचार्य भूमि की ओर ताकते रहे, कुछ न बोले।

रायसाहब—मेरी अवस्था तो आपको मालूम ही है। कुश-कन्या के सिवा और किसी योग्य नहीं हूँ। रत्ना के सिवा और कौन है, जिसके लिए उठा रखता।

आचार्य महाशय विचारों में मग्न थे।

रायसाहब—रत्ना को आप स्वयं जानते हैं। आपसे उसकी प्रशंसा करनी व्यर्थ है। वह अच्छी है या बुरी है, उसे आपको स्वीकार करना पड़ेगा।

आचार्य महाशय की आँखों से आँसू बह रहे थे।

रायसाहब—मुझे पूरा विश्वास है कि आपको ईश्वर ने उसी के लिए यहाँ भेजा है। मेरी ईश्वर से यही याचना है कि तुम दोनों का जीवन सुख से कटे। मेरे लिए इससे ज्यादा खुशी की और कोई बात नहीं हो सकती। इस कर्त्तव्य से मुक्त हो कर इरादा है कुछ दिन भगवत्-भजन करूँ। गौण रूप से आप ही उस फल के भी अधिकारी होंगे।

आचार्य ने अवरुद्ध-कंठ से कहा—महाशय, आप मेरे पिता तुल्य हैं, पर मैं इस योग्य कदापि नहीं हूँ।

रायसाहब ने उन्हें गले लगाते हुए कहा—बेटा, तुम सर्वगुण-सम्पन्न हो। तुम समाज के भूषण हो। मेरे लिए यह महान गौरव की बात है कि तुम-जैसा दामाद पाऊँ। मैं आज तिथि आदि ठीक करके कल आपको सूचना दूँगा।

यह कह कर रायसाहब उठ खड़े हुए। आचार्य कुछ कहना चाहते थे, पर मौका न मिला, या यों कहो हिम्मत न पड़ी। इतना मनोबल न था, घृणा सहन करने की इतनी शक्ति न थी।

7

विवाह हुए महीना-भर हो गया। रत्ना के आने से पतिगृह उजाला हो गया है और पति-हृदय पवित्र। सागर में कमल खिल गए। रात का समय था। आचार्य महाशय भोजन

करके लेटे हुए थे, उसी पलँग पर जिसने किसी दिन उन्हें घर से निकलवाया था, जिसने उनके भाग्यचक्र को परिवर्तित कर दिया था।

महीना-भर से वह अवसर ढूँढ रहे हैं कि वह रहस्य रत्ना को बतला दूँ। उनका संस्कारों से दबा हुआ हृदय यह नहीं मानता कि मेरा सौभाग्य मेरे गुणों ही का अनुग्रह है। वह अपने रुपये को भट्ठी में पिघला कर उसका मूल्य जानने की चेष्टा कर रहे हैं। किन्तु अवसर नहीं मिलता। रत्ना ज्यों ही सामने आ जाती है, वह मंत्रमुग्ध से हो जाते हैं। बाग में रोने कौन जाता है, रोने के लिए तो अँधेरी कोठरी ही चाहिए।

इतने में रत्ना मुस्कराती हुई कमरे में आयी। दीपक की ज्योति मंद पड़ गयी।

आचार्य ने मुस्करा कर कहा—अब चिराग गुल कर दूँ न ?

रत्ना बोली—क्यों, क्या मुझसे शर्म आती है ?

आचार्य—हाँ, वास्तव में शर्म आती है।

रत्ना—इसलिए कि मैंने तुम्हें जीत लिया ?

आचार्य—नहीं इसलिए कि मैंने तुम्हें धोखा दिया।

रत्ना—तुममें धोखा देने की शक्ति नहीं है।

आचार्य—तुम नहीं जानती। मैंने तुम्हें बहुत बड़ा धोखा दिया है।

रत्ना—सब जानती हूँ।

आचार्य—जानती हो मैं कौन हूँ ?

रत्ना—खूब जानती हूँ। बहुत दिनों से जानती हूँ। जब हम तुम दोनों इसी बगीचे में खेला करते थे, मैं तुमको मारती थी और तुम रोते थे, मैं तुमको अपनी जूठी मिठाइयाँ देती थी और तुम दौड़ कर लेते थे, तब भी मुझे तुमसे प्रेम था; हाँ, वह दया के रूप में व्यक्त होता था।

आचार्य ने चकित हो कहा—रत्ना यह जान कर भी तुमने....

रत्ना—हाँ, जान कर ही। न जानती तो शायद न करती।

आचार्य—यह वही चारपाई है।

रत्ना—और मैं घाते में।

आचार्य ने उसे गले लगा कर कहा—तुम क्षमा की देवी हो।

रत्ना ने उत्तर दिया—मैं तुम्हारी चेरी हूँ।

आचार्य—रायसाहब भी जानते हैं ?

रत्ना—नहीं, उन्हें नहीं मालूम है। उनसे भूल कर भी न कहना, नहीं तो वह आत्मघात कर लेंगे।

आचार्य—वह कोड़े अभी तक याद हैं।

रत्ना—अब पिताजी के पास उसका प्रायश्चित करने के लिए कुछ नहीं रह गया। क्या अब भी तुम्हें संतोष नहीं हुआ ?

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'प्रभा', जून, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'नेकबख्ती के ताजियाने' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'फिरदौसे ख्याल' में संकलित।]

नैराश्य

बाज आदमी अपनी स्त्री से इसलिए नाराज रहते हैं कि उसके लड़कियाँ ही क्यों होती हैं, लड़क क्यों नहीं होते। जानते हैं कि इनमें स्त्री का दोष नहीं है, या है तो उतना ही जितना मेरा, फिर भी जब देखिए स्त्री से रूठे रहते हैं, उसे अभागिनी कहते हैं और सदैव उसका दिल दुखाया करते हैं। निरुपमा उन्हीं अभागिनी स्त्रियों में थी और घमंडीलाल त्रिपाठी उन्हीं अत्याचारी पुरुषों में। निरुपमा के तीन बेटियाँ लगातार हुई थीं और वह सारे घर की निगाहों से गिर गयी थी। सास-ससुर की अप्रसन्नता की तो उसे विशेष चिंता न थी, वे पुराने जमाने के लोग थे, जब लड़कियाँ गरदन का बोझ और पूर्वजन्मों का पाप समझी जाती थीं। हाँ, उसे दुःख अपने पतिदेव की अप्रसन्नता का था जो पढ़े-लिखे आदमी हो कर भी उसे जली-कटी सुनाते रहते थे। प्यार करना तो दूर रहा, निरुपमा से सीधे मुँह बात न करते, कई-कई दिनों तक घर ही में न आते और आते भी तो कुछ इस तरह खिंचे-तने हुए रहते कि निरुपमा थर-थर काँपती रहती थी, कहीं गरज न उठें। घर में धन का अभाव न था; पर निरुपमा को कभी यह साहस न होता था कि किसी सामान्य वस्तु की इच्छा भी प्रकट कर सके। वह समझती थी, मैं यथार्थ में अभागिन हूँ, नहीं तो क्या भगवान् मेरी कोख में लड़कियाँ ही रचते। पति की एक मृदु मुस्कान के लिए, एक मीठी बात के लिए उसका हृदय तड़प कर रह जाता था। यहाँ तक कि वह अपनी लड़कियों को प्यार करते हुए सकुचाती थी कि लोग कहेंगे, पीतल की नथ पर इतना गुमान करती है। जब त्रिपाठी जी के घर में आने का समय होता तो किसी-न-किसी बहाने से वह लड़कियों को उनकी आँखों से दूर कर देती थी। सबसे बड़ी विपत्ति यह थी कि त्रिपाठी जी ने धमकी दी थी कि अब की कन्या हुई तो घर छोड़ कर निकल जाऊँगा, इस नरक में क्षण-भर भी न ठहरूँगा। निरुपमा को वह चिंता और भी खाये जाती थी।

वह मंगल का व्रत रखती थी, रविवार, निर्जला एकादसी और न जाने कितने व्रत करती थी। स्नान-पूजा तो नित्य का नियम था; पर किसी अनुष्ठान से मनोकामना न पूरी होती थी। नित्य अवहेलना, तिरस्कार, उपेक्षा, अपमान सहते-सहते उसका चित्त संसार से विरक्त हो जाता था। जहाँ कान एक मीठी बात के लिए, आँखें एक प्रेम-दृष्टि के लिए, हृदय एक आलिंगन के लिए तरस कर रह जाये, घर में अपनी कोई बात न पूछे, वहाँ जीवन से क्यों न अरुचि हो जाय ?

एक दिन घोर निराशा की दशा में उसने अपनी बड़ी भावज को एक पत्र लिखा। एक-एक अक्षर से असह्य वेदना टपक रही थी। भावज ने उत्तर दिया—तुम्हारे भैया जल्द तुम्हें विदा कराने जायँगे। यहाँ आजकल एक सच्चे महात्मा आये हुए हैं जिनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं जाता। यहाँ कई संतानहीन स्त्रियाँ उनके आशीर्वाद से पुत्रवती हो गयीं। पूर्ण आशा है कि तुम्हें भी उनका आशीर्वाद कल्याणकारी होगा।

निरुपमा ने यह पत्र पति को दिखाया। त्रिपाठी जी उदासीन भाव से बोले—सृष्टि-रचना महात्माओं के हाथ का काम नहीं, ईश्वर का काम है।

निरुपमा—हाँ, लेकिन महात्माओं में भी तो कुछ सिद्धि होती है।

घमंडीलाल—हाँ होती है, पर ऐसे महात्माओं के दर्शन दुर्लभ हैं।

निरुपमा—मैं तो इस महात्मा के दर्शन करूँगी।

घमंडीलाल—चली जाना।

निरुपमा—जब बाँझिनों के लड़के हुए तो मैं क्या उनसे भी गयी-गुजरी हूँ ?

घमंडीलाल—कह तो दिया भाई चली जाना। यह करके भी देख लो। मुझे तो ऐसा मालूम होता है, पुत्र का मुख देखना हमारे भाग्य में ही नहीं है।

2

कई दिन बाद निरुपमा अपने भाई के साथ मैके गयी। तीनों पुत्रियाँ भी साथ थीं। भाभी ने उन्हें प्रेम से गले लगा कर कहा, तुम्हारे घर के आदमी बड़े निर्दयी हैं। ऐसी गुलाब के फूलों की-सी लड़कियाँ पा कर भी तकदीर को रोते हैं। ये तुम्हें भारी हों तो मुझे दे दो। जब ननद और भावज भोजन करके लेटीं तो निरुपमा ने पूछा—वह महात्मा कहाँ रहते हैं ?

भावज—ऐसी जल्दी क्या है, बता दूँगी।

निरुपमा—है नगीच ही न ?

भावज—बहुत नगीच। जब कहोगी, उन्हें बुला दूँगी।

निरुपमा—तो क्या तुम लोगों पर बहुत प्रसन्न हैं क्या ?

भावज—दोनों वक्त यहीं भोजन करते हैं। यहीं रहते हैं।

निरुपमा—जब घर ही में वैद्य तो मरिये क्यों ? आज मुझे उनके दर्शन करा देना।

भावज—भेंट क्या दोगी ?

निरुपमा—मैं किस लायक हूँ ?

भावज—अपनी सबसे छोटी लड़की दे देना।

निरुपमा—चलो, गाली देती हो।

भावज—अच्छा यह न सही, एक बार उन्हें प्रेमालिंगन करने देना।

निरुपमा—भाभी, मुझसे ऐसी हँसी करोगी तो मैं चली जाऊँगी।

भावज—वह महात्मा बड़े रसिया हैं।

निरुपमा—तो चूल्हे में जायँ। कोई दुष्ट होगा।

भावज—उनका आशीर्वाद तो इसी शर्त पर मिलेगा। वह और कोई भेंट स्वीकार ही नहीं करते।

निरुपमा—तुम तो यों बातें कर रही हो मानो उनकी प्रतिनिधि हो।

भावज—हाँ, वह यह सब विषय मेरे ही द्वारा तय किया करते हैं। मैं भेंट लेती हूँ। मैं ही आशीर्वाद देती हूँ, मैं ही उनके हितार्थ भोजन कर लेती हूँ।

निरुपमा—तो यह कहो कि तुमने मुझे बुलाने के लिए यह हीला निकाला है।

भावज—नहीं, उनके साथ ही तुम्हें कुछ ऐसे गुर बता दूँगी जिससे तुम अपने घर आराम से रहो।

इसके बाद दोनों सखियों में कानाफूसी होने लगी। जब भावज चुप हुई तो निरुपमा बोली—और जो कहीं फिर कन्या हुई तो ?

भावज—तो क्या ? कुछ दिन तो शांति और सुख से जीवन कटेगा। यह दिन तो कोई लौटा न लेगा। पुत्र हुआ तो कहना ही क्या, पुत्री हुई तो फिर कोई नयी युक्ति निकाली

जायगी। तुम्हारे घर के जैसे अक्ल के दुश्मनों के साथ ऐसी ही चालें चलने में गुजारा है।

निरुपमा–मुझे तो संकोच मालूम होता है।

भावज–त्रिपाठी जी को दो-चार दिन में पत्र लिख देना कि महात्मा जी के दर्शन हुए और उन्होंने मुझे वरदान दिया है। ईश्वर ने चाहा तो उसी दिन से तुम्हारी मान-प्रतिष्ठा होने लगेगी। घमंडी दौड़े हुए आयेंगे और तुम्हारे ऊपर प्राण निछावर करेंगे। कम-से-कम साल भर तो चैन की वंशी बजाना। इसके बाद देखी जायगी।

निरुपमा–पति से कपट करूँ तो पाप न लगेगा ?

भावज–ऐसे स्वार्थियों से कपट करना पुण्य है।

3

तीन-चार महीने के बाद निरुपमा अपने घर आयी। घमंडीलाल उसे विदा कराने गये थे। सरहज ने महात्मा जी का रंग और भी चोखा कर दिया। बोली–ऐसा तो किसी को देखा नहीं कि इन महात्मा जी ने वरदान दिया हो और वह पूरा न हो गया हो। हाँ, जिसका भाग्य ही फूट जाय उसे कोई क्या कर सकता है।

घमंडीलाल प्रत्यक्ष तो वरदान और आशीर्वाद की उपेक्षा ही करते रहे, इन बातों पर विश्वास करना आजकल संकोचजनक मालूम होता है; पर उनके दिल पर असर जरूर हुआ।

निरुपमा की खातिरदारियाँ होनी शुरू हुई। जब वह गर्भवती हुई तो सबके दिलों में नयी-नयी आशाएँ हिलोरें लेने लगीं। सास जो उठते गाली और बैठते व्यंग्य से बातें करती थी अब उसे पान की तरह फेरती–बेटी, तुम रहने दो, मैं ही रसोई बना लूँगी, तुम्हारा सिर दुखने लगेगा। कभी निरुपमा कलसे का पानी या कोई चारपाई उठाने लगती तो सास दौड़ती–बहू, रहने दो, मैं आती हूँ, तुम कोई भारी चीज़ मत उठाया करो। लड़कियों की बात और होती है, उन पर किसी बात का असर नहीं होता, लड़के तो गर्भ ही में मान करने लगते हैं। अब निरुपमा के लिए दूध का उठौना किया गया, जिससे बालक पुष्ट और गोरा हो। घमंडीलाल वस्त्राभूषणों पर उतारू हो गये। हर महीने एक-न-एक नयी चीज़ लाते। निरुपमा का जीवन इतना सुखमय कभी न था। उस समय भी नहीं जब नवेली वधू थी।

महीने गुज़रने लगे। निरुपमा को अनुभूत लक्षणों से विदित होने लगा कि यह कन्या ही है; पर वह इस भेद को गुप्त रखती थी। सोचती, सावन की धूप है, इसका क्या भरोसा जितनी चीज़ धूप में सुखानी हो सुखा लो, फिर तो घटा छायेगी ही। बात-बात पर बिगड़ती। वह कभी इतनी मानशीला न थी। पर घर में कोई चूँ तक न करता कि कहीं बहू का दिल न दुखे, नहीं बालक को कष्ट होगा। कभी-कभी निरुपमा केवल घरवालों को जलाने के लिए अनुष्ठान करती, उसे उन्हें जलाने में मज़ा आता था। वह सोचती, तुम स्वार्थियों को जितना जलाऊँ उतना अच्छा ! तुम मेरा आदर इसलिए करते हो न कि मैं बच्चा जनूँगी जो तुम्हारे कुल का नाम चलायेगा। मैं कुछ नहीं हूँ, बालक ही सब-कुछ है। मेरा अपना कोई महत्त्व नहीं, जो कुछ है वह बालक के नाते। यह मेरे पति हैं ! पहले इन्हें मुझसे कितना प्रेम था, तब इतने संसार-लोलुप न हुए थे। अब इनका प्रेम केवल स्वार्थ का स्वाँग है। मैं भी पशु हूँ जिसे दूध के लिए चारा-पानी दिया जाता है। खैर, यही सही, इस

वक्त तो तुम मेरे काबू में आये हो ! जितने गहने बन सकें बनवा लूँ, इन्हें तो छीन न लोगे।

इस तरह दस महीने पूरे हो गये। निरुपमा की दोनों ननदें ससुराल से बुलायी गयीं। बच्चे के लिए पहले ही से सोने के गहने बनवा लिये गये, दूध के लिए एक सुन्दर दुधार गाय मोल ले ली गयी, घमंडीलाल उसे हवा खिलाने को एक छोटी-सी सेजगाड़ी लाये। जिस दिन निरुपमा को प्रसव-वेदना होने लगी, द्वार पर पंडित जी मुहूर्त देखने के लिए बुलाये गये। एक मीरशिकार बंदूक छोड़ने को बुलाया गया, गायनें मंगल-गान के लिए बटोर ली गयीं। घर से तिल-तिल पर खबर मँगायी जाती थी, क्या हुआ ? लेडी डॉक्टर भी बुलायी गयीं। बाजेवाले हुक्म के इंतजार में बैठे थे। पामर भी अपनी सारंगी लिये 'ज़च्चा मान करे नंदलाल सों' की तान सुनाने को तैयार बैठा था। सारी तैयारियाँ, सारी आशाएँ, सारा उत्साह, सारा समारोह एक ही शब्द पर अवलम्बित था। ज्यों-ज्यों देर होती थी लोगों में उत्सुकता बढ़ती जाती थी। घमंडीलाल अपने मनोभावों को छिपाने के लिए एक समाचार-पत्र देख रहे थे, मानो उन्हें लड़का या लड़की दोनों ही बराबर हैं। मगर उनके बूढ़े पिता जी इतने सावधान न थे। उनकी बाछें खिली जाती थीं, हँस-हँस कर सबसे बात कर रहे थे और पैसों की एक थैली को बार-बार उछालते थे।

मीरशिकार ने कहा—मालिक से अबकी पगड़ी दुपट्टा लूँगा।

पिताजी ने खिल कर कहा—अबे कितनी पगड़ियाँ लेगा ? इतनी बेभाव की दूँगा कि सर के बाल गंजे हो जायँगे।

पामर बोला—सरकार से अब की कुछ जीविका लूँ।

पिताजी खिल कर बोले—अबे कितनी खायेगा, खिला-खिला कर पेट फाड़ दूँगा।

सहसा महरी घर में से निकली। कुछ घबरायी-सी थी। वह अभी कुछ बोलने भी न पायी थी कि मीरशिकार ने बन्दूक फैर कर ही तो दी। बन्दूक छूटनी थी कि रोशनचौकी की तान भी छिड़ गयी, पामर भी कमर कस कर नाचने को खड़ा हो गया।

महरी—अरे तुम सब के सब भंग खा गये हो क्या ?

मीरशिकार—क्या हुआ क्या ?

महरी—हुआ क्या, लड़की ही तो फिर हुई है।

पिता जी—लड़की हुई है ?

यह कहते-कहते वह कमर थाम कर बैठ गये मानो वज्र गिर पड़ा। घमंडीलाल कमरे से निकल आये और बोले—जा कर लेडी डॉक्टर से तो पूछ। अच्छी तरह देख ले। देखा न सुना, चल खड़ी हुई।

महरी—बाबूजी, मैंने तो आँखों देखा है !

घमंडीलाल—कन्या ही है ?

पिता—हमारी तक़दीर ही ऐसी है बेटा ! जाओ रे सब के सब ! तुम सभी के भाग्य में कुछ पाना न लिखा था तो कहाँ से पाते। भाग जाओ। सैकड़ों रुपये पर पानी फिर गया, सारी तैयारी मिट्टी में मिल गयी।

घमंडीलाल—इस महात्मा से पूछना चाहिए। मैं आज डाक से जरा बचा की खबर लेता हूँ।

पिता—धूर्त है, धूर्त !

घमंडीलाल—मैं उसकी सारी धूर्तता निकाल दूँगा। मारे डंडों के खोपड़ी न तोड़ दूँ तो कहिएगा। चांडाल कहीं का ! उसके कारण मेरे सैकड़ों रुपये पर पानी फिर गया। यह सेजगाड़ी, यह गाय, यह पलना, यह सोने के गहने किसके सिर पटकूँ। ऐसे ही उसने कितनों ही को ठगा होगा। एक दफा बचा की मरम्मत हो जाती तो ठीक हो जाते।

पिता जी—बेटा, उसका दोष नहीं, अपने भाग्य का दोष है।

घमंडीलाल—उसने क्यों कहा ऐसा नहीं होगा। औरतों से इस पाखंड के लिए कितने ही रुपये ऐंठे होंगे। वह सब उन्हें उगलना पड़ेगा, नहीं तो पुलिस में रपट कर दूँगा। कानून में पाखंड का भी तो दंड है। मैं पहले ही चौंका था कि हो न हो पाखंडी है; लेकिन मेरी सरहज ने धोखा दिया, नहीं तो मैं ऐसे पाजियों के पंजे में कब आनेवाला था। एक ही सुअर है।

पिताजी—बेटा, सब्र करो। ईश्वर को जो कुछ मंजूर था, वह हुआ। लड़का-लड़की दोनों ही ईश्वर की देन हैं, जहाँ तीन हैं वहाँ एक और सही।

पिता और पुत्र में तो यह बातें होती रहीं। पामर, मीरशिकार आदि ने अपने-अपने डंडे सँभाले और अपनी राह चले। घर में मातम-सा छा गया, लेडी डॉक्टर भी विदा कर दी गयीं, सौर में ज़च्चा और दाई के सिवा कोई न रहा। वृद्धा माता तो इतनी हताश हुई कि उसी वक्त अटवास-खटवास ले कर पड़ रहीं।

जब बच्चे की बरही हो गयी तो घमंडीलाल स्त्री के पास गये और सरोष भाव से बोले—फिर लड़की हो गयी !

निरुपमा—क्या करूँ, मेरा क्या बस ?

घमंडीलाल—उस पापी धूर्त ने बड़ा चकमा दिया।

निरुपमा—अब क्या कहूँ, मेरे भाग्य ही में न होगा, नहीं तो वहां कितनी ही औरतें बाबाजी को रात-दिन घेरे रहती थीं। वह किसी से कुछ लेते तो कहती कि धूर्त हैं, क़सम ले लो जो मैंने एक कौड़ी भी उन्हें दी हो।

घमंडीलाल—उसने लिया या न लिया, यहां तो दिवाला निकल गया। मालूम हो गया तक़दीर में पुत्र नहीं लिखा है। कुल का नाम डूबना ही है तो क्या आज डूबा, क्या दस साल बाद डूबा। अब कहीं चला जाऊंगा, गृहस्थी में कौन-सा सुख रखा है।

वह बहुत देर तक खड़े-खड़े अपने भाग्य को रोते रहे; पर निरुपमा ने सिर तक न उठाया।

निरुपमा के सिर फिर वही विपत्ति आ पड़ी, फिर वही ताने, वही अपमान, वही अनादर, वही छीछालेदर, किसी को चिंता न रहती कि खाती-पीती है या नहीं, अच्छी है या बीमार है, दुखी है या सुखी। घमंडीलाल यद्यपि कहीं न गये, पर निरुपमा को यह धमकी प्रायः नित्य ही मिलती रहती थी। कई महीने यों ही गुजर गये तो निरुपमा ने फिर भावज को लिखा कि तुमने और भी मुझे विपत्ति में डाल दिया। इससे तो पहले ही भली थी। अब तो कोई बात भी नहीं पूछता कि मरती है या जीती है। अगर यही दशा रही तो स्वामी जी चाहे संन्यास लें या न लें, लेकिन मैं संसार को अवश्य त्याग दूँगी।

भाभी यह पत्र पा कर परिस्थिति समझ गयी। अबकी उसने निरुपमा को बुलाया नहीं, जानती थी कि लोग विदा ही न करेंगे, पति को लेकर स्वयं आ पहुँची। उसका नाम

सुकेशी था। बड़ी मिलनसार, चतुर, विनोदशील स्त्री थी। आते ही आते निरुपमा की गोद में कन्या देखी तो बोली—अरे यह क्या ?

सास—भाग्य है और क्या !

सुकेशी—भाग्य कैसा ? इसने महात्मा जी की बातें भुला दी होंगी। ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि वह मुँह से जो कुछ कह दें, वह न हो। क्यों जी, तुमने मंगल का व्रत रखा ?

निरुपमा—बराबर, एक व्रत भी न छोड़ा।

सुकेशी—पाँच ब्राह्मणों को मंगल के दिन भोजन कराती रहीं ?

निरुपमा—यह तो उन्होंने नहीं कहा था।

सुकेशी—तुम्हारा सिर, मुझे खूब याद है, मेरे सामने उन्होंने बहुत जोर दे कर कहा था। तुमने सोचा होगा, ब्राह्मणों को भोजन कराने से क्या होता है। यह न समझा कि कोई अनुष्ठान सफल नहीं होता जब तक विधिवत् उसका पालन न किया जाय।

सास—इसने कभी इसकी चर्चा ही नहीं की; नहीं, पाँच क्या दस ब्राह्मणों को जिमा देती। तुम्हारे धर्म से कुछ कमी नहीं है।

सुकेशी—कुछ नहीं, भूल हो गयी और क्या। रानी, बेटे का मुँह यों देखना नसीब नहीं होता। बड़े-बड़े जप-तप करने पड़ते हैं, तुम मंगल के एक व्रत ही से घबरा गयीं?

सास—अभागिनी है और क्या ?

घमंडीलाल—ऐसी कौन-सी बड़ी बातें थीं, जो याद न रहीं ? वह खुद हम लोगों को जलाना चाहती है।

सास—वही तो कहूँ कि महात्मा की बात कैसे निष्फल हुई। यहाँ सात बरसों तक 'तुलसी माई' को दिया चढ़ाया, जब जा के बच्चे का जन्म हुआ।

घमंडीलाल—इन्होंने समझा था दाल-भात का कौर है !

सुकेशी—खैर, अब जो हुआ सो हुआ कल मंगल है, फिर व्रत रखो और अब की सात ब्राह्मणों को जिमाओ। देखें, कैसे महात्मा जी की बात नहीं पूरी होती।

घमंडीलाल—व्यर्थ है, इनके किये कुछ न होगा।

सुकेशी—बाबूजी, आप विद्वान् समझदार हो कर इतना दिल छोटा करते हैं। अभी आपकी उम्र ही क्या है। कितने पुत्र लीजिएगा ? नाकों दम न हो जाय तो कहिएगा।

सास—बेटी, दूध-पूत से भी किसी का मन भरा है।

सुकेशी—ईश्वर ने चाहा तो आप लोगों का मन भर जायगा। मेरा तो भर गया।

घमंडीलाल—सुनती हो महारानी, अबकी कोई गोलमाल मत करना। अपनी भाभी से सब ब्योरा अच्छी तरह पूछ लेना।

सुकेशी—आप निश्चिंत रहें, मैं याद करा दूँगी; क्या भोजन करना होगा, कैसे रहना होगा, कैसे स्नान करना होगा, यह सब लिखा दूँगी और अम्माँ जी, आज के अठारह मास बाद आपसे कोई भारी इनाम लूँगी।

सुकेशी एक सप्ताह यहाँ रही और निरुपमा को खूब सिखा-पढ़ा कर चली गयी।

4

निरुपमा का एकबाल फिर चमका, घमंडीलाल अबकी इतने आश्वासित हुए कि भविष्य ने

भूत को भुला दिया। निरुपमा फिर बाँदी से रानी हुई, सास फिर उसे पान की भाँति फेरने लगी, लोग उसका मुँह जोहने लगे।

दिन गुजरने लगे, निरुपमा कभी कहती अम्माँ जी, आज मैंने स्वप्न देखा कि एक वृद्धा स्त्री ने आ कर मुझे पुकारा और एक नारियल दे कर बोली—यह तुम्हें दिये जाती हूँ, कभी कहती, अम्माँ जी, अबकी न जाने क्यों मेरे दिल में बड़ी-बड़ी उमगें पैदा हो रही हैं, जी चाहता है खूब गाना सुनूँ, नदी में खूब स्नान करूँ, हरदम नशा-सा छाया रहता है। सास सुन कर मुस्कुराती और कहती—बहू, ये शुभ लक्षण हैं।

निरुपमा चुपके-चुपके माजून मँगा कर खाती और अपने असल नेत्रों से ताकती हुई घमंडीलाल से पूछती—मेरी आँखें लाल हैं क्या ?

घमंडीलाल खुश हो कर कहते—मालूम होता है, नशा चढ़ा हुआ है। ये शुभ लक्षण हैं।

निरुपमा को सुगंधों से कभी इतना प्रेम न था, फूलों के गजरों पर अब वह जान देती थी।

घमडीलाल अब नित्य सोते समय उसे महाभारत की वीर कथाएँ पढ़ कर सुनाते, कभी गुरु गोविंदसिंह की कीर्ति का वर्णन करते। अभिमन्यु की कथा से निरुपमा को बडा प्रेम था। पिता अपने आनेवाले पुत्र को वीर-संस्कारों से परिपूरित कर देना चाहता था।

एक दिन निरुपमा ने पति से कहा—नाम क्या रखोगे ?

घमंडीलाल—यह तो तुमने खूब सोचा। मुझे तो इसका ध्यान ही न रहा था। ऐसा नाम होना चाहिए जिससे शौर्य और तेज टपके। सोचो कोई नाम।

दोनों प्राणी नामों की व्याख्या करने लगे। जोरावरलाल से लेकर हरिश्चन्द्र तक सभी नाम गिनाये गये, पर उस असामान्य बालक के लिए कोई नाम न मिला। अन्त में पति ने कहा तेग़बहादुर कैसा नाम है।

निरुपमा—बस-बस, यही नाम मुझे पसन्द है ?

घमंडीलाल—नाम तो बढ़िया है। तेग़बहादुर की कीर्ति सुन ही चुकी हो। नाम का आदमी पर बड़ा असर होता है।

निरुपमा—नाम ही तो सब-कुछ है। दमड़ी, छकौड़ी, धुरहू, कतवारू, जिसके नाम देखे उसे भी 'यथा नाम तथा गुण' ही पाया। हमारे बच्चे का नाम होगा तेग़बहादुर।

5

प्रसव-काल आ पहुँचा। निरुपमा को मालूम था कि क्या होने वाली है; लेकिन बाहर मंगलाचरण का पूरा सामान था। अबकी किसी को लेशमात्र भी संदेह न था। नाच, गाने का प्रबंध भी किया गया था। एक शामियाना खड़ा किया गया था और मित्रगण उसमें बैठे खुश-गप्पियाँ कर रहे थे। हलवाई कड़ाह से पूरियाँ और मिठाइयाँ निकाल रहा था। कई बोरे अनाज के रखे हुए थे कि शुभ समाचार पाते ही भिक्षुओं को बाँटे जायें। एक क्षण का भी विलम्ब न हो, इसलिए बोरों के मुँह खोल दिये गये थे।

लेकिन निरुपमा का दिल प्रतिक्षण बैठा जाता था। अब क्या होगा ? तीन साल किसी तरह कौशल से कट गये और मजे में कट गये, लेकिन अब विपत्ति सिर पर मँडरा

रही है। हाय ! कितनी परवशता है ! निरपराध होने पर भी यह दंड ! अगर भगवान् की इच्छा है कि मेरे गर्भ से कोई पुत्र न जन्म ले तो मेरा क्या दोष ! लेकिन कौन सुनता है। मैं ही अभागिनी हूँ, मैं ही त्याज्य हूँ, मैं ही कलमुँही हूँ, इसीलिए न कि परवश हूँ ! क्या होगा? अभी एक क्षण में यह सारा आनंदोत्सव शोक में डूब जायगा, मुझ पर बौछारें पड़ने लगेंगी, भीतर से बाहर तक मुझी को कोसेंगे, सास-ससुर का भय नहीं, लेकिन स्वामी जी शायद फिर मेरा मुँह न देखें, शायद निराश हो कर घर-बार त्याग दें। चारों तरफ अमंगल ही अमंगल है। मैं अपने पर की, अपनी संतान की दुर्दशा देखने के लिए क्यों जीवित हूँ। कौशल बहुत हो चुका, अब उससे कोई आशा नहीं। मेरे दिल में कैसे-कैसे अरमान थे। अपनी प्यारी बच्चियों का लालन-पालन करती, उन्हें ब्याहती, उनके बच्चों को देख कर सुखी होती। पर आह ! यह सब अरमान खाक में मिले जाते हैं। भगवान् ! तुम्हीं अब इनके पिता हो, तुम्हीं इनके रक्षक हो। मैं तो अब जाती हूँ।

लेडी डॉक्टर ने कहा—वेल ! फिर लड़की है।

भीतर-बाहर कुहराम मच गया पिट्टस पड़ गयी। घमंडीलाल ने कहा—जहन्नुम में जाय ऐसी जिंदगी, मौत भी नहीं आ जाती !

उनके पिता भी बोले—अभागिनी है, वज्र अभागिनी !

भिक्षुओं ने कहा—रोओ अपनी तकदीर को, हम कोई दूसरा द्वार देखते हैं।

अभी यह शोकोद्गार न होने पाया था कि लेडी डॉक्टर ने कहा—माँ का हाल अच्छा नहीं है। वह अब नहीं बच सकती। उसका दिल बंद हो गया है।

[हिन्दी कहानी। 'चांद' मासिक पत्रिका, जुलाई, 1924 में प्रकाशित। 'साहित्य समालोचक', मई, 1926 में पुनः प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित।]

एक आंच की कसर

सारे नगर में महाशय यशोदानन्द का बखान हो रहा था। नगर ही में नहीं, समस्त प्रांत में उनकी कीर्ति गायी जाती थी, समाचार-पत्रों में टिप्पणियाँ हो रही थीं, मित्रों से प्रशंसापूर्ण पत्रों का ताँता लगा हुआ था। समाज-सेवा इसको कहते हैं ! उन्नत विचार के लोग ऐसा ही करते हैं। महाशय जी ने शिक्षित समुदाय का मुख उज्ज्वल कर दिया। अब कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि हमारे नेता केवल बात के धनी हैं, काम के धनी नहीं ! महाशय जी चाहते तो अपने पुत्र के लिए उन्हें कम-से-कम बीस हजार रुपये दहेज में मिलते, उस पर खुशामद घाते में ! मगर लाला साहब ने सिद्धान्त के सामने धन की रत्ती बराबर परवा न की और अपने पुत्र का विवाह बिना एक पाई दहेज लिये स्वीकार किया। वाह ! वाह ! हिम्मत हो तो ऐसी हो, सिद्धांत-प्रेम हो तो ऐसा हो, आदर्श-पालन हो तो ऐसा हो। वाह रे सच्चे वीर, अपनी माता के सच्चे सपूत तूने वह कर दिखाया जो कभी किसी ने न किया था। हम बड़े गर्व से तेरे सामने मस्तक नवाते हैं।

महाशय यशोदानन्द के दो पुत्र थे। बड़ा लड़का पढ़-लिख कर फाजिल हो चुका था।

उसी का विवाह हो रहा था और जैसा हम देख चुके हैं, बिना कुछ दहेज लिये।

आज वर का तिलक था। शाहजहाँपुर के महाशय स्वामीदयाल तिलक ले कर आने वाले थे। शहर के गणमान्य सज्जनों को निमन्त्रण दे दिये थे। वे लोग जमा हो गये थे। महफिल सजी हुई थी। एक प्रवीण सितारिया अपना कौशल दिखा कर लोगों को मुग्ध कर रहा था। दावत का सामान भी तैयार था ? मित्रगण यशोदानन्द को बधाइयाँ दे रहे थे।

एक महाशय बोले—तुमने तो यार कमाल कर दिया !

दूसरे—कमाल ! यह कहिए कि झण्डे गाड़ दिये। अब तक जिसे देखा मंच पर व्याख्यान झाड़ते ही देखा। जब काम करने का अवसर आता था तो लोग दुम दबा लेते थे।

तीसरे—कैसे-कैसे बहाने गढ़े जाते हैं—साहब हमें तो दहेज से सख्त नफरत है। यह मेरे सिद्धांत के विरुद्ध है, पर करूँ क्या, बच्चे की अम्मीजान नहीं मानतीं। कोई अपने बाप पर फेंकता है, कोई और किसी खुर्राट पर।

चौथे—अजी, कितने तो ऐसे बेहया हैं जो साफ-साफ कह देते हैं कि हमने लड़के की शिक्षा-दीक्षा में जितना खर्च किया है, वह हमें मिलना चाहिए। मानों उन्होंने यह रुपये किसी बैंक में जमा किये थे !

पाँचवें—खूब समझ रहा हूँ, आप लोग मुझ पर छींटे उड़ा रहे हैं। इसमें लड़केवालों का ही सारा दोष है या लड़कीवाले का भी कुछ है ?

पहले—लड़कीवाले का क्या दोष है सिवा इसके कि वह लड़की का बाप है।

दूसरे—सारा दोष ईश्वर का जिसने लड़कियाँ पैदा कीं। क्यों ?

पाँचवें—मैं यह नहीं कहता। न सारा दोष लड़कीवाले का है, न सारा दोष लड़केवालों का। दोनों ही दोषी हैं। अगर लड़कीवाला कुछ न तो उसे यह शिकायत करने का तो कोई अधिकार नहीं है कि डाल क्यों नहीं लाये, सुंदर जोड़े क्यों नहीं लाये, बाजे-गाजे और धूमधाम के साथ क्यों नहीं आये ? बताइए !

चौथे—हाँ, आपका यह प्रश्न गौर करने के लायक है। मेरी समझ में तो ऐसी दशा में लड़के के पिता से यह शिकायत न होनी चाहिए।

पाँचवें—तो यों कहिए कि दहेज की प्रथा के साथ ही डाल, गहने और जोड़ों की प्रथा भी त्याज्य है। केवल दहेज को मिटाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है।

यशोदानन्द—यह भी lame excuse (थोथी दलील) है। मैंने दहेज नहीं लिया है, लेकिन क्या डाल-गहने न ले जाऊँगा।

पहले—महाशय, आपकी बात निराली है। आप अपनी गिनती हम दुनियावालों के साथ क्यों करते हैं ? आपका स्थान तो देवताओं के साथ है।

दूसरे—20 हजार की रकम छोड़ दी ? क्या बात है।

यशोदानन्द—मेरा तो यह निश्चय है कि हमें सदैव principles (सिद्धान्तों) पर स्थिर रहना चाहिए। principle (सिद्धान्त) के सामने money (धन) की कोई value (मूल्य) नहीं है। दहेज की कुप्रथा पर मैंने खुद कोई व्याख्यान नहीं दिया शायद कोई नोट तक नहीं लिखा। हाँ, conference (सभा) में इस प्रस्ताव को second (अनुमोदित) कर चुका हूँ और इसलिए मैं अपने को उस प्रस्ताव से बँधा हुआ पाता हूँ। मैं उसे तोड़ना भी चाहूँ तो आत्मा न तोड़ने देगी। मैं सत्य कहता हूँ, यह रुपये ले लूँ तो मुझे इतनी मानसिक

वेदना होगी कि शायद मैं इस आघात से वच ही न सकूँ।

पाँचवें—अब की conference आपको सभापति न बनाये तो उसका घोर अन्याय है।

यशोदानंद—मैं अपनी duty (कर्त्तव्य) कर दी, उसका recognition (कदर) हो या न हो, मुझे इसकी परवा नहीं।

इतने में खबर हुई कि महाशय स्वामीदयाल आ पहुँचे। लोग उनका अभिवादन करने को तैयार हुए, उन्हें मनसद पर ला बिठाया और तिलक का संस्कार आरम्भ हो गया। स्वामीदयाल ने एक ढाक के पत्तल पर नारियल, सुपारी, चावल, पान आदि वस्तुएँ वर के सामने रखीं। ब्राह्मणों ने मंत्र पढ़े, हवन हुआ और वर के माथे पर तिलक लगा दिया गया। तुरंत घर की स्त्रियों ने मंगलाचरण गाना शुरू किया। यहाँ महफिल में महाशय यशोदानंद ने एक चौकी पर खड़े होकर दहेज की कुप्रथा पर व्याख्यान देना शुरू किया। व्याख्यान पहले से लिख कर तैयार कर लिया गया था। उन्होंने दहेज की ऐतिहासिक व्याख्या की थी। पूर्वकाल में दहेज का नाम भी न था। महाशयो ! कोई जानता ही न था कि दहेज या ठहरौनी किस चिड़िया का नाम है। सत्य मानिए, कोई जानता ही न था कि ठहरौनी है क्या चीज, पशु या पक्षी, आसमान में या जमीन में, खाने में या पीने में। बादशाही जमाने में इस प्रथा की बुनियाद पड़ी। हमारे युवक सेनाओं में सम्मिलित होने लगे, यह वीर लोग थे, सेनाओं में जाना गर्व की बात समझते थे। माताएँ अपने दुलारों को अपने हाथ से शस्त्रों से सजा कर रणक्षेत्र में भेजती थीं। इस भाँति युवकों की संख्या कम होने लगी और लड़कों का मोल-तोल शुरू हुआ। आज यह नौबत आ गयी है कि मेरी इस तुच्छ-महातुच्छ सेवा पर पत्रों में टिप्पणियाँ हो रही हैं मानों मैंने कोई असाधारण काम किया है। मैं कहता हूँ; अगर आप संसार में जीवित रहना चाहते हैं तो इस प्रथा का तुरंत अंत कीजिए।

एक महाशय ने शंका की—क्या इसका अंत किये विना हम सब मर जायेंगे ?

यशोदानंद—अगर ऐसा होता तो क्या पूछना था, लोगों को दंड मिल जाता और वास्तव में ऐसा होना चाहिए। यह ईश्वर का अत्याचार है कि ऐसे लोभी, धन पर गिरनेवाले, बुर्दा-फ़रोश, अपनी संतान का विक्रय करनेवाले नराधम जीवित हैं और सुखी हैं। समाज उनका तिरस्कार नहीं करता। मगर वह सब बुर्दा-फ़रोश हैं—इत्यादि।

व्याख्यान बहुत लम्बा और हास्य से भरा हुआ था। लोगों ने खूब वाह-वाह की। अपना वक्तव्य समाप्त करने के बाद उन्होंने अपने छोटे लड़के परमानंद को, जिसकी अवस्था कोई सात वर्ष की थी, मंच पर खड़ा किया। उसे उन्होंने एक छोटा-सा व्याख्यान लिख कर दे रखा था। दिखाना चाहते थे कि इस कुल के छोटे बालक भी कितने कुशाग्र-बुद्धि हैं। सभा-समाजों में बालकों से व्याख्यान दिलाने की प्रथा है ही, किसी को कुतूहल न हुआ। बालक बड़ा सुंदर, होनहार, हँसमुख था। मुस्कराता हुआ मंच पर आया और जेब से एक कागज निकाल कर बड़े गर्व के साथ उच्च स्वर में पढ़ने लगा—

प्रिय बंधुवर,

नमस्कार।

आपके पत्र से विदित होता है कि आपको मुझ पर विश्वास नहीं है। मैं ईश्वर को साक्षी कर के निवेदन करता हूँ कि निर्दिष्ट धन आपकी सेवा में इतनी गुप्त रीति से पहुँचेगा कि किसी को लेशमात्र भी संदेह न होगा। हाँ, केवल एक जिज्ञासा करने की

धृष्टता करता हूँ। इस व्यापार को गुप्त रखने से आपको जो सम्मान और प्रतिष्ठा-लाभ होगा और मेरे निकटवर्ती में मेरी जो निंदा की जायगी, उसके उपलक्ष्य में मेरे साथ क्या रिआयत होगी ? मेरा विनीत अनुरोध है कि पच्चीस में से पांच निकाल कर मेरे साथ न्याय किया जाय...।

महाशय यशोदानंद घर में मेहमानों के लिए भोजन परसने का आदेश करने गये थे। निकले तो यह वाक्य उनके कान में पड़ा—'पच्चीस में से पांच निकाल कर मेरे साथ न्याय कीजिए।' चेहरा फ़क हो गया, झपट कर लड़के के पास गये, कागज उसके हाथ से छीन लिया और बोले—नालायक, यह क्या पढ़ रहा है, यह तो किसी मुवक्किल का खत है जो उसने अपने मुकदमे के बारे में लिखा था। यह तू कहाँ से उठा लाया, शैतान, जा वह कागज ला, जो तुझे लिख कर दिया गया था।

एक महाशय—पढ़ने दीजिए, इस तहरीर में जो लुत्फ़ है, वह किसी दूसरी तक़रीर में न होगा।

दूसरे—जादू वह जो सिर पर चढ़ के बोले !

तीसरे—अब जलसा बरखास्त कीजिए। मैं तो चला।

चौथे—यहाँ भी चलतू हुए।

यशोदानंद—बैठिए-बैठिए, पत्तल लगाये जा रहे हैं।

पहले—बेटा परमानंद, जरा यहाँ तो आना, तुमने वह कागज कहाँ पाया ?

परमानंद—बाबू जी ही ने तो लिख कर अपनी मेज के अंदर रख दिया था। मुझसे कहा था कि इसे पढ़ना। अब नाहक मुझसे खफा हो रहे हैं।

यशोदानंद—वह यह कागज था सुअर ! मैंने तो मेज के ऊपर ही रख दिया था। तूने ड्राअर में से क्यों यह कागज निकाला ?

परमानंद—मुझे मेज पर नहीं मिला।

यशोदानंद—तो मुझसे क्यों नहीं कहा, ड्राअर क्यों खोला ? देखो, आज ऐसी खबर लेता हूँ कि तुम भी याद करोगे।

पहले—यह आकाशवाणी है।

दूसरे—इस को लीडरी कहते हैं कि अपना उल्लू भी सीधा करो और नेकनाम भी बनो।

तीसरे—शरम आनी चाहिए। यह त्याग से मिलता है, धोखेधड़ी से नहीं।

चौथे—मिल तो गया था पर एक आँच की कसर रह गयी।

पाँचवें—ईश्वर पाखंडियों को यों ही दंड देता है।

यह कहते हुए लोग उठ खड़े हुए। यशोदानंद समझ गये कि भंडा फूट गया, अब रंग न जमेगा, बार-बार परमानन्द को कुपित नेत्रों से देखते थे और डंडा तौल कर रह जाते थे। इस शैतान ने आज जीती-जितायी बाजी खो दी, मुँह में कालिख लग गयी, सिर नीचा हो गया। गोली मार देने का काम किया है।

उधर रास्ते में मित्र-वर्ग यों टिप्पणियां करते जा रहे थे—

एक—ईश्वर ने मुँह में कैसी कालिमा लगायी कि हयादार होगा तो अब सूरत न दिखाएगा।

दूसरा--ऐसे-ऐसे धनी, मानी, विद्वान लोग ऐसे पतित हो सकते है। मुझे तो यही आश्चर्य है। लेना है तो खुले खजाने लो, कोन तुम्हारा हाथ पकड़ता है; यह क्या कि माल भी चुपके-चुपके उड़ाओ और यश भी कमाओ !

तीसरा--मक्कार का मुँह काला !

चौथा --यशोदानन्द पर दया आ रही है। बेचारे ने इतनी धूर्तता की, उस पर भी कलई खुल ही गयी। बस एक आँच की कसर रह गयी।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', अगस्त, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में सकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित।]

भूत

मुरादाबाद के पंडित सीतानाथ चौबे गत तीस वर्षों से वहाँ के वकीलों के नेता हैं। उनके पिता उन्हें बाल्यावस्था में ही छोडकर परलोक सिधारे थे। घर में कोई संपत्ति न थी। माता ने बड़े-बड़े कष्ट से ... उन्हें पाला और पढ़ाया। सबसे पहले वह कचहरी में पन्द्रह) मासिक पर नौकर हुए। फिर वकालत की परीक्षा दी। पास हो गये। प्रतिभा थी, दो-ही-चार वर्षों में वकालत चमक उठी। जब माता का स्वर्गवास हुआ तब पुत्र का शुमार जिले के गण्यमान्य व्यक्तियों में हो गया था। उनकी आमदनी एक हजार रुपये महीने से कम न थी। एक विशाल भवन बनवा लिया था, कुछ जमींदारी ले ली थी, कुछ रुपये बैंक में रख दिये थे, और कुछ लेन-देन मे लगा दिये। इस समृद्धि पर चार पुत्रों का होना उनके भाग्य को आदर्श बनाए हुए था। चारों लड़के भिन्न-भिन्न दर्जों में पढ़ते थे। मगर यह कहना कि सारी विभूति चौबेजी के अनवरत परिश्रम का फल थी, उनकी पत्नी मंगला देवी के साथ अन्याय करना है। मंगला बड़ी सरल, गृह-कार्य में कुशल और पैसे का काम धेले में चलानेवाली स्त्री थी। जब तक अपना घर न बन गया, उसने तीन) महीने से अधिक का मकान किराये पर नहीं लिया; और रसोई के लिए मिसराइन तो उसने अब तक न रखी थी। उसे अगर कोई व्यसन था, तो गहनों का; और चौबेजी को भी अगर कोई व्यसन था, तो स्त्री को गहने पहनाने का। वह सच्चे पत्नी-परायण मनुष्य थे। साधारणतः महफिलों में वेश्याओं से हँसी-मजाक कर लेना उतना बुरा नहीं समझा जाता, पर पंडितजी अपने जीवन में कभी नाच-गाने की महफिल मे गये ही नहीं। पांच बजे तड़के से लेकर बारह बजे रात तक उनका व्यसन मनोरंजन, पढ़ना-लिखना अनुशीलन जो कुछ था, कानून था, न उन्हें राजनीति से प्रेम था, न जाति-सेवा से। ये सभी काम उन्हें व्यर्थ से जान पडते थे। उनके विचार में अगर कोई काम करने लायक था, तो बस, कचहरी जाना, बहस करना, रुपये जमा करना और भोजन करके सो रहना। जैसे वेदान्ती को ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् मिथ्या जान पड़ता है, वैसे ही चौबेजी को कानून के सिवा सारा संसार मिथ्या प्रतीत होता था। सब माया थी, एक कानून ही सत्य था।

2

चौबेजी के मुख-चंद्र में केवल एक कला की कमी थी। उनके कोई कन्या न थी। पहलौठी कन्या के बाद फिर कन्या हुई ही नहीं और न अब होने की आशा ही थी। स्त्री और पुरुष, दोनों उस कन्या को याद करके रोया करते थे। लड़कियाँ बचपन में लड़कों से ज्यादा चोंचले करती हैं। उन चोंचलों के लिए दोनों प्राणी विकल रहते। माँ सोचती, लड़की होती, तो उसके लिए गहने बनवाती, उसके बाल गूँथती। लड़की पैजनियाँ पहने ठुमक-ठुमक आँगन में चलती तो कितना आनंद आता ! कन्यादान के बिना मोक्ष कैसे होगा ? कन्यादान महादान है। जिसने यह दान न दिया, उसका जन्म ही वृथा गया।

आखिर यह लालसा इतनी प्रबल हुई कि मंगला ने अपनी छोटी बहन को बुलाकर कन्या की भाँति पालने का निश्चय किया। उसके माँ-बाप निर्धन थे। राजी हो गये। यह बालिका मंगला की सोतेली माँ की कन्या थी। बड़ी सुन्दर और बड़ी चंचल थी। नाम था बिन्नी। चौबेजी का घर उसके आने से खिल उठा। दो-चार ही दिनों में लड़की अपने माँ-बाप को भूल गयी। उसकी उम्र तो केवल चार वर्ष की थी; पर उसे खेलने की अपेक्षा कुछ काम करना अच्छा लगता था। मंगला रसोई बनाने जाती तो बिन्नी भी उसके पीछे-पीछे जाती, उससे आटा गूँथने के लिए झगड़ा करती। तरकारी काटने में उसे बड़ा मजा आता था। जब तक वकील साहब घर पर रहते, तब तक वह उनके साथ दीवानखाने में बैठी रहती। कभी किताब उलटती, कभी दवात-कलम से खेलती। चौबेजी मुस्कराकर कहते—बेटी, मार खाओगी ? बिन्नी कहती—तुम मार खाओगे, मैं तुम्हारे कान काट लूँगी, जूजू को बुलाकर पकड़ा दूँगी। इस पर दीवानखाने में खूब कहकहे उड़ते। वकील साहब कभी इतने बाल्यवत्सल न थे ! जब बाहर से आते तो कुछ-न-कुछ सौगात बिन्नी के वास्ते जरूर लाते, और घर में कदम रखते ही पुकारते—बिन्नी बेटी, चलो। बिन्नी दौड़ती हुई आकर उनकी गोद में बैठ जाती।

मंगला एक दिन बिन्नी को लिए बैठी थी। इतने में पंडितजी आ गये। बिन्नी दौड़कर उनकी गोद में जा बैठी। पंडितजी ने पूछा—तू किसकी बेटी है ?

बिन्नी—न बताऊँगी।

मंगला—कह दे बेटा, जीजी की बेटी हूँ।

पंडित—तू मेरी बेटी है बिन्नी, कि इनकी ?

बिन्नी—न बताऊँगी।

पंडित—अच्छा, हम लोग आँखें बन्द किये बैठे हैं; बिन्नी जिसकी बेटी होगी, उसकी गोद में बैठ जायगी।

बिन्नी उठी और फिर चौबेजी की गोद में बैठ गयी।

पंडित—मेरी बेटी है, मेरी बेटी है (स्त्री से) अब न कहना कि मेरी बेटी है।

मंगला—अच्छा, जाओ बिन्नी, अब तुम्हें मिठाई न दूंगी, गुड़िया भी न मँगा दूँगी !

बिन्नी—भैयाजी मँगवा देंगे, तुम्हें न दूँगी।

वकील साहब ने हँसकर बिन्नी को छाती से लगा लिया और गोद में लिये हुए बाहर चले गये। वह अपने इष्ट-मित्रों को भी इस बालक्रीड़ा का रसास्वादन कराना चाहते थे।

आज से जो कोई बिन्नी से पूछता कि तू किसकी बेटी है, तो बिन्नी चट कह

देती–भैया की।

एक बार बिन्नी का बाप आकर उसे अपने साथ ले गया। बिन्नी ने रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा ली। इधर चौबेजी को भी दिन काटना कठिन हो गया। एक महीना भी न गुजरने पाया था कि वह फिर ससुराल गये और बिन्नी को लिवा लाये। बिन्नी अपनी माता और पिता को भूल गयी। वह चौबेजी को अपना बाप और मंगला को अपनी माँ समझने लगी। जिन्होंने उसे जन्म दिया था, वे अब गैर हो गये।

3

कई साल गुजर गये। वकील साहब के बेटों के विवाह हुए। उनमें से दो अपने बाल-बच्चों को लेकर अन्य जिलों में वकालत करने चले गये। दो कालेज में पढ़ते थे। बिन्नी भी कली से फूल हुई। ऐसी रूप-गुण शीलवाली बालिका बिरादरी में और न थी–पढ़ने-लिखने में चतुर, घर के काम-धन्धों में कुशल, बूटे-कसीदे और सीने-पिरोने में दक्ष, पाककला में निपुण, मधुर-भाषिणी, लज्जाशीला, अनुपम रूप की राशि। अँधेरे घर में उसके सौंदर्य की दिव्य ज्योति से उजाला होता था। उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह प्राणप्रद सुषमा और वह शोभा न था, श्वेत हेममुकुटधारी पर्वत में भी वह शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विंध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।

चौबेजी ने बिन्नी के लिए सुयोग्य वर खोजना शुरू किया। लड़कों की शादियों में दिल का अरमान निकाल चुके थे। अब कन्या के विवाह में हौसले पूरे करना चाहते थे। धन लुटाकर कीर्ति पा चुके थे, अब दान-दहेज में नाम कमाने की लालसा थी। बेटे का विवाह कर लेना आसान है पर कन्या के विवाह में आबरू निबाह ले जाना कठिन है, नौका पर सभी यात्रा करते हैं, जो तैरकर नदी पार करे, वही प्रशंसा का अधिकारी है।

धन की कमी न थी। अच्छा घर और सुयोग्य वर मिल गया। जन्मपत्र मिल गये, बनावत बन गया। फलदान और तिलक की रस्में भी अदा कर दी गयीं। पर हाय रे दुर्दैव ! कहाँ तो विवाह की तैयारी हो रही थी, द्वार पर दरजी, सुनार, हलवाई सब अपना-अपना काम कर रहे थे, कहाँ निर्दय विधाता ने और ही लीला रच दी ! विवाह के एक सप्ताह पहले मंगला अनायास बीमार पड़ी, तीन ही दिन में अपने सारे अरमान लिये हुए परलोक सिधार गयी।

सन्ध्या हो गयी थी। मंगला चारपाई पर पड़ी हुई थी। बेटे, बहुएँ, पोते-पोतियाँ सब चारपाई के चारों ओर खड़े थे। बिन्नी पैंताने बैठी मंगला के पैर दबा रही थी। मृत्यु के समय की भयंकर निस्तब्धता छायी हुई थी। कोई किसी से न बोलता था; दिल में सब समझ रहे थे, क्या होनेवाला है। केवल चौबेजी वहाँ न थे।

सहसा मंगला ने इधर-उधर इच्छा-पूर्ण दृष्टि से देखकर कहा–जरा उन्हें बुला दो; कहाँ हैं ?

पंडितजी अपने कमरे में बैठे रो रहे थे। सन्देश पाते ही आँसू पोंछते हुए घर में आये और बड़े धैर्य के साथ मंगला के सामने हो गये। डर रहे थे कि मेरी आँखों से आँसू की एक बूँद भी निकली, तो घर में हाहाकार मच जायगा।

मंगला ने कहा—एक बात पूछती हूँ—बुरा न मानना—बिन्नी तुम्हारी कौन है ?

पंडित—बिन्नी कौन है ? मेरी बेटी है और कौन ?

मंगला—हाँ, मैं तुम्हारे मुँह से यही सुनना चाहती थी। उसे सदा अपनी बेटी समझते रहना। उसके विवाह के लिए मैंने जो-जो तैयारियाँ की थीं, उनमें कुछ काट-छाँट मत करना।

पंडित—इसकी कुछ चिन्ता न करो। ईश्वर ने चाहा, तो उससे कुछ ज्यादा धूम-धाम के साथ विवाह होगा।

मंगला—उसे हमेशा बुलाते रहना, तीज-त्योहार में कभी मत भूलना।

पंडित—इन बातों की मुझे याद दिलाने की जरूरत नहीं।

मंगला ने कुछ सोचकर फिर कहा—इसी साल विवाह कर देना।

पंडित—इस साल कैसे होगा ?

मंगला—यह फागुन का महीना है। जेठ तक लगन है।

पंडित—हो सकेगा तो इसी साल कर दूँगा।

मंगला—हो सकने की बात नहीं, जरूर कर देना।

पंडित—कर दूँगा।

इसके बाद गोदान की तैयारी होने लगी।

4

बुढ़ापे में पत्नी का मरना बरसात में घर का गिरना है। फिर उसके बनने की आशा नहीं होती।

मंगला की मृत्यु से पंडितजी का जीवन अनियमित और विशृंखल-सा हो गया। लोगों से मिलना-जुलना छूट गया। कई-कई दिन कचहरी ही न जाते। जाते भी तो बड़े आग्रह से। भोजन से अरुचि हो गयी। विंध्येश्वरी उनकी दशा देख-देखकर दिल में कुढ़ती और यथासाध्य उनका दिल बहलाने की चेष्टा किया करती थी। वह उन्हें पुराणों की कथाएँ पढ़कर सुनाती, उनके लिए तरह-तरह की भोजन-सामग्री पकाती और उन्हें आग्रह अनुरोध के साथ खिलाती थी। जब तक वह न खा लेते, आप कुछ न खाती थी। गरमी के दिन थे ही। रात को बड़ी देर तक पैताने बैठी पंखा झला करती और जब तक वह न सो जाते, तब तक आप भी सोने न जाती। वह जरा भी सिर-दर्द की शिकायत करते, तो तुरन्त उनके सिर में तेल डालती। यहाँ तक कि रात को जब उन्हें प्यास लगती, तब खुद दौड़कर आती और उन्हें पानी पिलाती। धीरे-धीरे चौबेजी के हृदय में मंगला केवल एक सुख की स्मृति रह गयी।

एक दिन चौबेजी ने बिन्नी को मंगला के सब गहने दे दिये। मंगला का यह अंतिम आदेश था। बिन्नी फूली न समायी। उसने उस दिन खूब बनाव-सिंगार किया। जब संध्या के समय पंडितजी कचहरी से आये, तो वह गहनों से लदी हुई उनके सामने कुछ लजाती और मुस्कराती हुई आकर खड़ी हो गयी।

पंडितजी ने सतृष्ण नेत्रों से देखा। विंध्येश्वरी के प्रति अब उनके मन में एक नया भाव अंकुरित हो रहा था। मंगला जब तक जीवित थी, वह उनसे पिता-पुत्री के भाव को

सजग और पुष्ट कराती रहती थी। अब मंगला न थी। अतएव वह भाव दिन-दिन शिथिल होता जाता था। मंगला के सामने बिन्नी एक बालिका थी। मंगला की अनुपस्थिति में वह एक रूपवती युवती थी। लेकिन सरल-हृदया बिन्नी को इसकी रत्ती-भर भी खबर न थी कि भैया के भावों में क्या परिवर्तन हो रहा है। उसके लिए वह वही पिता के तुल्य भैया थे। वह पुरुषों के स्वभाव से अनभिज्ञ थी। नारी-चरित्र में अवस्था के साथ मातृत्व का भाव दृढ़ होता जाता है। यहाँ तक कि एक समय ऐसा आता है, जब नारी की दृष्टि में युवक मात्र पुत्र तुल्य हो जाते हैं। उसके मन में विषय-वासना का लेश भी नहीं रह जाता। किन्तु पुरुषों में यह अवस्था कभी नहीं आती! उनकी कामेन्द्रियाँ क्रिया-हीन भले ही हो जायँ, पर विषय-वासना संभवतः और भी बलवती हो जाती है। पुरुप वासनाओं से कभी मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि ज्यों-ज्यों अवस्था ढलती है त्यों-त्यों ग्रीष्म-ऋतु के अंतिम काल की भाँति उसकी वासना की गरमी भी प्रचंड होती जाती है। वह तृप्ति के लिए नीच साधनों का सहारा लेने को भी प्रस्तुत हो जाता है। जवानी में मनुष्य इतना नहीं गिरता। उसके चरित्र में गर्व की मात्रा अधिक रहती है, जो नीच साधनों से घृणा करती है। वह किसी के घर में घुसने के लिए जबरदस्ती कर सकता है, किन्तु परनाले के रास्ते नहीं जा सकता।

पंडितजी ने बिन्नी को सतृष्ण नेत्रों से देखा और फिर अपनी इस उच्छृंखलता पर लज्जित होकर आँखें नीची कर लीं ! बिन्नी इसका कुछ मतलब न समझ सकी।

पंडितजी बोले—तुम्हें देखकर मुझे मंगला की उस समय की याद आ रही है—जब वह विवाह के समय यहाँ आयी थी। बिलकुल ऐसी सूरत थी। यही गोरा रंग, यही प्रसन्न-मुख, यही कोमल गात, ये ही लजीली आँखें। वह चित्र अभी तक मेरे हृदय-पट पर खिंचा हुआ है, कभी नहीं मिट सकता। ईश्वर ने तुम्हारे रूप में मेरी मंगला मुझे फिर दे दी।

बिन्नी—आप के लिए क्या जलपान लाऊँ ?

पंडित—ले आना, अभी बैठो, मैं बहुत दुखी हूँ। तुमने मेरे शोक को भुला दिया है। वास्तव में तुमने मुझे जिला लिया, नहीं तो मुझे आशा न थी कि मंगला के पीछे मैं जीवित रहूँगा। तुमने प्राण दान दिया। नहीं जानता तुम्हारे चले जाने पर मेरी क्या दशा होगी।

बिन्नी—कहाँ चले जाने के बाद ? मैं तो कहीं नहीं जा रही हूँ।

पंडित—क्यों तुम्हारे विवाह की तिथि आ रही है। चली ही जाओगी।

बिन्नी—(सकुचाती हुई) ऐसी जल्दी क्या है ?

पंडित—जल्दी क्यों नहीं। जमाना हँसेगा।

बिन्नी—हँसने दीजिए। मैं यहीं आपकी सेवा करती रहूँगी।

पंडित—नहीं बिन्नी, मेरे लिए तुम क्यों हलकान होगी। मै अभागा हूँ, जब तक जिन्दगी है, जिऊँगा; चाहे रोकर जिऊँ, चाहे हँसकर। हँसी मेरे भाग्य से उठ गई। तुमने इतने दिनों सँभाल लिया, यही क्या कम एहसान किया। मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारे जाने के बाद कोई मेरी खबर लेनेवाला नहीं रहेगा, यह घर तहस-नहस हो जायगा और मुझे घर छोड़कर भागना पड़ेगा। पर क्या किया जाय, लाचारी है। तुम्हारे बिना अब मैं यहाँ क्षणभर भी नहीं रह सकता। मंगला की खाली जगह तो तुमने पूरी की, अब तुम्हारा स्थान कौन पूरा करेगा ?

बिन्नी—क्या इस साल रुक नहीं सकता। मैं इस दशा में आपको छोड़ कर न जाऊँगी।

पंडित—अपने बस की बात तो नहीं ? वे लोग आग्रह करेंगे, तो मजबूर होकर करना ही पड़ेगा।

बिन्नी—बहुत जल्दी मचायें तो आप कह दीजिएगा, अब नहीं करेंगे। उन लोगों के जी में जो आये, करें। यहाँ कोई उनका दबैल बैठा हुआ है ?

पंडित—वे लोग अभी से आग्रह कर रहे हैं।

बिन्नी—आप फटकार क्यों नहीं देते ?

पंडित—करना तो है ही फिर विलम्ब क्यों करूँ ? यह दुःख और वियोग तो एक दिन होना ही है। अपनी विपत्ति का भार तुम्हारे सिर क्यों रखूँ ?

बिन्नी—दुःख-सुख में काम न आऊँगी, तो और किस दिन काम आऊँगी ?

5

पंडितजी के मन में कई दिनों तक घोर संग्राम होता रहा। वह अब बिन्नी को पिता की दृष्टि से न देख सकते थे। बिन्नी अब मंगला की बहन और उनकी साली थी। जमाना हँसेगा, तो हँसे; जिन्दगी तो आनन्द से गुजरेगी। उनकी भावनाएँ कभी इतनी उल्लासमयी न थीं। उन्हें अपने अंगों में फिर जवानी की स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था !

वह सोचते, बिन्नी को मैं अपनी पुत्री समझता था; पर वह मेरी पुत्री है तो नहीं। इस तरह समझने से क्या होता है ? कौन जाने, ईश्वर को यही मंजूर हो; नहीं तो बिन्नी यहाँ आती ही क्यों ? उसने इसी बहाने से यह संयोग निश्चित कर दिया होगा। उसकी लीला तो अपरम्पार है।

पंडितजी ने वर के पिता को सूचना दे दी कि कुछ विशेष कारणों से इस साल विवाह नहीं हो सकता।

विन्ध्येश्वरी को अभी तक कुछ खबर न थी कि मेरे लिए क्या-क्या षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। वह खुश थी कि मैं भैयाजी की सेवा कर रही हूँ और भैयाजी मुझसे प्रसन्न हैं ! बहन का इन्हें बड़ा दुःख है। मैं न रहूँगी, तो यह कहीं चले जायँगे—कौन जाने, साधु-संन्यासी न हो जायँ ! घर में कैसे मन लगेगा।

वह पंडितजी का मन बहलाने का निरंतर प्रयत्न करती रहती थी। उन्हें कभी मनमारे न बैठने देती। पंडितजी का मन अब कचहरी में न लगता था। घण्टे-दो-घण्टे बैठकर चले आते थे। युवकों के प्रेम में विकलता होती है और वृद्धों के प्रेम में श्रद्धा। वे अपनी यौवन की कमी को खुशामद से, मीठी बातों से और हाजिरजवाबी से पूर्ण करना चाहते हैं।

मंगला को मरे अभी तीन ही महीने गुजरे थे कि चौबेजी ससुराल पहुँचे। सास ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसके दो पुत्र थे। घर में कुछ पूँजी न थी। उनके पालन और शिक्षा के लिए कोई ठिकाना नजर न आता था। मंगला मर ही चुकी थी। लड़की का ज्योंही विवाह हो जायगा, वह अपने घर की हो रहेगी। फिर चौबे से नाता ही टूट जायगा। वह इसी चिंता में पड़ी हुई थी कि चौबेजी पहुँचे, मानो देवता स्वयं वरदान देने आये हों।

जब चौबेजी भोजन करके लेटे, तो सास ने कहा—भैया कहीं बातचीत हुई कि नहीं ?

पंडित—अम्माँ, अब मेरे विवाह की बातचीत क्या होगी ?

सास—क्यों भैया, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है ?

पंडित—करना भी चाहूँ तो बदनामी के डर से नहीं कर सकता। फिर मुझे पूछता ही कौन है ?

सास—पूछने को हजारों हैं। दूर क्यों जाओ, अपने घर ही में लड़की बैठी है। सुना है, तुमने मंगला के सब गहने बिन्नी को दे दिये हैं। कहीं और विवाह हुआ, तो ये कई हजार की चीजें तुम्हारे हाथों से निकल जायँगी। तुमसे अच्छा घर मैं कहाँ पाऊँगी। तुम उसे अंगीकार कर लो, तो मैं तर जाऊँ।

अंधा क्या माँगे, दो आँखें ! चौबेजी ने मानो विवश होकर सास की प्रार्थना स्वीकार कर ली।

6

बिन्नी अपने गाँव के कच्चे मकान में अपनी माँ के पास बैठी हुई है। अबकी चौबेजी ने उसकी सेवा के लिए एक लौंडी भी साथ कर दी है। विंध्येश्वरी के दोनों छोटे भाई विस्मित हो-होकर उसके आभूषणों को देख रहे हैं। गाँव की और कई स्त्रियाँ उसे देखने आयी हुई हैं और उसके रूपलावण्य का विकास देखकर चकित हो रही हैं। यह वही बिन्नी है, जो यहाँ मोटी फरिया पहिने खेला करती थी ! रंग-रूप कैसा निखर आया है ! सुख की देह है न !

जब भीड़ कम हुई, एकांत हुआ, तो माता ने पूछा—तेरे भैयाजी तो अच्छी तरह हैं न बेटी ! यहाँ आये थे, तो बहुत दुखी थे। मंगला का शोक उन्हें खाये जाता है। संसार में ऐसे मर्द भी होते हैं, जो स्त्री के लिए प्राण दे देते हैं। नहीं तो यहाँ स्त्री मरी और चट दूसरा ब्याह रचाया गया। मानो मनाते रहते हैं कि यह मरे तो नयी-नवेली बहू घर लायें !

विंध्ये.—उन्हें याद करके रोया करते हैं। चली आयी हूँ, न-जाने कैसे होंगे !

माता—मुझे तो डर लगता है कि तेरा ब्याह हो जाने पर कहीं घबराकर साधु-फकीर न हो जायँ।

विंध्ये.—मुझे भी तो यही डर लगता है। इसी से तो मैंने कह दिया कि अभी जल्दी क्या है।

माता—जितने ही दिन उनकी सेवा करोगी, उतना ही उनका स्नेह बढ़ेगा; और तुम्हारे जाने से उन्हें उतना ही दुःख भी अधिक होगा। बेटी, सच तो यह है कि वह तुम्हीं को देखकर जीते हैं। इधर तुम्हारी डोली उठी और उधर उनका घर सत्यानाश हुआ। मैं तुम्हारी जगह होती, तो उन्हीं से ब्याह कर लेती।

विंध्ये.—ऐ हटो अम्माँ, गाली देती हो ? उन्होंने मुझे बेटी करके पाला है। मैं भी उन्हें अपना पिता....

माता—चुप रह पगली ! कहने से क्या होता है ?

विंध्ये—अरे सोच तो अम्माँ, कितनी बेढंगी बात है !

माता—मुझे तो इसमें कोई बेढंगापन नहीं देख पड़ता।

विंध्ये.—क्या कहती हो अम्माँ, उनसे मेरा—मैं तो लाज के मारे मर जाऊँ, उनके सामने ताक न सकूँ। वह भी कभी न मानेंगे। मानने की बात भी है कोई।

माता—उनका जिम्मा मैं लेती हूँ। मैं उन्हें राजी कर लूँगी। तू राजी हो जा। याद रख,

यह कोई हँसी-खुशी का ब्याह नहीं है, उनकी प्राणरक्षा की बात है, जिसके सिवा संसार में हमारा और कोई नहीं। फिर अभी उनकी कुछ ऐसी उम्र भी तो नहीं है। पचास से दो ही चार साल ऊपर होंगे। उन्होंने एक ज्योतिषी से पूछा भी था। उसने उनकी कुंडली देखकर बताया है कि आपकी जिन्दगी कम-से-कम सत्तर वर्ष की है। देखने-सुनने में भी वह सौ-दो सौ में एक आदमी हैं।

बातचीत में चतुर माता ने कुछ ऐसा शब्द-व्यूह रचा कि सरल बालिका उसमें से निकल न सकी। माता जानती थी कि प्रलोभन का जादू इस पर न चलेगा। धन का, आभूषणों का, कुल-सम्मान का, सुखमय-जीवन का उसने जिक्र तक न किया। उसने केवल चौबेजी की दयनीय दशा पर जोर दिया। अन्त को विंध्येश्वरी ने कहा—अम्माँ, मैं जानती हूँ कि मेरे न रहने से उनको बड़ा दुःख होगा; यह भी जानती हूँ कि मेरे जीवन में सुख नहीं लिखा है। अच्छा, उनके हित के लिए मैं अपना जीवन बलिदान कर दूँगी। ईश्वर की यही इच्छा है, तो यही सही।

7

चौबेजी के घर में मंगल-गान हो रहा था। विंध्येश्वरी आज वधू बनकर इस घर में आयी है। कई वर्ष पहले वह चौबेजी की पुत्री बनकर आयी थी ! उसने कभी स्वप्न में भी न सोचा था कि मैं एक दिन इस घर की स्वामिनी बनूँगी।

चौबेजी की सज-धज आज देखने योग्य है। तनजेब का रंगीन कुरता, कतरी हुई और सँवारी हुई मूँछें, खिजाब से चमकते हुए बाल, हँसता हुआ चेहरा, चढ़ी आँखें—यौवन का पूरा स्वाँग था।

रात बीत चुकी थी। विंध्येश्वरी आभूषणों से लदी हुई, भारी जोड़े पहने, फर्श पर सिर झुकाये बैठी। उसे कोई उत्कंठा न थी, भय न था, केवल यह संकोच था कि मैं उनके सामने कैसे मुँह खोलूँगी ? उनकी गोद में खेली हूँ; उनके कन्धों पर बैठी हूँ, उनकी पीठ पर सवार हुई हूँ, कैसे उन्हें मुँह दिखाऊँगी।—अगर वे पिछली बातें क्यों सोचूं। ईश्वर उन्हें प्रसन्न रखे। जिसके लिए मैंने पुत्री से पत्नी बनना स्वीकार किया, वह पूर्ण हो। उनका जीवन आनन्द से व्यतीत हो।

इतने में चौबेजी आये। विंध्येश्वरी उठ खड़ी हुई। उसे इतनी लज्जा आयी कि जी चाहा कहीं भाग जाय। खिड़की से नीचे कूद पड़े।

चौबेजी ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोले—बिन्नी, मुझसे डरती हो ?

बिन्नी कुछ न बोली। मूर्ति की तरह वहीं खड़ी रही। एक क्षण में चौबेजी ने उसे बिठा दिया वह बैठ गयी। उसका गला भर-भर आता था। भाग्य की यह निर्दय लीला, यह क्रूर क्रीड़ा उसके लिए असह्य हो रही थी।

पंडितजी ने पूछा—बिन्नी, बोलती क्यों नहीं ? क्या मुझसे नाराज हो ?

विंध्येश्वरी ने अपने कान बंद कर लिये। यही परिचित आवाज वह कितने दिनों से सुनती चली आती थी। आज वह व्यंग्य से भी तीव्र और उपहास से भी कटु प्रतीत होती थी।

सहसा पंडितजी चौंक पड़े, आँखें फैल गयीं और दोनों हाथ मेंढक के पैरों की भाँति

सिकुड़ गये। वह दो कदम पीछे हट गये। खिड़की से मंगला अंदर झाँक रही थी! छाया नहीं, मंगला थी—मंगला—सदेह, साकार, सजीव !

चौबेजी काँपती हुई टूटी-फूटी आवाज से बोले—बिन्नी देखो, वह क्या है ?

बिन्नी ने घबराकर खिड़की की ओर देखा। कुछ न था। बोली—क्या है ? मुझे तो कुछ नहीं दिखाई देता।

चौबेजी—अब गायब हो गयी; लेकिन ईश्वर जानता है, मंगला थी।

बिन्नी—बहन ?

चौबेजी—हाँ-हाँ वही। खिड़की से अंदर झाँक रही थी। मेरे तो रोयें खड़े हो गये।

विंध्येश्वरी काँपती हुई बोली—मैं यहाँ नहीं रहूँगी।

चौबे—नहीं, नहीं, बिन्नी, कोई डर नहीं है, मुझे धोखा हुआ होगा। बात यह है कि वह घर में रहती थी, यहीं सोती थी, इसी से कदाचित् मेरी भावना ने उसकी मूर्ति लाकर खड़ी कर दी। कोई बात नहीं है। आज का दिन कितना मंगलमय है कि मेरी बिन्नी यथार्थ में मेरी ही हो गयी....

यह कहते-कहते चौबेजी फिर चौंके। फिर वही मूर्ति खिड़की से झाँक रही थी—मूर्ति नहीं, सदेह, सजीव, साकार मंगला ! अबकी उसकी आँखों में क्रोध न था, तिरस्कार न था, उनमें हास्य भरा हुआ था, मानो वह इस दृश्य पर हँस रही है—मानो उसके सामने कोई अभिनय हो रहा है।

चौबेजी ने काँपते हुए कहा—बिन्नी, फिर वही बात हुई ! वह देखो, मंगला खड़ी है!

विंध्येश्वरी चीखकर उनके गले से चिमट गयी !

चौबेजी ने महावीर का नाम जपते हुए कहा—मैं किवाड़ बंद किये देता हूँ।

बिन्नी—मैं इस घर में नहीं रहूँगी। (रोकर) भैयाजी, तुमने बहन के अंतिम आदेश को नहीं माना, इसी से उनकी आत्मा दुखी हो रही है। मुझे तो किसी अमंगल की आशंका हो रही है।

चौबेजी ने उठकर खिड़की के द्वार बन्द कर दिये और कहा—मैं कल से दुर्गापाठ कराऊँगा। आज तक कभी ऐसी शंका न हुई थी। तुमसे क्या कहूँ, मालूम होता है ....होगा; उस बात को जाने दो। यहाँ बड़ी गरमी पड़ रही है। अभी पानी गिरने को दो महीने से कम नहीं हैं। हम लोग मंसूरी क्यों न चलें।

विंध्ये.—मेरा तो कहीं जाने का जी नहीं चाहता। कल से दुर्गापाठ जरूर कराना। मुझे अब इस कमरे में नींद न आयेगी।

पंडित—ग्रंथों में तो यही देखा है कि मरने के बाद केवल सूक्ष्म शरीर रह जाता है। फिर समझ में नहीं आता, यह स्वरूप क्योंकर दिखाई दे रहा है। मैं सच कहता हूँ बिन्नी, अगर तुमने मुझपर यह दया न की होती; तो मैं कहीं का न रहता। शायद इस वक्त मैं बद्रीनाथ के पहाड़ों पर सिर टकराता होता, या कौन जाने विष खाकर प्राणांत कर चुका होता !

विंध्ये.—मंसूरी में किसी होटल में ठहरना पड़ेगा !

पंडित—नहीं, मकान भी मिलते हैं। मैं अपने एक मित्र को लिखे देता हूँ, वह कोई मकान ठीक कर रखेंगे वहां....

बात पूरी न होने पायी थी कि न-जाने कहाँ से—जैसे आकाशवाणी हो—आवाज आई—बिन्नी तुम्हारी पुत्री है।

चौबेजी ने दोनों कान बंद कर लिये। भय से थर-थर काँपते हुए बोले—बिन्नी, यहाँ से चलो। न जाने कहाँ से आवाजें आ रही हैं।

'बिन्नी तुम्हारी पुत्री है !'—यह ध्वनि सहस्रों कानों से पंडितजी को सुनाई पड़ने लगी, मानों इस कमरे की एक-एक वस्तु से यही सदा आ रही है।

बिन्नी ने रोकर पूछा—कैसी आवाज थी ?

पंडित—क्या बताऊँ, कहते लज्जा आती है।

बिन्नी—जरूर बहनजी की आत्मा है। बहन, मुझ पर दया करो, मैं सर्वथा निर्दोष हूँ।

पंडित—फिर वही आवाज आ रही है। हाय ईश्वर ! कहाँ जाऊँ ? मेरे तो रोम-रोम में वे ही शब्द गूँज रहे हैं। बिन्नी, बुरा किया। मंगला सती थी, उसके आदेश की उपेक्षा करके मैंने अपने हक में जहर बोया। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ?

यह कहकर पंडितजी ने कमरे के किवाड़ खोल दिये और बेतहाशा भागे। अपने मरदाने कमरे में पहुँचकर वह गिर पड़े। मूर्छा आ गयी। विंध्येश्वरी भी दौड़ी, पर चौखट से बाहर निकलते ही गिर पड़ी !

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। मासिक पत्रिका 'माधुरी', अगस्त, 1924 में पहली बार प्रकाशित। 'भारतेन्दु', जुलाई, 1929 में पुनर्प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-4 में संकलित। उर्दू रूप 'भूत' शीर्षक से 'रियासत' (उर्दू पत्रिका), 1930 के किसी अंक में प्रकाशित। 'फ़िरदौसे ख़्याल' में संकलित।]

उद्धार

हिंदू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित, इतनी चिंताजनक, इतनी भयंकर हो गयी है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्योंकर हो। बिरले ही ऐसे माता-पिता होंगे जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाय तो वह सहर्ष उसका स्वागत करें। कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिंता सिर पर सवार हो जाती है और आदमी उसी में डुबकियाँ खाने लगता है। अवस्था इतनी निराशामय और भयानक हो गयी है कि ऐसे माता-पिताओं की कमी नहीं है जो कन्या की मृत्यु पर हृदय से प्रसन्न होते हैं, मानो सिर से बाधा टली। इसका कारण केवल यही है कि दहेज की दर, दिन दूनी रात चौगुनी, पावस-काल के जल-वेग के समान बढ़ती चली जा रही है। जहाँ दहेज की सैकड़ों में बातें होती थीं, वहाँ अब हजारों तक नौबत पहुँच गयी है। अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि एक या दो हजार रुपये दहेज केवल बड़े घरों की बात थी, छोटी-छोटी शादियाँ पाँच सौ से एक हजार तक तय हो जाती थीं; पर अब मामूली-मामूली विवाह भी तीन-चार हजार के नीचे नहीं तय होते। खर्च का तो यह हाल है और शिक्षित समाज की निर्धनता और दरिद्रता दिनों दिन बढ़ती जाती है। इसका अंत क्या होगा ईश्वर ही जाने। बेटे एक दरजन भी हों

तो माता-पिता को चिंता नहीं होती। वह अपने ऊपर उनके विवाह-भार को अनिवार्य नहीं समझता, यह उसके लिए 'कम्पलसरी' विषय नहीं, 'ऑप्शनल' विषय है। होगा तो कर देंगे; नहीं कह देंगे—बेटा, खाओ कमाओ, समाई हो तो विवाह कर लेना। बेटों की कुचरित्रता कलंक की बात नहीं समझी जाती; लेकिन कन्या का विवाह तो करना ही पड़ेगा, उससे भाग कर कहाँ जायेंगे ? अगर विवाह में विलम्ब हुआ और कन्या के पाँव कहीं ऊँचे-नीचे पड़ गये तो फिर कुटुम्ब की नाक कट गयी; वह पतित हो गया, टाट बाहर कर दिया गया। अगर वह इस दुर्घटना को सफलता के साथ गुप्त रख सका तब तो कोई बात नहीं; उसको कलंकित करने का किसी को साहस नहीं; लेकिन अभाग्यवश यदि वह इसे छिपा न सका, भंडाफोड़ हो गया तो फिर माता-पिता के लिए, भाई-बंधुओं के लिए संसार में मुँह दिखाने को स्थान नहीं रहता। कोई अपमान इससे दुस्सह, कोई विपत्ति इससे भीषण नहीं। किसी भी व्याधि की इससे भयंकर कल्पना नहीं की जा सकती। लुत्फ़ तो यह है कि जो लोग बेटियों के विवाह की कठिनाइयों को भोग चुके होते हैं वही अपने बेटों के विवाह के अवसर पर बिलकुल भूल जाते हैं कि हमें कितनी ठोकरें खानी पड़ी थीं, जरा भी सहानुभूति नहीं प्रकट करते, बल्कि कन्या के विवाह में जो तावान उठाया था उसे चक्रवृद्धि व्याज के साथ बेटे के विवाह में वसूल करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं। कितने ही माता-पिता इसी चिंता में घुल-घुल कर अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं; कोई संन्यास ग्रहण कर लेता है, कोई बूढ़े के गले कन्या को मढ़ कर अपना गला छुड़ाता है, पात्र-कुपात्र के विचार करने का मौका कहाँ, ठेलमठेल है।

मुंशी गुलजारीलाल ऐसे ही हतभागे पिताओं में थे। यों उनकी स्थिति बुरी न थी दो-ढाई सौ रुपये महीने वकालत से पीट लेते थे, पर खानदानी आदमी थे, उदार हृदय, बहुत किफ़ायत करने पर भी माकूल बचत न हो सकती थी। संबंधियों का आदर-सत्कार न करें तो नहीं बनता, मित्रों की खातिरदारी न करें तो नहीं बनता फिर ईश्वर के दिये हुए दो-तीन पुत्र थे, उनका पालन-पोषण, शिक्षण का भार था, क्या करते! पहली कन्या का विवाह उन्होंने अपनी हैसियत के अनुसार अच्छी तरह किया पर दूसरी पुत्री का विवाह टेढ़ी खीर हो रहा था। यह आवश्यक था कि विवाह अच्छे घराने में हो, अन्यथा लोग हँसेंगे और अच्छे घराने के लिए कम-से-कम पाँच हजार का तख़मीना था। उधर पुत्री सयानी होती जाती थी। वह अनाज जो लड़के खाते थे, वह भी खाती थी; लेकिन लड़कों को देखो तो जैसे सूखे का रोग लगा हो और लड़की शुक्ल पक्ष का चाँद हो रही थी। बहुत दौड़-धूप करने पर बेचारे को एक लड़का मिला। बाप आबकारी के विभाग में 400 रु0 का नौकर था, लड़का भी सुशिक्षित। स्त्री से आ कर बोले, लड़का तो मिला और घर-बार एक भी काटने योग्य नहीं; पर कठिनाई यही है कि लड़का कहता है, मैं अपना विवाह न करूँगा, बाप ने कितना समझाया, मैंने कितना समझाया, औरों ने समझाया, पर वह टस से मस नहीं होता। कहता है, मैं कभी विवाह न करूँगा। समझ में नहीं आता विवाह से क्यों इतनी घृणा करता है। कोई कारण नहीं बतलाता, बस यही कहता है, मेरी इच्छा। मां बाप का इकलौता लड़का है। उनकी परम इच्छा है कि इसका विवाह हो जाय, पर करें क्या ? यों उन्होंने फलदान तो रख लिया है पर मुझसे कह दिया है कि लड़का स्वभाव का हठीला है, अगर न मानेगा तो फलदान आपको लौटा दिया जायगा।

स्त्री ने कहा--तुमने लड़के को एकांत में बुला कर पूछा नहीं ?

गुलजारीलाल--बुलाया था। बैठा रोता रहा, फिर उठ कर चला गया। तुमसे क्या कहूँ, उसके पैरों पर गिर पड़ा; लेकिन बिना कुछ कहे उठ कर चला गया।

स्त्री--देखो, इस लड़की के पीछे क्या-क्या झेलना पड़ता है ?

गुलजारीलाल--कुछ नहीं, आजकल के लौंडे सैलानी होते हैं। अँगरेजी पुस्तकों में पढ़ते हैं कि विलायत में कितने ही लोग अविवाहित रहना ही पसंद करते हैं। बस यही सनक सवार हो जाती है कि निर्द्वंद्व रहने में ही जीवन की सुख और शांति है। जितनी मुसीबतें हैं वह सब विवाह ही में हैं। मैं भी कालेज में था तब सोचा करता था कि अकेला रहूँगा और मजे से सैर-सपाटा करूँगा।

स्त्री--है तो वास्तव में बात यही। विवाह ही तो सारे मुसीबतों की जड़ है। तुमने विवाह न किया होता तो क्यों ये चिंताएँ होतीं ? मैं भी क्वाँरी रहती तो चैन करती।

2

इसके एक महीना बाद मुंशी गुलजारीलाल के पास वर ने यह पत्र लिखा--

'पूज्यवर,

सादर प्रणाम।

मैं आज बहुत असमंजस में पड़ कर यह पत्र लिखने का साहस कर रहा हूँ। इस धृष्टता को क्षमा कीजिएगा।

आपके जाने के बाद से मेरे पिता जी और माता जी दोनों मुझ पर विवाह करने के लिए नाना प्रकार से दबाव डाल रहे हैं। माता जी रोती हैं, पिता जी नाराज होते हैं। वह समझते हैं कि मैं अपनी जिद के कारण विवाह से भागता हूँ। कदाचित् उन्हें यह भी सन्देह हो रहा है कि मेरा चरित्र भ्रष्ट हो गया है। मैं वास्तविक कारण बताते हुए डरता हूँ कि इन लोगों को दुःख होगा और आश्चर्य नहीं कि शोक में उनके प्राणों पर ही बन जाय। इसलिए अब तक मैंने जो बात गुप्त रखी थी, वह आज विवश हो कर आपसे प्रकट करता हूँ और आपसे साग्रह निवेदन करता हूँ कि आप इसे गोपनीय समझिएगा और किसी दशा में भी उन लोगों के कानों में इसकी भनक न पड़ने दीजिएगा। जो होना है वह तो होगा ही, पहले ही से क्यों उन्हें शोक में डुबाऊँ। मुझे 5-6 महीनों से यह अनुभव हो रहा है कि मैं क्षय रोग से ग्रसित हूँ। उसके सभी लक्षण प्रकट होते जाते हैं। डाक्टरों की भी यही राय है। यहाँ सबसे अनुभवी जो दो डाक्टर हैं, उन दोनों ही से मैंने अपनी आरोग्य-परीक्षा करायी और दोनों ही ने स्पष्ट कहा कि तुम्हें सिल है। अगर माता-पिता से यह कह दूँ तो वह रो-रो कर मर जायेंगे। जब यह निश्चय है कि मैं संसार में थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ तो मेरे लिए विवाह की कल्पना करना भी पाप है। संभव है कि मैं विशेष प्रयत्न करके साल दो साल जीवित रहूँ; पर वह दशा और भी भयंकर होगी, क्योंकि अगर कोई सन्तान हुई तो वह भी मेरे संस्कार से अकाल मृत्यु पायेगी और कदाचित् स्त्री को भी इसी रोग-राक्षस का भक्षण बनना पड़े। मेरे अविवाहित रहने से जो बीतेगी, मुझ ही पर बीतेगी। विवाहित हो जाने से मेरे साथ और कई जीवों का नाश हो जायगा। इसलिए आपसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे इस

बन्धन में डालने के लिए आग्रह न कीजिए, अन्यथा आपको पछताना पड़ेगा।

सेवक,

"हजारीलाल।'

पत्र पढ़ कर गुलजारीलाल ने स्त्री की ओर देखा और बोले–इस पत्र के विषय में तुम्हारा क्या विचार है।

स्त्री–मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उसने बहाना रचा है।

गुलजारीलाल–बस-बस, ठीक यही मेरा भी विचार है। उसने समझा है कि बीमारी का बहाना कर दूँगा तो लोग आप ही हट जायेंगे। असल में बीमारी कुछ नहीं। मैंने तो देखा ही था, चेहरा चमक रहा था। बीमार का मुँह छिपा नहीं रहता।

स्त्री–राम नाम ले के विवाह करो कोई किसी का भाग्य थोड़े ही पढ़े बैठा है।

गुलजारीलाल–यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।

स्त्री–न हो किसी डाक्टर से लड़के को दिखाओ। कहीं सचमुच यह बीमारी हो तो बेचारी अम्बा कहीं की न रहे।

गुलजारीलाल–तुम भी पागल हुई हो क्या ? सब हीले-हवाले हैं। इन छोकरों का दिल का हाल मैं खूब जानता हूँ। सोचता होगा अभी सैर-सपाटे कर रहा हूँ, विवाह हो जायेगा तो यह गुलछर्रे कैसे उड़ेंगे !

स्त्री–तो शुभ मुहूर्त देख कर लग्न भेजवाने की तैयारी करो।

3

हजारीलाल बड़े धर्म-संदेह में था। उसके पैरों में जबरदस्ती विवाह की बेड़ी डाली जा रही थी और वह कुछ न कर सकता था। उसने ससुर को अपना कच्चा चिट्ठा कह सुनाया; मगर किसी ने उसकी बातों पर विश्वास न किया। माँ-बाप से अपनी बीमारी का हाल कहने का उसे साहस न होता था न जाने उनके दिल पर क्या गुजरे, न जाने क्या कर बैठें ? कभी सोचता किसी डाक्टर की शहादत ले कर ससुर के पास भेज दूँ, मगर फिर ध्यान आता, यदि उन लोगों को उस पर भी विश्वास न आया, तो ? आजकल डाक्टरी से सनद ले लेना कौन-सा मुश्किल काम है। सोचेंगे, किसी डाक्टर को कुछ दे दिला कर लिखा लिया होगा। शादी के लिए तो इतना आग्रह हो रहा था, उधर डाक्टरों ने स्पष्ट कह दिया था कि अगर तुमने शादी की तो तुम्हारा जीवन-सूत्र और भी निर्बल हो जायगा। महीनों की जगह दिनों में वारा-न्यारा हो जाने की संभावना है।

लग्न आ चुकी थी। विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं, मेहमान आते-जाते थे और हजारीलाल घर से भागा-भागा फिरता था। कहाँ चला जाऊँ ? विवाह की कल्पना ही से उसके प्राण सूख जाते थे। आह ! उस अबला की क्या गति होगी ? जब उसे यह बात मालूम होगी तो वह मुझे अपने मन में क्या कहेगी ? कौन इस पाप का प्रायश्चित्त करेगा ? नहीं, उस अबला पर घोर अत्याचार न करूँगा, उसे वैधव्य की आग में न जलाऊँगा। मेरी जिंदगी ही क्या, आज न मरा कल मरूँगा, कल नहीं तो परसों, तो क्यों न आज ही मर जाऊँ। आज ही जीवन का और उसके साथ सारी चिंताओं का, सारी विपत्तियों का अंत कर दूँ। पिता जी रोयेंगे, अम्माँ प्राण त्याग देंगी; लेकिन एक बालिका का जीवन तो सफल हो

जायगा, मेरे बाद कोई अभागा अनाथ तो न रोयेगा।

क्यों न चल कर पिता जी से कह दूँ ? वह एक-दो दिन दुःखी रहेंगे, अम्मा जी दो-एक रोज शोक से निराहार रह जायेंगी, कोई चिंता नहीं। अगर माता-पिता के इतने कष्ट से एक युवती की प्राण-रक्षा हो जाय तो क्या छोटी बात है ?

यह सोच कर वह धीरे से उठा और आ कर पिता के सामने खड़ा हो गया।

रात के दस बज गये थे। बाबू दरबारीलाल चारपाई पर लेटे हुए हुक्का पी रहे थे। आज उन्हें सारा दिन दौड़ते गुजरा था। शामियाना तय किया; बाजे वालों को बयाना दिया; आतिशबाजी, फुलवारी आदि का प्रबंध किया, घंटों ब्राह्मणों के साथ सिर मारते रहे, इस वक्त जरा कमर सीधी कर रहे थे कि सहसा हजारीलाल को सामने देख कर चौंक पड़े। उसका उतरा हुआ चेहरा, सजल आँखें और कुंठित मुख देखा तो कुछ चिंतित हो कर बोले—क्यों लालू, तबीयत तो अच्छी है न ? कुछ उदास मालूम होते हो।

हजारीलाल—मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ; पर भय होता है कि कहीं आप अप्रसन्न न हों।

दरबारीलाल—समझ गया, वही पुरानी बात है न ? उसके सिवा कोई दूसरी बात हो तो शौक से कहो।

हजारीलाल—खेद है कि मैं उसी विषय में कुछ कहना चाहता हूँ।

दरबारीलाल—यही कहना चाहते हो न कि मुझे इस बंधन में न डालिए, मैं इसके अयोग्य हूँ, मैं यह भार सह नहीं सकता, बेड़ी मेरी गर्दन को तोड़ देगी, आदि या और कोई नयी बात ?

हजारीलाल—जी नहीं, नयी बात है। मैं आपकी आज्ञा पालन करने के लिए सब प्रकार से तैयार हूँ; पर एक ऐसी बात है, जिसे मैंने अब तक छिपाया था, उसे भी प्रकट कर देना चाहता हूँ। इसके बाद आप जो कुछ निश्चय करेंगे उसे मैं शिरोधार्य करूँगा।

हजारीलाल ने बड़े विनीत शब्दों में अपना आशय कहा, डाक्टरों की राय भी बयान की और अंत में बोले—ऐसी दशा में मुझे पूरी आशा है कि आप मुझे विवाह करने के लिए बाध्य न करेंगे।

दरबारीलाल ने पुत्र के मुख की ओर गौर से देखा, कहीं जर्दी का नाम न था, इस कथन पर विश्वास न आया; पर अपना अविश्वास छिपाने और अपना हार्दिक शोक प्रकट करने के लिए वह कई मिनट तक गहरी चिंता में मग्न रहे। इसके बाद पीड़ित कंठ से बोले—बेटा, इस दशा में तो विवाह करना और भी आवश्यक है। ईश्वर न करे कि हम वह बुरा दिन देखने के लिए जीते रहें; पर विवाह हो जाने से तुम्हारी कोई निशानी तो रह जायगी। ईश्वर ने कोई संतान दे दी तो वही हमारे बुढ़ापे की लाठी होगी, उसी का मुँह देख-देख कर दिल को समझायेंगे, जीवन का कुछ आधार तो रहेगा। फिर आगे क्या होगा यह कौन कह सकता है ? डाक्टर किसी की कर्मरेखा तो नहीं पढ़े होते, ईश्वर की लीला अपरम्पार है, डाक्टर उसे नहीं समझ सकते। तुम निश्चिंत होकर बैठो, हम जो कुछ करते हैं, करने दो। भगवान चाहेंगे तो सब कल्याण ही होगा।

हजारीलाल ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। आँखें डबडबा आयीं, कंठावरोध के कारण मुँह तक न खोल सका। चुपके से आकर अपने कमरे में लेट रहा।

तीन दिन और गुजर गये, पर हजारीलाल कुछ निश्चय न कर सका। विवाह की तैयारियाँ पूरी हो गयी थीं। आँगन में मंडप गड़ गया था; डाल, गहने संदूकों में रखे जा चुके थे। मंत्रेयी की पूजा हो चुकी थी और द्वार पर बाजों का शोर मचा हुआ था। मुहल्ले के लड़के जमा होकर बाजा सुनते थे और उल्लास से इधर-उधर दौड़ते थे।

संध्या हो गयी थी। बरात आज रात की गाड़ी से जानेवाली थी। बरातियों ने अपने वस्त्राभूषण पहनने शुरू किये। कोई नाई से बाल बनवाता था और चाहता था कि खत ऐसा साफ हो जाय मानो यहाँ बाल कभी थे ही नहीं, बूढ़े अपने पके बाल को उखड़वा कर जवान बनने की चेष्टा कर रहे थे। तेल, साबुन, उबटन की लूट मची हुई थी और हजारीलाल बगीचे में एक वृक्ष के नीचे उदास बैठा हुआ सोच रहा था, क्या करूँ ?

अंतिम निश्चय की घड़ी सिर पर खड़ी थी। अब एक क्षण भी विलम्ब करने का मौका न था। अपनी वेदना किससे कहें, कोई सुननेवाला न था।

उसने सोचा हमारे माता-पिता कितने अदूरदर्शी हैं, अपनी उमंग में इन्हें इतना भी नहीं सूझता कि वधू पर क्या गुजरेगी। वधू के माता-पिता भी इतने अंधे हो रहे हैं कि देख कर भी नहीं देखते, जान कर नहीं जानते।

क्या यह विवाह है ? कदापि नहीं। यह तो लड़की को कुएँ में डालना है, भाड़ में झोंकना है, कुंद छुरे से रेतना है। कोई यातना इतनी दुस्सह, इतनी हृदयविदारक नहीं हो सकती जितनी वैधव्य और ये लोग जान-बूझ कर अपनी पुत्री को वैधव्य के अग्नि-कुंड में डाल देते हैं। यह माता-पिता हैं ? कदापि नहीं। यह लड़की के शत्रु हैं, कसाई हैं, बधिक हैं, हत्यारे हैं। क्या इनके लिए कोई दंड नहीं ? जो जान-बूझ कर अपनी प्रिय संतान के खून से अपने हाथ रंगते हैं, उसके लिए कोई दंड नहीं ? समाज भी उन्हें दंड नहीं देता, कोई कुछ नहीं कहता। हाय !

वह सोच कर हजारीलाल उठा और एक ओर चुपचाप चल दिया। उसके मुख पर तेज छाया हुआ था। उसने आत्म-बलिदान से इस कष्ट को निवारण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। उसे मृत्यु का लेशमात्र भी भय न था। वह उस दशा को पहुँच गया था जब सारी आशाएँ मृत्यु पर ही अवलम्बित हो जाती हैं।

उस दिन से फिर किसी ने हजारीलाल की सूरत नहीं देखी। मालूम नहीं जमीन खा गयी या आसमान। नदियों में जाल डाले गये, कुओं में बाँस पड़ गये, पुलिस में हुलिया गया, समाचार-पत्रों में विज्ञप्ति निकाली गयी, पर कहीं पता न चला।

कई हफ्तों के बाद, छावनी रेलवे स्टेशन से एक मील पश्चिम की ओर सड़क पर कुछ हड्डियाँ मिलीं। लोगों को अनुमान हुआ कि हजारीलाल ने गाड़ी के नीचे दब कर जान दी, पर निश्चित रूप से कुछ न मालूम हुआ।

4

भादों का महीना था और तीज का दिन। घरों में सफ़ाई हो रही थी। सौभाग्यवंती रमणियाँ सोलहों शृंगार किये गंगा-स्नान करने जा रही थीं। अम्बा स्नान करके लौट आयी थी और तुलसी के कच्चे चबूतरे के सामने खड़ी वंदना कर रही थी। पतिगृह में उसे यह पहली ही तीज थी, बड़ी उमंगों से व्रत रखा था। सहसा उसके पति ने अंदर आ कर उसे सहास नेत्रों

से देखा और बोला—मुंशी दरबारीलाल तुम्हारे कौन होते हैं, यह उनके यहाँ से तुम्हारे लिए तीज पठौनी आयी है। अभी डाकिया दे गया है।

यह कह कर उसने एक पारसल चारपाई पर रख दिया। दरबारीलाल का नाम सुनते ही अम्बा की आँखें सजल हो गयीं। वह लपकी हुई आयी और पारसल को हाथ में ले कर देखने लगी; पर उसकी हिम्मत न पड़ी कि उसे खोले। पिछली स्मृतियाँ जीवित हो गयीं, हृदय में हजारीलाल के प्रति श्रद्धा का एक उद्‌गार-सा उठ पड़ा। आह! यह उसी देवात्मा के आत्मबलिदान का पुनीत फल है कि मुझे यह दिन देखना नसीब हुआ। ईश्वर उन्हें सद्‌गति दें। वह आदमी नहीं, देवता थे, जिसने मेरे कल्याण के निमित्त अपने प्राण तक समर्पण कर दिये।

पति ने पूछा—दरबारीलाल तुम्हारे चचा हैं।

अम्बा—हाँ।

पति—इस पत्र में हजारीलाल का नाम लिखा है, यह कौन है ?

अम्बा—यह मुंशी दरबारीलाल के बेटे हैं।

पति—तुम्हारे चचेरे भाई ?

अम्बा—नहीं, मेरे परम दयालु उद्धारक, जीवनदाता, मुझे अथाह जल में डूबने से बचानेवाले, मुझे सौभाग्य का वरदान देनेवाले।

पति ने इस भाव से कहा मानो कोई भूली हुई बात याद आ गयी हो—अहा ! मैं समझ गया। वास्तव में वह मनुष्य नहीं देवता थे।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', सितम्बर, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित।]

दीक्षा

जब मैं स्कूल में पढ़ता था, गेंद खेलता था और अध्यापक महोदयों की घुड़कियाँ खाता था, अर्थात् मेरी किशोरावस्था थी, न ज्ञान का उदय हुआ था और न बुद्धि का विकास, उस समय मैं टेंपरेंस एसोसिएशन (नशानिवारणी सभा) का उत्साहित सदस्य था। नित्य उसके जलसों में शरीक होता, उसके लिए चन्दा वसूल करता। इतना नहीं, व्रतधारी भी था और इस व्रत के पालन का अटल संकल्प कर चुका था। प्रधान महोदय ने मेरे दीक्षा लेते समय जब पूछा—'तुम्हें विश्वास है कि जीवन-पर्यंत इस व्रत पर अटल रहोगे ?' तो मैंने निश्शंक भाव से उत्तर दिया—'हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।' प्रधान ने मुस्करा कर प्रतिज्ञा-पत्र मेरे सामने रख दिया। उस दिन मुझे कितना आनंद हुआ था ! गौरव से सिर उठाये घूमता-फिरता था। कई बार पिता जी से भी बे-अदबी कर बैठा, क्योंकि वह संध्या समय थकान मिटाने के लिए एक गिलास पी लिया करते थे। मुझे यह असह्य था। कहूँगा ईमान की। पिताजी ऐब करते थे, पर हुनर के साथ। ज्योंही जरा-सा सरूर आ जाता, आँखों में सुर्खी की आभा झलकने लगती कि ब्यालू करने बैठ जाते—बहुत ही सूक्ष्माहारी थे—और फिर रात-भर के

लिए माया-मोह के बंधनों से मुक्त हो जाते। मैं उन्हें उपदेश देता था। उनसे वाद-विवाद करने पर उतारू हो जाता था। एक बार तो मैंने गजब कर डाला था। उनकी बोतल और गिलास को पत्थर पर इतनी जोर से पटका कि भगवान् कृष्ण ने कंस को भी इतनी जोर से न पटका होगा। घर में काँच के टुकड़े फैल गये और कई दिनों तक नग्न चरणों से फिरनेवाली स्त्रियों के पैरों से खून बहा; पर मेरा उत्साह तो देखिए ! पिता की तीव्र दृष्टि की परवा न की। पिता जी ने आ कर अपनी संजीवनी-प्रदायिनी बोतल का यह शोक समाचार सुना तो सीधे बाजार गये और एक क्षण में ताक के शून्य-स्थान की फिर पूर्ति हो गयी। मैं देवासुर-संग्राम के लिए कमर कसे बैठा था; मगर पिताजी के मुख पर लेशमात्र भी मैल न आया। उन्होंने मेरी ओर उत्साहपूर्ण दृष्टि से देखा—अब मुझे मालूम होता है कि वह आत्मोल्लास, विशुद्ध सत्कामना और अलौकिक स्नेह से परिपूर्ण थी—और मुस्करा दिये। उसी तरह मुस्कराये, जैसे कई मास पहले प्रधान महोदय मुस्कराये थे। अब उनके मुस्कराने का आशय समझ रहा हूँ, उस समय न समझ सका। बस, इतनी ही ज्ञान की वृद्धि हुई है। उस मुस्कान में कितना व्यंग्य था, मेरे बाल-व्रत का कितना उपहास और मेरी सरलता पर कितनी दया थी, अब उसका मर्म समझा हूँ !

मैं अपने कालेज में अपने व्रत पर दृढ़ रहा। मेरे कितने ही मित्र संयमशील न थे। मैं आदर्श-चरित्र समझा जाता था। कालेज में उस संकीर्णता का निर्वाह कहाँ। बुद्धू बना दिया जाता, कोई मुल्ला की पदवी देता, कोई नासेह कह कर मजाक उड़ाता ! मित्रगण व्यंग्य-भाव में कहते—'हाय अफसोस, तूने पी ही नहीं !' सारांश यह कि यहाँ मुझे उदार बनना पड़ा। मित्रों को कमरे में चुसकियाँ लगाते देखता और बैठा रहता। भंग घुटती और मैं देखा करता। लोग आग्रहपूर्वक कहते—'अजी, जरा लो भी।' तो विनीत भाव से कहता—'क्षमा कीजिए, यह मेरे सिस्टम को सूट नहीं करती। सिद्धांत के बदले अब मुझे शारीरिक असमर्थता का बहाना करना पड़ा। वह सत्याग्रह का जोश, जिसने पिता की बोतल पर हाथ साफ किया था, ग़ायब हो गया था। यहाँ तक कि एक बार जब कालेज के चौथे वर्ष में मेरे लड़का पैदा होने की खबर मिली, तो मेरी उदारता की हद हो गयी। मैंने मित्रों के आग्रह से मजबूर होकर उनकी दावत की और अपने हाथों से ढाल-ढाल कर उन्हें पिलायी। उस दिन साकी बनने में हार्दिक आनंद मिल रहा था। उदारता वास्तव में सिद्धान्त से गिर जाने, आदर्श से च्युत हो जाने का ही दूसरा नाम है। अपने मन को समझाने के लिए युक्तियों का अभाव कभी नहीं होता। संसार में सबसे आसान काम अपने को धोखा देना है। मैंने खुद तो नहीं पी, पिला दी, इसमें मेरा क्या नुकसान ? दोस्तों की दिलशिकनी तो नहीं की ? मज़ा तो जभी है कि दूसरों को पिलाये और खुद न पिये।

खैर, कालेज से मैं बेदाग निकल आया। अपने शहर में वकालत शुरू की। सुबह से आधीरात तक चक्की में जुतना पड़ता। वे कालेज के सैर-सपाटे, आमोद-विनोद, सब स्वप्न हो गये। मित्रों की आमदरफ्त बंद हुई, यहाँ तक कि छुट्टियों में भी दम मारने की फुरसत न मिलती। जीवन-संग्राम कितना विकट है, इसका अनुभव हुआ। इसे संग्राम कहना ही भ्रम है। संग्राम की उमंग, उत्तेजना, वीरता और जय-ध्वनि यहाँ कहाँ? यह संग्राम नहीं, रेलम-ठेल, धक्का-पेल है। यहाँ 'चाहे धक्के खायँ, मगर तमाशा घुस कर देखें' की दशा है। माशूक का वस्ल कहाँ, उसकी चौखट को चूमना, दरबान की गालियाँ खाना और अपना-सा

मुँह ले कर चले आना। दिन-भर बैठे-बैठे अरुचि हो जाती। मुश्किल से दो चपातियाँ खाता और मन में कहता—'क्या इन्हीं दो चपातियों के लिए यह सिर-मग्जन और यह दीदा-रेजी है ? मरो, खपो और व्यर्थ के लिए ! इसके साथ यह अरमान भी था कि अपनी मोटर हो, विशाल भवन हो, थोड़ी-सी जमींदारी हो, कुछ रुपये बैंक में हों; पर यह सब हुआ भी, तो मुझे क्या ? संतान उनका सुख भोगेगी, मैं तो व्यर्थ ही मरा। मैं तो खजाने का साँप ही रहा। नहीं; यह नहीं हो सकता। मैं दूसरों के लिए ही प्राण न दूँगा, अपनी मिहनत का मजा खुद भी चखूँगा, क्या करूँ? कहीं सैर करने चलूँ ? मुवक्किल सब तितर-बितर हो जायँगे ! ऐसा नामी वकील तो हूँ नहीं कि मेरे बगैर काम ही न चले और कतिपय नेताओं की भाँति असहयोग-व्रत धारण करने पर भी कोई बड़ा शिकार देखूँ, तो झपट पड़ूँ। यहाँ तो पिद्दी, बटेर, हारिल इन्हीं सब पर निशाना मारना है। फिर क्या रोज थियेटर जाया करूँ ? फिजूल है। कहीं दो बजे रात को सोना नसीब होगा, बिना मौत मर जाऊँगा। आखिर मेरे हम पेशा और भी तो हैं ? वे क्या करते हैं जो उन्हें बराबर खुश और मस्त देखता हूँ ? मालूम होता है, उन्हें कोई चिंता ही नहीं है। स्वार्थ-सेवा अंग्रेजी शिक्षा का प्राण है। पूर्व संतान के लिए, यश के लिए, धर्म के लिए मरता है, पश्चिम अपने लिए। पूर्व में घर का स्वामी सबका सेवक होता है, वह सबसे ज्यादा काम करता, दूसरों को खिला कर खाता, दूसरों को पहना कर पहनता है; किंतु पश्चिम में वह सबसे अच्छा खाना, अच्छा पहनना अपना अधिकार समझता है। यहाँ परिवार सर्वोपरि है, वहाँ व्यक्ति सर्वोपरि है। हम बाहर से पूर्व और भीतर से पश्चिम हैं। हमारे सत् आदर्श दिन-दिन लुप्त होते जा रहे हैं। मैंने सोचना शुरू किया, इतने दिनों की तपस्या से मुझे क्या मिल गया ? दिन-भर छाती फाड़ कर काम करता हूँ, आधीरात को मुँह ढाँप कर सो रहता हूँ। यह भी कोई जिंदगी है ? कोई सुख नहीं, मनोरंजन का कोई सामान नहीं; दिन-भर काम करने के बाद टेनिस क्या खाक खेलूँगा ? हवाखोरी के लिए भी तो पैरों में जूता चाहिए ! ऐसे जीवन को रसमय बनाने के लिए केवल एक ही उपाय है—आत्म-विस्मृति, जो एक क्षण के लिए मुझे संसार की चिंताओं से मुक्त कर दे। मैं अपनी परिस्थिति को भूल जाऊँ, अपने को भूल जाऊँ जरा हँसू, जरा कहकहा मारूँ जरा मन में स्फूर्ति आये। केवल एक ही बूटी है, जिसमें ये गुण हैं और वह मैं जानता हूँ। कहाँ की प्रतिज्ञा, कहाँ का व्रत, वे बचपन की बातें थीं। उस समय क्या जानता था कि मेरी यह हालत होगी ? नव स्फूर्ति का बाहुल्य था, पैरों में शक्ति थी, घोड़े पर सवार होने की क्या जरूरत थी ? तब जवानी का नशा था। अब यह कहाँ ? यह भावना मेरे पूर्व संचित समय की जड़ों को हिलाने लगी। यह नित्य नयी-नयी युक्तियों से सशक्त हो कर आती थी। क्यों, क्या तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो ? सब तो पीते हैं। जजों को देखो इजलास छोड़ कर जाते और पी आते हैं। प्राचीनकाल में ऐसे व्रत निभ जाते थे, जब जीविका इतनी प्राणघातक न थी। लोग हँसेंगे ही न कि बड़े व्रतधारी की दुम बने थे, आखिर आ गये न चक्कर में ! हँसने दो, मैंने नाहक व्रत लिया। उसी व्रत के कारण इतने दिनों की तपस्या करनी पड़ी। नहीं पी तो कौन-सा बड़ा आदमी हो गया, कौन सम्मान पा लिया? पहले किताबों में पढ़ा करता था, यह हानि होती है, वह हानि होती है; मगर कहीं तो नुकसान होते नहीं देखता। हाँ पियक्कड़, मदमस्त हो जाने की बात और है। उस तरह तो अच्छी-से-अच्छी वस्तु का दुरुपयोग भी हानिप्रद होता है। ज्ञान भी जब सीमा से बाहर हो

जाता है, तो नास्तिकता के क्षेत्र में पहुँचता है। पीना चाहिए एकान्त में, चेतना को जागृत करने के लिए, सुलाने के लिए नहीं; बस पहले दिन जरा-जरा झिझक होगी। फिर किसका डर है। ऐसी आयोजना करनी चाहिए कि लोग मुझे जबरदस्ती पिला दें, जिसमें अपनी शान बनी रहे। जब एक दिन प्रतिज्ञा टूट जायेगी, तो फिर मुझे अपनी सफाई पेश करने की जरूरत न रहेगी, घरवालों के सामने भी आँखें नीची न करनी पड़ेंगी।

2

मैंने निश्चय किया, यह अभिनय होली के दिन हो। इस दीक्षा के लिए इससे उत्तम मुहूर्त कौन होगा ? होली पीने-पिलाने का दिन है। उस दिन मस्त हो जाना क्षम्य है। पवित्र होली अगर हो सकती है, तो पवित्र चोरी, पवित्र रिश्वत-सितानी भी हो सकती है।

होली आयी, अबकी बहुत इंतजार के बाद आयी। मैंने दीक्षा लेने की तैयारी शुरू की। कई पीनेवालों को निमन्त्रित किया। केलनर की दूकान से ह्विस्की और शामपेन मँगवायी; लेमनेड, सोडा, बर्फ, गजक, खमीरा तम्बाकू वगैरह सब सामान मँगवा कर लैस कर दिया। कमरा बहुत बड़ा न था। कानूनी किताबों की आलमारियाँ हटवा दीं, फ़र्श बिछवा दिया और शाम को मित्रों का इंतजार करने लगा, जैसे चिड़िया पंख फैलाये बहेलियों को बुला रही हो।

मित्रगण एक-एक करके आने लगे। नौ बजते-बजते सब-के-सब आ बिराजे। उनमें कई तो ऐसे थे, चुल्लू में उल्लू हो जाते थे, पर कितने ही कुम्भज ऋषि के अनुयायी थे—पूरे समुद्र-सोख, बोतल-की-बोतल गटागट जायें और आँखों में सुर्खी न आये ! मैंने बोतल, गिलास और गजक की तस्तरियाँ सामने ला कर रखीं।

एक महाशय बोले—यार, बर्फ और सोडे के बगैर लुत्फ़ न आयेगा।

मैंने उत्तर दिया—मँगवा रखा है, भूल गया था।

एक—तो फिर बिस्मिल्ला हो।

दूसरा—साकी कौन होगा ?

मैं—यह खिदमत मेरे सिपुर्द कीजिए।

मैंने प्यालियाँ भर-भर कर देनी शुरू कीं और यार लोग पीने लगे। हू-हक का बाजार गर्म हुआ; अश्लील हास-परिहास की आँधी-सी चलने लगी; पर मुझे कोई न पूछता था। खूब अच्छा उल्लू बना ! शायद मुझसे कहते हुए सकुचाते हैं। कोई मजाक से भी नहीं कहता, मानो मैं वैष्णव हूँ। इन्हें कैसे इशारा करूँ ? आखिर सोच कर बोला—मैंने तो कभी पी ही नहीं।

एक मित्र—क्यों नहीं पी ? ईश्वर के यहाँ आपको इसका जवाब देना पड़ेगा !

दूसरा—फरमाइए जनाब, फरमाइए, फरमाइए, क्या जवाब दीजिएगा। मैं ही उसकी तरफ से पूछता हूँ—क्यों नहीं पीते ?

मैं—अपनी तबीयत, नहीं जी चाहता।

दूसरा—यह तो कोई जवाब नहीं। कोदो दे कर वकालत पास की थी क्या ?

तीसरा—जवाब दीजिए, जवाब। दीजिए, दीजिए। आपने समझा क्या है, ईश्वर को आपने ऐसा-वैसा समझ लिया है क्या ?

दूसरा—क्या आपको कोई धार्मिक आपत्ति है ?

मैंने कहा—हो सकता है।

तीसरा—वाह रे धर्मात्मा ! क्यों न हो, आप बड़े धर्मात्मा हैं। जरा आपकी दुम देखूँ ?

मैं—क्या धर्मात्मा आदमियों के दुम होती है ?

चौथा—और क्या, किसी के हाथ की, किसी के दो हाथ की। आप हैं किस फेर में। दुमदारों के सिवा आज धर्मात्मा है ही कौन ? हम सब पापात्मा हैं।

तीसरा—धर्मात्मा वकील, ओ हो, धर्मात्मा वेश्या, ओ-हो !

दूसरा—धार्मिक आपत्ति तो आपको हो ही नहीं सकती। वकील होना धार्मिक विचारों से शून्य होने का चिह्न है।

मैं—भाई, मुझे सूट नहीं करती ?

तीसरा—अब मार लिया, मूजी को मार लिया, आपको सूट नहीं करती। मैं सूट करा दूँ ?

दूसरा—क्या किसी डॉक्टर ने मना किया है ?

मैं—नहीं।

तीसरा—वाह वाह ! आप खुद ही डॉक्टर बन गये। अमृत आपको सूट नहीं करता। अरे धर्मात्मा जी, एक बार पी के देखिए।

दूसरा—मुझे आपके मुँह से यह सुन कर आश्चर्य हुआ। भाई जी, यह दवा है, महौषधि है, यही सोम-रस है। कहीं आपने टेंपरेंस की प्रतिज्ञा तो नहीं ले ली है।

मैं—मान लीजिए, ली हो, तो ?

तीसरा—तो आप बुद्धू हैं, सीधे-सीधे कोरे बुद्धू !

चौथा—

जाम चलने को है सब, अहले-नजर बैठे हैं,
आँख साक़ी न चुराना, हम इधर बैठे हैं।

दूसरा—हम सभी टेंपरेंस के प्रतिज्ञाधारी हैं, पर जब वह हम ही नहीं रहे, तो वह प्रतिज्ञा कहाँ रही ? हमारे नाम वही हैं, पर हम वह नहीं हैं। जहाँ लड़कपन की बातें की गयीं, वहीं वह प्रतिज्ञा भी गयी।

मैं—आखिर इससे फायदा क्या है ?

दूसरा—यह तो पीने ही से मालूम हो सकता है। एक प्याली पीजिए, फ़ायदा न मालूम हो, तो फिर न पीजिएगा।

तीसरा—मारा, मारा अब मूजी को पिला कर छोड़ेंगे।

चौथा—

ऐसे मैंख़्वार हैं दिन-रात पिया करते हैं,
हम तो सोते में तेरा नाम लिया करते हैं।

पहला—तुम लोगों से न बनेगा मैं पिलाना जानता हूँ।

यह महाशय मोटे-ताजे आदमी थे। मेरा टेंटुआ दबाया और प्याली मुँह से लगा दी। मेरी प्रतिज्ञा टूट गयी, दीक्षा मिल गयी, मुराद पूरी हुई, किंतु बनावटी क्रोध से बोला—आप लोग अपने साथ मुझे भी ले डूबे।

दूसरा—मुबारक हो, मुबारक !
तीसरा—मुबारक, मुबारक, सौ बार मुबारक !

3

नवदीक्षित मनुष्य बड़ा धर्मपरायण होता है। मैं संध्या समय दिन-भर की वाग्वितंडा से छुटकारा पा कर जब एकांत में, अथवा दो-चार मित्रों के साथ बैठ कर प्याले-पर-प्याले चढ़ाता, तो चित्त उल्लसित हो उठता था। रात को निद्रा खूब आती थी, पर प्रातःकाल अंग-अंग में पीड़ा होती, अँगड़ाइयाँ आतीं, मस्तिष्क शिथिल हो जाता, यही जी चाहता कि आराम से पलंग पर लेटा रहूँ। मित्रों ने सलाह दी कि खुमारी उतारने के लिए सबेरे भी एक पेग पी लिया जाय, तो अति उत्तम हे। मेरे मन में भी बात बैठ गयी। मुँह-हाथ धो कर पहले संध्या किया करता था। अब मुँह-हाथ धो कर चट अपने कमरे के एकांत में बोतल लेकर बैठ जाता। मैं इतना जानता था कि नशीली चीजों का चसका बुरा होता है, आदमी धीरे-धीरे उनका दास हो जाता है। यहाँ तक कि वह उनके बगैर कुछ काम ही नहीं कर सकता; परंतु ये बातें जानते हुए भी मैं उनके वशीभूत होता जाता था। यहाँ तक नौबत पहुँची कि नशे के बगैर कुछ काम ही न कर सकता। जिसे आमोद के लिए मुँह लगाया था वह साल ही भर में मेरे लिए जल और वायु की भाँति अत्यंत आवश्यक हो गयी। अगर कभी किसी मुकदमे में बहस करते-करते देर हो जाती, तो ऐसी थकावट चढ़ती थी, मानो मंजिलों चला हूँ। उस दशा में घर आता, तो अनायास ही बात-बात पर झुँझलाता। कहीं नौकर को डाँटता, कहीं बच्चों को पीटता, कहीं स्त्री पर गरम होता। यह सब कुछ था; पर मैं कतिपय अन्य शराबियों की भाँति नशा आते ही दून की न लेता था, अनर्गल बातें न करता था, हल्ला न मचाता था, न मेरे स्वास्थ्य पर ही मदिरा-सेवन का कुछ बुरा असर नजर आता था।

बरसात के दिन थे। नदी-नाले बढ़े हुए थे। हुक्काम बरसात में भी दौरे करते हैं। उन्हें अपने भत्ते से मतलब। प्रजा को कितना कष्ट होता है, इससे उन्हें कुछ सरोकार नहीं। मैं एक मुकदमे में दौरे पर गया। अनुमान किया था कि संध्या तक लौट आऊँगा; मगर नदियों का चढ़ाव-उतार पड़ा, दस बजे पहुँचने के बदले शाम को पहुँचा। जंट साहब मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुकदमा पेश हुआ; लेकिन बहस खतम होते-होते रात नौ बज गये। मैं अपनी हालत क्या कहूँ। जी चाहता था, जंट-साहब को नोच खाऊँ। कभी अपने प्रतिपक्षी वकील की दाढ़ी नोचने को जी चाहता था, जिसने बरबस बहस को इतना बढ़ाया। कभी जी चाहता था; अपना सिर पीट लूँ। मुझे सोच लेना चाहिए था कि आज रात को देर हो गयी, तो ? जंट मेरा गुलाम तो है नहीं कि जो मेरी इच्छा हो, वही करे। न खड़े रहा जाता, न बैठे। छोटे-मोटे पियक्कड़ मेरी दुर्दशा की कल्पना नहीं कर सकते।

खैर नौ बजते-बजते मुकदमा समाप्त हुआ; पर अब जाऊँ कहाँ ? बरसात की रात, कोसों तक आबादी का पता नहीं। घर लौटना कठिन ही नहीं, असम्भव। आस-पास भी कोई ऐसा गाँव नहीं, जहाँ संजीवनी मिल सके। गाँव हो भी तो वहाँ जाय कौन ? वकील कोई थानेदार नहीं कि किसी को बेगार में भेज दे। बड़े संकट में पड़ा हुआ था। मुवक्किल चले गये, दर्शक चले गये, बेगार चले गये। मेरा प्रतिद्वंद्वी मुसलमान चपरासी के दस्तरखान में शरीक हो कर डाकबँगले के बरामदे में पड़ा रहा; पर मैं क्या करूँ ? यहाँ तो प्राणान्त-सा

हो रहा था। वहीं बरामदे में टाट पर बैठा हुआ अपनी किस्मत को रो रहा था, न नींद ही आती थी कि इस कष्ट को भूल जाऊँ, अपने को उसी की गोद में सौंप दूँ। गुस्सा अलबत्ते था कि वह दूसरा वकील कितनी मीठी नींद सो रहा है मानो ससुराल में सुख-सेज पर सोया हुआ है।

इधर तो मेरा यह बुरा हाल था, उ डाक-बँगले में साहब बहादुर गिलास पर गिलास चढ़ा रहे थे। शराब के ढालने की मधुर ध्वनि मेरे कानों में आ कर चित्त को और भी व्याकुल कर देती। मुझसे बैठे न रहा गया। धीरे-धीरे चिक के पास गया और अंदर झाँकने लगा। आह ! कैसा जीवनप्रद दृश्य था। सफेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ और सोडावाटर से अलंकृत अरुण-मुख कामिनी शोभायमान थी; मुँह में पानी भर आया। उस समय कोई मेरा चित्र उतारता तो लोलुपता के चित्रण में बाजी मार ले जाता। साहब की आँखों में सुर्खी थी, मुँह पर सुर्खी थी। एकांत में बैठा पीता और मानसिक उल्लास की लहर में एक अंग्रेजी गीत गाता था। कहाँ वह स्वर्ग का सुख और कहाँ यह मेरा नरकभोग ! कई बार प्रबल इच्छा हुई कि साहब के पास चल कर एक गिलास माँगूँ; पर डर लगता था कि कहीं शराब के बदले ठोकर मिलने लगे तो यहाँ कोई फ़रियाद सुननेवाला भी नहीं है।

मैं वहाँ तब तक खड़ा रहा, जब तक साहब का भोजन समाप्त न हो गया। मनचाहे भोजन और सुरा-सेवन के उपरांत उसने खानसामा को मेज़ साफ करने के लिए बुलाया। खानसामा वहीं मेज़ के नीचे बैठा ऊँघ रहा था। उठा और प्लेट लेकर बाहर निकला, तो मुझे देख कर चौंक पड़ा। मैंने शीघ्र ही उसको आश्वासन दिया—डरो मत, डरो मत, मैं हूँ।

ख़ानसामा ने चकित हो कर कहा—आप हैं वकील साहब ! क्या हजूर यहाँ खड़े थे?

मैं—हाँ, जरा देखता था कि ये सब कैसे खाते-पीते हैं। बहुत शराब पीता है।

ख़ान.—अजी कुछ पूछिए मत। दो बोतल दिन-रात में साफ़ कर डालता है। बीस रुपये रोज की शराब पी जाता है। दौरे पर चलता है, तो चार दर्जन बोतलों से कम साथ नहीं रखता।

मैं—मुझे भी कुछ आदत है; पर आज न मिली।

ख़ान.—तब तो आपको बड़ी तकलीफ़ हो रही होगी ?

मैं—क्या करूँ; यहाँ तो कोई दूकान भी नहीं। समझता था, जल्दी से मुकदमा हो जायगा, घर लौट जाऊँगा। इसीलिए कोई सामान साथ न लाया।

ख़ान—मुझे तो अफीम की आदत है। एक दिन न मिले तो बावला हो जाता हूँ। अमलवाले को चाहे कुछ न मिले, अमल मिल जाय तो उसे कोई फिक्र नहीं, खाना चाहे तीन दिन में मिले।

मैं—वही हाल है भाई भुगत रहा हूँ। ऐसा मालूम होता है, बदन में जान ही नहीं है।

ख़ान—हजूर को कम-से-कम एक बोतल साथ रख लेनी चाहिए थी। जेब में डाल लेते।

मैं—इतनी ही तो भूल हुई, नहीं रोना काहे का था।

ख़ान—नींद भी न आती होगी ?

मैं—कैसी नींद, दम लबों पर है, न जाने रात कैसे गुजरेगी।

मैं चाहता था, ख़ानसामा अपनी तरफ़ से मेरी अग्नि शांत करने का प्रस्ताव करे,

जिसमें मुझे लज्जित न होना पड़े। पर ख़ानसामा भी चंट था। बोला—अल्लाह का नाम ले कर सो जाइए, नींद कब तक न आयेगी।

मैं—नींद तो न आयेगी। हाँ, मर भले ही जाऊँगा। क्या साहब बोतलें गिन कर रखते हैं ? गिनते तो क्या होंगे ?

ख़ान—अरे हुजूर, एक ही मूजी है। बोतल पूरी नहीं होती, तो उस पर निशान बना देता है। मजाल है कि एक बूँद भी कम हो जाय।

मैं—बड़ी मुसीबत है, मुझे तो एक गिलास चाहिए। बस, इतना ही चाहता हूँ कि नींद आ जाय। जो इनाम कहो, वह दूँ।

ख़ान.—इनाम तो हुजूर देंगे ही; लेकिन ख़ौफ़ यही है कि कहीं भाँप गया, तो फिर मुझे जिंदा न छोड़ेगा।

मैं—यार, लाओ, अब ज्यादा सब्र की ताब नहीं है।

ख़ान.—आपके लिए जान हाजिर है; पर एक बोतल दस रुपये में आती है। मैं कल किसी बेगार से मँगा कर तादाद पूरी कर दूँगा।

मैं—एक बोतल थोड़े ही पी जाऊँगा।

ख़ान.—साथ लेते जाइएगा हुजूर ! आधी बोतल खाली मेरे पास रहेगी, तो उसे फौरन शुबहा हो जायगा। बड़ा शक्की है, मेरा मुँह सूँघा करता है कि इसने पी न ली हो।

मुझे बीस रुपये मिहनताने के मिले थे। दिन-भर की कमाई का आधा देते हुए क़लक तो हुआ, पर दूसरा उपाय ही क्या था ? चुपके से दस रुपये निकाल कर ख़ानसामा के हवाले किये। उसने एक बोतल अँगरेजी शराब मुझे ला दी। बरफ और सोडा भी लेता आया। मैं वहीं अँधेरे में बोतल खोल कर अपनी परितप्त आत्मा को सुधा-जल से सिंचित करने लगा।

क्या जानता था कि विधना मेरे लिए कोई दूसरा ही षड्यंत्र रच रहा है, विष पिलाने की तैयारियाँ कर रहा है।

4

नशे की नींद का पूछना ही क्या ? उस पर ह्विसकी की आधी बोतल चढ़ा गया था। दिन चढ़े तक सोता रहा। कोई आठ बजे झाड़ू लगानेवाले मेहतर ने जगाया, तो नींद खुली। शराब की बोतल और गिलास सिरहाने रख कर छतरी से छिपा दिया था। ऊपर से अपना गाउन डाल दिया था। उठते ही उठते सिरहाने निगाह गयी। बोतल और गिलास का पता न था। कलेजा धक् से हो गया। ख़ानसामा को खोजने लगा कि पूछूँ, उसने तो नहीं उठा कर रख दिया। इस विचार से उठा और टहलता हुआ डाक-बँगले के पिछवाड़े गया, जहाँ नौकरों के लिए अलग कमरे बने हुए थे; पर वहाँ का भयंकर दृश्य देख कर आगे कदम बढ़ाने का साहस न हुआ।

साहब ख़ानसामा का कान पकड़े हुए खड़े थे। शराब की बोतलें अलग-अलग रखी हुई थीं, साहब एक, दो, तीन करके गिनते थे और ख़ानसामा से पूछते थे, एक बोतल और कहाँ गया ?—ख़ानसामा कहता था—हुजूर, खुदा मेरा मुँह काला करे, जो मैंने कुछ भी दगल-फसल की हो।

साहब—हम क्या झूठ बोलता है ? उन्तीस बोतल नहीं था ?

ख़ान.—हुजूर, खुदा की क़सम मुझे नहीं मालूम, कितनी बोतलें थीं।

इस पर साहब ने ख़ानसामा के कई तमाचे लगाये। फिर कहा—तुम गिने, तुम न बतायेगा, तो हम तुमको जान से मार डालेगा। हमारा कुछ नहीं हो सकता। हम हाकिम है, और हाकिम लोग हमारा दोस्त है। हम तुमको अभी-अभी मार डालेगा, नहीं तो बतला दे, एक बोतल कहाँ गया ?

मेरे प्राण सूख गये। बहुत दिनों के बाद ईश्वर की याद आयी। मन-ही-मन गोवर्द्धनधारी का स्मरण करने लगा। अब लाज तुम्हारे हाथ है ! भगवान् ! तुम्हीं बचाओ तो नैया बच सकती है, नहीं तो मझधार में डूबी जाती है ! अँग्रेज है, न जाने क्या मुसीबत ढा दे। भगवान् ! ख़ानसामा का मुँह बंद कर दो, उसकी वाणी हर लो, तुमने बड़े-बड़े द्रोहियों और दुष्टों की रक्षा की है। अजामिल को तुम्हीं ने तारा था। मैं भी द्रोही हूँ, द्रोहियों का द्रोही हूँ। मेरा संकट हरो। अबकी जान बची, तो शराब की ओर आँख न उठाऊँगा।

मार के आगे भूत भागता है ! मुझे प्रति क्षण यह शंका होती थी कि कहीं यह लोकोक्ति चरितार्थ न हो जाय। कहीं ख़ानसामा खुल न पड़े। नहीं तो फिर मेरी खैर नहीं ! सनद छीने जाने का, चोरी का मुकदमा चल जाने का, अथवा जज साहब से तिरस्कृत किये जाने का इतना भय न था; जितना साहब के पदाघात का लक्ष्य बनने का। जालिम हंटर लेकर दौड़ न पड़े। यों मैं इतना दुर्बल नहीं हूँ, हृष्ट-पुष्ट और साहसी मनुष्य हूँ। कालेज में खेल-कूद के लिए पारितोषिक पा चुका हूँ। अब भी बरसात में दो महीने मुग्दर फेर लेता हूँ; लेकिन उस समय भय के मारे बुरा हाल था। मेरे नैतिक बल का आधार पहले ही नष्ट हो चुका था। चोर में बल कहाँ—मेरा मान, मेरा भविष्य, मेरा जीवन ख़ानसामा के केवल एक शब्द पर निर्भर था—केवल एक शब्द पर ! किसका जीवन-सूत्र इतना क्षीण, इतना जीर्ण, इतना जर्जर होगा !

मैं मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर रहा था—शराबियों की तोबा नहीं, सच्ची, दृढ़ प्रतिज्ञा—कि इस संकट से बचा तो फिर शराब न पीऊँगा। मैंने अपने मन को चारों ओर से बाँध रखने के लिए, उसके कुतर्कों का द्वार बंद करने के लिए एक भीषण शपथ खायी।

मगर हाय रे दुर्दैव ! कोई सहायक न हुआ। न गोवर्द्धनधारी ने सुध ली, न नृसिंह भगवान् ने। वे सब सत्ययुग में आया करते थे। न प्रतिज्ञा कुछ काम आयी; न शपथ का कुछ असर हुआ। मेरे भाग्य, या दुर्भाग्य में जो कुछ बदा था, वह हो कर रहा। विधना ने मेरी प्रतिज्ञा सुदृढ़ रखने के लिए शपथ को यथेष्ट न समझा।

ख़ानसामा बेचारा अपनी बात का धनी था। थप्पड़ खाये, ठोकर खायी, दाढ़ी नुचवायी, पर न खुला, न खुला। बड़ा सत्यवादी, वीर पुरुष था। मैं शायद ऐसी दशा में इतना अटल न रह सकता। शायद पहले ही थप्पड़ में उगल देता। उसकी ओर से मुझे जो घोर शंका हो रही थी, वह निर्मूल सिद्ध हुई। जब तक जिऊँगा, उस वीरात्मा का गुणानुवाद करता रहूँगा।

पर मेरे ऊपर दूसरी ही ओर से वज्रपात हुआ।

5

ख़ानसामा पर जब मार-धाड़ का कुछ असर न हुआ, तो साहब उसके कान पकड़े हुए डाक-बँगले की तरफ चले। मैंने उन्हें आते देखा चटपट सामने बरामदे में जा बैठा और ऐसा मुँह बना लिया मानो कुछ जानता ही नहीं। साहब ने ख़ानसामा को ला कर मेरे सामने खड़ा कर दिया। मैं भी उठ कर खड़ा हो गया। उस समय यदि कोई मेरे हृदय को चीरता, तो रक्त की एक बूँद भी न निकलती।

साहब ने मुझसे पूछा—वेल वकील साहब, तुम शराब पीता है ?

मैं इनकार न कर सका।

'तुमने रात शराब पी थी ?'

मैं इनकार न कर सका।

'तुमने मेरे इस ख़ानसामा से शराब ली थी ?'

मैं इनकार न कर सका।

'तुमने रात को शराब पी कर बोतल और गिलास अपने सिर के नीचे छिपा कर रखा था ?'

मैं इनकार न कर सका। मुझे भय था कि ख़ानसामा न कहीं खुल पड़े; पर उलटे मैं ही खुल पड़ा।

'तुम जानता है, यह चोरी है !

मैं इनकार न कर सका।

'हम तुमको मुअत्तल कर सकता है, तुम्हारा सनद छीन सकता है, तुमको जेल भेज सकता है।'

यथार्थ ही था।

'हम तुमको ठोकरों से मार कर गिरा सकता है। हमारा कुछ नहीं हो सकता !'

यथार्थ ही था।

'तुम काला आदमी वकील बनता है, हमारे ख़ानसामा से चोरी का शराब लेता है। तुम सुअर ! लेकिन हम तुमको वही सजा देगा, जो तुम पसंद करे। तुम क्या चाहता है।

मैंने काँपते हुए कहा--हुजूर, मुआफी चाहता हूँ।

'नहीं, हम सजा पूछता है !'

'जो हुजूर मुनासिब समझें।'

'अच्छा, यही होगा।'

यह कह कर उस निर्दयी, नरपिशाच ने दो सिपाहियों को बुलाया, और उनसे मेरे दोनों हाथ पकड़वा दिये। मैं मौन धारण किये इस तरह सिर झुकाए खड़ा रहा, जैसे कोई लड़का अध्यापक के सामने बेंत खाने को खड़ा होता है। इसने मुझे क्या दण्ड देने का विचारा है ? कहीं मेरी मुश्कें तो न कसवायेगा, या कान पकड़ कर उठा-बैठी तो न करवायेगा। देवताओं से सहायता मिलने की कोई आशा तो न थी, पर अदृश्य का आवाहन करने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था !

मुझे सिपाहियों के हाथ छोड़ कर साहब दफ्तर में गये और वहाँ से मोहर छापने की स्याही और ब्रश लिये हुए निकले। अब मेरी आँखों से अश्रुपात होने लगा। यह घोर

अपमान और थोड़ी-सी शराब के लिए ! वह भी दुगने दाम देने पर !

साहब ब्रश से मेरे मुँह में कालिमा पोत रहे थे, वह कालिमा, जिसे धोने के लिए सेरों साबुन की जरूरत थी और मैं भीगी बिल्ली की भाँति खड़ा था। उन दोनों यमदूतों को भी मुझ पर दया न आती थी, दोनों हिन्दुस्तानी थे, पर उन्हीं के हाथों मेरी यह दुर्दशा हो रही थी। इस देश को स्वराज्य मिल चुका !

साहब कालिमा पोतते और हँसते जाते थे। यहाँ तक कि आँखों के सिवा तिल-भर भी जगह न बची ! थोड़ी-सी शराब के लिए आदमी से वनमानुष बनाया जा रहा था। दिल में सोच रहा था, यहाँ से जाते-ही-जाते बचा पर मानहानि की नालिश कर दूँगा, या किसी बदमाश से कह दूँगा, इजलास ही पर बचा की जूतों से खबर ले।

मुझे वनमानुष बना कर साहब ने मेरे हाथ छुड़वा दिये और ताली बजाता हुआ मेरे पीछे दौड़ा। नौ बजे का समय था। कर्मचारी, मुवक्किल, चपरासी सभी आ गये। सैकड़ों आदमी जमा थे, मुझे न जाने क्या शामत सूझी कि वहाँ से भागा। यह उस प्रहसन का सबसे करुणाजनक दृश्य था। आगे-आगे मैं दौड़ता जाता था, पीछे-पीछे साहब और अन्य सैकड़ों आदमी तालियाँ बजाते 'लेना लेना, जाने ना पावे' का गुल मचाते दौड़े जाते थे, मानो किसी बन्दर को भगा रहे हों।

लगभग एक मील तक यह दौड़ रही। वह तो कहो मैं कसरती आदमी हूँ, बच कर निकल आया, नहीं मेरी न जाने और क्या दुर्गति होती। शायद मुझे गधे पर बिठा कर घुमाना चाहते थे। जब सब पीछे रह गये तो मैं एक नाले के किनारे बेदम हो कर बैठा रहा। अब मुझे सूझी कि यहाँ कोई आया तो पत्थरों से मारे बिना न छोड़ूँगा, चाहे उलटी पड़े या सीधी; किन्तु मैंने नाले में मुँह धोने की चेष्टा नहीं की। जानता था, पानी से यह कालिमा न छूटेगी। यही सोचता रहा कि इस अँगरेज पर कैसे अभियोग चलाऊँ? यह तो छिपाना ही पड़ेगा कि मैंने इसके ख़ानसामा से चोरी की शराब ली। अगर यह बात साबित हो गयी, उलटा मैं ही फँस जाऊँगा। क्या हरज है, इतना छिपा दूँगा। शत्रुता का कारण कुछ और ही दिखा दूँगा; पर मुकदमा जरूर चलाना चाहिए।

जाऊँ कहाँ ? यह कालिमा-मंडित मुँह किसे दिखाऊँ ! हाय ! बदमाश को कालिख ही लगानी थी, तो क्या तवे में कालिख न थी, लैम्प में कालिख न थी ! कम-से-कम छूट तो जाती। जितना अपमान हुआ है, वहीं तक रहता। अब तो मैं मानो अपने कुकृत्य का स्वयं ढिंढोरा पीट रहा हूँ। दूसरा होता, तो इतनी दुर्गति पर डूब मरता!

गनीमत यही थी कि अभी तक रास्ते में किसी से मुलाकात नहीं हुई थी; नहीं तो उसे कालिमा सम्बन्धी प्रश्नों का क्या उत्तर देता ? जब ज़रा थकन कम हुई, तो मैंने सोचा, यहाँ कब तक बैठा रहूँगा। लाओ, एक बार यत्न करके देखूँ तो, शायद स्याही छूट जाय। मैंने बालू से मुँह रगड़ना शुरू किया। देखा तो स्याही छूट रही थी। उस समय मुझे जितना आनन्द हुआ, उसकी कौन कल्पना कर सकता है। फिर तो मेरा हौसला बढ़ा। मैंने मुँह को इतना रगड़ा कि कई जगह चमड़ा तक छिल गया; किंतु वह कालिमा छुड़ाने के लिए मुझे इस समय बड़ी-से-बड़ी पीड़ा भी तुच्छ जान पड़ती थी। यद्यपि मैं नंगे सिर था, केवल कुर्ता और धोती पहने हुए था, पर यह कोई अपमान की बात नहीं। गाउन, अचकन, पगड़ी डाक-बँगले ही में रह गयी, इसकी मुझे चिंता न थी। कालिख तो छूट गयी।

लेकिन कालिमा छूट जाती है, पर उसका दाग़ दिल से कभी नहीं मिटता। इस घटना को आज बहुत दिन हो गये। पूरे पाँच साल हुए, मैंने शराब का नाम नहीं लिया, पीने की कौन कहे। कदाचित् मुझे सन्मार्ग पर लाने के लिए यह ईश्वरीय विधान था। कोई युक्ति, कोई तर्क, कोई चुटकी मुझ पर इतना स्थायी प्रभाव न डाल सकती थी। सुफल को देखते हुए तो मैं यही कहूँगा कि जो कुछ हुआ बहुत अच्छा हुआ। वही होना चाहिए था; पर उस समय दिल पर जो गुजरी थी, उसे याद करके आज भी नींद उचट जाती है।

अब विपत्ति-कथा को क्यों तूल दूँ। पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। खबर तो फैल गयी, किन्तु मैंने झेंपने और शरमाने के बदले वेहयाई से काम लेना अधिक अनुकूल समझा। अपनी बेवकूफी पर हँसता था और बेधड़क अपनी दुर्दशा की कथा कहता था। हाँ, चालाकी यह की कि उसमें कुछ थोड़ा-सा अपनी तरफ से बढ़ा दिया, अर्थात् रात को जब मुझे नशा चढ़ा तो मैं बोतल और गिलास लिये साहब के कमरे में घुस गया और उसे कुरसी से पटक कर खूब मारा था। इस क्षेपक से मेरी दलित, अपमानित, मर्दित आत्मा को थोड़ी-सी तस्कीन होती थी। दिल पर तो जो कुछ गुजरी, वह दिल ही जानता है।

सबसे बड़ा भय मुझे यह था कि कहीं यह बात मेरी पत्नी के कानों तक न पहुँचे, नहीं तो उन्हें बड़ा दुःख होगा। मालूम नहीं उन्होंने सुना या नहीं; पर मुझसे इसकी चर्चा नहीं की।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी। मासिक पत्रिका 'माधुरी', सितम्बर, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'तोबा' शीर्षक से उर्दू कहानी संग्रह 'फ़िरदौसे ख़्याल' मे संकलित।]

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, ग़रीब-अमीर सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही में मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक अवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कही शतरंज का घोर सग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से ले कर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न ले कर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये



दलीलें जोरों के साथ पेश की जाती थीं (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है)। इसलिए अगर मिरज़ा सज्जाद अली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी ? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आखिर और करते ही क्या ? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछा कर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाव-पेंच होने लगते। फिर खबर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम ! घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं, दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश हो कि कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिरज़ा सज्जाद अली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिए उन्हीं के दीवानखाने में बाजियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी मिरज़ा के घर के और लोग उनसे इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, मुहल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन-दुनिया किसी के काम का नहीं रहता, न घर का, न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिरज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोज कर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती रहती थीं, तब तक बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरज़ा जी घर में आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं ? कह दो, आ कर ले जायँ। खाने की फुरसत नहीं है? ले जा कर खाना सिर पर पटक दो, खायँ चाहे कुत्ते को खिलायें। पर रूबरू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरज़ा जी अपनी सफाई देने के लिए सारा इलजाम मीर साहब ही के सर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—जा कर मिरज़ा साहब को बुला लो। किसी हकीम के यहाँ से दवा लायें। दौड़, जल्दी कर। लौंडी गयी तो मिरज़ा जी ने कहा—चल, अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिजाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—जा कर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायेंगी। मिरज़ा जी बड़ी दिलचस्प बाजी खेल रहे थे, दो ही किस्तों में मीर साहब की मात हुई जाती थी। झुंझला कर बोले—क्या ऐसा दम लबों पर है ? ज़रा सब्र नहीं होता ?

मीर—अरे, तो जा कर सुन ही आइए न। औरतें नाजुक-मिजाज होती ही हैं।

मिरज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ ! दो किस्तों में आपकी मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों खामख्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?

मिरज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जा कर सुन आइए।

मिरज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द खाक नहीं है, मुझे परेशान

करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी खातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिरज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुनकर न आयेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिरज़ा साहब मजबूर हो कर अंदर गये तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदल कर, लेकिन कराहते हुए कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है। चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते ! नौज, कोई तुम-जैसा आदमी हो !

मिरज़ा—क्या कहूँ मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ा कर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं। उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफ़ाया कर डाला ?

मिरज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर हो कर मुझे भी खेलना पड़ता है।

बेगम—दुत्कार क्यों नहीं देते ?

मिरज़ा—बराबर के आदमी हैं; उम्र में, दर्जे में मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुत्कारे देती हूँ। नाराज हो जायँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हरिया, जा बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे; आप तशरीफ़ ले जाइए।

मिरज़ा—हाँ-हाँ, कहीं ऐसा गज़ब भी न करना ! ज़लील करना चाहती हो क्या? ठहर हरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते ? मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानूँ ?

यह कह कर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानखाने की तरफ चली। मिरज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—खुदा के लिए, तुम्हें हजरत हुसेन की कसम है। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय। लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानखाने के द्वार तक गयीं, पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झाँका, संयोग से कमरा खाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिये थे, और अपनी सफाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँच कर बाजी उलट दी, मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिये, कुछ बाहर और किवाड़ अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाजा बंद हुआ, तो समझ गये, बेगम साहबा बिगड़ गयीं। चुपके से घर की राह ली।

मिरज़ा ने कहा—तुमने ग़जब किया।

बेगम—अब मीर साहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो वली हो जाते ! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फिक्र में सिर खपाऊँ ! जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है।

मिरज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इंतजाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार ?

मिरज़ा—खैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा ?

मीर—इसका क्या ग़म है। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिरज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा ? घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी, तो शायद जिंदा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी बकने भी दीजिए, दो-चार रोज में आप ही ठीक हो जायेंगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।

2

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती थीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गंभीर है। लेकिन जब दीवानखाने में बिसात बिछने लगी, और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गयी। दिन-भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आये, कोई जाये, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गयी। पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जा कर कहते—हुजूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गयी। दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी। घड़ी आध घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल खेलना बहुत है। खैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुजूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लायेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई आफ़त जरूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चरचा रहती है। हुजूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुन कर रंज होता है ? मगर क्या करें ? इस पर बेगम साहबा कहती हैं—मैं तो खुद इसको पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, क्या किया जाय।

मुहल्ले में भी जो दो-चार पुराने जमाने के लोग थे, आपस में भाँति-भाँति की अमंगल कल्पनाएँ करने लगे—अब खैरियत नहीं। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद

सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी और वह वेश्याओं में, भाँडों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अंग्रेज कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीग कर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी वसूल न होता था। रेजीडेंट बार-बार चेतावनी देता था, पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे, किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

खैर मीर साहब के दीवानखाने में शतरंज होते कई महीने गुजर गये। नये-नये नक्शे हल किये जाते; नये-नये कि़ले बनाये जाते; नित्य नयी व्यूह-रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाजी उठा दी जाती; मिरज़ा जी रूठ कर अपने घर चले जाते। मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानखाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरंज की दल-दल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफसर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये। यह क्या बला सिर पर आयी ! यह तलवी किस लिए हुई है? अब खैरियत नहीं नजर आती ! घर के दरवाजे बंद कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो, घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं ?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बताऊँगा ? हुजूर में तलबी है। शायद फौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी ! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा !

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा ?

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिरज़ा जी से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा ?

मिरज़ा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी तलबी भी न हो।

मीर—कम्बख्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरज़ा—आफ़त है, और क्या। कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नख्शा जमे। वहाँ किसे खबर होगी। हजरत आ कर आप लौट जायँगे।

मिरज़ा—वल्लाह, आपको खूब सूझी ! इसके सिवाय और कोई तदबीर ही नही है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थी, तुमने खूब धता बताया।

उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूल कर भी घर पर न रहेंगे।

3

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसज़िद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भर कर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जा कर खाना खाते, और एक चिलम हुक्का पी कर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख्याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले कर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इनकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते तो गलियों में हो कर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाजिम की निगाह न पड़ जाय, तो बेकार में पकड़ जायँ। हजारों रुपये सालाना की जागीर मुफ्त ही हजम करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसज़िद के खंडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिरज़ा की बाजी कुछ कमजोर थी। मीर साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखायी दिये। वह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीर साहब बोले—अंग्रेजी फ़ौज आ रही है; खुदा खैर करे।

मिरज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। यह किश्त।

मीर—जरा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ !

मिरज़ा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त !

मीर—तोपखाना भी है। कोई पाँच हजार आदमी होंगे, कैसे-कैसे जवान हैं। लाल बन्दरों के से मुँह। सूरत देख कर खौफ मालूम होता है।

मिरज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा। यह किश्त !

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफत आयी हुई है और आपको किश्त की सूझी है ! कुछ इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे ?

मिरज़ा—जब घर चलने का वक्त आयेगा, तो देखा जायगा—यह किश्त ! बस, अब की शह में मात है।

फ़ौज निकल गयी। दस बजे का समय था। फिर बाजी बिछ गयी।

मिरज़ा—आज खाने की कैसे ठहरेगी ?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है ?

मिरज़ा—जी नहीं। शहर में न जाने क्या हो रहा है !

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खा कर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अब की मिरज़ा जी की बाजी कमजोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहे विना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरज़ा ने कहा—हुज़ूर नवाब साहब को जालिमों ने कैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह।

मिरज़ा—जनाब ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक्त खून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा। यह किश्त !

मिरज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ; सो तो है ही—यह लो, फिर किश्त ! बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिरज़ा—खुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देख कर भी आपको दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और यह मात ! लाना हाथ !

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गयी। उनके जाते ही मिरज़ा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें। लेकिन मिरज़ा की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

4

शाम हो गयी। खंडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आ कर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरज़ा जी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाजी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभल कर खेलते थे लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी खराब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के गजलें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गये हों। मिरज़ा जी सुन-सुन कर झुँझलाते और हार की झेंप को मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाजी कमजोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकला जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—जनाब, आप चाल बदला न कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे

बदल दिया। जो कुछ चलना हो एक बार चल दीजिए; यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखते हैं ? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छुइये ही नहीं। आप एक-एक चाल आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज्यादा लगे, उसकी मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली ! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।

मीर साहब का फ़रजी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी ?

मिरज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में !

मीर—उस घर में क्यों रखूँ ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था ?

मिरज़ा—मुहरा आप कयामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी ? फरजी पिटते देखा तो धाँधली करने लगे।

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तकदीर से होती है, धाँधली करने से कोई नहीं जीतता ?

मिरज़ा—तो इस बाजी में तो आपकी मात हो गयी।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी ?

मिरज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रखूँ ? नहीं रखता।

मिरज़ा—क्यों न रखिएगा ? आपको रखना होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं, मिरज़ा बोले—किसी ने खानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके कायदे जानते। वे तो हमेशा, घास छीला करते, आप शतरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या ? घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरज़ा—अजी, जाइए भी, गाजीउद्दीन हैदर के यहाँ बावरचो का काम करते-करते उम्र गुजर गयी आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।

मीर—क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावरची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आये हैं।

मिरज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़ बढ़ कर बातें न कर।

मीर—जबान सँभालिये, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखायीं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला ?

मिरज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर, आइए। आज दो-दो हाथ हो जायँ, इधर या उधर।

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी जमाना था; सभी तलवार, पेशकब्ज, कटार वगैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे, पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें; पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों जख्म खा कर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प

कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के वजीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाजी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हुए मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे !

चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। खंडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', अक्टूबर, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'शतरंज की बाजी' शीर्षक से 'जमाना', दिसम्बर, 1924 में प्रकाशित। 'ख्वाबोख्याल' में संकलित।]

विनोद

विद्यालयों में विनोद की जितनी लीलाएँ होती रहती हैं, वे यदि एकत्र की जा सकें, तो मनोरंजन की बड़ी उत्तम सामग्री हाथ आये। वहाँ अधिकांश छात्र जीवन की चिंताओं से मुक्त रहते हैं। कितने ही तो परीक्षाओं की चिंता से भी बरी रहते हैं। वहाँ मटरगश्त करने, गपें उड़ाने और हँसी-मज़ाक करने के सिवा उन्हें कोई और काम नहीं रहता ! उनका क्रियाशील उत्साह कभी विद्यालय के नाट्य-मंच पर प्रकट होता है, कभी विशेष उत्सवों के अवसर पर। उनका शेष समय अपने और मित्रों के मनोरंजन में व्यतीत होता है। वहाँ जहाँ किसी महाशय ने किसी विभाग में विशेष उत्साह दिखाया (क्रिकेट, हाकी, फुटबाल को छोड़ कर) और वह विनोद का लक्ष्य बना। अगर कोई महाशय बड़े धर्मनिष्ठ हैं, संध्या और हवन में तत्पर रहते हैं, बिला नागा नमाजें अदा करते हैं, तो उन्हें हास्य का लक्ष्य बनने में देर नहीं लगती। अगर किसी को पुस्तकों से प्रेम है, कोई परीक्षा के लिए बड़े उत्साह से तैयारियाँ करता है, तो समझ लीजिए कि उसकी मिट्टी खराब करने के लिए कहीं-न-कहीं अवश्य षड्यंत्र रचा जा रहा है। सारांश यह कि वहाँ निर्द्वंद्व, निरीह, खुले दिल आदमियों के लिए कोई बाधा नहीं, उनसे किसी को शिकायत नहीं होती; लेकिन मुल्लाओं और पंडितों की बड़ी दुर्गति होती है।

महाशय चक्रधर इलाहाबाद के एक सुविख्यात विद्यालय के छात्र थे। एम.ए. क्लास में दर्शन का अध्ययन करते थे। किंतु जैसा विद्वज्जनों का स्वभाव होता है, हँसी-दिल्लगी से कोसों दूर भागते थे। जातीयता के गर्व में चूर रहते थे। हिंदू आचार-विचार की सरलता और पवित्रता पर मुग्ध थे। उन्हें नेकटाई, कालर, वास्कट आदि वस्त्रों से घृणा थी। सीधा-सादा मोटा कुरता और चमरौधे जूते पहनते। प्रातःकाल नियमित रूप से संध्या-हवन करके मस्तक पर चंदन का तिलक भी लगाया करते थे। ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों के अनुसार सिर घुटाते थे; किंतु लम्बी चोटी रख छोड़ी थी। उनका कथन था कि चोटी रखने में प्राचीन आर्य-ऋषियों ने अपनी सर्वज्ञता का प्रचंड परिचय दिया है। चोटी के द्वारा शरीर की अनावश्यक उष्णता बाहर निकल जाती है और विद्युत्-प्रवाह शरीर में प्रविष्ट होता है।

इतना ही नहीं, शिखा को ऋषियों ने हिंदू-जातीयता का मुख्य लक्षण घोषित किया है। भोजन सदैव अपने हाथ से बनाते थे और वह भी बहुत सुपाच्य और सूक्ष्म। उनकी धारणा थी कि आहार का मनुष्य के नैतिक विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। विजातीय वस्तुओं को हेय समझते थे। कभी क्रिकेट या हाकी के पास न फटकते थे। पाश्चात्य सभ्यता के तो वह शत्रु ही थे। यहाँ तक कि अँग्रेजी लिखने-बोलने में भी उन्हें संकोच होता था, जिसका परिणाम यह था कि उनकी अंग्रेजी कमजोर थी और वह उसमें सीधा-सा पत्र भी मुश्किल से लिख सकते थे। अगर उनको कोई व्यसन था, तो पान खाने का। इसके गुणों का समर्थन और वैद्यक ग्रन्थों से उसकी परिपुष्टि करते थे।

विद्यालय के खिलाड़ियों को इतना धैर्य कहाँ कि ऐसा शिकार देखें और उस पर निशाना न मारें। आपस में कानाफूसी होने लगी कि इस जंगली को सीधे रास्ते पर लाना चाहिए। कैसा पंडित बना फिरता है ! किसी को कुछ समझता ही नहीं। अपने सिवा सभी को जातीय-भाव से हीन समझता है। इसकी ऐसी मिट्टी पलीद करो कि सारा पाखंड भूल जाय !

संयोग से अवसर भी अच्छा मिल गया। कालेज खुलने के थोड़े ही दिनों बाद एक ऐंग्लो इंडियन रमणी दर्शन के क्लास में सम्मिलित हुई। वह कवि-कल्पित सभी उपमाओं की आगार थी। सेब का-सा खिला हुआ रंग, सुकोमल शरीर, सहास्य छवि और उस पर मनोहर वेष-भूषा ! छात्रों को विनोद का मसाला हाथ लगा। लोग इतिहास और भाषा छोड़-छोड़ कर दर्शन की कक्षा में प्रविष्ट होने लगे।

सबकी आँखें उसी चंद्रमुखी की ओर चकोर की नाई लगी रहती थी। सब उसकी कृपा-कटाक्ष के अभिलाषी थे। सभी उसकी मधुर वाणी सुनने के लिए लालायित थे। किंतु प्रकृति का जैसा नियम है, आचारशील हृदयों पर प्रेम का जादू जब चल जाता है, तब वारा-न्यारा करके ही छोड़ता है। और लोग तो आँखें ही सेंकने में मग्न रहा करते, किंतु पंडित चक्रधर प्रेम-वेदना से विकल और सत्य अनुराग से उन्मत्त हो उठे। रमणी के मुख की ओर ताकते भी झेंपते थे कि कहीं किसी की निगाह न पड़ जाय, तो इस तिलक और शिखा पर फबतियाँ उड़ने लगें। जब अवसर पाते, तो अत्यन्त विनम्र, सचेष्ट, आतुर और अनुरक्त नेत्रों से देख लेते किंतु आँखें चुराये हुए और सिर झुकाये हुए, कि कहीं अपना परदा न खुल जाय, दीवार से कानों को खबर न हो जाय।

मगर दाई से पेट कहाँ छिप सकता है। ताड़नेवाले ताड़ गये। यारों ने पंडितजी की मुहब्बत की निगाह पहचान ही ली। मुँह-माँगी मुराद पायी। बाछें खिल गयीं। दो महाशयों ने उनसे घनिष्ठता बढ़ानी शुरू कर दी। मैत्री को संघटित करने लगे। जब समझ गये कि इन पर हमारा विश्वास जम गया, शिकार पर वार करने का अवसर आ गया, तो एक रोज दोनों ने बैठ कर लेडियों की शैली में पंडित जी के नाम एक पत्र लिखा—

'माई डियर चक्रधर, बहुत दिनों से विचार कर रही हूँ कि आपको पत्र लिखूँ; मगर इस भय से कि बिना परिचय से ऐसा साहस करना अनुचित होगा, अब तक जब्त करती रही। पर अब नहीं रहा जाता। आपने मुझ पर न-जाने क्या जादू कर दिया है कि एक क्षण के लिए भी आपकी सूरत आँखों से नहीं उतरती। आपकी सौम्य मूर्ति, प्रतिभाशाली मस्तक और साधारण पहनावा सदैव आँखों के सामने फिरा करता है। मुझे स्वभावतः आडम्बर से

घृणा है। पर यहाँ सभी को कृत्रिमता के रंग में डूबा पाती हूँ। जिसे देखिए, मेरे प्रेम में अनुरक्त है; पर मैं उन प्रेमियों के मनोभावों से परिचित हूँ। वे सब-के-सब लम्पट और शोहदे हैं। केवल आप एक ऐसे सज्जन हैं जिनके हृदय में मुझे सद्भाव और सदनुराग की झलक दीख पड़ती है। बार-बार उत्कंठा होती है कि आपसे कुछ बातें करती; मगर आप मुझसे इतनी दूर बैठते हैं कि वार्तालाप का सुअवसर नहीं प्राप्त होता। ईश्वर के लिए कल से आप मेरे समीप ही बैठा कीजिए, और कुछ न सही तो आपके सामीप्य ही से मेरी आत्मा तृप्त होती रहेगी।

इस पत्र को पढ़ कर फाड़ दीजिएगा और इसका उत्तर लिख कर पुस्तकालय की तीसरी आलमारी के नीचे रख दीजिएगा।

आपकी

लूसी।

यह पत्र डाक में डाल दिया गया और लोग उत्सुक नेत्रों से देखने लगे कि इसका क्या असर होता है। उन्हें बहुत लम्बा इंतजार न करना पड़ा। दूसरे दिन कालेज में आकर पंडितजी को लूसी के सन्निकट बैठने की फिक्र हुई। वे दोनों महाशय जिन्होंने उनसे आत्मीयता बढ़ा रखी थी, लूसी के निकट बैठा करते थे। एक का नाम था नईम और दूसरे का गिरिधरसहाय। चक्रधर ने आ कर गिरिधर से कहा—यार, तुम मेरी जगह जा बैठो। मुझे यहाँ बैठने दो।

गिरिधर—क्यों ? आपको हसद होता है क्या ?

चक्रधर—हसद-वसद की बात नहीं। वहाँ प्रोफेसर साहब का लेक्चर सुनायी नहीं देता। मैं कानों का जरा भारी हूँ ?

गिरिधर—पहले तो आपको यह बीमारी न थी। यह रोग कब से उत्पन्न हो गया ?

नईम—और फिर प्रोफेसर साहब तो यहाँ से और भी दूर हो जायँगे जी ?

चक्रधर—दूर हो जायँगे तो क्या, यहाँ अच्छा रहेगा। मुझे कभी-कभी झपकियाँ आ जाती हैं। सामने डर लगा रहता है कि कहीं उनकी निगाह न पड़ जाय।

गिरिधर—आपको तो झपकियाँ ही आती हैं न। यहाँ तो वही घंटा सोने का है। पूरी एक नींद लेता हूँ। फिर ?

नईम—तुम भी अजीब आदमी हो। जब दोस्त हो कर एक बात कहते हैं, तो उसको मानने में तुम्हें क्या एतराज ? चुपके से दूसरी जगह जा बैठो।

गिरिधर—अच्छी बात है, छोड़े देता हूँ। किंतु यह समझ लीजिएगा कि यह कोई साधारण त्याग नहीं है। मैं अपने ऊपर बहुत जब्र कर रहा हूँ। कोई दूसरा लाख रुपये भी देता, तो जगह न छोड़ता।

नईम—अरे भाई, यह जन्नत है जन्नत! लेकिन दोस्त की खातिर भी तो है कोई चीज?

चक्रधर ने कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से देखा और वहाँ जा कर बैठ गये। थोड़ी देर के बाद लूसी भी अपनी जगह पर बैठी। अब पंडितजी बार-बार उसकी ओर सापेक्ष भाव से ताकते रहे कि वह कुछ बातचीत करे, और वह प्रोफेसर का भाषण सुनने में तन्मय हो रही है। आपने समझा शायद लज्जावश नहीं बोलती। लज्जाशीलता रमणियों का सबसे सुंदर भूषण भी तो है। उसके डेस्क की ओर मुँह फेर-फेर कर ताकने लगे। उसे इनके पान चबाने से

शायद घृणा होती थी—बार-बार मुँह दूसरी ओर फेर लेती। किंतु पंडितजी इतने सूक्ष्मदर्शी, इतने कुशाग्रबुद्धि न थे। इतने प्रसन्न थे, मानो सातवें आसमान पर हैं। सबको उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, मानो प्रत्यक्ष रूप से कह रहे थे कि तुम्हें यह सौभाग्य कहाँ नसीब ? मुझ-सा प्रतापी और कौन होगा ?

दिन तो गुजरा। संध्या-समय पंडितजी नईम के कमरे में आये और बोले—यार, एक लेटर-राइटर (पत्र-व्यवहार-शिक्षक) की आवश्यकता है। किसका लेटर-राइटर सबसे अच्छा है ?

नईम ने गिरिधर की ओर कनखियों से देख कर पूछा—लेटर-राइटर ले कर क्या कीजिएगा ?

गिरिधर—फजूल है। नईम खुद किस लेटर-राइटर से कम है।

चक्रधर ने कुछ सकुचाते हुए कहा—अच्छा, कोई प्रेम-पत्र लिखना हो, तो कैसे आरम्भ किया जाय।

नईम—डार्लिंग लिखते हैं। और जो बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध हो, तो डियर डार्लिंग लिख सकते हैं।

चक्रधर—और समाप्त कैसे करना चाहिए ?

नईम—पूरा हाल बताइए तो खत ही न लिख दें ?

चक्रधर—नहीं, आप इतना बता दीजिए, मैं लिख लूँगा।

नईम—अगर बहुत प्यारा माशूक हो, तो लिखिए—Your dying lover; और अगर साधारण प्रेम हो तो लिख सकते हैं—Yours for ever.

चक्रधर—कुछ शुभकामना के भाव भी तो रहने चाहिए न ?

नईम—बेशक। बिला आदाब के भी कोई खत होता है, और वह भी मुहब्बत का। माशूक के लिए आदाब लिखने में फकीरों की तरह दुआएँ देनी चाहिए। आप लिख सकते हैं—God give you everlasting grace and beauty, या May you remain happy in love and lovely.

चक्रधर—कागज पर लिख दो।

गिरिधर ने एक पत्र के टुकड़े पर कई वाक्य लिख दिये। जब भोजन करके लौटे तो चक्रधर ने अपने किवाड़ बंद कर लिये, और खूब बना-बना कर पत्र लिखा। अक्षर बिगड़-बिगड़ जाते थे, इसलिए कई बार लिखना पड़ा। कहीं पिछले पहर जा कर पत्र समाप्त हुआ। तब आपने उसे इत्र में बसाया, दूसरे दिन पुस्तकालय में निर्दिष्ट स्थान पर रख दिया। यार लोग तो ताक में थे ही पत्र उड़ा लाये और खूब मजे ले-ले कर पढ़ा।

2

तीन दिन के बाद चक्रधर को फिर एक पत्र मिला। लिखा—

'माई डियर चक्रधर,

तुम्हारी प्रेम-पत्री मिली। बार-बार पढ़ा। आँखों से लगाया; चुम्बन किया। कितनी मनोहर महक थी। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि हमारा प्रेम भी ऐसा ही सुरभिसिंचित रहे। आपको शिकायत है कि मैं आपसे बातें क्यों नहीं करती। प्रिय, प्रेम बातों से नहीं, हृदय से

होता है। जब मैं तुम्हारी ओर से मुँह फेर लेती हूँ, तो मेरे दिल पर क्या गुजरती है, यह मैं ही जानती हूँ। एक दबी हुई ज्वाला है, जो अंदर ही अंदर मुझे भस्म कर रही है। आपको मालूम नहीं, कितनी आँखें हमारी ओर एकटक ताकती रहती हैं। जरा भी संदेह हुआ, और चिर-वियोग की विपत्ति हमारे सिर पड़ी। इसीलिए हमें बहुत ही सावधान रहना चाहिये। तुमसे एक याचना करती हूँ, क्षमा करना। मैं तुम्हें अंग्रेजी पोशाक में देखने को बहुत उत्कंठित हो रही हूँ। यों तो तुम चाहे जो वस्त्र धारण करो, मेरी आँखों के तारे हो—विशेषकर तुम्हारा सादा कुरता मुझे बहुत ही सुन्दर मालूम होता है—फिर भी, बाल्यावस्था से जिन वस्त्रों को देखते चली आती हूँ, उन पर विशेष अनुराग होना स्वाभाविक है। मुझे आशा है, तुम निराश न करोगे। मैंने तुम्हारे लिए एक वास्कट बनायी है ! उसे मेरे प्रेम का तुच्छ उपहार समझ कर स्वीकार करो।

तुम्हारी
लूसी।'

पत्र के साथ एक छोटा-सा पैकेट था। वास्कट उसी में बंद था। यारों ने आपस में चंदा करके बड़ी उदारता से उसका मूलधन एकत्र किया था। उस पर सेट-परसेंट से भी अधिक लाभ होने की सम्भावना थी। पंडित चक्रधर उक्त उपहार और पत्र पा कर इतने प्रसन्न हुए, जिसका ठिकाना नहीं, उसे ले कर सारे छात्रावास में चक्कर लगा आये। मित्र-वृन्द देखते थे, उसकी काट-छाँट की सराहना करते थे; तारीफों के पुल बाँधते थे; उसके मूल्य का अतिशयोक्तिपूर्ण अनुमान करते थे। कोई कहता था—यह सीधे पेरिस से मिल कर आया है; इस मुल्क में ऐसे कारीगर ? कहाँ कौन, अगर कोई इस टक्कर का वास्कट सिलवा दे, तो सौ रुपये की बाज़ी बदता हूँ ? पर वास्तव में उसके कपड़े का रंग इतना गहरा था कि कोई सुरुचि रखने वाला मनुष्य उसे पहनना पसंद न करता। चक्रधर को लोगों ने पूर्व मुख करके खड़ा किया, और फिर शुभ मुहूर्त में वह वास्कट उन्हें पहनाया। आप फूले न समाते थे। कोई इधर से आ कर कहता—भाई, तुम तो बिलकुल पहचाने नहीं जाते। चोला ही बदल दिया। अपने वक्त के यूसुफ हो। यार, क्यों न हो, तभी तो यह ठाट है। मुखड़ा कैसा दमकने लगा, मानों तपाया हुआ कुंदन है। अजी, एक वास्कट पर यह जीवन है, कहीं पूरा अंग्रेजी सूट पहन लो तो न जाने क्या ग़ज़ब हो जाय ? सारी मिसें लोट-पोट हो जायँ। गला छुड़ाना मुश्किल हो जाय।

आखिर सलाह हुई कि उनके लिए एक अँग्रेजी सूट बनवाना चाहिए ? इस कला के विशेषज्ञ उनके साथ गुट बाँध कर सूट बनवाने चले। पंडितजी घर के सम्पन्न थे। एक अँग्रेजी दूकान से बहुमूल्य सूट लिया गया। रात को इसी उत्सव में गाना-बजाना भी हुआ। दूसरे दिन, दस बजे, लोगों ने पंडितजी को सूट पहनाया। आप अपनी उदासीनता दिखाने के लिए बोले—मुझे तो बिलकुल अच्छा नहीं लगता। आप लोगों को न जाने क्यों ये कपड़े अच्छे लगते हैं ?

नईम—ज़रा आइने में सूरत देखिये, तो मालूम हो। खासे शाहजादे मालूम पड़ते हो। तुम्हारे हुश्न पर मुझे तो रस्क है। खुदा ने तो आपको ऐसी सूरत दी, और उसे आप मोटे कपड़ों में छिपाये हुए थे।

चक्रधर को नेकटाई बाँधने का ज्ञान न था। बोले—भाई, इसे तो ठीक कर दो।

गिरिधरसहाय ने नेकटाई इतनी कस कर बाँधी कि पंडितजी को साँस लेना भी मुश्किल हो गया। बोले—यार बहुत तंग है।

गिरिधर—इसका फैशन ही यह है; हम क्या करें। ढीली टाई ऐब में दाखिल है।

नईम—इन्होंने तो फिर भी बहुत ढीली रखी है। मैं तो और भी कसकर बाँधता हूँ।

चक्रधर—अजी, यहाँ तो दम घुट रहा है !

नईम—और टाई का मंशा ही क्या है ? इसीलिए तो बाँधी जाती है कि आदमी बहुत जोर-जोर से साँस न ले सके।

चक्रधर के प्राण संकट में थे। आँखें सजल हो रही थीं, चेहरा भी सुर्ख हो गया था। मगर टाई को ढीला करने की हिम्मत न पड़ती थी। इस सजधज से आप कालेज चले, तो मित्रों का एक गोल सम्मान का भाव दिखाता आपके पीछे-पीछे चला, मानों बरातियों का समूह है। एक-दूसरे की तरफ ताकता; और रूमाल मुँह में दे कर हँसता था। मगर पंडितजी को क्या खबर ? वह तो अपनी धुन में मस्त थे। अकड़-अकड़ कर चलते हुए आ कर क्लास में बैठ गये। थोड़ी देर बाद लूसी भी आयी। पंडित का यह वेष देखा, तो चकित हो गयी। उसके अधरों पर मुस्कान की एक अपूर्व रेखा अंकित हो गयी ! पंडितजी ने समझा, यह उसके उल्लास का चिह्न है। बार-बार मुस्करा कर उसकी ओर ताकने और रहस्यपूर्ण भाव से देखने लगे, किन्तु वह लेशमात्र भी ध्यान न देती थी।

पंडितजी की जीवनचर्या, धर्मोत्साह और जातीय प्रेम में बड़े वेग से परिवर्तन होने लगे। सबसे पहले शिखा पर छुरा फिरा। अंग्रेजी फैशन के बाल कटवाये गये। लोगों ने कहा—यह क्या महाशय ? आप तो फरमाते थे कि शिखा द्वारा विद्युतप्रवाह शरीर में प्रवेश करता है। अब वह किस मार्ग से जायगा ?

पंडितजी ने दार्शनिक भाव से मुस्करा कर कहा—मैं तुम लोगों को उल्लू बनाता था। क्या मैं इतना भी नहीं जानता कि यह सब पाखंड है ? मुझे अंतःकरण से इस पर विश्वास ही कब था; आप लोगों को चकमा देना चाहता था।

नईम—वल्लाह, आप एक ही झाँसेबाज निकले। हम लोग आपको बछिया के ताऊ ही समझते थे मगर आप तो आठों गाँठ कुम्मैत निकले।

चक्रधर—देखता कि लोग कहते क्या हैं !

शिखा के साथ-साथ संध्या और हवन की भी इतिश्री हो गयी। हवन-कुंड कमरे में चारपाई के नीचे फेंक दिया गया। कुछ दिनों के बाद सिगरेट के जले हुए टुकड़े रखने का काम देने लगा। जिस आसन पर बैठ कर हवन किया करते थे, वह पायदान बना। अब प्रतिदिन साबुन रगड़ते, बालों में कंघी करते और सिगार पीते। यार उन्हें चंग पर चढ़ाये रहते थे। यह प्रस्ताव हुआ कि इस चंडूल से वास्कट के रुपये वसूल करने चाहिए मय सूद के। फिर क्या था, लूसी का एक पत्र आ गया—आपके रूपांतर से मुझे जितना आनन्द हुआ उसे शब्दों में नहीं प्रकट कर सकती ! आपसे मुझे ऐसी ही आशा थी। अब आप इस योग्य हो गये हैं कि कोई यूरोपियन लेडी आपके सहवास में अपना अपमान नहीं समझ सकती। अब आपसे प्रार्थना केवल यही है कि मुझे अपने अनंत और अविरल प्रेम का कोई चिह्न प्रदान कीजिए, जिसे मैं सदैव अपने पास रखूँ। मैं कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं, केवल प्रेमोपहार चाहती हूँ।

चक्रधर ने मित्रों से पूछा—अपनी पत्नी के लिए कुछ सौगात भेजना चाहता हूँ। क्या भेजना उचित होगा ?

नईम—जनाब, यह तो उसकी तालीम और मजाक पर मुनहसर है। अगर वह नये फैशन की लेडी है, कोई बेशकीमत, सुबुक वजहदार चीज या ऐसी ही कई चीजें भेजिए। मसलन रूमाल, रिस्टवाच, लवेंडर की शीशी, फैंसी कंघी, आइना, लाकेट, ब्रूस वगैरह। और खुदा न खास्ता अगर गँवारिन है, तो किसी दूसरे आदमी से पूछिए। मुझे गँवारियों के मजाक का इल्म नहीं।

चक्रधर—जनाब, अंग्रेजी पढ़ी हुई हैं। बड़े ऊँचे खानदान की हैं।

नईम—तो फिर मेरी सलाह पर अमल कीजिए।

संध्या समय मित्रगण चक्रधर के साथ बाजार गये और ढेर की ढेर चीजें बटोर लाये। सब की सब ऊँचे दरजे की। कोई पच्चत्तर रु. खर्च हुए। मगर पंडितजी ने उफ् तक न की। हँसते हुए रुपये निकाले। लौटते वक्त नईम ने कहा—अफसोस, हमें ऐसी खुशमजाक बीबी न मिली !

गिरिधर—जहर खा लो, जहर !

नईम—भई दोस्ती के माने तो यही हैं कि एक बार हमें भी उनकी जियारत हो। क्यो पंडितजी, आप इसमें कोई हरज समझते हैं ?

चक्रधर—माता-पिता न होते, तो कोई हरज न था। अभी तो मैं उन्हीं का मुहताज हूँ। इतनी स्वतन्त्रता

नईम—खैर, खुदा उन्हें जल्द दुनिया से नजात दे।

रातोंरात पैकेट बना और प्रातःकाल पंडितजी उसे ले जा कर लाइब्रेरी में रख आये। लाइब्रेरी सवेरे ही खुल जाती थी। कोई अड़चन न हुई। उन्होंने इधर मुँह फेरा। उधर यारों ने माल उड़ाया और चम्पत हुए। नईम के कमरे में चंदे के हिसाब से हिस्सा-बाँट हुआ। किसी ने घड़ी पायी, किसी ने रूमाल, किसी ने कुछ। एक रुपये के बदले पाँच-पाँच रुपये हाथ लगे।

3

प्रेमीजन का धैर्य अपार होता है। निराशा पर निराशा होती है, पर धैर्य हाथ से नहीं छूटता। पंडितजी बेचारे विपुल धन व्यय करने के पश्चात् भी प्रेमिका से सम्भाषण का सौभाग्य न प्राप्त कर सके। प्रेमिका भी विचित्र थी, जो पत्रों में मिसरी की डली घोल देती, मगर प्रत्यक्ष दृष्टिपात भी न करती थी। बेचारे बहुत चाहते थे कि स्वयं ही अग्रसर हों, पर हिम्मत न पड़ती थी। विकट समस्या थी। किंतु इससे भी वह निराश न थे। हवन-संध्या तो छोड़ ही बैठे थे। नये फैशन के बाल कट ही चुके थे। अब बहुधा अंग्रेजी ही बोलते, यद्यपि वह अशुद्ध और भ्रष्ट होती थी। रात को अंग्रेजी मुहावरों की किताब ले कर पाठ की भाँति रटते। नीचे के दरजों में बेचारे ने इतने श्रम से कभी पाठ न याद किया था। उन्हीं रटे हुए मुहावरों को मौके-बे-मौके काम में लाते। दो-चार बार लूसी के सामने भी अँग्रेजी बघारने लगे, जिससे उनकी योग्यता का परदा और भी खुल गया।

किंतु दुष्टों को अब भी उन पर दया न आयी। एक दिन चक्रधर के पास लूसी का

पत्र पहुँचा, जिसमें बहुत अनुनय-विनय के बाद यह इच्छा प्रकट की गयी थी कि—मैं आपको अंग्रेजी खेल खेलते देखना चाहती हूँ। मैंने आपको कभी फुटबाल या हाकी खेलते नहीं देखा। अंग्रेज जेंटिलमैन के लिए हॉकी, क्रिकेट आदि में सिद्धहस्त होना परमावश्यक है ! मुझे आशा है, आप मेरी यह तुच्छ याचना स्वीकार करेंगे। अंग्रेजी वेष-भूषा में, बोलचाल में, आचार-व्यवहार में, कालेज में अब आपका कोई प्रतियोगी नहीं रहा। मैं चाहती हूँ कि खेल के मैदान में भी आपकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो जाय। कदाचित् कभी आपको मेरे साथ लेडियों के सम्मुख खेलना पड़े, तो उस समय आपकी और आपसे ज्यादा मेरी हेठी होगी। इसलिए टेनिस अवश्य खेलिये।

दस बजे पंडितजी को वह पत्र मिला। दोपहर को ज्यों ही विश्राम की घंटी बजी कि आपने नईम से जा कर कहा—यार, जरा फुटबाल निकाल दो।

नईम फुटबाल के कप्तान भी थे। मुस्करा कर बोले—खैर तो है, इस दोपहर में फुटबाल ले कर क्या कीजिएगा ? आप तो कभी मैदान की तरफ झाँकते भी नहीं। आज इस जलती-बलती धूप में फुटबाल खेलने की धुन क्यों सवार है ?

चक्रधर—आपको इससे क्या मतलब। आप गेंद निकाल दीजिए। मैं गेंद में भी आप लोगों को नीचा दिखाऊँगा।

नईम—जनाब, कहीं चोट-चपेट आ जायगी, मुफ्त में परेशान होइएगा। हमारे ही सिर मरहम-पट्टी का बोझ पड़ेगा। खुदा के लिए इस वक्त रहने दीजिए।

चक्रधर—आखिर चोट तो मुझे लगेगी आपका इससे क्या नुकसान होता है ? आपको जरा-सा गेंद निकाल देने में इतनी आपत्ति क्यों है ?

नईम ने गेंद निकाल दिया और पंडितजी उसी जलती हुई दोपहरी में अभ्यास करने लगे। बार-बार गिरते थे, बार-बार तालियाँ पड़ती थीं, मगर वह अपनी धुन में ऐसे मस्त थे कि उसकी कुछ परवा ही न करते थे। इसी बीच में आपने लूसी को आते देख लिया और भी फूल गये। बार-बार पैर चलाते थे, मगर निशाना खाली जाता था; पैर पड़ते भी थे तो गेंद पर कुछ असर न होता था। और लोग आ कर गेंद को एक ठोकर में आसमान तक पहुँचा देते, तो आप कहते है, मैं जोर से मारूँ, तो इससे भी ऊपर जाय, लेकिन फायदा क्या ? लूसी दो-तीन मिनट तक खड़ी उनकी बौखलाहट पर हँसती रही। आखिर नईम से बोली—वेल नईम, इस पंडित को क्या हो गया है ? रोज एक न एक स्वाँग भरा करता है। इसके दिमाग में खलल तो नहीं पड़ गया ?

नईम—मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है।

शाम को सब लोग छात्रावास में आये, तो मित्रों ने जा कर पंडित जी को बधाई दी। यार, हो बड़े खुशनसीब, हम लोग फुटबाल को कालेज की चोटी तक पहुँचाते रहे, मगर किसी ने तारीफ न की। तुम्हारे खेल की सबने तारीफ की, खासकर लूसी ने। वह तो कहती थी, जिस ढंग से यह खेलते हैं, उस ढंग से मैंने बहुत कम हिंदुस्तानियों को खेलते देखा है। मालूम होता है, आक्सफोर्ड का अभ्यस्त खिलाड़ी है।

चक्रधर—और भी कुछ बोली ? क्या कहा, सच बताओ ?

नईम—अजी, अब साफ-साफ न कहलवाइए। मालूम होता है, आपने टट्टी की आड़ से शिकार खेला है। बड़े उस्ताद हो यार ! हम लोग मुँह ताकते रहे और तुम मैदान मार ले

गये। जभी आप रोज यह कलेवर बदला करते थे ? अब भेद खुला। वाकई खुशनसीब हो।

चक्रधर—मैं उसी कायदे से गेंद में ठोकर मारता था, जैसे किताब में लिखा है।

नईम—तभी तो बाजी मार ले गये भाई ! और नहीं क्या हम आपसे किसी बात में कम हैं। हाँ, तुम्हारी-जैसी सूरत कहाँ से लावें।

चक्रधर—बहुत बनाओ नहीं। मैं ऐसा कहाँ का बड़ा रूपवान हूँ।

नईम—अजी यह तो नतीजे ही से जाहिर है। यहाँ साबुन और तेल लगाते-लगाते भौंरा हुआ जाता हूँ और कुछ असर नहीं होता। मगर आपका रंग बिना हरे-फिटकिरी के ही चोखा है।

चक्रधर—कुछ मेरे कपड़े वगैरह की निस्बत तो नहीं कहती थी ?

नईम—नहीं और तो कुछ नहीं कहा। हाँ, इतना देखा कि जब तक खड़ी रही, आपकी ही तरफ उसकी टकटकी लगी हुई थी।

पंडित जी अकड़े जाते थे। हृदय फूला जाता था। जिन्होंने उनकी वह अनुपम छवि देखी, वे बहुत दिनों तक याद रखेंगे। मगर इस अतुल आनन्द का मूल्य उन्हें बहुत देना पड़ा, क्योंकि अब कालेज का सेशन समाप्त होनेवाला था और मित्रों की पंडित जी के माथे एक बार दावत खाने की बड़ी अभिलाषा थी। प्रस्ताव होने की देर थी। तीसरे दिन उनके नाम लूसी का पत्र पहुँचा—वियोग के दुर्दिन आ रहे हैं; न-जाने आप कहाँ होंगे और मैं कहाँ हूंगी। मैं चाहती हूँ, इस अटल प्रेम की यादगार में एक दावत हो। अगर उसका व्यय आपके लिए असह्य हो, तो मैं सम्पूर्ण भार लेने को तैयार हूँ। इस दावत में मैं और मेरी सखियाँ-सहेलियाँ निमन्त्रित होंगी, कालेज के छात्र और अध्यापकगण सम्मिलित होंगे। भोजन के उपरांत हम अपने वियुक्त हृदय के भावों को प्रकट करेंगे। काश, आपका धर्म, आपकी जीवन-प्रणाली और मेरे माता-पिता की निर्दयता बाधक न होती, तो हमें संसार की कोई शक्ति जुदा नहीं कर सकती।

चक्रधर यह पत्र पाते ही बौखला उठे। मित्रों से कहा—भाई, चलते-चलते एक बार सहभोज तो हो जाय। फिर न जाने कौन कहाँ होगा। मिस लूसी को भी बुलाया जाय।

यद्यपि पंडित जी के पास इस समय रुपये न थे, घरवाले उनकी फिजूलखर्ची की कई बार शिकायत कर चुके थे, मगर पंडित जी का आत्माभिमान यह कब मानता कि प्रीतिभोज का भार लूसी पर रखा जाय। वह तो अपने प्राण तक उस पर वार चुके थे। न-जाने क्या-क्या बहाने बना कर ससुराल से रुपये मँगवाये और बड़े समारोह से दावत की तैयारियाँ होने लगीं। कार्ड छपवाये गये, भोजन परोसनेवाले के लिए नयी वरदियाँ बनवायी गयीं। अँग्रेजी और हिंदुस्तानी, दोनों ही प्रकार के व्यंजनों की व्यवस्था की गयी। अंग्रेजी खाने के लिए रायल होटल से बातचीत की गयी। इसमें बहुत सुविधा थी। यद्यपि चीज़ें बहुत महँगी थीं, लेकिन झंझट से नजात हो गयी। अन्यथा सारा भार नईम और उसके दोस्त गिरिधर पर पड़ता। हिंदुस्तानी भोजन के व्यवस्थापक गिरिधर हुए।

पूरे दो सप्ताह तक तैयारियाँ हुई थीं। नईम और गिरिधर तो कालेज में केवल मनोरंजन के लिए थे। पढ़ना-लिखना तो उनको था नहीं, आमोद-प्रमोद ही में समय व्यतीत किया करते थे; कवि-सम्मेलन की भी ठहरी। कविजनों के नाम बुलावे भेजे गये। सारांश यह कि बड़े पैमाने पर प्रीतिभोज का प्रबंध किया गया और भोज हुआ भी विराट्। विद्यालय

के नौकरों ने पूरियाँ बेचीं। विद्यालय के इतिहास में वह भोज चिरस्मरणीय रहेगा। मित्रों ने खूब बढ़-बढ़ कर हाथ मारे, दो-तीन मिसें भी खींच बुलायी गयीं। मिरजा नईम लूसी को घेर-घार कर ले ही आये। इसने भोजन को और भी रसमय बना दिया।

4

किंतु शोक, महाशोक, इस भोज का परिणाम अभागे चक्रधर के लिए कल्याणकारी न हुआ। चलते-चलते लज्जित और अपमानित होना बदा था। मित्रों की तो दिल्लगी थी और उस बेचारे की जान पर बन रही थी। सोचे, अब तो बिदा होते ही हैं, फिर मुलाकात हो या न हो। अब किस दिन के लिए सब्र करें ? मन के प्रेमोद्गार को निकाल क्यों न लें। कलेजा चीर कर दिखा क्यों न दें। और लोग तो दावत खाने में जुटे हुए थे; और वह मदन-वाण-पीड़ित युवक बैठा सोच रहा था कि यह अभिलाषा क्योंकर पूरी हो ? अब यह आत्मदमन क्यों ? लज्जा क्यों ? विरक्ति क्यों ? गुप्त रोदन क्यों ? मौन-मुखापेक्षा क्यों ? अंतर्वेदना क्यों ? बैठे-बैठे प्रेम को क्रियाशील बनाने के लिए मन में बल का संचार करते रहे, कभी देवताओं का स्मरण करते, कभी ईश्वर को अपनी भक्ति की याद दिलाते। अवसर की ताक में इस भाँति बैठे थे, जैसे बगुला मेंढ़क की ताक में बैठता है। भोज समाप्त हो गया। पान-इलाइची बँट चुकी, वियोगवार्ता हो चुकी। मिस लूसी अपनी श्रवणमुधर वाणी से हृदयों में हाहाकार मचा चुकी, और भोजशाला से निकल कर बाईसिकिल पर बैठी। उधर कवि-सम्मेलन में इस तरह मिसरा पढ़ा गया—

कोई दीवाना बनाये, कोई दीवाना बने।

इधर चक्रधर चुपके से लूसी के पीछे हो लिए और साइकिल को भयंकर वेग से दौड़ाते हुए उसे आधे रास्ते में जा पकड़ा। वह इन्हें इस व्यग्रता से दौड़े आते देख कर सहम उठी कि कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी। बोली—वेल पंडितजी ! क्या बात है ? आप इतने बदहवास क्यों हैं ? कुशल तो है ?

चक्रधर का गला भर आया। कम्पित स्वर से बोले—अब आपसे सदैव के लिए बिछुड़ ही जाऊँगा। यह कठिन विरह-पीड़ा कैसे सही जायगी ! मुझे तो शंका है, कहीं पागल न हो जाऊँ !

लूसी ने विस्मित हो कर पूछा—आपकी मंशा क्या है ? आप बीमार हैं क्या ?

चक्रधर—आह डियर डार्लिंग, तुम पूछती हो, मैं बीमार हूँ ? मैं मर रहा हूँ, प्राण निकल चुके हैं केवल प्रेमाभिलाषा का अवलम्बन है !

यह कह कर आपने उसका हाथ पकड़ना चाहा। वह उनका उन्माद देख कर भयभीत हो गयी। क्रोध में आ कर बोली—आप मुझे यहाँ रोक कर मेरा अपमान कर रहे हैं। इसके लिए आपको पछतान। पड़ेगा।

चक्रधर—लूसी, देखो चलते-चलते इतनी निष्ठुरता न करो। मैंने ये विरह के दिन किस तरह काटे हैं, सो मेरा दिल ही जानता हैं। मैं ही ऐसा वेहया हूँ कि अब तक जीता हूँ। दूसरा होता तो अब तक चल बसा होता। बस, केवल तुम्हारी सुधामयी पत्रिकाएँ ही मेरे जीवन का एकमात्र अधार थीं।

लूसी—मेरी पत्रिकाएँ ! कैसी ? मैंने आपको कब पत्र लिखे ! आप कोई नशा तो

नहीं खा आये हैं ?

चक्रधर—डियर डार्लिंग, इतनी जल्द न भूल जाओ, इतनी निर्दयता न दिखाओ। तुम्हारे वे प्रेम-पत्र, जो तुमने मुझे लिखे हैं, मेरे जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति रहेंगे। तुम्हारे अनुरोध से मैंने यह वेष धारण किया, अपना संध्या-हवन छोड़ा, यह अचार-व्यवहार ग्रहण किया। देखो तो जरा, मेरे हृदय पर हाथ रख कर, कैसी धड़कन हो रही है। मालूम होता है, बाहर निकल पड़ेगा। तुम्हारा यह कुटिल हास्य मेरे प्राण ही ले कर छोड़ेगा। मेरी अभिलाषाओं...

लूसी—तुम भंग तो नहीं खा गये हो या किसी ने तुम्हें चकमा तो नहीं दिया है? मैं तुमको प्रेम-पत्र लिखती। हः हः। जरा अपनी सूरत तो देखो, खासे बनैले सुअर मालूम होते हो।

किंतु पंडितजी अभी तक यही समझ रहे थे कि यह मुझसे विनोद कर रही है। उसका हाथ पकड़ने की चेष्टा करके बोले—प्रिये, बहुत दिनों के बाद यह सुअवसर मिला है। अब न भागने पाओगी।

लूसी को अब क्रोध आ गया। उसने जोर से एक चाँटा उनके लगाया, और सिंहिनी की भाँति गरज कर बोली : यू ब्लडी, हट जा रास्ते से, नहीं तो, अभी पुलिस को बुलाती हूँ। रास्केल !

पंडितजी चाँटा खा कर चौंधिया गये। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मानसिक आघात पर यह शारीरिक वज्रपात ! यह दुहरी विपत्ति ! वह तो चाँटा मार कर हवा हो गयी और यह वहीं जमीन पर बैठ कर इस सम्पूर्ण वृत्तांत की मन-ही-मन आलोचना करने लगे। चाँटे ने बाहर की आँखें आँसुओं से भर दी थीं, पर अंदर की आँखें खोल दी थीं। कहीं कालेज के लौंडों ने तो यह शरारत नहीं की ? अवश्य यही बात है। आह! पाजियों ने बड़ा चकमा दिया ! तभी सब-के-सब मुझे देख-देख कर हँसा करते थे ! मैं भी कुछ कमअकल हूँ, नहीं तो इनके हाथों टेसू क्यों बनता ! बड़ा झाँसा दिया। उम्र-भर याद रहेगा। वहाँ से झल्लाये हुए आये और नईम से बोले—तुम बड़े दग़ाबाज हो, परले सिरे के धूर्त, पाजी, उल्लू, गधे, शैतान !

नईम—आखिर कोई बात भी कहिए, या गालियाँ ही देते जाइएगा ?

गिरिधर—क्या बात हुई, कहीं लूसी से आपने कुछ कहा तो नहीं ?

चक्रधर—उसी के पास से आ रहा हूँ चाँटा खा कर और मुँह में कालिख लगवा कर! तुम दोनों ने मिल कर मुझे खूब उल्लू बनाया। इसकी कसर न लूँ, तो मेरा नाम नहीं। मैं नहीं जानता था कि तुम लोग मित्र बन कर मेरी गरदन पर छुरी चला रहे हो ! अच्छा जो वह गुस्से में आ कर पिस्तौल चला देती तो।

नईम—अरे यार माशूकों की घातें निराली होती हैं !

चक्रधर—तुम्हारा सिर ! माशूक चाँटे लगाया करते हैं। व आँखों से तीर चलाते हैं, कटार मारते हैं, या हाथों से मुष्टि-प्रहार करते हैं ?

गिरिधर—उससे आपने क्या कहा ?

चक्रधर—कहा क्या अपनी बिरह व्यथा की गाथा सुनाता रहा। इस पर उसने ऐसा चाँटा रसीद किया कि कान भन्ना उठे। हाथ हैं उसके कि पत्थर !

गिरिधर—गजब ही हो गया। आप हैं निरे चोंच ! भले आदमी इतनी मोटी बुद्धि है तुम्हारी ! हम क्या जानते थे कि आप ऐसे छिछोरे हैं, नहीं तो मजाक ही क्यों करते। अब आपके साथ हम लोगों पर भी आफ़त आयी। कहीं उसने प्रिंसिपल से शिकायत कर दी, तो न इधर के हुए न उधर के। और जो कहीं अपने किसी अँग्रेज आशना से कहा, तो जान के लाले पड़ जायेंगे। बड़े बेवकूफ हो यार, निरे चोंच हो। इतना भी नहीं समझे कि वह सब दिल्लगी थी। ऐसे बड़े खूबसूरत भी तो नहीं हो।

चक्रधर—दिल्लगी तुम्हारे लिए थी, मेरी तो मौत हो गयी। चिड़िया जान से गयी, लड़कों का खेल हुआ। अब चुपके से मेरे पाँच सौ रुपये लौटा दीजिए, नहीं तो गरदन ही तोड़ दूँगा !

नईम—रुपयों के बदले खिदमत चाहे ले लो। कहो तुम्हारी हजामत बना दें, जूते साफ कर दें, सिर सहला दें। बस, खाना देते जाना। कसम ले लो, जो जिंदगी-भर कहीं जाऊँ, या तरक्की के लिए कहूँ। माँ-बाप के सिर से तो बोझ टल जायगा।

चक्रधर—मत जले पर नमक छिड़को जी ! आपके आप गये, मुझे ले डूबे। तुम्हारी तो अँग्रेजी अच्छी है, लोट-पोट कर निकल जाओगे। मैं तो पास भी न हूँगा। बदनाम हुआ, वह अलग पाँच सौ की चपत भी पड़ी। यह दिल्लगी है कि गला काटना? खैर समझूँगा और चाहे मैं न समझूँ, पर ईश्वर जरूर समझेंगे।

नईम—गलती हुई भाई, मुझे अब खुद इसका अफसोस है।

गिरिधर—खैर, रोने-धोने का अभी बहुत मौका है। अब यह बतलाइए कि लूसी ने प्रिंसिपल से कह दिया तो क्या नतीजा होगा। तीनों आदमी निकाल दिये जायेंगे। नौकरी से भी हाथ धोना पड़ेगा ! फिर ?

चक्रधर—मैं तो प्रिंसिपल से तुम लोगों की सारी कलई खोल दूँगा।

नईम—क्यों यार, दोस्त के यही माने हैं ?

चक्रधर—जी हाँ, आप जैसे दोस्तों की यही सजा है।

उधर तो रात-भर मुशायरे का बाज़ार गरम रहा और इधर यह त्रिमूर्ति बैठी प्राण-रक्षा के उपाय सोच रही थी। प्रिंसिपल के कानों तक बात पहुँची और आफत आयी। अँग्रेजवाली बात है, न जाने क्या कर बैठे। आखिर बहुत वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि नईम और गिरिधर प्रातःकाल मिस लूसी के बँगले पर जायँ, उससे क्षमा-याचना करें। और इस अपमान के लिए वह जो प्रायश्चित कहे, उसे स्वीकार करें।

चक्रधर—मैं एक कौड़ी न दूँगा।

नईम—न देना भाई ! हमारी जान तो है न।

गिरिधर—जान ले कर वह चाटेगी। पहले रुपये की फिक्र कर लो ! वह बिना तावान लिये न मानेगी।

नईम—भाई, चक्रधर, खुदा के लिए इस वक्त दिल न छोटा करो, नहीं तो हम तीनों की मिट्टी खराब होगी। जो कुछ हुआ उसे मुआफ करो, अब फिर ऐसी खता न होगी।

चक्रधर—ऊँह, यही न होगा निकाल दिया जाऊँगा। दूकान खोल लूँगा। तुम्हारी मिट्टी खराब होगी। इस शरारत का मजा चखोगे। ओह कैसा चकमा दिया है।

बहुत खुशामद और चिरौरी के बाद देवता सीधे हुए। प्रातःकाल नईम लूसी के बँगले

पर पहुँचे। वहाँ मालूम हुआ कि वह प्रिंसिपल के बँगले पर गयी है। अब काटो, तो बदन में लहू नहीं। या अली, तुम्हीं मुश्किल को आसान करनेवाले हो, अब जान की खैर नहीं। प्रिंसिपल ने सुना, तो कच्चा ही खा जायगा, नमक तक न माँगेगा। इस कम्बख्त पंडित की बदौलत अजाब में जान फँसी। इस बेहूदे को सूझी क्या ? चला नाजनीन से इश्क जताने! बनबिलाव की-सी तो आपकी सूरत है। और खब्त यह कि यह माहरू मुझ पर रीझ गयी। हमें भी अपने साथ डूबोये देता है। कहीं लूसी से रास्ते में मुलाकात हो गयी, तो शायद आरजू-मिन्नत करने से मान जाय; लेकिन जो वहाँ पहुँच चुकी है तो फिर कोई उम्मीद नहीं। वह फिर पैरगाड़ी पर बैठे और बेतहाशा प्रिंसिपल के बँगले की तरफ भागे। ऐसे तेज जा रहे थे, मानो पीछे मौत आ रही है। जरा-सी ठोकर लगती, तो हड्डी-पसली चूर-चूर हो जाती। पर शोक ! कहीं लूसी का पता नहीं। आधा रास्ता निकल गया और लूसी की गर्द तक न नजर आयी। नैराश्य ने गति को मंद कर दिया। फिर हिम्मत करके चले। बँगले के द्वार पर भी मिल गयी, तो जान बच जायगी। सहसा लूसी दिखायी दी। नईम ने पैरों को और भी तेज चलाना शुरू किया। वह प्रिंसिपल के बँगले के दरवाजे पर पहुँच चुकी थी। एक सेकेंड में वारा-न्यारा होता था, नाव डूबती थी या पार जाती थी। हृदय उछल-उछल कर कंठ तक आ रहा था। जोर से पुकारा—मिस टरनर, हेलो मिस टरनर, जरा ठहर जाओ।

लूसी ने पीछे फिर कर देखा, नईम को पहचान कर ठहर गयी और बोली—मुझसे उस पंडित की सिफारिश करने तो नहीं आये हो ! मैं प्रिंसिपल से उसकी शिकायत करने जा रही हूँ।

नईम—तो पहले मुझे और गिरिधर—दोनों को गोली मार दो, फिर जाना।

लूसी—बेहया लोगों पर गोली का असर नहीं होता। उसने मुझे बहुत इंसल्ट किया है।

नईम—लूसी, तुम्हारे कुसूरवार हमी दोनों हैं। वह बेचारा पंडित तो हमारे हाथ का खिलौना था। सारी शरारत हम लोगों की थी। कसम तुम्हारे सिर की !

लूसी—You naughty boy !

नईम—हम दोनों उसे दिल-बहलाव का एक स्वाँग बनाये हुए थे। इसकी हमें जरा भी खबर न थी कि वह तुम्हें छेड़ने लगेगा। हम तो समझते थे कि उसमें इतनी हिम्मत ही नहीं है। खुदा के लिए मुआफ़ करो, वरना हम तीनों का खून तुम्हारी गरदन पर होगा।

लूसी—खैर, तुम कहते हो तो प्रिंसिपल से न कहूँगी, लेकिन शर्त यह है कि पंडित मेरे सामने बीस मरतबा कान पकड़ कर उठे-बैठे और मुझे कम से कम दो सौ रुपये तावान दे।

नईम—लूसी इतनी बेरहमी न करो। यह समझो, उस गरीब के दिल पर क्या गुजर रही होगी। काश, अगर तुम इतनी हसीन न होतीं।

लूसी मुस्करा कर बोली—खुशामद करना कोई तुमसे सीख ले।

नईम—तो अब वापस चलो।

लूसी—मेरी दोनों शर्तें मंजूर करते हो न ?

नईम—तुम्हारी दूसरी शर्त तो हम सब मिल कर पूरी कर देंगे, लेकिन पहली शर्त सख्त है, बेचारा जहर खा कर मर जायगा। हाँ, उसके एवज में मैं पचास दफा कान पकड़

कर उठ-बैठ सकता हूँ।

लूसी–तुम छँटे हुए शोहदे हो। तुम्हें शर्म कहाँ ! मैं उसी को सजा देना चाहती हूँ। बदमाश, मेरा हाथ पकड़ना चाहता था।

नईम–ज़रा भी रहम न करोगी !

लूसी–नहीं, सौ बार नहीं।

नईम लूसी को साथ लाये। पंडित के सामने दोनों शर्तें रखी गयीं, तो बेचारा बिलबिला उठा। लूसी के पैरों पर गिर पड़ा और सिसक-सिसक कर रोने लगा। नईम और गिरिधर भी अपने कुकृत्य पर लज्जित हुए। अन्त में लूसी को दया आयी। बोली–अच्छा, इन दोनों में से कोई एक शर्त मंजूर कर लो मैं मुआफ़ कर दूँगी।

लोगों को पूरा विश्वास था कि चक्रधर रुपयेवाली ही शर्त स्वीकार करेंगे। लूसी के सामने वह कभी कान पकड़ कर उठा-बैठी न करेंगे। इसलिए जब चक्रधर ने कहा, मैं रुपये तो न दूँगा। हाँ, बीस की जगह चालीस बार उठा-बैठी कर लूँगा, तो सब लोग चकित हो गये। नईम ने कहा–यार, क्यों हम लोगों को जलील करते हो ? रुपये क्यों नहीं देते ?

चक्रधर–रुपये बहुत खर्च कर चुका। अब इस चुड़ैल के लिए कानी कौड़ी तो खर्च करूँगा नहीं, दो सौ बहुत होते हैं। इसने समझा होगा, चल कर मजे से दो सौ रुपये मार लाऊँगी और गुलछर्रे उड़ाऊँगी। यह न होगा। अब तक रुपये खर्च करके अपनी हँसी करायी है, अब बिना खर्च किये हँसी कराऊँगा। मेरे पैरों मे दर्द हो बला से, सब लोग हँसें बला से, पर इसकी मुट्ठी तो न गरम होगी।

यह कह कर चक्रधर ने कुरता उतार फेंका, धोती ऊपर चढ़ा ली और बरामदे से नीचे मैदान में उतर कर उठा-बैठी करने लगे। मुख-मंडल क्रोध से तमतमाया हुआ था, पर वह बैठकें लगाये जाते थे। मालूम होता था, कोई पहलवान अपना करतब दिखा रहा है। पंडित ने अगर बुद्धिमत्ता का कभी परिचय दिया तो इसी अवसर पर। सब लोग खड़े थे, पर किसी के होठों पर हँसी न थी ? सब लोग दिल में कटे जाते थे। यहाँ तक कि लूसी को भी सिर उठाने का साहस न होता था। सिर गड़ाये बैठी थी। शायद उसे खेद हो रहा था कि मैंने नाहक यह दंड-योजना की।

बीस बार उठते-बैठते कितनी देर लगती है। पण्डित ने खूब उच्च स्वर से गिन-गिन कर बीस की संख्या पूरी की और गर्व से सिर उठाये अपने कमरे में चले गये। लूसी ने उन्हें अपमानित करना चाहा था, उलटे उसी का अपमान हो गया।

इस दुर्घटना के पश्चात् एक सप्ताह तक कालेज खुला रहा।; किन्तु पण्डित जी को किसी ने हँसते नहीं देखा। वह विमन और विरक्त भाव से अपने कमरे में बैठे रहते थे। लूसी का नाम जबान पर आते झल्ला पड़ते थे।

इस साल की परीक्षा में पंडितजी फेल हो गये; पर इस कालेज में फिर न आये, शायद अलीगढ़ चले गये।

[हिन्दी कहानी। 'माधुरी' (मासिक पत्रिका), नवम्बर, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'मायए-तफ़रीह' शीर्षक से मासिक उर्दू पत्रिका 'जमाना', फरवरी, 1925 में प्रकाशित।]

सवा सेर गेहूँ

किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम-से-काम, न किसी के लेने में, न किसी के देने में। छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिन्ता न थी, ठगविद्या न जानता था, भोजन मिला, खा लिया, न मिला, चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला, तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा। किन्तु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था तो उसे इस निवृत्तिमार्ग का त्याग करना पड़ता था। विशेषकर जब साधु-महात्मा पदार्पण करते थे, तो उसे अनिवार्यतः सांसारिकता की शरण लेनी पड़ती था। खुद भूखा सो सकता था, पर साधु को कैसे भूखा सुलाता, भगवान् के भक्त जो ठहरे !

एक दिन संध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, सम्पूर्ण वेष उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योग-सिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता। प्राचीनकाल में जौ का चाहे जो कुछ महत्त्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिन्ता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ। आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव-भर में गेहूँ का आटा न मिला। गाँव में सब मनुष्य-ही-मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतएव देवताओं का खाद्य पदार्थ कैसे मिलता। सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ से थोड़े-से गेहूं मिल गये। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लम्बी तानकर सोये। प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे। शंकर ने दिल में कहा, सवा सेर गेहूँ इन्हें क्या लौटाऊँ, पंसेरी बदले कुछ ज्यादा खलिहानी दे दूँगा, यह भी समझ जायँगे, मैं भी समझ जाऊँगा। चैत में जब विप्रजी पहुँचे तो उन्हें डेढ़ पंसेरी के लगभग गेहूँ दे दिया और अपने को उऋण समझ कर उसकी कोई चरचा न की। विप्रजी ने फिर कभी न माँगा। सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूँ चुकाने के लिए मुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

2

सात साल गुजर गये। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया। उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर मजूर हो गये थे। शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाये, किन्तु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई-भाई शत्रु हो जायँगे, एक रोयेगा, दूसरा हँसेगा, एक के घर मातम होगा तो दूसरे के घर गुलगुले पकेंगे, प्रेम का बंधन, खून का बंधन, दूध का बंधन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ परिश्रम से कुल-मर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से सींचा था, उसको

जड़ से उखड़ता देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन-भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुँह लपेटकर सो रहता। इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को जला दिया, मांस और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों खाट से न उठा। अब गुजर-बसर कैसे हो ? पाँच बीघे के आधे रह गये, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती ! अन्त को यहाँ तक नौबत पहुँची कि खेती केवल मर्यादा-रक्षा का साधन-मात्र रह गयी, जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गये, एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा, तो राह में विप्रजी ने टोककर कहा—शंकर, कल आकर के अपने बीज-बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कबके बाकी पड़े हुए हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, हजम करने का मन है क्या ?

शंकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूँ लिए थे जो साढ़े पॉच मन हो गये? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी का छटाँक भर न अनाज है, न एक पैसा उधार।

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता।

यह कहकर विप्रजी ने उस सवा सेर गेहूँ का जिक्र किया, जो आज के सात वर्ष पहले शंकर को दिये थे। शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया ? जब पोथी-पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ-न-कुछ 'दक्षिणा' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल ही जायगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ-तौलकर दे देता, क्या इसी नीयत से चुप साधे बैठे रहे ? बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानों में सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप आज साढ़े पॉच मन माँगते हैं, मैं कहाँ से दूँगा ?

विप्र—लेखा जौ जौ, बखसीस सौ-सौ, तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है; जिससे चाहे हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूँ, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पाँडे, क्यों एक गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा ?

विप्र—जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटाँक-भर भी न छोड़ूँगा, यहाँ न दोगे, भगवान् के घर तो दोगे।

शंकर काँप उठा। हम पढ़े-लिखे आदमी होते तो कह देते, अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे; वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम-से-कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिन्ता किन्तु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस खयाल ही से उसे रोमांच हो गया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूँगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूँ, इस जनम में तो ठोकर खा ही रहा हूँ, उस जनम के लिए क्यों काँटे बोऊँ ? मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण हो के तुम्हें

ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता। मैं तो दे दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान् के यहाँ जवाब देना पड़ेगा।

विप्र—वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई-बन्धु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं; देवता ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने बिगड़ेगी, सँभाल लेंगे। तो कब देते हो ?

शंकर—मेरे पास रक्खा तो है नहीं, किसी से माँग-जाँचकर लाऊँगा तभी न दूँगा !

विप्र—मैं यह न मानूँगा। सात साल हो गये, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूँगा। गेहूँ नहीं दे सकते, तो दस्तावेज लिख दो।

शंकर—मुझे तो देना है, चाहे गेहूँ लो चाहे दस्तावेज लिखाओ; किस हिसाब से दाम रक्खोगे ?

विप्र—बाजार-भाव पाँच सेर का है, तुम्हें सवा पाँच सेर का काट दूँगा।

शंकर—जब दे ही रहा हूँ तो बाजार-भाव काटूँगा, पाव-भर छुड़ाकर क्यों दोषी बनूँ।

हिसाब लगाया तो गेहू के दाम साठ रुपये हुए। साठ रुपये का दस्तावेज लिखा गया, तीन रुपये सैकड़े सूद। साल-भर में न देने पर सूद की दर दो सौ ग्यारह रुपये सैकड़े। ग्यारह रुपये का स्टाम्प, एक रुपया दस्तावेज की तहरीर शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गाँव भर ने विप्रजी की निन्दा की, लेकिन मुँह पर नहीं। महाजन से सभी का काम पड़ता है, उसके मुँह कौन आये।

3

शंकर ने सालभर तक कठिन तपस्या की। मीयाद के पहले रुपये अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर के पहले भी चूल्हा न जलता था, चबेने पर बसर होती थी, अब वह भी बंद हुआ। केवल लड़के के लिए रात को रोटियाँ रख दी जातीं ! पैसे रोज का तंबाकू पी जाता था, यही एक व्यसन था जिसका वह कभी न त्याग कर सका था। अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत की भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दी, हुक्का तोड़ दिया और तमाखू की हॉडी चूर-चूर कर डाली। कपड़े पहले भी त्याग की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गये। शिशिर की अस्थिबेधक शीत को उसने आग तापकर काट दिया। इस ध्रुव-संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अन्त में उसके पास साठ रुपये जमा हो गये। उसने समझा पंडितजी को इतने रुपये दे दूँगा और कहूँगा महाराज, बाकी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाजिर करूँगा। पन्द्रह रुपये की तो और बात है, क्या पंडितजी इतना भी न मानेंगे ! उसने रुपये लिये और ले जाकर पंडितजी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिये। पंडितजी ने विस्मित होकर पूछा—किसी से उधार लिये क्या ?

शंकर—नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र—लेकिन यह तो साठ रुपये ही हैं !

शंकर—हाँ महाराज, इतने अभी ले लीजिए, बाकी मैं दो-तीन महीने में दे दूँगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र—उरिन तो जभी होगे जब कि मेरी कौड़ी-कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे पन्द्रह रुपये और लाओ।

शंकर—महाराज, इतनी दया करो; अब साँझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गाँव में हूँ तो कभी-न-कभी दे ही दूँगा।

विप्र—मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करना जानता हूँ। अगर मेरे पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से तीन रुपये सैकड़े का ब्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रक्खो, चाहे मेरे यहाँ छोड़ जाओ।

शंकर—अच्छा जितना लाया हूँ उतना रख लीजिए। मैं जाता हूँ, कहीं से पन्द्रह रुपये और लाने की फिक्र करता हूँ।

शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिये, इसलिए नहीं कि उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिए कि पंडितजी के शिकार को छेड़ने की किसी की हिम्मत न थी।

4

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल भर तक तपस्या करने पर भी जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका नो उसका संयम निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी साल भर में साठ रुपये से अधिक न जमा कर सका, तो अब और कौन सा उपाय है जिसके द्वारा इसके दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लादना है तो क्या मन भर का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मिहनत से घृणा हो गयी। आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। शंकर आशा-हीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें जिनको उसने साल-भर तक टाल रखा था, अब द्वार पर खड़ी होनेवाली भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होनेवाली पिशाचनियाँ थीं, जो अपनी भेंट लिये बिना जान नहीं छोड़तीं। कपड़ों में चकत्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपड़े लाता, कभी खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तमाखू ही पिया करता था, वहाँ अब गाँजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिन्ता न थी मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं आता। पहले जूड़ी चढ़ी होती थी, पर वह काम करने अवश्य जाता था, अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता।

इस भाँति तीन वर्ष निकल गये। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भाँति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार को चौंकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पंडितजी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया। साठ रुपये जो जमा थे वह मिनहा करने पर अब भी शंकर के जिम्मे एक सौ बीस रुपये निकले।

शंकर—इतने रुपये तो उसी जन्म में दूँगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इसी जन्म में लूँगा। मूल न सही, सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर—एक बैल है, वह ले लीजिए और मेरे पास रक्खा क्या है।

विप्र–मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत कुछ

शंकर–और क्या है महाराज ?

विप्र–कुछ है, तुम तो हो। आखिर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते ही हो, मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना ही पड़ता है। सूद में तुम हमारे यहाँ काम किया करो, जब सुभीता हो मूल को दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह काम करने नहीं जा सकते जब तक मेरे रुपये नहीं चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड़ दूँ। कौन इसका जिम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे। और कहीं कमाकर जब तुम मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहे?

शंकर–महाराज, सूद में तो काम करूँगा और खाऊँगा क्या ?

विप्र–तुम्हारी घरवाली है, लड़के हैं, क्या वे हाथ-पाँव कटाके बैठेंगे। रहा मैं, तुम्हें आध सेर जौ रोज कलेवा के लिए दे दिया करूँगा। ओढ़ने को साल में एक कम्बल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूँगा, और क्या चाहिए। यह सच है कि और लोग तुम्हें छः आने देते हैं लेकिन मुझे ऐसी गरज नहीं है, मैं तो तुम्हें रुपये भरने के लिए रखता हूँ।

शंकर ने कुछ देर तक गहरी चिन्ता में पड़े रहने के बाद कहा–महाराज यह तो जन्म-भर की गुलामी हुई।

विप्र–गुलामी समझो, चाहे मजदूरी समझो। मैं अपने रुपये भराये बिना तुमको कभी न छोडूँगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हाँ, जब कोई न रहेगा तब की बात दूसरी है।

इस निर्णय की कहीं अपील न थी। मजूर की जमानत कौन करता, कहीं शरण न थी, भागकर कहाँ जाता, दूसरे दिन से उसने विप्रजी के यहाँ काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूँ की बदौलत उम्र-भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से संतोष होता था तो यह था कि वह मेरे पूर्व-जन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किये थे, बच्चे दानों को तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। वह गेहूँ के दाने किसी देवता के शाप की भाँति यावज्जीवन उसके सिर से न उतरे।

5

शंकर ने विप्रजी के यहाँ बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। एक सौ बीस रुपये अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडित जी ने उस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने अन्यायी, इतने निर्दयी न थे। उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ी। आज तक वह विप्रजी के यहाँ काम करता है। उसका उद्धार कब होगा; होगा भी या नहीं, ईश्वर ही जाने।

पाठक ! इस वृत्तांत को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे

शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'चांद' (मासिक पत्रिका), नवम्बर, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-4 में संकलित। उर्दू रूप इसी शीर्षक से प्रकाशित। 'फ़िरदौसे ख़्याल' में संकलित।]

तेंतर

आखिर वही हुआ जिसकी आशंका थी; जिसकी चिंता में घर के सभी लोग विशेषतः प्रसूता पड़ी हुई थी। तीन पुत्रों के पश्चात् कन्या का जन्म हुआ। माता सौर में सूख गयी, पिता बाहर आँगन में सूख गये, और पिता की वृद्धा माता सौर द्वार पर सूख गयीं। अनर्थ, महाअनर्थ ! भगवान् ही कुशल करें तो हो ? यह पुत्री नहीं राक्षसी है। इस अभागिनी को इसी घर में आना था ! आना ही था तो कुछ दिन पहले क्यों न आयी। भगवान् सातवें शत्रु के घर भी तेंतर का जन्म न दें।

पिता का नाम था पंडित दामोदरदत्त, शिक्षित आदमी थे। शिक्षा-विभाग ही में नौकर भी थे; मगर इस संस्कार को कैसे मिटा देते, जो परम्परा से हृदय में जमा हुआ था, कि तीसरे बेटे की पीठ पर होनेवाली कन्या अभागिनी होती है, या पिता को लेती या माता को, या अपने को। उनकी वृद्धा माता लगी नवजात कन्या को पानी पी-पी कर कोसने, कलमुही है, कलमुही ! न जाने क्या करने आयी है यहाँ। किसी बाँझ के घर जाती तो उसके दिन फिर जाते !

दामोदरदत्त दिल में तो घबराये हुए थे, पर माता को समझाने लगे—अम्माँ तेंतर-बेंतर कुछ नहीं, भगवान् की जो इच्छा होती है, वही होता है। ईश्वर चाहेंगे तो सब कुशल ही होगा; गानेवालियों को बुला लो, नहीं लोग कहेंगे, तीन बेटे हुए तो कैसे फूली फिरती थीं, एक बेटी हो गयी तो घर में कुहराम मच गया।

माता—अरे बेटा तुम क्या जानो इन बातों को, मेरे सिर तो बीत चुकी है, प्राण नहों में समाया हुआ है। तेंतर ही के जन्म से तुम्हारे दादा का देहांत हुआ। तभी से तेंतर का नाम सुनते ही मेरा कलेजा काँप उठता है।

दामोदर—इस कष्ट के निवारण का भी कोई उपाय होगा ?

माता—उपाय बताने को तो बहुत है, पंडित जी से पूछो तो कोई-न-कोई उपाय बता देंगे; पर इससे कुछ होता नहीं। मैंने कौन-से अनुष्ठान नहीं किये, पर पंडित जी की तो मुट्ठियाँ गरम हुईं, यहाँ जो सिर पर पड़ता था, वह पड़ ही गया। अब टके के पंडित रह गये हैं, जजमान मरे या जिये उनकी बला से, उनकी दक्षिणा मिलनी चाहिए। (धीरे से) लड़की दुबली-पतली भी नहीं है। तीनों लड़कों से हृष्ट-पुष्ट है। बड़ी-बड़ी आँखें हैं, पतले-पतले लाल-लाल ओंठ हैं, जैसे गुलाब की पत्ती। गोरा-चिट्टा रंग है, लम्बी-सी नाक। कलमुही नहलाते समय रोयी भी नहीं, टुकुर-टुकुर ताकती रही, यह सब लच्छन कुछ अच्छे थोड़े ही हैं।

दामोदरदत्त के तीनों लड़के साँवले थे, कुछ विशेष रूपवान भी न थे। लड़की के रूप

का बखान सुन कर उनका चित्त कुछ प्रसन्न हुआ। बोले—अम्माँ जी, तुम भगवान् का नाम ले कर गानेवालियों को बुला भेजो, गाना-बजाना होने दो। भाग्य में जो कुछ है, वह तो होगा ही।

माता—जी तो हुलसता नहीं, करूँ क्या ?

दामोदर—गाना न होने से कष्ट का निवारण तो होगा नहीं, कि हो जायगा ? अगर इतने सस्ते जान छूटे तो न कराओ गाना।

माता—बुलाये लेती हूँ बेटा, जो कुछ होना था वह तो हो गया।

इतने में दाई ने सौर में से पुकार कर कहा—बहूजी कहती हैं गाना-वाना कराने का काम नहीं है।

माता—भला उनसे कहो चुप बैठी रहें, बाहर निकल कर मनमानी करेंगी, बारह ही दिन हैं बहुत दिन नहीं हैं; बहुत इतराती फिरती थीं—यह न करूँगी, वह न करूँगी, देवी क्या है, देवता क्या है, मरदों की बातें सुन कर वही रट लगाने लगती थीं, तो अब चुपके से बैठती क्यों नहीं। मेमें तो तेंतर को अशुभ नहीं मानतीं, और सब बातों में मेमों की बराबरी करती हैं तो इस बात में भी करें।

यह कह कर माता जी ने नाइन को भेजा कि जा कर गानेवालियों को बुला ला, पड़ोस में भी कहती जाना।

सबेरा होते ही बड़ा लड़का सो कर उठा और आँखें मलता हुआ जा कर दादी से पूछने लगा—बड़ी अम्मा, कल अम्मा को क्या हुआ ?

माता—लड़की तो हुई है।

बालक खुशी से उछल कर बोला—ओ-हो-हो पैजनियाँ पहन-पहन कर छुनछुन चलेगी, ज़रा मुझे दिखा दो दादी जी !

माता—अरे क्या सौर में जायगा, पागल हो गया है क्या ?

लड़के की उत्सुकता न मानी। सौर के द्वार पर जा कर खड़ा हो गया और बोला—अम्माँ ज़रा बच्ची को मुझे दिखा दो।

दाई ने कहा—बच्ची अभी सोती है।

बालक—ज़रा दिखा दो, गोद में ले कर।

दाई ने कन्या उसे दिखा दी तो वहाँ से दौड़ता हुआ अपने छोटे भाइयों के पास पहुँचा और उन्हें जगा-जगा कर खुशखबरी सुनायी।

एक बोला—नन्हीं सी होगी।

बड़ा—बिलकुल नन्हीं-सी ! बस जैसी बड़ी गुड़िया ! ऐसी गोरी है कि क्या किसी साहब की लड़की होगी। यह लड़की मैं लूँगा।

सबसे छोटा बोला—अमको बी दिका दो।

तीनों मिल कर लड़की को देखने आये और वहाँ से बग़लें बजाते उछलते-कूदते बाहर आये।

बड़ा—देखा कैसी है !

मँझला—कैसे आँखें बंद किये पड़ी थी।

छोटा—इसे हमें तो देना।

बड़ा–खूब द्वार पर बरात आयेगी, हाथी, घोड़े, बाजे, आतशबाजी।

मँझला और छोटा ऐसे मग्न हो रहे थे मानो वह मनोहर दृश्य आँखों के सामने है, उनके सरल नेत्र मनोल्लास से चमक रहे थे।

मँझला बोला–फुलवारियाँ भी होंगी।

छोटा–अम बी पूल लेंगे !

2

छट्ठी भी हुई, बरही भी हुई, गाना-बजाना, खाना-खिलाना, देना-दिलाना सब-कुछ हुआ; पर रस्म पूरी करने के लिए, दिल से नहीं, खुशी से नहीं। लड़की दिन-दिन दुर्बल और अस्वस्थ होती जाती थी। माँ उसे दोनों वक्त अफ़ीम खिला देती और बालिका दिन और रात नशे में बेहोश पड़ी रहती। ज़रा भी नशा उतरता तो भूख से विकल होकर रोने लगती ! माँ कुछ ऊपरी दूध पिला कर अफ़ीम खिला देती। आश्चर्य की बात तो यह थी कि अबकी उसकी छाती में दूध ही नहीं उतरा। यों भी उसे दूध देर से उतरता था; पर लड़कों की बेर उसे नाना प्रकार की दूधवर्द्धक औषधियाँ खिलायी जातीं, बार-बार शिशु को छाती से लगाया जाता, यहाँ तक कि दूध उतर ही आता था; पर अब की यह आयोजनाएँ न की गयीं। फूल-सी बच्ची कुम्हलाती जाती थी। माँ तो कभी उसकी ओर ताकती भी न थी। हाँ, नाइन कभी चुटकियाँ बजा कर चुमकारती तो शिशु के मुख पर ऐसे दयनीय, ऐसी करुण वेदना अंकित दिखायी देती कि वह आँखें पोंछती हुई चली जाती थी। बहू से कुछ कहने-सुनने का साहस न पड़ता। बड़ा लड़का सिद्धू बार-बार कहता–अम्माँ, बच्ची को दो तो बाहर से खेला लाऊँ। पर माँ उसे झिड़क देती थी।

तीन-चार महीने हो गये। दामोदरदत्त रात को पानी पीने उठे तो देखा कि बालिका जाग रही है। सामने ताख पर मीठे तेल का दीपक जल रहा था, लड़की टकटकी बाँधे उसी दीपक की ओर देखती थी, और अपना अँगूठा चूसने में मग्न थी। चुभ-चुभ की आवाज़ आ रही थी। उसका मुख मुरझाया हुआ था, पर वह न रोती थी न हाथ-पैर फेंकती थी, बस अँगूठा पीने में ऐसी मग्न थी मानो उसमें सुधा-रस भरा हुआ है। वह माता के स्तनों की ओर मुँह भी नहीं फेरती थी, मानो उसका उन पर कोई अधिकार नहीं, उसके लिए वहाँ कोई आशा नहीं। बाबू साहब को उस पर दया आयी। इस वेचारी का मेरे घर जन्म लेने में क्या दोष है ? मुझ पर या इसकी माता पर जो कुछ भी पड़े, उसमें इसका क्या अपराध ? हम कितनी निर्दयता कर रहे हैं कि कुछ कल्पित अनिष्ट के कारण उसका इतना तिरस्कार कर रहे हैं। माना कि कुछ अमंगल हो भी जाय तो क्या उसके भय से इसके प्राण ले लिए जायेंगे ? अगर अपराधी है तो मेरा प्रारब्ध है। इस नन्हें-से बच्चे के प्रति हमारी कठोरता क्या ईश्वर को अच्छी लगती होगी ? उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमने लगे। लड़की को कदाचित् पहली बार सच्चे स्नेह का ज्ञान हुआ। वह हाथ-पैर उछाल कर 'गू-गूँ' करने लगी और दीपक की ओर हाथ फैलाने लगी। उसे जीवन-ज्योति-सी मिल गयी।

प्रातःकाल दामोदरदत्त ने लड़की को गोद में उठा लिया और बाहर लाये। स्त्री ने बार-बार कहा–उसे पड़ी रहने दो ऐसी कौन-सी बड़ी सुन्दर है, अभागिन रात-दिन तो प्राण

खाती रहती है, मर भी नहीं जाती कि जान छूट जाय; किंतु दामोदरदत्त ने न माना। उसे बाहर लाये और अपने बच्चों के साथ बैठ कर खेलाने लगे। उनके मकान के सामने थोड़ी-सी ज़मीन पड़ी हुई थी। पड़ोस के किसी आदमी की एक बकरी उसमें आ कर चरा करती थी। इस समय भी वह चर रही थी। बाबू साहब ने बड़े लड़के से कहा—सिद्धू जरा उस बकरी को पकड़ो, तो इसे दूध पिलायें, शायद भूखी है बेचारी। देखो, तुम्हारी नन्हीं-सी बहन है न ? इसे रोज हवा में खेलाया करो।

सिद्धू को दिल्लगी हाथ आयी। उसका छोटा भाई भी दौड़ा। दोनों ने घेर कर बकरी को पकड़ा और उसका कान पकड़े हुए सामने लाये। पिता ने शिशु का मुँह बकरी के थन में लगा दिया। लड़की चुबलाने लगी और एक क्षण में दूध की धार उसके मुँह में जाने लगी, मानो टिमटिमाते दीपक में तेल पड़ जाय। लड़की का मुँह खिल उठा। आज शायद पहली बार उसकी क्षुधा तृप्त हुई थी। वह पिता की गोद में हुमक-हुमक कर खेलने लगी। लड़कों ने भी उसे खूब नचाया-कुदाया।

उस दिन से सिद्धू को मनोरंजन का एक नया विषय मिल गया। बालकों को बच्चों से बहुत प्रेम होता है। अगर किसी घोंसले में चिड़िया का बच्चा देख पायें तो बार-बार वहाँ जायेंगे। देखेंगे कि माता बच्चे को कैसे दाना चुगाती है। बच्चा कैसे चोंच खोलता है, कैसे दाना लेते समय परों को फड़फड़ा कर चें-चें करता है। आपस में बड़े गम्भीर भाव से उसकी चरचा करेंगे, अपने अन्य साथियों को ले जा कर उसे दिखायेंगे। सिद्धू ताक में लगा रहता, ज्यों ही माता भोजन बनाने या स्नान करने जाती तुरंत बच्ची को ले कर आता और बकरी को पकड़ कर उसके थन में शिशु का मुँह लगा देता, कभी दिन में दो-दो तीन-तीन बार पिलाता। बकरी को भूसी-चोकर खिला कर ऐसा परचा लिया कि वह स्वयं चोकर के लोभ से चली आती और दूध दे कर चली जाती। इस भाँति कोई एक महीना गुजर गया, लड़की हृष्ट-पुष्ट हो गयी, मुख पुष्प के समान विकसित हो गया। आँखें जग उठीं, शिशुकाल की सरल आभा मन को हरने लगी।

माता उसे देख-देख कर चकित होती थी। किसी से कुछ कह तो न सकती, पर दिल में उसे आशंका होती थी कि अब वह मरने को नहीं, हमी लोगों के सिर जायेगी। कदाचित् ईश्वर इसकी रक्षा कर रहे हैं, जभी तो दिन-दिन निखरती आती है, नहीं अब तक ईश्वर के घर पहुँच गयी होती।

3

मगर दादी माता से कहीं ज्यादा चिंतित थीं। उसे भ्रम होने लगा कि वह बच्ची को खूब दूध पिला रही है, साँप को पाल रही है। शिशु की ओर आँख उठा कर भी न देखती। यहाँ तक कि एक दिन कह बैठी—लड़की का बड़ा छोह करती हो ? हाँ भाई, माँ हो कि नहीं, तुम न छोह करोगी तो करेगा कौन ?

'अम्मा जी, ईश्वर जानते हैं जो मैं इसे दूध पिलाती होऊँ ?

'अरे तो मैं मना थोड़े ही करती हूँ, मुझे क्या गरज पड़ी है कि मुफ्त में अपने ऊपर पाप लूँ, कुछ मेरे सिर तो जायगी नहीं।'

'अब आपको विश्वास ही न आये तो कोई क्या करे ?'

'मुझे पागल समझती हो, वह हवा पी-पी कर ऐसी हो रही है ?'

'भगवान् जाने अम्मा, मुझे तो आप अचरज होता है।'

बहू ने बहुत निर्दोषिता जतायी; किंतु वृद्धा सास को विश्वास न आया। उसने समझा, यह मेरी शंका को निर्मूल समझती है, मानो मुझे इस बच्ची से कोई बैर है। उसके मन में यह भाव अंकुरित होने लगा कि इसे कुछ हो जाय तब यह समझे कि मैं झूठ नहीं कहती थी। वह जिन प्राणियों को अपने प्राणों से भी प्रिय समझती थी, उन्हीं लोगों की अमंगल कामना करने लगी, केवल इसलिए कि मेरी शंकाएँ सत्य हो जायं। वह यह तो नहीं चाहती थी कि कोई मर जाय; पर इतना अवश्य चाहती थी कि किसी बहाने से मैं चेता दूँ कि देखा, तुमने मेरा कहा न माना, यह उसी का फल है। उधर सास की ओर से ज्यों-ज्यों यह द्वेष-भाव प्रकट होता था, बहू का कन्या के प्रति स्नेह बढ़ता था। ईश्वर से मनाती रहती थी कि किसी भाँति एक साल कुशल से कट जाता तो इनसे पूछती। कुछ लड़की का भोला-भाला चेहरा, कुछ अपने पति का प्रेम-वात्सल्य देखकर भी उसे प्रोत्साहन मिलता था। विचित्र दशा हो रही थी, न दिल खोल कर प्यार ही कर सकती थी, न सम्पूर्ण रीति से निर्दय होते ही बनता था। न हँसते बनता था न रोते।

इस भाँति दो-महीने गुजर गये और कोई अनिष्ट न हुआ। तब तो वृद्धा सास के पेट में चूहे दौड़ने लगे। बहू को दो-चार दिन ज्वर भी नहीं आ जाता कि मेरी शंका की मर्यादा रह जाय, पुत्र भी किसी दिन पैरगाड़ी पर से नहीं गिर पड़ता, न बहू के मैके ही से किसी के स्वर्गवास की सुनावनी आती है। एक दिन दामोदरदत्त ने खुले तौर पर कह भी दिया कि अम्माँ, यह सब ढकोसला है, तेंतर लड़कियाँ क्या दुनिया में होतीं नहीं, तो सब के सव माँ-बाप मर ही जाते हैं ? अंत में उसने अपनी शंकाओं को यथार्थ सिद्ध करने की एक तरकीब सोच निकाली। एक दिन दामोदरदत्त स्कूल से आये तो देखा कि अम्माँ जी खाट पर अचेत पड़ी हुई हैं, स्त्री अँगीठी में आग रखे उनकी छाती सेंक रही है और कोठरी के द्वार और खिड़कियाँ बंद हैं। घबरा कर कहा—अम्माँ जी, क्या दशा है ?

स्त्री—दोपहर ही से कलेजे में एक शूल उठ रहा है, बेचारी बहुत तड़प रही हैं।

दामोदर—मैं जा कर डॉक्टर साहब को बुला लाऊँ न ? देर करने से शायद रोग बढ़ जाय। अम्माँ जी, अम्माँ जी, कैसी तबियत है।

माता ने आँखें खोलीं और कराहते हुए बोली—बेटा, तुम आ गये ? अब न बूचँगी. हाय भगवान्, अब न बचूँगी। जैसे कोई कलेजे में बरछी चुभा रहा हो। ऐसी पीड़ा कभी न हुई थी। इतनी उम्र बीत गँयी, ऐसी पीड़ा नहीं हुई।

स्त्री—यह कलमुँही छोकरी न जाने किस मनहूस घड़ी में पैदा हुई।

सास—बेटा, सब भगवान् करते हैं, यह बेचारी क्या जाने ! देखो मैं मर जाऊँ तो उसे कष्ट मत देना। अच्छा हुआ, मेरे सिर आयी। किसी के सिर तो जाती ही, मेरे ही सिर सही। हाय भगवान् अब न बचूँगी।

दामोदर—जा कर डॉक्टर बुला लाऊँ ? अभी लौटा आता हूँ।

माता जी को केवल अपनी बात की मर्यादा निभानी थी, रुपये न खर्च कराने थे, बोली—नहीं बेटा, डॉक्टर के पास जा कर क्या करोगे ? अरे, वह कोई ईश्वर है। डॉक्टर

अमृत पिला देगा, दस-बीस वह भी ले जायेगा ! डॉक्टर-वैद्य से कुछ न होगा। बेटा, तुम कपड़े उतारो, मेरे पास बैठ कर भागवत पढ़ो। अब न बचूँगी, हाय राम !

दामोदर–तेंतर बुरी चीज है, मैं समझता था कि ढकोसला ही ढकोसला है।

स्त्री–इसी से मैं उसे कभी मुँह नहीं लगाती थी।

माता–बेटा, बच्चों को आराम से रखना, भगवान् तुम लोगों को सुखी रखे। अच्छा हुआ मेरे ही सिर गयी, तुम लोगों के सामने मेरा परलोक हो जायगा। कहीं किसी दूसरे के सिर जाती तो क्या होता राम ! भगवान् ने मेरी विनती सुन ली। हाय ! हाय !!

दामोदरदत्त को निश्चय हो गया कि अब अम्माँ न बचेंगी। बड़ा दुःख हुआ। उनके मन की बात होती तो वह माँ के बदले तेंतर को न स्वीकार करते। जिस जननी ने जन्म दिया, नाना प्रकार के कष्ट झेल कर उनका पालन-पोषण किया, अकाल वैधव्य को प्राप्त हो कर भी उनकी शिक्षा का प्रबंध किया, उसके सामने एक दुधमुँही बच्ची का क्या मूल्य था, जिसके हाथ का एक गिलास पानी भी वह न जानते थे। शोकातुर हो कपड़े उतारे और माँ के सिरहाने बैठ कर भागवत की कथा सुनाने लगे।

रात को बहू भोजन बनाने चली तो सास से बोली–अम्माँ जी, तुम्हारे लिए थोड़ा-सा साबूदाना छोड दूँ ?

माता ने व्यंग्य करके कहा–बेटी, अन्न विना न मारो, भला साबूदाना मुझसे खाया जायगा; जाओ, थोड़ी पूरियाँ छान लो। पड़े-पड़े जो कुछ इच्छा होगी, खा लूँगी, कचौरियाँ भी बना लेना। मरती हूँ तो भोजन को तरस-तरस क्यों मरूँ। थोड़ी मलाई भी मँगवा लेना, चौक की हो। फिर थोड़े खाने आऊँगी बेटी। थोड़े-से केले मँगवा लेना, कलेजे के दर्द में केले खाने से आराम होता है।

भोजन के समय पीड़ा शांत हो गयी; लेकिन आध घंटे के बाद फिर जोर से होने लगी। आधी रात के समय कहीं जा कर उनकी आँख लगी। एक सप्ताह तक उनकी यही दशा रही, दिन-भर पड़ी कराहा करतीं, बस भोजन के समय जरा वेदना कम हो जाती। दामोदरदत्त सिरहाने बैठे पंखा झलते और मातृवियोग के आगत शोक से रोते। घर की महरी ने महल्ले-भर में यह खबर फैला दी, पड़ोसिनें देखने आयीं तो सारा इलजाम बालिका के सिर गया।

एक ने कहा–यह तो कहो बड़ी कुशल हुई कि बुढ़िया के सिर गयी; नहीं तो तेंतर माँ-बाप दो में से एक को लेकर तभी शांत होती है। दैव न करे कि किसी के घर तेंतर का जन्म हो।

दूसरी बोली–मेरे तो तेंतर का नाम सुनते ही रोयें खड़े हो जाते हैं। भगवान् बाँझ रखे पर तेंतर न दे।

एक सप्ताह के बाद वृद्धा का कष्ट निवारण हुआ, मरने में कोई कसर न थी, वह तो कहो पुरुखाओं का पुण्य-प्रताप था। ब्राह्मणों को गो-दान दिया गया। दुर्गा-पाठ हुआ, तब कहीं जाके संकट कटा।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद, दिसम्बर, 1924 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित।]

डिक्री के रुपये

नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक अभिन्नता थी, जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलास बाग का कोमल पौधा; नईम को क्रिकेट और फुटबाल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तकावलोकन का; नईम एक विनोदशील, वाक्चतुर, निर्द्वन्द्व, हास्यप्रिय, विलासी युवक था; उसे कल की चिंता कभी न सतांती थी! विद्यालय उसके लिए क्रीड़ा का स्थान था; और कभी-कभी बेंच पर खड़े होने का। इसके प्रतिकूल कैलास एक एकांतप्रिय, आलसी, व्यायाम से कोसों भागनेवाला, आमोद-प्रमोद से दूर रहनेवाला, चिंताशील, आदर्शवादी जीव था। वह भविष्य की कल्पनाओं से विकल रहता था। नईम एक सुसम्पन्न, उच्च पदाधिकारी पिता का एकमात्र पुत्र था। कैलास एक साधारण व्यवसायी के कई पुत्रों में से एक। उसे पुस्तकों के लिए काफ़ी धन न मिलता था, माँग-जाँच कर काम निकाला करता था। एक के लिए जीवन आनंद का स्वप्न था, और दूसरे के लिए विपत्तियों का बोझ। पर इतनी विषमताओं के होते हुए भी उन दोनों में घनिष्ट मैत्री और निःस्वार्थ विशुद्ध प्रेम था। कैलास मर जाता, पर नईम का अनुग्रह-पात्र न बनता; और नईम मर जाता, पर कैलास से बेअदबी न करता। नईम की खातिर से कैलास कभी-कभी स्वच्छ निर्मल वायु का सुख उठा लिया करता। कैलास की खातिर से नईम भी कभी-कभी भविष्य के स्वप्न देख लिया करता था। नईम के लिए राज्यपद का द्वार खुला हुआ था, भविष्य कोई अपार सागर न था। कैलास को अपने हाथों कुऑं खोद कर पानी पीना था; भविष्य एक भीषण संग्राम था, जिसके स्मरणमात्र से उसका चित्त अशांत हो उठता था।

2

कालेज से निकलने के बाद नईम को शासन विभाग में एक उच्च पद प्राप्त हो गया; यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था। कैलास प्रथम श्रेणी में पास हुआ था; किंतु उसे बरसों एड़ियाँ रगड़ने, खाक छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला। यहाँ तक कि विवश हो कर उसे अपनी कलम का आश्रय लेना पड़ा। उसने एक समाचार-पत्र निकाला। एक ने राज्याधिकार का रास्ता लिया, जिसका लक्ष्य धन था और दूसरे ने सेवा-मार्ग का सहारा लिया जिसका परिणाम ख्याति और कष्ट और कभी-कभी कारागार होता है। नईम को उसके दफ़्तर के बाहर कोई न जानता था, किन्तु वह बँगले में रहता, हवा-गाड़ी पर हवा खाता, थिएटर देखता और गर्मियों में नैनीताल की सैर करता था। कैलास को सारा संसार जानता था, पर उसके रहने का मकान कच्चा था, सवारी के लिए अपने पाँव। बच्चों के लिए दूध भी मुश्किल से मिलता। साग-भाजी में काट-कपट करना पड़ता था। नईम के लिए सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह थी कि उसके केवल एक पुत्र था; पर कैलास के लिए सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात उसकी संतान-वृद्धि थी, जो उसे पनण्ने न देती थी। दोनों मित्रों में पत्र-व्यवहार होता रहता था। कभी-कभी दोनों में मुलाकत भी हो जाती थी। नईम कहता था—यार, तुम्हीं मज़े में हो देश और जाति की कुछ सेवा तो कर रहे हो। यहाँ तो पेट-पूजा के सिवा और किसी काम के न हुए। पर यह 'पेट-पूजा' उसने कई दिनों की कठिन तपस्या से हृदयंगम कर पायी थी, और उसके प्रयोग के लिए अवसर ढूँढ़ता रहता था।

कैलास खूब समझता था कि यह केवल नईम की विनयशीलता है। यह मेरी कुदशा से दुःखी हो कर मुझे इस उपाय से सांत्वना देना चाहता है। इसलिए यह अपनी वास्तविक स्थिति को उससे छिपाने का विफल प्रयत्न किया करता था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का मैनेजर अपने बँगले में, ठीक दोपहर के समय सैकड़ों आदमियों के सामने क़त्ल कर दिया गया था। यद्यपि खूनी भाग गया था, पर अधिकारियों को संदेह था कि कुँवर साहब की दुष्प्रेरणा से ही यह हत्याभिनय हुआ है। कुँवर साहब अभी बालिग न हुए थे। रियासत का प्रबंध कोर्ट आफ़ वार्ड द्वारा होता था। मैनेजर पर कुँवर साहब की देख-रेख का भार भी था। विलासप्रिय कुँवर को मैनेजर का हस्तक्षेप बहुत ही बुरा मालूम होता था। दोनों में बरसों से मनमुटाव था। यहाँ तक कि कई बार प्रत्यक्ष कटु वाक्यों की नौबत भी आ पहुँची थी। अतएव कुँवर साहब पर संदेह होना स्वाभाविक ही था। इस घटना का अनुसंधान करने के लिये जिले के हाकिम ने मिरज़ा नईम को नियुक्त किया। किसी पुलिस कर्मचारी द्वारा तहक़ीकात कराने में कुँवर साहब के अपमान का भय था।

नईम को अपने भाग्य निर्माण का स्वर्ण सुयोग प्राप्त हुआ। वह न त्यागी था, न ज्ञानी। सभी उसके चरित्र की दुर्बलता से परिचित थे, अगर कोई न जानता था, तो हुक्काम लोग। कुँवर साहब ने मुँहमाँगी मुराद पायी। नईम जब विष्णुपुर पहुँचा, तो उसका असामान्य आदर-सत्कार हुआ। भेंटें चढ़ने लगीं; अरदली के चपरासी, पेशकार, साईस, बावरची, खिदमतगार, सभी के मुँह तर और मुट्ठियाँ गरम होने लगीं। कुँवर साहब के हवाली-मवाली रात-दिन घेरे रहते, मानो दामाद ससुराल आया हो।

एक दिन प्रातःकाल कुँवर साहब की माता आ कर नईम के सामने हाथ बाँध कर खड़ी हो गयीं। नईम लेटा हुआ हुक्का पी रहा था। तप, संयम और वैधव्य की यह तेजस्वी प्रतिमा देख कर उठ बैठा।

रानी उसकी ओर वात्सल्यपूर्ण लोचनों से देखती हुई बोलीं—हुजूर; मेरे बेटे का जीवन आपके हाथ में है। आप ही उसके भाग्यविधाता हैं। आपको उसी माता की सौगंध है, जिसके आप सुयोग्य पुत्र हैं; मेरे लाल की रक्षा कीजिएगा। मैं तन, मन, धन आपके चरणों पर अर्पण करती हूँ।

स्वार्थ ने दया के संयोग से नईम को पूर्ण रीति से वशीभूत कर लिया।

3

उन्हीं दिनों कैलास नईम से मिलने आया। दोनों मित्र बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों-बातों में यह सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया, और कैलास पर अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहा।

कैलास ने कहा—मेरे विचार में पाप सदैव पाप है, चाहे वह किसी आवरण में मंडित हो।

नईम—और मेरा विचार है कि अगर गुनाह से किसी की जान बचती हो, तो वह ऐन सवाब है। कुँवर साहब अभी नौजवान आदमी हैं। बहुत ही होनहार, बुद्धिमान, उदार और

सहृदय हैं। आप उनसे मिलें, तो खुश हो जायँ। उनका स्वभाव अत्यन्त विनम्र है। मैनेजर, जो यथार्थ में दुष्ट प्रकृति का मनुष्य था, बरबस कुँवर साहब को दिक़ किया करता था। यहाँ तक कि एक मोटर कार के लिए रुपये न स्वीकार किये, न सिफ़ारिश की। मैं यह नहीं कहता कि कुँवर साहब का यह कार्य स्तुत्य है, लेकिन बहस यह है कि उनको अपराधी सिद्ध करके उन्हें कालेपानी की हवा खिलाई जाय, या निरपराध सिद्ध करके उनकी प्राण-रक्षा की जाय। और भाई, तुमसे तो कोई परदा नहीं है, पूरे 20 हजार रु. की थैली है। बस, मुझे अपनी रिपोर्ट में यह लिख देना होगा कि व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण यह दुर्घटना हुई है, राजा साहब का इससे कोई सम्पर्क नहीं। जो शहादतें मिल सकीं, उन्हें मैंने ग़ायब कर दिया। मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त करने में अधिकारियों की एक मसलहत थी। कुँवर साहब हिन्दू हैं इसलिए किसी हिन्दू कर्मचारी को नियुक्त न करके जिलाधीश ने यह भार मेरे सिर रखा। यह साम्प्रदायिक विरोध मुझे निस्पृह सिद्ध करने के लिए काफ़ी है। मैंने दो-चार अवसरों पर कुछ तो हुक्काम की प्रेरणा से और कुछ स्वेच्छा से मुसलमानों के साथ पक्षपात किया, जिससे यह मशहूर हो गया है कि मैं हिंदुओं का कट्टर दुश्मन हूँ। हिंदू लोग तो मुझे पक्षपात का पुतला समझते हैं। यह भ्रम मुझे आक्षेपों से बचाने के लिए काफ़ी है। बताओ तक़दीरवर हूँ कि नहीं ?

कैलास–अगर कहीं बात खुल गयी तो ?

नईम–तो यह मेरी समझ का फेर, मेरे अनुसंधान का दोष, मानव प्रकृति के एक अटल नियम का उज्ज्वल उदाहरण होगा। मैं कोई सर्वज्ञ तो हूँ नहीं। मेरी नीयत पर आँच न आने पायेगी। मुझ पर रिश्वत लेने का संदेह न हो सकेगा। आप इसके व्यावहारिक कोण पर न जाइए, केवल इसके नैतिक कोण पर निग़ाह रखिए। यह कार्य नीति के अनुकूल है या नहीं ? आध्यात्मिक सिद्धान्तों को न खींच लाइएगा, केवल नीति के सिद्धांतों से इसकी विवेचना कीजिए।

कैलास–इसका एक अनिवार्य फल यह होगा कि दूसरे रईसों को भी ऐसे दुष्कृत्यों की उत्तेजना मिलेगी। धन से बड़े-से-बड़े पापों पर परदा पड़ सकता है, इस विचार के फैलने का फल कितना भयंकर होगा, इसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

नईम–जी नहीं, मैं यह अनुमान नहीं कर सकता। रिश्वत अब भी नबवय फ़ीसदी अभियोगों पर परदा डालती है। फिर भी पाप का भय प्रत्येक हृदय में है।

दोनों मित्रों में देर तक इस विषय पर तर्क-वितर्क होता रहा, लेकिन कैलास का न्याय-विचार नईम के हास्य और व्यंग्य से पेश न पा सका।

4

विष्णुपुर के हत्याकांड पर समाचार-पत्रों में आलोचना होने लगी। सभी पत्र एक स्वर से रायसाहब को ही लांछित करते और गवर्नमेंट को राजा साहब से अनुचित पक्षपात करने का दोष लगाते थे; लेकिन इसके साथ यह भी लिख देते थे कि अभी यह अभियोग विचाराधीन है, इसलिए इस पर टीका नहीं की जा सकती।

मिरज़ा नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिए पूरा एक महीना व्यतीत किया। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो राजनीति क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के

संदेह की पुष्टि हो गयी।

कैलास के सामने अब एक जटिल समस्या उपस्थित हुई। अभी तक उसने इस विषय पर एकमात्र मौन धारण कर रखा था। वह यह निश्चय न कर सकता था कि क्या लिखूँ ? गवर्नमेंट का पक्ष लेना अपनी अंतरात्मा को पददलित करना था, आत्मस्वातंत्र्य का बलिदान करना था। पर मौन रहना और भी अपमानजनक था। अंत में जब सहयोगियों में दो-चार ने उसके ऊपर सांकेतिक रूप से आक्षेप करना शुरू किया कि उनका मौन निरर्थक नहीं है, तब उसके लिए तटस्थ रहना असह्य हो गया। उसके वैयक्तिक तथा जातीय कर्तव्य में घोर संग्राम होने लगा। उस मैत्री, को जिसके अंकुर पचीस वर्ष पहले हृदय में अंकुरित हुए थे, और अब जो एक सघन, विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुकी थी, हृदय से निकलना, हृदय को चीरना था। वह मित्र जो उसके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होता था, जिसका हृदय नित्य उसकी सहायता के लिए तत्पर रहता था, जिसके घर में जा कर वह अपनी चिंताओं को भूल जाता था, जिसके प्रेमालिंग्न में वह अपने कष्टों को विसर्जित कर दिया करता था, जिसके दर्शनमात्र ही से उसे आश्वासन, दृढ़ता तथा मनोबल प्राप्त होता था, उसी मित्र की जड़ खोदनी पड़ेगी ! वह बुरी सायत थी, जब मैंने सम्पादकीय क्षेत्र में पदार्पण किया, नहीं तो आज इस धर्म-संकट में क्यों पड़ता ? कितना घोर विश्वासघात होगा। विश्वास मैत्री का मुख्य अंग है। नईम ने मुझे अपना विश्वासपात्र बनाया है, मुझसे कभी परदा नहीं रखा। उसके उन गुप्त रहस्यों को प्रकाश में लाना उसके प्रति घोर अन्याय होगा ! नहीं मैं मैत्री को कलंकित न करूँगा, उसकी निर्मल कीर्ति पर धब्बा न लगाऊँगा, मैत्री पर वज्रघात न करूँगा। ईश्वर वह दिन न लाये कि मेरे हाथों नईम का अहित हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि मुझ पर कोई संकट पड़े, तो नईम मेरे लिए प्राण तक दे देने को तैयार हो जायगा, उसी मित्र को मैं संसार के सामने अपमानित करूँ, उसकी गरदन पर कुठार चलाऊँ। भगवान् मुझे वह दिन न दिखाना !

लेकिन जातीय कर्तव्य का पक्ष भी निरस्त्र न था। पत्र का सम्पादक परम्परागत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है। वह जो कुछ देखता है, जाति की विराट् दृष्टि से देखता है। वह जो कुछ विचार करता है उस पर भी जातीयता की छाप लगी होती है। नित्य जाति के विस्तृत विचार-क्षेत्र में विचरण करते रहने से व्यक्ति का महत्त्व दृष्टि में अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है; वह व्यक्ति को क्षुद्र, तुच्छ, नगण्य कहने लगता है। व्यक्ति को जाति पर बलि देना उसकी नीति का प्रथम अंग है। यहाँ तक कि बहुधा अपने स्वार्थ को भी जाति पर वार देता है। उसके जीवन का लक्ष्य महान् आत्माओं का अनुगामी होता है जिन्होंने राष्ट्रों का निर्माण किया है; उनकी कीर्ति अमर हो गयी है, जो दलित राष्ट्रों की उद्धारक हो गयी है। वह यथाशक्ति कोई काम ऐसा नहीं कर सकता, जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल विरदावली में कालिमा लगने का भय हो। कैलास राजनीतिक क्षेत्र में बहुत कुछ यश और गौरव प्राप्त कर चुका था। उसकी सम्मति आदर की दृष्टि से देखी जाती थी; उसके निर्भीक विचारों ने, उसकी निष्पक्ष टीकाओं ने उसे सम्पादक-मंडली का प्रमुख नेता बना दिया था। अतएव इस अवसर पर मैत्री का निर्वाह केवल उसकी नीति और आदर्श ही के विरुद्ध नहीं, उसके मनोगत भावों के विरुद्ध था। इसमें उसका अपमान था, आत्मपतन था, भीरुता थी। यह कर्तव्यपथ से विमुख होना और राजनीतिक क्षेत्र में सदैव के लिए

बहिष्कृत हो जाना था। एक व्यक्ति की, चाहे वह मेरा कितना ही आत्मीय क्यों न हो, राष्ट्र के सामने क्या हस्ती है ! नईम के बनने या बिगड़ने से राष्ट्र पर कोई असर न पड़ेगा। लेकिन शासन की निरंकुशता और अत्याचार पर परदा डालना राष्ट्र के लिए भयंकर सिद्ध हो सकता है। उसे इसकी परवा न थी कि मेरी आलोचना का प्रत्यक्ष कोई असर होगा या नहीं। सम्पादक की दृष्टि में अपनी सम्मति सिंहनाद के समान प्रतीत होती है कि मेरी लेखनी शासन को कम्पायमान कर देगी, विश्व को हिला देगी। शायद सारा संसार मेरी कलम की सरसराहट से थर्रा उठेगा, मेरे विचार प्रकट होते ही युगांतर उपस्थित कर देंगे। नईम मेरा मित्र है, किन्तु राष्ट्र मेरा इष्ट है। मित्र के पद की रक्षा के लिए क्या अपने इष्ट पर प्राण-घातक आघात करूँ ?

कई दिनों तक कैलास के व्यक्तिगत और सम्पादक के कर्तव्यों में संघर्ष होता रहा। अन्त को जाति ने व्यक्ति को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि मैं इस रहस्य का यथार्थ स्वरूप दिखा दूँगा; शासन के अनुत्तरदायित्व को जनता के सामने खोल कर रख दूँगा; शासन-विभाग के कर्मचारियों की स्वार्थ-लोलुपता का नमूना दिखा दूँ; दुनिया को दिखा दूँगा कि सरकार किनकी आँखों से देखती है, किनके कानों से सुनती है। उसकी अक्षमता, उसकी अयोग्यता और उसकी दुर्बलता को प्रमाणित करने का इससे बढ़ कर और कौन-सा उदाहरण मिल सकता है ? नईम मेरा मित्र है, तो हो, जाति के सामने वह कोई चीज नहीं है। उसकी हानि के भय से मैं राष्ट्रीय कर्तव्य से क्यों मुँह फेरूँ, अपनी आत्मा को क्यों दूषित करूँ, अपनी स्वाधीनता को क्यों कलंकित करूँ ? आह प्राणों से प्रिय नईम ! मुझे क्षमा करना, आज तुम जैसे मित्ररत्न को मैं अपने कर्तव्य की वेदी पर बलि चढ़ाता हूँ। मगर तुम्हारी जगह अगर मेरा पुत्र होता, तो उसे भी इसी कर्तव्य की बलिवेदी पर भेंट कर देता।

दूसरे दिन कैलास ने इस घटना की मीमांसा शुरू की। जो कुछ उसने नईम से सुना था, वह सब एक लेखमाला के रूप में प्रकाशित करने लगा। घर का भेदी लंका ढाहे ! अन्य सम्पादकों को जहाँ अनुमान, तर्क और युक्ति के आधार पर अपना मत स्थिर करना पड़ता था और इसलिए वे कितनी ही अनर्गल, अपवादपूर्ण बातें लिख डालते थे, वहाँ कैलास की टिप्पणियाँ प्रत्यक्ष प्रमाणों से युक्त होती थीं। वह पते-पते की बातें कहता था और उस निर्भीकता के साथ, जो दिव्य अनुभव का निर्देश करती थीं। उसके लेखों में विस्तार कम, पर सार अधिक होता था। उसने नईम को भी न छोड़ा, उसकी स्वार्थ-लिप्सा का खूब खाका उड़ाया। यहाँ तक कि वह धन की संख्या भी लिख दी जो इस कुत्सित व्यापार पर परदा डालने के लिए उसे दी गयी थी। सबसे मजे की बात यह थी कि उसने नईम से एक राष्ट्रीय गुप्तचर की मुलाकात का भी उल्लेख किया, जिसने नईम को रुपये लेते हुए देखा था। अंत में गवर्नमेंट को भी चैलेंज दिया कि जो उसमें साहस हो, तो मेरे प्रमाणों को झूठा साबित कर दे। इतना ही नहीं, उसने वह वार्तालाप भी अक्षरशः प्रकाशित कर दिया जो उसके और नईम के बीच हुआ था। रानी का नईम के पास आना, उसके पैरों पर गिरना, कुँवर साहब का नईम के पास नाना प्रकार के तोहफे ले कर आना, इन सभी प्रसंगों ने उसके लेखों में एक जासूसी उपन्यास का मजा पैदा कर दिया।

इन लेखों ने राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। पत्र सम्पादकों को अधिकारियों

पर निशाने लगाने के ऐसे अवसर बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। जगह-जगह शासन की इस करतूत की निंदा करने के लिए सभाएँ होने लगीं। कई सदस्यों ने व्यवस्थापक-सभा में इस विषय पर प्रश्न करने की घोषणा की। शासकों को कभी ऐसी मुँह की न खानी पड़ी थी। आखिर उन्हें अपनी मान-रक्षा के लिए इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरज़ा नईम को कैलास पर मानहानि का अभियोग चलाने के लिए विवश करें।

5

कैलास पर इस्तग़ासा दायर हुआ। मिरज़ा नईम की ओर से सरकार पैरवी करती थी। कैलास स्वयं अपनी पैरवी कर रहा था। न्याय के प्रमुख संरक्षकों (वकील-बैरिस्टरों) ने किसी अज्ञात कारण से उसकी पैरवी करना अस्वीकार किया। न्यायाधीश को हार कर कैलास को, कानून की सनद न रखते हुए भी, अपने मुकदमे की पैरवी करने की आज्ञा देनी पड़ी। महीनों अभियोग चलता रहा। जनता में सनसनी फैल गयी। रोज़ हज़ारों आदमी अदालत में एकत्र होते थे। बाजारों में अभियोग की रिपोर्ट पढ़ने के लिए समाचार-पत्रों की लूट होती थी। चतुर पाठक पढ़े हुए पत्रों से घड़ी रात जाते-जाते दुगने पैसे खड़े कर लेते थे; क्योंकि उस समय तक पत्र-विक्रेताओं के पास कोई पत्र न बचने पाता था। जिन बातों का ज्ञान पहले गिने-गिनाये पत्र-ग्राहकों को था, उन पर अब जनता की टिप्पणियाँ होने लगीं। नईम की मिट्टी कभी इतनी खराब न हुई थी; गली-गली, घर-घर उसी की चर्चा थी। जनता का क्रोध उसी पर केन्द्रित हो गया था। वह दिन भी स्मरणीय रहेगा जब दोनों सच्चे, एक-दूसरे पर प्राण देनेवाले मित्र अदालत में आमने-सामने खड़े हुए और कैलास ने मिरज़ा नईम से जिरह करनी शुरू की। कैलास को ऐसा मानसिक कष्ट हो रहा था, मानो वह नईम की गरदन पर तलवार चलाने जा रहा है। और नईम के लिए तो अग्नि-परीक्षा थी। दोनों के मुख उदास थे; एक का आत्मग्लानि से, दूसरे का भय से। नईम प्रसन्न बनने की चेष्टा करता था, कभी-कभी सूखी हँसी भी हँसता था, लेकिन कैलास—आह, उस ग़रीब के दिल पर जो गुजर रही थी, उसे कौन जान सकता है !

कैलास ने पूछा—आप और मैं साथ पढ़ते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं ?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—हम दोनों में इतनी घनिष्ठता थी कि हम आपस में कोई परदा न रखते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं ?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—जिन दिनों आप इस मामले की जांच कर रहे थे, मैं आपसे मिलने गया था, इसे भी आप स्वीकार करते हैं ?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—क्या उस समय आपने मुझसे यह नहीं कहा था कि कुँवर साहब की प्रेरणा से यह हत्या हुई है ?

नईम—कदापि नहीं।

कैलास—आपके मुख से ये शब्द नहीं निकले थे कि बीस हजार रु. की थैली है ?

नईम जरा भी न झिझका, जरा भी संकुचित न हुआ। उसकी जबान में लेशमात्र भी

लुक़नत न हुई। वाणी में ज़रा भी थरथराहट न आयी। उसके मुख पर अशांति, अस्थिरता या असमंजस का कोई भी चिह्न न दिखाई दिया। वह अविचल खड़ा रहा। कैलास ने बहुत डरते-डरते यह प्रश्न किया था। उसको भय था कि नईम इसका कुछ जवाब न दे सकेगा। कदाचित रोने लगेगा। लेकिन नईम ने निश्शंक भाव से कहा—सम्भव है, आपने स्वप्न में मुझसे ये बातें सुनी हों।

कैलास एक क्षण के लिए दंग हो गया। फिर उसने विस्मय से नईम की ओर नजर डाल कर पूछा—क्या आपने यह नहीं फरमाया कि मैंने दो-चार अवसरों पर मुसलमानों के साथ पक्षपात किया है और इसलिए मुझे हिन्दू-विरोधी समझ कर इस अनुसंधान का भार सौंपा गया है।

नईम जरा भी न झिझका। अविचल, स्थिर और शांत भाव से बोला—आपकी कल्पना-शक्ति वास्तव में आश्चर्यजनक है। बरसों तक आपके साथ रहने पर भी मुझे यह विदित नहीं हुआ था कि आप में घटनाओं का आविष्कार करने की ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्ति है।

कैलास ने और कोई प्रश्न नहीं किया। उसे अपने पराभव का दुःख न था, दुःख था नईम की आत्मा के पतन का। वह कल्पना भी न कर सकता था कि कोई मनुष्य अपने मुँह से निकली हुई बात को इतनी ढिठाई से अस्वीकार कर सकता है; और वह भी उस आदमी के मुँह पर, जिससे वह बात कही गयी हो। यह मानवी दुर्बलता की पराकाष्ठा है। वह नईम, जिसका अंदर और बाहर एक था, जिसके विचार और व्यवहार में भेद न था, जिसकी वाणी आंतरिक भावों का दर्पण थी, वह नईम, वह सरल, आत्माभिमानी, सत्यभक्त नईम, इतना धूर्त, ऐसा मक्कार हो सकता है ! क्या दासता के साँचे में ढल कर मनुष्य अपने मनुष्यत्व खो बैठता है ? क्या यह दिव्य गुणों के रूपांतर करने का यंत्र है !

अदालत ने नईम को बीस हजार रुपयों की डिक्री दे दी। कैलास पर वज्रपात हो गया।

6

इस निश्चय पर राजनीतिक संसार में फिर कुहराम मचा। सरकारी पक्ष के पत्रों ने कैलास को धूर्त कहा; जन-पक्षवालों ने नईम को शैतान बनाया। नईम के दुस्साहस ने न्याय की दृष्टि में चाहे उसे निरपराध सिद्ध कर दिया हो पर जनता की दृष्टि में तो उसे और भी गिरा दिया। कैलास के पास सहानुभूति के पत्र और तार आने लगे। पत्रों में उसकी निर्भीकता और सत्यनिष्ठा की प्रशंसा होने लगी। जगह-जगह सभाएँ और जलसे हुए, और न्यायालय के निश्चय पर असंतोष प्रकट किया गया; किंतु सूखे बादलों से पृथ्वी की तृप्ति तो नहीं होती ? रुपये कहाँ से आवें और वह भी एकदम से बीस हजार ! आदर्शपालन का यही मूल्य है, राष्ट्र-सेवा महँगा सौदा है। बीस हजार ! इतने रुपये तो कैलाश ने शायद स्वप्न में भी न देखे हों और जब देने पड़ेंगे ! कहाँ से देगा? इतने रुपयों के सूद से ही वह जीविका की चिन्ता से मुक्त हो सकता था। उसे अपने पत्र में अपनी विपत्ति का रोना रो कर चंदा एकत्र करने से घृणा थी। मैंने अपने ग्राहकों की अनुमति ले कर इस शेर से मोरचा नहीं लिया था। मैनेजर की वकालत करने के लिए किसी ने मेरी गरदन नहीं दबायी थी। मैंने

अपना कर्तव्य समझ कर ही शासकों को चुनौती दी। जिस काम के लिए मैं अकेला जिम्मेदार हूँ, उसका भार अपने ग्राहकों पर क्यों डालूँ। यह अन्याय है। सम्भव है, जनता में आंदोलन करने से दो-चार हजार रुपये हाथ आ जायँ; लेकिन यह सम्पादकीय आदर्श के विरुद्ध है। इससे मेरी शान में बट्टा लगता है। दूसरों को यह कहने का अवसर दूँ कि और के मत्थे फुलौड़ियाँ खायीं, तो क्या बड़ा जग जीत लिया ! सब जानते कि अपने बल-बूते पर गरजते ! निर्भीक आलोचना का सेहरा तो मेरे सिर बँधा, उसका मूल्य दूसरों से क्यों वसूल करूँ ? मेरा पत्र बंद हो जाय, मैं पकड़ कर कैद किया जाऊँ, मेरा मकान कुर्क कर लिया जाय, बरतन-भाँड़े नीलाम हो जायँ, यह सब मुझे मंजूर है। जो कुछ सिर पड़ेगी भुगत लूँगा, पर किसी के सामने हाथ न फैलाऊँगा।

सूर्योदय का समय था। पूर्व दिशा में प्रकाश की छटा ऐसे दौड़ी चली आती थी, जैसे आँख से आँसुओं की धारा। ठंडी हवा कलेजे पर यों लगती थी, जैसे किसी के करुणा-क्रंदन की ध्वनि। सामने का मैदान दुःखी हृदय की भाँति ज्योति के बाणों से बिंध रहा था। घर में वह निस्तब्धता छायी थी, जो गृह-स्वामी के गुप्त रोदन की सूचना देती है। न बालकों का शोरगुल और न माता की शान्तिप्रसारिणी शब्द-ताड़ना। जब दीपक बुझ रहा हो, तो घर में प्रकाश कहाँ से आये ? यह आशा का प्रभाव नहीं, शोक का प्रभाव था; क्योंकि आज ही कुर्क-ज़मीन कैलास की सम्पत्ति को नीलाम करने के लिए आनेवाला था।

उसने अंतर्वेदना से विकल हो कर कहा—आह ! आज मेरे सार्वजनिक जीवन का अन्त हो जायगा। जिस भवन का निर्माण करने में अपने जीवन के पच्चीस वर्ष लगा दिये वह आज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। पत्र की गरदन पर छुरी फिर जायगी, मेरे पैरों में उपहास और अपमान की बेड़ियाँ पड़ जायँगी, मुख में कालिख लग जायगी, यह शांति-कुटीर उजड़ जायगी, यह शोकाकुल परिवार किसी मुरझाये हुए फूल की पँखड़ियों की भाँति बिखर जायगा। संसार में उसके लिए कहीं आश्रय नहीं है। जनता की स्मृति चिरस्थायी नहीं होती; अल्पकाल में मेरी सेवाएँ विस्मृति के अंधकार में लीन हो जायँगी। किसी को मेरी सुध भी न रहेगी, कोई मेरी विपत्ति पर आँसू बहानेवाला भी न होगा।

सहसा उसे याद आया कि आज के लिए अभी अग्रलेख लिखना है। आज अपने सुहृद् पाठकों को सूचना दूँ कि यह इस पत्र के जीवन का अंतिम दिवस है, उसे फिर आपकी सेवा में पहुँचने का सौभाग्य न प्राप्त होगा। हमसे अनेक भूल हुई होगी, आज हम उनके लिए आपसे क्षमा माँगते हैं। आपने हमारे प्रति जो सहवेदना और सुहृदयता प्रकट की है, उसके लिए हम सदैव आपके कृतज्ञ रहेंगे। हमें किसी से कोई शिकायत नहीं है। हमें इस अकाल मृत्यु का दुःख नहीं है; क्योंकि वह सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने कर्त्तव्यपथ पर अविचल रहते हैं। दुःख यही है कि हम जाति के लिए इससे अधिक बलिदान करने में समर्थ न हुए। इस लेख को आदि से अन्त तक सोच कर वह कुर्सी से उठा ही था कि किसी के पैरों की आहट मालूम हुई। गरदन उठा कर देखा, तो मिरज़ा नईम था। वही हँसमुख चेहरा, वही मृदु मुस्कान, वही क्रीड़ामय नेत्र। आते ही कैलास के गले से लिपट गया।

कैलास ने गरदन छुड़ाते हुए कहा—क्या मेरे घाव पर नमक छिड़कने, मेरी लाश को ठुकराने आये हो ?

नईम ने उसकी गरदन को और जोर से दबा कर कहा—और क्या, मुहब्बत के यही तो मजे हैं !

कैलास—मुझसे दिल्लगी न करो। भरा बैठा हूँ, मार बैठूँगा।

नईम की आँखें सजल हो गयीं। बोला—आह जालिम; मैं तेरी जबान से यही कटु वाक्य सुनने के लिए तो विकल हो रहा था। जितना चाहे कोसो, खूब गालियाँ दो, मुझे इसमें मधुर संगीत का आनंद आ रहा है।

कैलास—और, अभी जब अदालत का कुर्क-अमीन मेरा घर-बार नीलाम करने आयेगा, तो क्या होगा ? बोलो, अपनी जान बचा कर तो अलग हो गये !

नईम—हम दोनों मिल कर खूब तालियाँ बजायेंगे, और उसे बंदर की तरह नचायेंगे ?

कैलास—तुम अब पिटोगे मेरे हाथों से जालिम, तुझे मेरे बच्चों पर भी दया न आयी ?

नईम—तुम भी चले मुझी से जोर आजमाने। कोई समय था, जब बाजी तुम्हारे हाथ रहती थी। अब मेरी बारी है। तुमने मौका-महल तो देखा नहीं, मुझ पर पिल पड़े।

कैलास—सरासर सत्य की उपेक्षा करना मेरे सिद्धांत के विरुद्ध था।

नईम—और सत्य का गला घोंटना मेरे सिद्धांत के अनुकूल।

कैलास—अभी एक पूरा परिवार तुम्हारे गले मढ़ दूँगा, तो अपनी किस्मत को रोओगे। देखने में तुम्हारा आधा भी नहीं हूँ; लेकिन संतानोत्पत्ति में तुम जैसे तीन पर भारी हूँ। पूरे सात हैं, कम न बेश !

नईम—अच्छा लाओ, कुछ खिलाते-पिलाते हो या तकदीर का मरसिया ही गाये जाओगे ? तुम्हारे सिर की कसम बहुत भूखा हूँ। घर से बिना खाये ही चल पड़ा।

कैलास—यहाँ आज सोलहों दंड एकादशी। सब-के-सब शोक में बैठे उसी अदालत के जल्लाद की राह देख रहे हैं। खाने-पीने का क्या जिक्र ? तुम्हारी बेग में कुछ हो, तो निकालो; आज साथ बैठ कर खा लें, फिर तो जिंदगी भर का रोना है ही।

नईम—फिर तो ऐसी शरारत न करोगे ?

कैलास—वाह, यह तो अपने रोम-रोम में व्याप्त हो गयी है। जब तक सरकार पशुबल से हमारे ऊपर शासन करती रहेगी, हम उसका विरोध करते रहेंगे। खेद यही है कि अब मुझे इसका अवसर ही न मिलेगा। किंतु तुम्हें बीस हजार रुपये में से बीस रुपये भी न मिलेंगे। यहाँ रद्दियों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं है।

नईम—अजी, मैं तुमसे बीस हजार रुपये की जगह उसका पँचगुना वसूल कर लूँगा। तुम हो किस फेर में ?

कैलास—मुँह धो रखिए !

नईम—मुझे रुपयों की जरूरत है। आओ कोई समझौता कर लो।

कैलास—कुँवर साहब के बीस हजार रुपये डकार गये, फिर भी अभी संतोष नहीं हुआ ! बदहजमी हो जाएगी !

नईम—धन से धन की भूख बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती। आओ कुछ मामला कर लो। सरकारी कर्मचारियों द्वारा मामला करने में और भी जेरबारी होगी।

कैलास—अरे तो क्या मामला कर लूँ ? यहाँ कागजों के सिवा और कुछ हो भी तो !

नईम—मेरा ऋण चुकाने-भर को बहुत है। अच्छा, इसी बात पर समझौता कर लो कि

मैं जो चीज चाहूँ, ले लूँ। फिर रोना मत।

कैलास—अजी, तुम सारा दफ्तर सिर पर उठा ले जाओ, घर उठा ले जाओ, मुझे पकड़ ले जाओ, और मीठे टुकड़े खिलाओ। कसम ले लो, जो ज़रा भी चूँ करूँ।

नईम—नहीं, मैं सिर्फ एक चीज़ चाहता हूँ, सिर्फ एक चीज़ !

कैलास के कौतूहल की कोई सीमा न रही। सोचने लगा, मेरे पास ऐसी कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है ? कहीं मुझसे मुसलमान होने को तो न कहेगा। यही एक धर्म एक चीज़ है, जिसका मूल्य एक से ले कर असंख्य तक रखा जा सकता है। जरा देखूँ तो हजरत क्या कहते हैं ?

उसने पूछा—क्या चीज़ ?

नईम—मिसेज कैलास से एक मिनट तक एकांत में बातचीत करने की आज्ञा।

कैलास ने नईम के सिर पर एक चपत जमा कर कहा—फिर वही शरारत ! सैकड़ों बार तो देख चुके हो, ऐसी कौन-सी इंद्र की अप्सरा है !

नईम—वह कुछ भी हो, मामला करते हो, तो करो; मगर याद रखना, एकांत की शर्त।

कैलास—मंजूर है। फिर जो डिक्री के रुपये माँगे गये, तो नोंच ही खाऊँगा।

नईम—हाँ, मंजूर है।

कैलास—(धीरे से) मगर यार, नाजुक-मिजाज स्त्री है, कोई बेहूदा मजाक न कर बैठना।

नईम—जी, इन बातों में मुझे आपके उपदेश की जरूरत नहीं। मुझे उनके कमरे मे ले तो चलिए !

कैलास—सिर नीचे किये रहना।

नईम—अजी, आँखों में पट्टी बाँध दो।

कैलास के घर में परदा न था। उमा चिंता-मग्न बैठी हुई थी। सहसा नईम और कैलास को देख कर चौंक पड़ी। बोली, आइए मिरज़ाजी। अब की तो बहुत दिनों में याद किया।

कैलास नईम को वहीं छोड़ कर कमरे से बाहर निकल आया; लेकिन परदे की आड़ से छिप कर देखने लगा कि इनमें क्या बातें होती हैं। उसे कुछ बुरा खयाल न था, केवल कौतूहल था।

नईम—हम सरकारी आदमियों को इतनी फुरसत कहाँ ? डिक्री के रुपये वसूल करने थे, इसीलिए चला आया हूँ।

उमा कहाँ तो मुस्करा रही थी, कहाँ रुपये का नाम सुनते ही उसका चेहरा फ़क हो गया। गम्भीर स्वर में बोली—हम लोग स्वयं इसी चिंता में पड़े हुए हैं। कहीं रुपये मिलने की आशा नहीं है; और उन्हें जनता से अपील करते संकोच होता है।

नईम—अजी, आप कहती क्या हैं ? मैंने सब रुपये पाई-पाई वसूल कर लिये।

उमा ने चकित हो कर कहा—सच ! उनके पास रुपये कहाँ थे ?

नईम—उनकी हमेशा से यही आदत है। आपसे कह रखा होगा, मेरे पास कौड़ी नहीं है। लेकिन मैंने चुटकियों में वसूल कर लिया ! आप उठिए, खाने का इंतजाम कीजिए।

उमा—रुपये भला क्या दिये होंगे। मुझे एतबार नहीं आता।

नईम—आप सरल हैं और वह एक ही काइयाँ। उसे तो मैं ही खूब जानता हूँ। अपनी दरिद्रता के दुखड़े गा-गा कर आपको चकमा दिया करता होगा।

कैलास मुस्कराते हुए कमरे में आये और बोले—अच्छा, अब निकलिए बाहर ! यहाँ भी अपनी शैतानी से बाज न आये ?

नईम—रुपये की रसीद तो लिख दूँ ?

उमा—तुमने रुपये दे दिये ? कहाँ मिले ?

कैलास—फिर कभी बतला दूँगा। उठिए हजरत !

उमा—बताते क्यों नहीं, कहाँ मिले ? मिरज़ा जी से कौन परदा है ?

कैलास—नईम, तुम उमा के सामने मेरी तौहीन करना चाहते हो ?

नईम—तुमने सारी दुनिया के सामने मेरी तौहीन नहीं की ?

कैलास—तुम्हारी तौहीन की, तो उसके लिए 20 हजार रुपये नहीं देने पड़े ?

नईम—मैं भी उसी टकसाल के रुपये दे दूँगा। उमा, मैं रुपये पा गया। इन बेचारे का परदा ढंका रहने दो।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। मासिक पत्रिका, 'माधुरी', जनवरी, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप इसी शीर्षक से 'फ़िरदौसे खयाल' में संकलित।]

धिक्कार-1

अनाथ और विधवा मानी के लिए जीवन में अब रोने के सिवा दूसरा अवलंब न था। वह पाँच ही वर्ष की थी जब पिता का देहान्त हो गया। माता ने किसी तरह उसका पालन किया। सोलह वर्ष की अवस्था में मुहल्ले वालों की मदद से उसका विवाह भी हो गया, पर साल के अन्दर ही माता और पति दोनों विदा हो गये। इस विपत्ति में उसे अपने चचा वंशीधर के सिवा और कोई ऐसा नजर न आया जो उसे आश्रय देता। वंशीधर ने अब तक जो व्यवहार किया था, उससे यह आशा न हो सकती थी कि वहाँ वह शांति के साथ रह सकेगी। पर, वह सब कुछ सहने और सब करने को तैयार थी। वह गाली, झिड़की, मार-पीट सब सह लेगी, कोई उस पर संदेह तो न करेगा, उस पर मिथ्या लांछन तो न लगेगा, शोहदों और लुच्चों से उसकी रक्षा होगी। वंशीधर को कुल-मर्यादा की कुछ चिन्ता हुई। मानी की याचना को अस्वीकार न कर सके।

लेकिन दो-चार महीनों में ही मानी को मालूम हो गया कि इस घर में बहुत दिनों तक उसका निबाह न होगा। वह घर का सारा काम करती, इशारों पर नाचती, सबको खुश रखने की कोशिश करती; पर न जाने क्यों चचा और चची दोनों उससे जलते रहते। उसके आते ही महरी अलग कर दी गयी। नहलाने-धुलाने के लिए एक लौंडा था, उसे भी जवाब दिया गया। पर मानी से इतना उबार होने पर भी चचा और चची न जाने क्यों उससे मुँह फुलाये रहते। चचा घुड़कियाँ जमाते, कभी चची कोसतीं, यहाँ तक कि उसकी चचेरी बहन

ललिता भी बात-बात पर उसे गालियाँ देती। घर भर में केवल उसके चचेरे भाई गोकुल को ही उससे सहानुभूति थी। उसी की बातों में कुछ आत्मीयता, कुछ स्नेह का परिचय मिलता था। वह अपनी माता का स्वभाव जानता था। अगर वह उसे समझाने की चेष्टा करता, या खुल्लम-खुल्ला मानी का पक्ष लेता, तो मानी को एक घड़ी घर में रहना कठिन हो जाता। इसलिए उसकी सहानुभूति मानी ही को दिलासा देने तक रह जाती थी। वह कहता—बहन, मुझे कहीं नौकर हो जाने दो, फिर तुम्हारे कष्टों का अन्त हो जायगा। तब देखूँगा कौन तुम्हें तिरछी आँखों से देखता है। जब तक पढ़ता हूँ तभी तक तुम्हारे बुरे दिन हैं। मानी ये स्नेह में डूबी बातें सुनकर पुलकित हो जाती और उसका रोआँ-रोआँ गोकुल को आशीर्वाद देने लगता।

आज ललिता का विवाह है। सबेरे से ही मेहमानों का आना शुरू हो गया है। गहनों की झनकार से घर गूँज रहा है। मानी भी मेहमानों को देख-देख कर खुश हो रही है। उसकी देह पर कोई आभूषण नहीं है और न उसे सुन्दर कपड़े ही दिये गये हैं, फिर भी उसका मुख प्रसन्न है।

आधी रात हो गई थी। विवाह का मुहूर्त निकट आ गया। जनवासे से चढ़ावे की चीजें आयीं। सभी औरतें उत्सुक हो-होकर उन चीजों को देखने लगीं। ललिता को आभूषण पहिनाये जाने लगे। मानी के हृदय में बड़ी इच्छा हुई कि जाकर वधू को देखे। अभी कल जो बालिका थी उसे आज वधू-वेश में देखने की इच्छा न रोक सकी। वह मुस्कराती हुई कमरे में घुसी। सहसा उसकी चाची ने झिड़ककर कहा—तुझे यहाँ किसने बुलाया था, निकल जा यहाँ से !

मानी ने बड़ी-बड़ी यातनाएँ सही थीं; पर आज की वह झिड़की उसके हृदय में बाण की तरह चुभ गयी। उसका मन उसे धिक्कारने लगा। 'तेरे छिछोरेपन का यही पुरस्कार है, यहाँ सुहागियों के बीच में तेरे आने की क्या जरूरत थी।' वह खिसियाई हुई कमरे से निकली और एकांत में बैठकर रोने के लिए ऊपर जाने लगी। सहसा जीने पर उसकी इन्द्रनाथ से मुठभेड़ हो गयी। इन्द्रनाथ गोकुल का सहपाठी और परम मित्र था। वह भी न्यौते में आया हुआ था। इस वक्त गोकुल को खोजने के लिए ऊपर आया था। मानी को वह दो-एक बार देख चुका था और यह भी जानता था कि यहाँ उसके साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया जाता है। चाची की बातों की भनक उसके कान में भी पड़ गई थी। मानी को ऊपर जाते देखकर वह उसके चित्त का भाव समझ गया और उसे सांत्वना देने के लिए ऊपर आया; मगर दरवाजा भीतर से बन्द था। उसने किवाड़ की दरार से भीतर झाँका। मानी मेज के पास खड़ी रो रही थी।

उसने धीरे से कहा—मानी, द्वार खोल दो !

मानी उसकी आवाज सुनकर कोने में छिप गयी और गम्भीर स्वर में बोली—क्या है?

इन्द्रनाथ ने गद्‌गद् स्वर में कहा—तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ मानी खोल दो।

यह स्नेह में डूबा हुआ विनय मानी के लिए अभूतपूर्व था। इस निर्दय संसार में कोई उससे ऐसी विनती भी कर सकता है, इसकी उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। मानी ने काँपते हुए हाथों से द्वार खोल दिया। इन्द्रनाथ झपटकर कमरे में घुसा, देखा कि छत के पंखे के कड़े से एक रस्सी लटक रही है। उसका हृदय काँप उठा। उसने तुरन्त जेब से चाकू

निकाल कर रस्सी काट दी और बोला, क्या करने जा रही थी मानी ? जानती हो इस अपराध का क्या दण्ड है ?

मानी ने गर्दन झुकाकर कहा—इस दण्ड से कोई और दण्ड कठोर हो सकता है जिसकी सूरत से लोगों को घृणा हो, उसे मरने पर भी अगर कठोर दण्ड दिया जाय, तो मैं यही कहूँगी कि ईश्वर के दरबार में न्याय का नाम भी नहीं है। तुम मेरी दशा का अनुभव नहीं कर सकते।

इन्द्रनाथ की आँखें सजल हो गयीं ! मानी की बातों में कितना कठोर सत्य भरा हुआ था। बोला—सदा ये दिन नहीं रहेंगे मानी। अगर तुम यह समझ रही हो कि संसार में तुम्हारा कोई नहीं है तो यह तुम्हारा भ्रम है। संसार में कम-से-कम एक मनुष्य ऐसा है जिसे तुम्हारे प्राण अपने प्राणों से भी प्यारे हैं !

सहसा गोकुल आता हुआ दिखायी दिया। मानी कमरे से निकल गयी। इन्द्रनाथ के शब्दों ने उसके मन में एक तूफान-सा उठा दिया था। उसका क्या आशय है, यह उसकी समझ में न आया। फिर भी आज उसे अपना जीवन सार्थक मालूम हो रहा था। उसके अंधकारमय जीवन में एक प्रकाश का उदय हो गया।

3

इन्द्रनाथ को वहाँ बैठे और मानी को कमरे से जाते देखकर गोकुल को खटक गया। उसकी त्योरियाँ बदल गयीं। कठोर स्वर में बोला—तुम यहाँ कब आये ?

इन्द्रनाथ ने अविचलित भाव से कहा—तुम्हीं को खोजता हुआ यहाँ आया था। तुम यहाँ न मिले तो नीचे लौटा जा रहा था। अगर मैं चला गया होता तो इस वक्त तुम्हें यह कमरा बन्द मिलता और पंखे के कड़े में एक लाश लटकती हुई नजर आती।

गोकुल ने समझा, यह अपने अपराध को छिपाने के लिए कोई बहाना निकाल रहा है। तीव्र कंठ से बोला—तुम यह विश्वासघात करोगे, मुझे ऐसी आशा न थी।

इन्द्रनाथ का चेहरा लाल हो गया। वह आवेश में आकर खड़ा हो गया और बोला—न मुझे यह आशा थी कि तुम मुझ पर इतना बड़ा लांछन रख दोगे। मुझे न मालूम था कि तुम मुझे इतना नीच और कुटिल समझते हो। मानी तुम्हारे लिए तिरस्कार की वस्तु हो, मेरे लिए वह श्रद्धा की वस्तु है और रहेगी। मुझे तुम्हारे सामने अपनी सफाई देने की जरूरत नहीं है; लेकिन मानी मेरे लिए उससे कहीं पवित्र है, जितनी तुम समझते हो। मैं नहीं चाहता था कि इस वक्त तुमसे ये बातें कहूँ। इसके लिए और अनुकूल परिस्थितियों की राह देख रहा था; लेकिन मुआमला आ पड़ने पर कहना ही पड़ रहा है। मैं यह तो जानता था कि मानी का तुम्हारे घर में कोई आदर नहीं; लेकिन तुम लोग उसे इतना नीच और त्याज्य समझते हो, यह आज तुम्हारी माता जी की बातें सुनकर मालूम हुआ। केवल इतनी-सी बात के लिए कि वह चढ़ावे के गहने देखने चली गयी थी, तुम्हारी माता ने उसे इस बुरी तरह झिड़का, जैसे कोई कुत्ते को भी न झिड़केगा। तुम कहोगे इसमें मैं क्या करूँ, मैं कर ही क्या सकता हूँ, जिस घर में एक अनाथ स्त्री पर इतना अत्याचार हो, उस घर का पानी पीना भी हराम है। अगर तुमने अपनी माता को पहले ही दिन समझा दिया होता, तो आज यह नौबत न आती। तुम इस इल्जाम से नहीं बच सकते। तुम्हारे घर में आज विवाह

का उत्सव है, मैं तुम्हारे माता-पिता से कुछ बातचीत नहीं कर सकता; लेकिन तुमसे कहने में कोई संकोच नहीं है कि मैं मानी को अपनी जीवन-सहचरी बनाकर अपने को धन्य समझूँगा। मैंने समझा था अपना कोई ठिकाना करके तब यह प्रस्ताव करूँगा, पर मुझे भय है कि और विलम्ब करने में शायद मानी से हाथ धोना पड़े; इसलिए तुम्हें और तुम्हारे घर वालों को चिन्ता से मुक्त करने के लिए मैं आज ही यह प्रस्ताव किये देता हूँ।

गोकुल के हृदय में इन्द्रनाथ के प्रति ऐसी श्रद्धा कभी न हुई थी। उस पर ऐसा सन्देह करके वह बहुत ही लज्जित हुआ। उसने यह अनुभव भी किया कि माता के भय से मैं मानी के विषय में तटस्थ रहकर कायरता का दोषी हुआ हूँ। यह केवल कायरता थी और कुछ नहीं। कुछ झेंपता हुआ बोला—अगर अम्माँ ने मानी को इस बात पर झिड़का तो यह उनकी मूर्खता है, मैं उनसे अवसर मिलते ही पूछूँगा।

इन्द्रनाथ—अब पूछने-पाछने का समय निकल गया। मैं चाहता हूँ कि तुम मानी से इस विषय में सलाह करके मुझे बतला दो ! मैं नहीं चाहता कि अब वह यहाँ क्षण-भर भी रहे। मुझे आज मालूम हुआ कि वह गर्विणी प्रकृति की स्त्री है और सच पूछो तो मैं उसके स्वभाव पर मुग्ध हो गया हूँ। ऐसी स्त्री अत्याचार नहीं सह सकती!

गोकुल ने डरते-डरते कहा—लेकिन तुम्हें मालूम है—वह विधवा है।

जब हम किसी के हाथों अपना असाधारण हित होते देखते हैं तो हम अपनी बुराइयाँ उसके सामने खोलकर रख देते हैं। हम उसे दिखाना चाहते हैं कि हम आपकी इस कृपा के सर्वथा अयोग्य नहीं हैं।

इन्द्रनाथ ने मुस्कराकर कहा—जानता हूँ, सुन चुका हूँ और इसीलिए तुम्हारे बाबूजी से कुछ कहने का मुझे अब तक साहस नहीं हुआ; लेकिन न जानता तो भी इसका मेरे निश्चय पर कोई असर न पड़ता। मानी विधवा ही नहीं, अछूत हो उससे भी गई-बीती अगर कुछ हो सकती है, वह भी हो फिर भी मेरे लिए वह रमणी-रत्न है। हम छोटे-मोटे कामों के लिए तजर्बेकार आदमी खोजते हैं; मगर जिसके साथ हमें जीवन-यात्रा करनी है, उसमें तजर्बे का होना ऐब समझते हैं। मैं न्याय का गला घोटने वालों में नहीं हूँ। विपत्ति से बढ़कर तजर्बा सिखाने वाला कोई विद्यालय आज तक नहीं खुला। जिसने इस विद्यालय में डिग्री ले ली उसके हाथों में हम निश्चिन्त होकर जीवन की बागडोर दे सकते हैं। किसी रमणी का विधवा होना मेरी आँखों में दोष नहीं, गुण है।

गोकुल ने प्रसन्न होकर कहा—लेकिन तुम्हारे घर के लोग ?

इन्द्रनाथ ने दृढ़ता से कहा—मैं अपने घर वालों को इतना मूर्ख नहीं समझता कि इस विषय में आपत्ति करें; लेकिन वे आपत्ति करें तो मैं अपनी किस्मत अपने हाथ में ही रखना पसन्द करता हूँ। मेरे बड़ों को मुझ पर अनेकों अधिकार हैं। बहुत-सी बातों में मैं उनकी इच्छा को कानून समझता हूँ; लेकिन जिस बात को मैं अपनी आत्मा के विकास के लिए शुभ समझता हूँ, उसमें मैं किसी से दबना नहीं चाहता; मैं इस गर्व का आनन्द उठाना चाहता हूँ कि मैं स्वयं अपने जीवन का निर्माता हूँ !

गोकुल ने कुछ शंकित होकर कहा—और अगर मानी न मंजूर करे।

इन्द्रनाथ को यह शंका बिल्कुल निर्मूल जान पड़ी। बोले—तुम इस समय बच्चों की-सी बातें कर रहे हो गोकुल। यह मानी हुई बात है कि मानी आसानी से मंजूर न

करेगी। वह इस घर में ठोकरें खायेगी, झिड़कियाँ सहेगी, गालियाँ सुनेगी; पर इसी घर में रहेगी। युगों के संस्कारों को मिटा देना आसान नहीं है; लेकिन हमें उसको राज़ी करना पड़ेगा। उसके मन में संचित संस्कारों को निकालना पड़ेगा। मैं विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हूँ। मेरा ख्याल है कि पतिव्रत का अलौकिक आदर्श संसार का अमूल्य रत्न है और हमें बहुत सोच-समझकर उस पर आघात करना चाहिए; लेकिन मानी के विषय में यह बात ही नहीं उठती। प्रेम और भक्ति नाम से नहीं, व्यक्ति से होती है। जिस पुरुष की उसने सूरत भी नहीं देखी, उससे उसे प्रेम नहीं हो सकता। केवल रस्म की बात है। इस आडम्बर की, इस दिखावे की हमें परवाह न करनी चाहिए। देखो, शायद कोई तुम्हें बुला रहा है। मैं भी चलता हूँ। दो-तीन दिन में फिर मिलूँगा; मगर ऐसा न हो कि तुम संकोच में पड़कर सोचते-विचारते रह जाओ और दिन निकलते चले जायँ।

गोकुल ने उसके गले में हाथ डालकर कहा--मैं परसों खुद ही आऊँगा।

4

बारात बिदा हो गयी थी। मेहमान भी रुखसत हो गये थे। रात के नौ बज गये थे। विवाह के बाद की नींद मशहूर है। घर के सभी लोग सरेशाम से सो रहे थे। कोई चारपाई पर कोई तख्त पर, कोई जमीन पर, जिसे जहाँ जगह मिल गयी, वहीं सो रहा था। केवल मानी घर की देखभाल कर रही थी, और ऊपर गोकुल अपने कमरे में बैठा हुआ समाचार पत्र पढ़ रहा था।

सहसा गोकुल ने पुकारा—मानी, एक ग्लास ठंडा पानी तो लाना, बड़ी प्यास लगी है।

मानी पानी लेकर ऊपर गयी और मेज पर पानी रखकर लौटना ही चाहती थी कि गोकुल ने कहा—जरा मानी, तुमसे कुछ कहना है।

मानी ने कहा—अभी फुरसत नहीं है भाई, सारा घर सो रहा है। कहीं कोई घुस आये तो लोटा-थाली भी न बचे !

गोकुल ने कहा—घुस आने दो, मैं तुम्हारी जगह होता तो चोरों से मिलकर चोरी करवा देता। मुझे इसी वक्त इन्द्रनाथ से मिलना है। मैंने उससे आज मिलने का वचन दिया है—देखो संकोच मत करना, मैं जो बात पूछ रहा हूँ उसका जल्द उत्तर देना। देर होगी तो वह घबरायेगा। इन्द्रनाथ को तुमसे प्रेम है, यह तुम जानती हो न ?

मानी ने मुँह फेरकर कहा—यही बात कहने के लिए मुझे बुलाया था। मैं कुछ नहीं जानती।

गोकुल—खैर, यह वह जाने और तुम जानो। वह तुमसे विवाह करना चाहता है। वैदिक रीति से विवाह होगा। तुम्हें स्वीकार हैं ?

मानी की गर्दन शर्म से झुक गई। वह कुछ जवाब न दे सकी।

गोकुल ने फिर कहा—दादा और अम्माँ से यह बात नहीं कही गयी, इसका कारण तुम जानती ही हो। वह तुम्हें घुड़कियाँ दे-देकर, जला-जलाकर चाहे मार डालें, पर विवाह करने की सम्मति कभी न देंगे। इससे उनकी नाक कट जायेगी। इसलिए अब इसका निर्णय तुम्हारे ही ऊपर है। मैं तो समझता हूँ, तुम्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। इन्द्रनाथ तुमसे प्रेम करता है ही; यों भी निष्कलंक चरित्र का आदमी है और बला का दिलेर। भय तो

7

एक सप्ताह बीत गया; पर गोकुल का कहीं पता नहीं। इन्द्रनाथ को बम्बई में एक जगह मिल गयी। वह वहाँ चला गया था। वहाँ रहने का प्रबन्ध करके वह अपनी माता को तार देगा और तब सास और बहू वहाँ चली जायँगी। वंशीधर को पहले संदेह हुआ कि गोकुल इन्द्रनाथ के घर छिपा होगा; पर जब वहाँ पता न चला तो उन्होंने सारे शहर में खोज-पूछ शुरू की। जितने मिलने वाले, स्नेही, सम्बन्धी थे, सभी के घर गये; पर सब जगह से साफ जवाब पाया। दिन भर दौड़-धूप कर शाम को घर आते तो स्त्री को आड़ हाथों लेते—और कोसो लड़के को, पानी पी-पीकर कोसो। न जाने तुम्हें कभी बुद्धि आयेगी भी या नहीं। गयी थी चुड़ैल, जाने देती। एक बोझ सिर से टला। एक महरी रख लो काम चल जायगा। जब वह न थी, तो घर क्या भूखों मरता था। विधवाओं के पुनर्विवाह चारों ओर तो हो रहे हैं, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। हमारे वश की बात होती तो इस विधवा-विवाह के पक्षपातियों को देश से निकाल देते, शाप देकर जला देते; लेकिन यह हमारे वश की बात नहीं। फिर तुमसे इतना भी न हो सका कि मुझसे तो पूछ लेतीं। मैं जो उचित समझता, करता। क्या तुमने यह समझा था, मैं दफ्तर से लौटकर आऊँगा ही नहीं, वहीं मेरी अन्त्येष्टि हो जायगी। बस लड़के पर टूट पड़ीं। अब रोओ, खूब दिल खोलकर।

सन्ध्या हो गयी थी। वंशीधर स्त्री को फटकारें सुनाकर द्वार पर उद्वेग की दशा में टहल रहे थे। रह-रहकर मानी पर क्रोध आता था। इसी राक्षसी के कारण मेरे घर का सर्वनाश हुआ। न जाने किस बुरी साइत में आयी कि घर को मिटाकर छोड़ा ! वह न आयी होती, तो आज क्यों यह बुरे दिन देखने पड़ते। कितना होनहार, कितना प्रतिभाशाली लड़का था। न जाने कहाँ गया।

एकाएक एक बुढ़िया उनके समीप आयी और बोली—बाबू साहब, यह खत लायी हूँ। ले लीजिए।

वंशीधर ने लपककर बुढ़िया के हाथ से पत्र ले लिया, उनकी छाती आशा से धक्-धक् करने लगी। गोकुल ने शायद यह पत्र लिखा होगा। अंधेरे में कुछ न सूझा, पूछा—कहाँ से लायी है ?

बुढ़िया ने कहा—वही जो बाबू हुसेनगंज में रहते हैं; जो बंबई में नौकर हैं, उन्हीं की बहू ने भेजा है।

वंशीधर ने कमरे में जाकर लैम्प जलाया और पत्र पढ़ने लगे। मानी का खत था। लिखा था—

'पूज्य चाचा जी, अभागिनी मानी का प्रणाम स्वीकार कीजिए।

मुझे यह सुनकर अत्यन्त दुःख हुआ कि गोकुल भैया कहीं चले गये और अब तक उनका पता नहीं है। मैं ही इसका कारण हूँ। यह कलंक मेरे ही मुख पर लगना था, वह भी लग गया। मेरे कारण आपको इतना शोक हुआ इसका मुझे बहुत दुःख है; मगर भैया आवेंगे अवश्य, इसका मुझे विश्वास है। मैं इसी नौ बजेवाली गाड़ी से बंबई जा रही हूँ। मुझसे जो कुछ अपराध हुए हैं, उन्हें क्षमा कीजिएगा और चाची से मेरा प्रणाम कहिएगा। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि गोकुल भैया सकुशल घर लौट आवें। ईश्वर की इच्छा हुई तो भैया के विवाह में आपके चरणों के दर्शन करूँगी।

वंशीधर ने पत्र फाड़कर पुर्जे-पुर्जे कर डाला। घड़ी में देखा तो आठ बज रहे थे। तुरन्त कपड़े पहने, सड़क पर आकर एक्का किया और स्टेशन चले।

8

बंबई मेल प्लेटफार्म पर खड़ा था। मुसाफिरों में भगदड़ मची हुई थी। खोंचे वालों की चीख-पुकार से कान में पड़ी आवाज न सुनाई देती थी। गाड़ी छूटने में थोड़ी ही देर थी। मानी और उसकी सास एक जनाने कमरे में बैठी हुई थीं। मानी सजल नेत्रों से सामने ताक रही थी। अतीत चाहे दुःखद ही क्यों न हो, उसकी स्मृतियाँ मधुर होती हैं। मानी आज उन बुरे दिनों को स्मरण करके सुखी हो रही थी। गोकुल से अब न जाने कब भेंट होगी। चाचा जी आ जाते उनके दर्शन कर लेती। कभी-कभी बिगड़ते थे तो क्या, उसके भले ही के लिए डाँटते थे। वह आवेंगे नहीं। अब तो गाड़ी छूटने में थोड़ी ही देर है। कैसे आवें, समाज में हलचल न मच जायगी। भगवान की इच्छा होगी तो अब की जब यहाँ आऊँगी तो जरूर उनके दर्शन करूँगी।

एकाएक उसने लाला वंशीधर को आते देखा। वह गाड़ी से निकलकर बाहर खड़ी हो गयी और चाचा जी की ओर बढ़ी। उनके चरणों पर गिरना चाहती थी कि वह पीछे हट गये और आँखें निकालकर बोले—मुझे मत छू दूर रह, अभागिनी कहीं की। मुँह में कालिख लगाकर मुझे पत्र लिखती है। तुझे मौत भी नहीं आती ! तूने मेरे कुल का सर्वनाश कर दिया। आज तक गोकुल का पता नहीं है। तेरे ही कारण वह घर से निकला और तू अभी तक मेरी छाती पर मूँग दलने को बैठी है। तेरे लिए क्या गंगा में पानी नहीं है ? मैं तुझे ऐसी कुलटा, ऐसी हरजाई समझता, तो पहले दिन ही तेरा गला घोंट देता। अब मुझे अपनी भक्ति दिखलाने चली है ! तुझ जैसी पापिष्ठाओं का मरना ही अच्छा है, पृथ्वी का बोझ कम हो जायगा।

प्लेटफार्म पर सैकड़ों आदमियों की भीड़ लग गयी थी, और वंशीधर निर्लज्ज भाव से गालियों की बौछार कर रहे थे। किसी की समझ में न आता था, क्या माजरा है; पर मन में सब लाला को धिक्कार रहे थे।

मानी पाषाण-मूर्ति के समान खड़ी थी। मानो वहीं जम गयी हो। उसका सारा अभिमान चूर-चूर हो गया। ऐसा जी चाहता था, धरती फट जाय और मैं समा जाऊँ, कोई वज्र गिराकर उसके जीवन—अधम जीवन—का अन्त कर दे। इतने आदमियों के सामने उसका पानी उतर गया ! उसकी आँखों से आँसू की एक बूँद भी न निकली, हृदय में आँसू न थे। उसकी जगह एक दावानल-सा दहक रहा था जो मानो वेग से मस्तिष्क की ओर बढ़ता जाता था। संसार में कौन जीवन इतना अधम होगा !

सास ने पुकारा—बहू, अन्दर आ जाओ।

9

गाड़ी चली तो माता ने कहा—ऐसा बेशर्म आदमी मैंने नहीं देखा। मुझे तो ऐसा क्रोध आ रहा था कि उसका मुँह नोच लूँ।

उसे छू भी नहीं गया। मुझे तुम्हें सुखी देखकर सच्चा आनन्द होगा !

मानी के हृदय में एक वेग उठ रहा था, मगर मुँह से आवाज न निकली।

गोकुल ने अबकी खीझकर कहा—देखो मानी, यह चुप रहने का समय नहीं है, सोचती क्या हो ?

मानी ने काँपते हुए स्वर में कहा—हाँ !

गोकुल के हृदय का बोझ हल्का हो गया। मुस्कराने लगा। मानी शर्म के मारे वहाँ से भाग गई।

5

शाम को गोकुल ने अपनी माँ से कहा—अम्माँ, इन्द्रनाथ के घर आज कोई उत्सव है। उसकी माता अकेली घबड़ा रही थीं कि कैसे काम होगा ? मैंने कहा, मानी को भेज दूँगा, तुम्हारी आज्ञा हो तो मानी को पहुँचा दूँ। कल-परसों तक चली आयेगी।

मानी उसी वक्त वहाँ आ गयी। गोकुल ने उसकी ओर कनखियों से ताका। मानी लज्जा से गड़ गयी। भागने का रास्ता न मिला।

माँ ने कहा—मुझसे क्या पूछते हो, वह जाय तो ले जाओ !

गोकुल ने कहा—कपड़े पहनकर तैयार हो जाओ, तुम्हें इन्द्रनाथ के घर चलना है।

मानी ने आपत्ति की—मेरा जी अच्छा नहीं है, मैं न जाऊँगी।

गोकुल की माँ ने कहा—चली क्यों नहीं जाती, क्या वहाँ कोई पहाड़ खोदना है।

मानी एक सफेद साड़ी पहनकर ताँगे पर बैठी, तो उसका हृदय काँप रहा था और बार-बार आँखों में आँसू भर आते थे, उसका हृदय बैठा जाता था, मानो नदी में डूबने जा रही हो।

ताँगा कुछ दूर निकल गया तो उसने गोकुल से कहा—भैया मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है, लौट चलो, तुम्हारे पैर पड़ती हूँ।

गोकुल ने कहा—तू पागल है। वहाँ सब लोग तेरी राह देख रहे हैं और तू कहती है लौट चलो।

मानी—मेरा मन कहता है कोई अनिष्ट होने वाला है।

गोकुल—और मेरा मन कहता है तू रानी बनने जा रही है।

मानी—दस-पाँच दिन ठहर क्यों नहीं जाते। कह देना मानी बीमार है।

गोकुल—पागलों की-सी बातें न करो।

मानी—लोग कितना हँसेंगे ?

गोकुल—मैं शुभ कार्य में किसी की परवा नहीं करता।

मानी—अम्माँ तुम्हें घर में घुसने न देंगी। मेरे कारण तुम्हें भी झिड़कियाँ मिलेंगी।

गोकुल—इसकी कोई परवा नहीं है। उनकी तो यह आदत ही है।

ताँगा पहुँच गया। इन्द्रनाथ की माता विचारशील महिला थीं। उन्होंने आकर वधू को उतारा और भीतर ले गयीं।

6

गोकुल यहाँ से घर चला तो ग्यारह बज रहे थे। एक ओर तो शुभ कार्य के पूरा करने का आनन्द था, दूसरी ओर भय था कि कल मानी न जायगी तो लोगों को क्या जवाब दूँगा। उसने निश्चय किया चलकर सब साफ-साफ कह दूँ। छिपाना व्यर्थ है। आज नहीं कल, कल नहीं परसों तो सब कुछ कहना ही पड़ेगा। आज ही क्यों न कह दूँ।

यह निश्चय करके वह घर में दाखिल हुआ।

माता ने किवाड़ खोलते हुए कहा—इतनी रात तक क्या करने लगे ? उसे भी क्यों न लेते आए, कल सबेरे चौका-बरतन कौन करेगा ?

गोकुल ने सिर झुकाकर कहा—वह तो अब शायद लौटकर न आवे अम्माँ। उसके वहीं रहने का प्रबन्ध हो गया है।

माता ने आँख फाड़कर कहा—क्या बकता है, भला वह वहाँ कैसे रहेगी ?

गोकुल—इन्द्रनाथ से उसका विवाह हो गया है।

माता मानो आकाश से गिर पड़ी। उन्हें कुछ सुध न रही कि मेरे मुँह से क्या निकल रहा है कुलांगार, भड़वा, हरामजादा, और न जाने क्या-क्या कहा। यहाँ तक कि गोकुल का धैर्य चरम सीमा का उल्लंघन कर गया। उसका मुँह लाल हो गया, त्योरियाँ बढ़ गयीं। बोला—अम्माँ बस करो, अब मुझमें इससे ज्यादा सुनने की सामर्थ्य नहीं है। अगर मैंने कोई अनुचित कर्म किया होता तो आपकी जूतियाँ खाकर भी सिर न उठाता; मगर मैंने कोई अनुचित कर्म नहीं किया। मैंने वही किया जो ऐसी दशा में मेरा कर्तव्य था और जो हर एक भले आदमी को करना चाहिए। तुम मूर्ख हो, तुम्हें कुछ नहीं मालूम कि समय की क्या प्रगति है। इसलिए अब तक मैंने धैर्य के साथ तुम्हारी गालियाँ सुनीं। तुमने, और मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि पिता जी ने भी, मानी के जीवन को नारकीय बना रक्खा था। तुमने उसे ऐसी-ऐसी ताड़नाएँ दीं जो कोई अपने शत्रु को भी न देगा। इसीलिए न कि वह तुम्हारी आश्रित थी ? इसीलिए न कि वह अनाथिनी थी ? अब वह तुम्हारी गालियाँ खाने न आवेगी। जिस दिन तुम्हारे घर का विवाह उत्सव हो रहा था, तुम्हारे ही एक कठोर वाक्य से आहत होकर वह आत्महत्या करने जा रही थी। इन्द्रनाथ उस समय ऊपर न पहुँच जाते तो आज हम, तुम और सारा घर हवालात में बैठे होते।

माता ने आँखें मटकाकर कहा—आहा ! कितने सपूत बेटे हो तुम कि सारे घर को संकट से बचा लिया। क्यों न हो ! अभी बहन की बारी है। तुम दिन में मुझे ले जाकर किसी के गले बाँध आना। फिर तुम्हारी चाँदी हो जायगी। यह रोजगार सबसे अच्छा है। पढ़-लिखकर क्या करोगे।

गोकुल मर्म-वेदना से तिलमिला उठा। व्यथित कंठ से बोला—ईश्वर न करे कि कोई बालक तुम-जैसी माता के गर्भ से जन्म ले। तुम्हारा मुँह देखना भी पाप है।

यह कहता हुआ वह घर से निकल पड़ा और उन्मत्तों की तरह एक तरफ चल खड़ा हुआ। जोर के झोंके चल रहे थे; पर उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि साँस लेने के लिए हवा नहीं है।

'यह भी पूछने की बात है! अब घर कौन जाता है; मगर कल दावत खिलानी पड़ेगी।'

सहसा तार के चपरासी ने आकर इन्द्रनाथ के हाथ में तार का लिफाफा रख दिया।

इन्द्रनाथ का चेहरा खिल उठा। झट तार खोलकर पढ़ने लगा। एक बार पढ़ते ही उसका हृदय धक् से हो गया, साँस रुक गयी, सिर घूमने लगा। आँखों की रोशनी लुप्त हो गयी, जैसे विश्व पर काला परदा पड़ गया हो। उसने तार को मित्रों के सामने फेंक दिया और दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर फूट-फूटकर रोने लगा। दोनों मित्रों ने घबड़ाकर तार उठा लिया और उसे पढ़ते ही हतबुद्धि से ही दीवार की ओर ताकने लगे। क्या सोच रहे थे और क्या हो गया !

तार में लिखा था—मानी गाड़ी से कूद पड़ी। उसकी लाश लालपुर से तीन मील पर पायी गयी। मैं लालपुर में हूँ। तुरन्त आओ।

एक मित्र ने कहा—किसी शत्रु ने झूठी खबर न भेज दी हो।

दूसरे मित्र ने कहा—हाँ, कभी-कभी लोग ऐसी शरारतें करते हैं।

इन्द्रनाथ ने शून्य नेत्रों से उनकी ओर देखा; पर मुँह से कुछ बोले नहीं !

कई मिनट तीनों आदमी निर्वाक् निस्पन्द बैठे रहे। एकाएक इन्द्रनाथ खड़े हो गये और बोले—मैं इस गाड़ी से जाऊँगा।

बम्बई से नौ बजे रात को गाड़ी छूटती थी। दोनों मित्रों ने चटपट बिस्तर आदि बाँधकर तैयार कर दिया। एक ने बिस्तर उठाया, दूसरे ने ट्रंक। इन्द्रनाथ ने चटपट कपड़े पहने और स्टेशन चले। निराशा आगे थी; आशा रोती हुई पीछे।

12

एक सप्ताह गुजर गया था। लाला वंशीधर दफ्तर से आकर द्वार पर बैठे ही थे कि इन्द्रनाथ ने आकर प्रणाम किया। वंशीधर उसे देखकर चौंक पड़े, उसके अनपेक्षित आगमन पर नहीं, उसकी विकृत दशा पर; मानों वीतराग शोक सामने खड़ा हो, मानो कोई हृदय से निकली हुई आह मूर्तिमान हो गयी हो।

वंशीधर ने पूछा—तुम बम्बई चले गये थे न ?

इन्द्रनाथ ने जवाब दिया—जी हाँ, आज ही आया हूँ।

वंशीधर ने तीखे स्वर में कहा—गोकुल को तो तुम ले बीते !

इन्द्रनाथ ने अपनी अंगूठी की ओर ताकते हुए कहा—वह मेरे घर पर हैं।

वंशीधर के उदास मुख पर हर्ष का प्रकाश दौड़ गया। बोले—तो यहाँ क्यों नहीं आये? तुमसे कहाँ उसकी भेंट हुई ? क्या बम्बई चला गया था ?

'जी नहीं, कल मैं गाड़ी से उतरा तो स्टेशन पर मिल गये।'

'तो जाकर लिवा लाओ न, जो किया अच्छा किया।'

यह कहते हुए वह घर में दौड़े। एक क्षण में गोकुल की माता ने उसे अन्दर बुलाया।

वह अन्दर गया तो माता ने उसे सिर से पाँव तक देखा—तुम बीमार थे क्या भैया ? चेहरा क्यों इतना उतरा है।

गोकुल की माता ने पानी का लोटा रखकर कहा—हाथ-मुँह धो डालो बेटा, गोकुल है तो अच्छी तरह? कहाँ रहा इतने दिन! तब से सैंकड़ों मन्नतें मान डालीं। आया क्यों नहीं?

इन्द्रनाथ ने हाथ-मुँह धोते हुए कहा—मैंने तो कहा था चलो, लेकिन डर के मारे नहीं आते।

'और था कहाँ इतने दिन ?'

'कहते थे, देहातों में घूमता रहा।'

'तो क्या तुम अकेले बम्बई से आये हो ?'

'जी नहीं, अम्माँ भी आयी हैं।'

गोकुल की माता ने कुछ सकुचाकर पूछा—मानी तो अच्छी जगह है ?

इन्द्रनाथ ने हँसकर कहा—जी हाँ, अब वह बड़े सुख से हैं। संसार के बन्धनों से छूट गयीं।

माता ने अविश्वास करके कहा—चल नटखट कहीं का। बेचारी को कोस रहा है, मगर इतनी जल्दी बम्बई से लौट क्यों आये ?

इन्द्रनाथ ने मुस्कराते हुए कहा—क्या करता ! माता जी का तार बम्बई में मिला कि मानी ने गाड़ी से कूदकर प्राण दे दिये ! वह लालपुर में पड़ी हुई थीं, दौड़ा हुआ आया। वहीं दाह-क्रिया की। आज घर चला आया। अब मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

वह और कुछ न कह सका। आँसुओं के वेग ने गला बन्द कर दिया। जेब से एक पत्र निकालकर माता के सामने रखता हुआ बोला—उनके संदूक में यही पत्र मिला है।

गोकुल की माता कई मिनट तक मर्माहत-सी बैठी जमीन की ओर ताकती रहीं। शोक और उससे अधिक पश्चात्ताप ने सिर को दबा रखा था। फिर पत्र उठाकर पढ़ने लगी।

'स्वामी !'

जब यह पत्र आपके हाथों में पहुँचेगा। तब तक मैं इस संसार से विदा हो जाऊँगी ! मैं बड़ी अभागिनी हूँ। मेरे लिए इस संसार में स्थान नहीं है। आपको भी मेरे कारण क्लेश और निन्दा ही निन्दा मिलेगी। मैंने सोचकर देखा और यही निश्चय किया कि मेरा मरना ही अच्छा है। मुझ पर आपने जो दया की थी, उसके लिए आपको क्या प्रतिदान करूँ ? जीवन में मैंने कभी किसी वस्तु की इच्छा नहीं की; परन्तु मुझे दुःख है कि आपके चरणों पर सिर रख कर न मर सकी। मेरी अन्तिम याचना है कि मेरे लिए आप शोक न कीजिएगा। 'ईश्वर आपको सदा सुखी रखे।'

माता जी ने पत्र रख दिया और आँखों से आँसू बहने लगे। बरामदे में वंशीधर निस्पंद खड़े थे और जैसे मानी लज्जानत उनके सामने खड़ी थी।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', फरवरी, 1925 में प्रकाशित। यही कहानी 'भविष्य', 30 अक्टूबर, 1930 में पुनर्प्रकाशित हुई। 'मानसरोवर' भाग-1 में संकलित।]

नरक का मार्ग

रात "भक्तमाल" पढ़ते-पढ़ते न जाने कब नींद आ गयी। कैसे-कैसे महात्मा थे जिनके लिए भगवत्-प्रेम ही सब कुछ था, इसी में मग्न रहते थे। ऐसी भक्ति बड़ी तपस्या से मिलती

मानी ने सिर ऊपर न उठाया।

माता फिर बोली—न जाने इन सड़ियलों को कब बुद्धि आयेगी, अब तो मरने के दिन भी आ गये। पूछो, तेरा लड़का भाग गया तो हम क्या करें; अगर ऐसे पापी न होते यह वज्र ही क्यों गिरता।

मानी ने फिर मुँह न खोला। शायद उसे कुछ सुनाई न देता था। शायद उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी न था। वह टकटकी लगाये खिड़की की ओर ताक रही थी। उस अंधकार में उसे न जाने क्या सूझ रहा था।

कानपुर आया। माता ने पूछा—बेटी कुछ खायेगी ? थोड़ी सी मिठाई लो; दस कब के बज गये।

मानी ने कहा—अभी तो भूख नहीं है अम्माँ, फिर खा लूँगी।

माता सोई। मानी भी लेटी; पर चचा की वह सूरत आँखों के सामने खड़ी थी और उनकी बातें कानों में गूँज रही थीं—आह ! मैं इतनी नीच हूँ, ऐसी पतित कि मेरे मर जाने से पृथ्वी का भार हल्का हो जाएगा ! क्या कहा था, तू अपने माँ-बाप की बेटी है तो फिर मुँह मत दिखाना। न दिखाऊँगी। जिस मुँह पर कालिमा लगी हुई हो तो उसे किसी को दिखाने की इच्छा भी नहीं है।

गाड़ी अंधकार को चीरती हुई चली जा रही थी। मानी ने अपना ट्रंक खोला अपने आभूषण निकालकर उसमें रख दिये। फिर इन्द्रनाथ का चित्र निकालकर उसे देर तक देखती रही। उसकी आँखों में गर्व की एक झलक-सी दिखाई दी। उसने तस्वीर रख दी और आप-ही-आप—नहीं-नहीं, मैं तुम्हारे जीवन को कलंकित नहीं कर सकती। तुम देवतुल्य हो, तुमने मुझ पर दया की है ! मैं अपने पूर्व-संस्कारों का प्रायश्चित कर रही थी। तुमने मुझे उठाकर हृदय से लगा लिया; लेकिन मैं तुम्हें कलंकित न करूँगी। तुम्हें मुझसे प्रेम है। तुम मेरे लिए अनादर, अपमान, निन्दा सब सह लोगे; पर मैं तुम्हारे जीवन का भार न बनूँगी।

गाड़ी अंधकार को चीरती चली जा रही थी। मानी आकाश की ओर इतनी देर तक देखती रही कि सारे तारे अदृश्य हो गये और अंधकार में उसे अपनी माता का स्वरूप दिखायी दिया—ऐसा उज्जवल, ऐसा प्रत्यक्ष कि उसने चौंकरक आँखें बन्द कर लीं। फिर कमरे के अन्दर देखा तो माता जी सो रही थीं।

10

न जाने कितनी रात गुजर चुकी थी। दरवाजा खुलने की आहट से माता जी की आँख खुल गयी। गाड़ी तेजी से चली जा रही थी; मगर बहू का पता न था। वह आँखें मलकर उठ बैठीं और पुकारा—बहू ! बहू; कोई जवाब न मिला।

उनका हृदय धक्-धक् करने लगा। ऊपर के बर्थ पर नजर डाली, पेशाबखाने में देखा, बेंचों के नीचे देखा, बहू कहीं न थी। तब वह द्वार पर आकर खड़ी हो गयी। शंका हुई, यह द्वार किसने खोला ? कोई गाड़ी में तो नहीं आया ! उनका जी घबड़ाने लगा। उन्होंने किवाड़ बन्द कर दिये और जोर-जोर से रोने लगीं। किससे पूछें ? डाक गाड़ी अब न जाने कितनी देर में रुकेगी। कहती थी, बहू मरदानी गाड़ी में बैठो। पर मेरा कहना न माना। कहने लगी, अम्माँ जी, आपको सोने की तकलीफ होगी। यही आराम दे गयी ?

सहसा उसे खतरे की जंजीर याद आयी। उसने जोर-जोर से कई बार जंजीर खींची। कई मिनट के बाद गाड़ी रुकी। गार्ड आया। पड़ोस के कमरे से दो-चार आदमी और भी आये। फिर लोगों ने सारा कमरा तलाश किया। नीचे तख्ते को ध्यान से देखा। रक्त का कोई चिह्न न था। असबाब की जाँच की। बिस्तर, सन्दूक, सन्दूकची, बर्तन सब मौजूद थे। ताले भी सबके बन्द थे। कोई चीज गायब न थी। अगर बाहर से कोई आदमी आता तो चलती गाड़ी से जाता कहाँ ? एक स्त्री को लेकर गाड़ी से कूद जाना असम्भव था। सब लोग इन लक्षणों से इस नतीजे पर पहुँचे कि मानी द्वार खोलकर बाहर झाँकने लगी होगी और मुठिया हाथ से छूट जाने के कारण गिर पड़ी होगी। गार्ड भला आदमी था। उसने नीचे उतरकर एक मील तक सड़क के दोनों तरफ तलाश किया। मानी का कोई निशान न मिला। रात को उससे ज्यादा और क्या किया जा सकता था। माता जी को कुछ लोग आग्रह-पूर्वक एक मरदाने डिब्बे में ले गये। यह निश्चय हुआ कि माता जी अगले स्टेशन पर उतर पड़ें और सबेरे इधर-उधर दूर तक देख-भाल की जाय। विपत्ति में हम परमुखापेक्षी हो जाते हैं। माता जी उसका मुँह देखती, कभी उसका। उसकी याचना से भरी हुई आँखें मानों सबसे कह रही थीं—कोई मेरी बच्ची को खोज क्यों नहीं लाता ? हाय ! अभी तो बेचारी की चूँदरी भी नहीं मैली हुई कैसे-कैसे साधों और अरमानों से भरी पति के पास जा रही थी ! कोई उस दुष्ट वंशीधर से जाकर कहता क्यों नहीं—ले तेरी मनोभिलाषा पूरी हो गयी—जो तू चाहता था, वह पूरा हो गया। क्या अब भी तेरी छाती नहीं जुड़ाती !

वृद्धा बैठी रो रही थी और गाड़ी अंधकार को चीरती चली गयी।

11

रविवार का दिन था। संध्या समय इन्द्रनाथ दो-तीन मित्रों के साथ अपने घर की छत पर बैठा हुआ था। आपस में हास-परिहास हो रहा था। मानी का आगमन इस परिहास का विषय था।

एक मित्र बोले—क्यों इन्द्र तुमने तो वैवाहिक जीवन का कुछ अनुभव किया है हमें क्या सलाह देते हो ? बनायें कहीं घोसला, या यों ही डालियों पर बैठे-बैठे दिन काटें। पत्र-पत्रिकाओं को देखकर तो यही मालूम होता है कि वैवाहिक जीवन और नरक में बहुत थोड़ा ही-सा अन्तर है।

इन्द्रनाथ ने मुस्कराकर कहा—यह तो तकदीर का खेल है भाई, सोलहों आना तकदीर का। अगर एक दशा में वैवाहिक जीवन नरक-तुल्य है, तो दूसरी दशा में स्वर्ग से कम नहीं।

दूसरे मित्र बोले—इतनी आजादी तो भला क्या रहेगी ?

इन्द्रनाथ—इतनी क्या, इसका शतांश भी न रहेगी। अगर तुम रोज सिनेमा देखकर बारह बजे घर लौटना चाहते हो, नौ बजे सोकर उठना चाहते हो और दफ्तर से चार बजे लौटकर ताश खेलना चाहते हो, तो तुम्हें विवाह करने से कोई सुख न होगा। और जो हर महीने सूट बनवाते हो, तब शायद साल भर में भी न बनवा सको।

'श्रीमती जी तो आज रात की गाड़ी से आ रही हैं ?'

'हाँ मेल से। मेरे साथ चलकर उन्हें रिसीव करोगे न ?'

साधारण बुद्धि का आदमी भी समझ सकता है कि फूहड़ बहू बन कर बाहर निकलना अपनी हँसी उड़ाना है, लेकिन आप उसी वक्त न-जाने किधर से टपक पड़े और मेरी ओर तिरस्कारपूर्ण नेत्रों से देख कर बोले—कहाँ की तैयारी है ?

मैंने कह दिया, जरा ठाकुर जी की झाँकी देखने जाती हूँ। इतना सुनते ही त्योरियाँ चढ़ा कर बोले—तुम्हारे जाने की कुछ जरूरत नहीं। जो स्त्री अपने पति की सेवा नहीं कर सकती, उसे देवताओं के दर्शन से पुण्य के बदले पाप होता है ! मुझसे उड़ने चली हो। मैं औरतों की नस-नस पहचानता हूँ।

ऐसा क्रोध आया कि बस अब क्या कहूँ। उसी दम कपड़े बदल डाले और प्रण कर लिया कि अब कभी दर्शन करने न जाऊँगी। इस अविश्वास का भी कुछ ठिकाना है ! न जाने क्या सोच कर रुक गयी। उनकी बात का जवाब तो यही था कि उसी क्षण घर से चल खड़ी होती, फिर देखती मेरा क्या कर लेते !

इन्हें मेरे उदास और विमन रहने पर आश्चर्य होता है। मुझे मन में कृतघ्न समझते हैं, अपनी समझ में इन्होंने मेरे साथ विवाह करके शायद मुझ पर बड़ा एहसान किया है। इतनी बड़ी जायदाद और इतनी विशाल सम्पत्ति की स्वामिनी हो कर मुझे फूले न समाना चाहिए था, आठों पहर इनका यशगान करते रहना चाहिए था। मैं यह सब कुछ न करके उलटे और मुँह लटकाये रहती हूँ। कभी-कभी मुझे बेचारे पर दया आती है। यह नहीं समझते कि नारी जीवन में कोई ऐसी वस्तु भी है जिसे खो कर उसकी आँखों में स्वर्ग भी नरकतुल्य हो जाता है !

5

तीन दिन से बीमार हैं। डाक्टर कहते हैं, बचने की कोई आशा नहीं, निमोनिया हो गया है। पर मुझे न जाने क्यों इनका गम नहीं है। मैं इतनी वज्र-हृदय कभी न थी। न-जाने वह मेरी कोमलता कहाँ चली गयी। किसी बीमार की सूरत देख कर मेरा हृदय करुणा से चंचल हो जाता था, मैं किसी का रोना नहीं सुन सकती थी। वही मैं हूँ कि आज तीन दिन से उन्हें अपने बगल के कमरे में पड़े कराहते सुनती हूँ; और एक बार भी उन्हें देखने न गयी, आँख में आँसू आने का जिक्र ही क्या। मुझे ऐसा मालूम होता है, इनसे मेरा कोई नाता ही नहीं। मुझे चाहे कोई पिशाचिनी कहे, चाहे कुलटा, पर मुझे तो यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि इनकी बीमारी से मुझे एक प्रकार का ईर्ष्यामय आनन्द आ रहा है। इन्होंने मुझे यहाँ कारावास दे रखा था—मैं इसे विवाह का पवित्र नाम नहीं देना चाहती—यह कारावास ही है। मैं इतनी उदार नहीं हूँ कि जिसने मुझे कैद में डाल रखा हो उसकी पूजा करूँ, जो मुझे लात से मारे उसके पैरों को चूमूँ। मुझे तो मालूम हो रहा है, ईश्वर इन्हें इस पाप का दण्ड दे रहे हैं। मैं निस्संकोच हो कर कहती हूँ कि मेरा इनसे विवाह नहीं हुआ। स्त्री किसी के गले बाँध दिये जाने से ही उसकी विवाहिता नहीं हो जाती। वही संयोग विवाह का पद पा सकता है जिसमें कम-से-कम एक बार तो हृदय प्रेम से पुलकित हो जाय ! सुनती हूँ, महाशय अपने कमरे में पड़े-पड़े मुझे कोसा करते हैं, अपनी बीमारी का सारा बुखार मुझ पर निकालते हैं, लेकिन यहाँ इसकी परवा नहीं। जिसका जी चाहे जायदाद ले, धन ले, मुझे इसकी जरूरत नहीं !

6

आज तीन दिन हुए, मैं विधवा हो गयी, कम-से-कम लोग यही कहते हैं। जिसका जो जी चाहे कहे, पर मैं अपने को जो कुछ समझती हूँ वह समझती हूँ। मैंने चूड़ियाँ नहीं तोड़ीं, क्यों तोड़ूँ ? माँग में सेंदूर पहले भी न डालती थी, अब भी नहीं डालती। बूढ़े बाबा का क्रिया-कर्म उनके सुपुत्र ने किया, मैं पास न फटकी। घर में मुझ पर मनमानी आलोचनाएँ होती हैं, कोई मेरे गूँथे हुए बालों को देख कर नाक सिकोड़ता है, कोई मेरे आभूषणों पर आँख मटकाता है, यहाँ इसकी चिन्ता नहीं। इन्हें चिढ़ाने को मैं भी रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहनती हूँ, और बनती-सँवरती हूँ, मुझे जरा भी दुःख नहीं है। मैं तो कैद से छूट गयी। इधर कई दिन सुशीला के घर गयी। छोटा-सा मकान है, कोई सजावट न सामान, चारपाइयाँ तक नहीं, पर सुशीला कितने आनन्द से रहती है। उसका उल्लास देख कर मेरे मन में भी भाँति-भाँति की कल्पनाएँ उठने लगती हैं—उन्हें कुत्सित क्यों कहूँ, जब मेरा मन उन्हें कुत्सित नहीं समझता। इनके जीवन में कितना उत्साह है। आँखें मुस्कराती रहती हैं, ओठों पर मधुर हास्य खेलता रहता है, बातों में प्रेम का स्रोत बहता हुआ जान पड़ता है। इस आनन्द से, चाहे वह कितना ही क्षणिक हो, जीवन सफल हो जाता है, फिर उसे कोई भूल नहीं सकता, उसकी स्मृति अन्त तक के लिए काफी हो जाती है, इस मिजराव की चोट हृदय के तारों को अन्तकाल तक मधुर स्वरों से कम्पित रख सकती है।

एक दिन मैंने सुशीला से कहा—अगर तेरे पतिदेव कहीं परदेश चले जायँ तो रोते-रोते मर जायगी !

सुशीला गम्भीर भाव से बोली—नहीं बहन, मरूँगी नहीं, उनकी याद सदैव प्रफुल्लित करती रहेगी, चाहे उन्हें परदेश में बरसों लग जायें।

मैं यही प्रेम चाहती हूँ, इसी चोट के लिए मेरा मन तड़पता रहता है, मैं भी ऐसी ही स्मृति चाहती हूँ, जिससे दिल के तार सदैव बजते रहें, जिसका नशा नित्य छाया रहे।

7

रात रोते-रोते हिचकियाँ बँध गयीं। न-जाने क्यों दिल भर-भर आता था। अपना जीवन सामने एक बीहड़ मैदान की भाँति फैला हुआ मालूम होता था, जहाँ बगूलों के सिवा हरियाली का नाम नही। घर फाड़े खाता था, चित्त ऐसा चंचल हो रहा था कि कहीं उड़ जाऊँ। आजकल भक्ति के ग्रंथों की ओर ताकने को जी नहीं चाहता, कहीं सैर करने जाने की भी इच्छा नहीं होती, क्या चाहती हूँ वह मैं स्वयं नहीं जानती। लेकिन मैं जो नहीं जानती वह मेरा एक-एक रोम जानता है, मैं अपनी भावनाओं की सजीव भूमि हूँ, मेरा एक-एक अंग मेरी आन्तरिक वेदना का आर्तनाद कर रहा है।

मेरे चित्त की चंचलता उस अंतिम दशा को पहुँच गयी है, जब मनुष्य को निन्दा की न लज्जा रहती है और न भय। जिन लोभी, स्वार्थी माता-पिता ने मुझे कुएँ में ढकेला, जिस पाषाण-हृदय प्राणी ने मेरी माँग में सेंदूर डालने का स्वाँग किया, उनके प्रति मेरे मन में बार-बार दुष्कामनाएँ उठती हैं, मैं उन्हें लज्जित करना चाहती हूँ। मैं अपने मुँह में कालिख लगा कर उनके मुख में कालिख लगाना चाहती हूँ। मैं अपने प्राण दे कर उन्हें प्राणदंड

है। क्या मैं वह तपस्या नहीं कर सकती ? इस जीवन में और कौन-सा सुख रखा है ? आभूषणों से जिसे प्रेम हो वह जाने, यहाँ तो इनको देख कर आँखें फूटती हैं; धन-दौलत पर जो प्राण देता हो वह जाने, यहाँ तो इसका नाम सुन कर ज्वर-सा चढ़ आता है। कल पगली सुशीला ने कितनी उमंगों से मेरा शृंगार किया था, कितने प्रेम से बालों में फूल गूँथे थे। कितना मना करती रही, न मानी। आखिर वही हुआ जिसका मुझे भय था। जितनी देर उसके साथ हँसी थी, उससे कहीं ज्यादा रोयी। संसार में ऐसी भी कोई स्त्री है, जिसका पति उसका शृंगार देख कर सिर से पाँव तक जल उठे ? कौन ऐसी स्त्री है जो अपने पति के मुँह से ये शब्द सुने—तुम मेरा परलोक बिगाड़ोगी, और कुछ नहीं, तुम्हारे रंग-ढंग कहे देते हैं—और उसका दिल विष खा लेने को न चाहे। भगवान् ! संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं। आखिर मैं नीचे चली गयी और 'भक्तमाल' पढ़ने लगी। अब वृंदावन-बिहारी ही की सेवा करूँगी। उन्हीं को अपना शृंगार दिखाऊँगी, वह तो देख कर न जलेंगे, वह तो मेरे मन का हाल जानते हैं।

2

भगवान् ! मैं अपने मन को कैसे समझाऊँ ! तुम अंतर्यामी हो, तुम मेरे रोम-रोम का हाल जानते हो। मैं चाहती हूँ कि उन्हें अपना इष्ट समझूँ, उनके चरणों की सेवा करूँ, उनके इशारे पर चलूँ, उन्हें मेरी किसी बात से, किसी व्यवहार से नाममात्र भी दुःख न हो। वह निर्दोष हैं, जो कुछ मेरे भाग्य में था वह हुआ, न उनका दोष है, न माता-पिता का, सारा दोष मेरे नसीबों ही का है। लेकिन यह सब जानते हुए भी जब उन्हें आते देखती हूँ, तो मेरा दिल बैठ जाता है, मुँह पर मुरदनी-सी छा जाती है, सिर भारी हो जाता है; जी चाहता है इनकी सूरत न देखूँ, बात तक करने को जी नहीं चाहता; कदाचित् शत्रु को भी देख कर किसी का मन इतना क्लांत न होता होगा। उनके आने के समय दिल में धड़कन-सी होने लगती है। दो-एक दिन के लिए कहीं चले जाते हैं तो दिल पर से एक बोझ-सा उठ जाता है; हँसती भी हूँ, बोलती भी हूँ, जीवन में कुछ आनंद आने लगता है लेकिन उनके आने का समाचार पाते ही फिर चारों ओर अंधकार ! चित्त की ऐसी दशा क्यों है, यह मैं नहीं कह सकती। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व जन्म में हम दोनों में वैर था, उसी वैर का बदला लेने के लिए इन्होंने मुझसे विवाह किया है, वही पुराने संस्कार हमारे मन में बने हुए हैं। नहीं तो वह मुझे देख-देख कर क्यों जलते और मैं उनकी सूरत से क्यों घृणा करती ? विवाह करने का तो यह मतलब नहीं हुआ करता ! मैं अपने घर इससे कहीं सुखी थी। कदाचित् मैं जीवन-पर्यंत अपने घर आनंद से रह सकती थी। लेकिन इस लोक-प्रथा का बुरा हो, जो अभागिनी कन्याओं को किसी-न-किसी पुरुष के गले में बाँध देना अनिवार्य समझती है। वह क्या जानता है कि कितनी युवतियाँ उसके नाम को रो रही हैं, कितने अभिलाषाओं से लहराते हुए, कोमल हृदय उसके पैरों तले रौंदे जा रहे हैं? युवती के लिए पति कैसी-कैसी मधुर कल्पनाओं का स्रोत होता है, पुरुष में जो उत्तम है, श्रेष्ठ है, दर्शनीय है, उसकी सजीव मूर्ति इस शब्द के ध्यान में आते ही उसकी नजरों के सामने आ कर खड़ी हो जाती है। लेकिन मेरे लिए यह शब्द क्या है। हृदय में उठनेवाला शूल, कलेजे में खटकनेवाला काँटा, आँखों में गड़नेवाली किरकिरी, अन्तःकरण को बेधनेवाला व्यंग्य-बाण!

सुशीला को हनेशा हँसते देखती हूँ। वह कभी अपनी दरिद्रता का गिला नहीं करती; गहने नहीं हैं, कपड़े नहीं हैं, भाड़े के नन्हें से मकान में रहती है, अपने हाथों घर का सारा काम-काज करती है, फिर भी उसे रोते नहीं देखती। अगर अपने बस की बात होती तो आज अपने धन को उसकी दरिद्रता से बदल लेती। अपने पतिदेव को मुस्कराते हुए घर में आते देख कर उसका सारा दुःख दारिद्रय छूमंतर हो जाता है, छाती गज़-भर की हो जाती है। उसके प्रेमालिंगन में वह सुख है, जिस पर तीनों लोक का धन न्योछावर कर दूँ।

3

आज मुझसे ज़ब्त न हो सका। मैंने पूछा—तुमने मुझसे किस लिए विवाह किया था? यह प्रश्न महीनों से मेरे मन में उठता था, पर मन को रोकती चली आती थी। आज प्याला छलक पड़ा। यह प्रश्न सुन कर कुछ बौखला-से गये, बगलें झाँकने लगे, खीसें निकाल कर बोले—घर सँभालने के लिए, गृहस्थी का भार उठाने के लिए, और नहीं क्या भोग-विलास के लिए ? घरनी के बिना यह आपको भूत का डेरा-सा मालूम होता था। नौकर-चाकर घर की सम्पत्ति उड़ाये देते थे। जो चीज जहाँ पड़ी रहती थी, वहीं पड़ी रहती थी। उसको देखनेवाला न था। तो अब मालूम हुआ कि मैं इस घर की चौकसी करने के लिए लायी गयी हूँ। मुझे इस घर की रक्षा करनी चाहिए और अपने को धन्य समझना चाहिए कि यह सारी सम्पत्ति मेरी है। मुख्य वस्तु सम्पत्ति है, मैं तो केवल चौकीदारिन हूँ। ऐसे घर में आज ही आग लग जाय ! अब तक तो मैं अनजान में घर की चौकसी करती थी, जितना वह चाहते हैं उतना न सही, पर अपनी बुद्धि के अनुसार अवश्य करती थी। आज से किसी चीज को भूल कर भी छूने की कसम खाती हूँ। यह मैं जानती हूँ कि कोई पुरुष घर की चौकसी के लिए विवाह नहीं करता और इन महाशय ने चिढ़ कर यह बात मुझसे कही। लेकिन सुशीला ठीक कहती है, इन्हें स्त्री के बिना घर सूना लगता होगा, उसी तरह जैसे पिंजरे में चिड़िया को न देख कर पिंजरा सूना लगता है। यह है हम स्त्रियों का भाग्य !

4

मालूम नहीं, इन्हें मुझ पर इतना संदेह क्यों होता है। जब से नसीब इस घर में लाया है, इन्हें बराबर संदेह-मूलक कटाक्ष करते देखती हूँ। क्या कारण है ? ज़रा बाल गुँथवा कर बैठी और यह ओठ चबाने लगे। कहीं जाती नहीं, कहीं आती नहीं, किसी से बोलती नहीं, फिर भी इतना संदेह ! यह अपमान असह्य है। क्या मुझे अपनी आबरू प्यारी नहीं ? यह मुझे इतनी छिछोरी क्यों समझते हैं, इन्हें मुझ पर संदेह करते लज्जा भी नहीं आती ? काना आदमी किसी को हँसते देखता है तो समझता है लोग मुझी पर हँस रहे हैं। शायद इन्हें भी यही वहम हो गया है कि मैं इन्हें चिढ़ाती हूँ। अपने अधिकार के बाहर कोई काम कर बैठने से कदाचित् हमारे चित्त की यही वृत्ति हो जाती है। भिक्षुक राजा की गद्दी पर बैठ कर चैन की नींद नहीं सो सकता। उसे अपने चारों तरफ शत्रु ही शत्रु दिखायी देंगे। मैं समझती हूँ, सभी शादी करनेवाले बुड्ढों का यही हाल है।

आज सुशीला के कहने से मैं ठाकुर जी की झाँकी देखने जा रही थी। अब यह

आमदनी खर्च के लिए काफी नहीं होती। एक चौथाई वेतन तो बँगले ही की भेंट हो जाती है। इसलिए आप बहुधा चिंतित रहते हैं। रिश्वत तो नहीं लेते–कम-से-कम मैं नहीं जानता, हालाँकि कहने वाले कहते हैं–लेकिन इतना जानता हूँ कि वह भत्ता बढ़ाने के लिए दौरे पर बहुत रहते हैं, यहाँ तक कि इसके लिए हर साल बजट की किसी दूसरी मद से रुपये निकालने पड़ते हैं। उनके अफसर कहते हैं, इतने दौरे क्यों करते हो, तो जवाब देते हैं इस जिले का काम ही ऐसा है कि जब तक खूब दौरे न किये जायँ रिआया शांत नहीं रह सकती। लेकिन मज़ा तो यह है कि राय साहब उतने दौरे वास्तव में नहीं करते, जितने कि अपने रोजनामचे में लिखते हैं। उनके पड़ाव शहर से पचास मील पर होते हैं। खेमे वहाँ गड़े रहते हैं, कैंप के अमले वहाँ पड़े रहते हैं और राय साहब घर पर मित्रों के साथ गप-शप करते रहते हैं, पर किसी की मजाल है कि राय साहब की नेकनीयती पर सन्देह कर सके! उनके सभ्य पुरुष होने में किसी को शंका नहीं हो सकती।

एक दिन मैं उनसे मिलने गया। उस समय वह अपने घसियारे दमड़ी को डाँट रहे थे। दमड़ी रात-दिन का नौकर था, लेकिन घर रोटी खाने जाया करता था। उसका घर थोड़ी ही दूर पर एक गाँव में था। कल रात को किसी कारण से यहाँ न आ सका। इसलिए डाँट पड़ रही थी।

राय साहब–जब हम तुम्हें रात-दिन के लिये रखे हुए हैं, तो तुम घर पर क्यों रहे ? कल के पैसे कट जायँगे।

दमड़ी–हजूर, एक मेहमान आ गये थे, इसी से न आ सका।

राय साहब–तो कल के पैसे उसी मेहमान से लो।

दमड़ी–सरकार, अब कभी ऐसी खता न होगी।

राय साहब–बक-बक मत करो।

दमड़ी–हजूर...

राय साहब–दो रुपये जुरमाना।

दमड़ी रोता हुआ चला गया। रोजा बख्शाने आया था, नमाज गले पड़ गयी। 2) जुरमाना ठुक गया। खता यही थी कि बेचारा कसूर माफ कराना चाहता था।

यह एक रात को गैरहाजिर होने की सजा थी ! बेचारा दिन भर का काम कर चुका था, रात को यहाँ सोया न था, उसका दण्ड ! और घर बैठे भत्ते उड़ानेवालों को कोई नहीं पूछता ! कोई दंड नहीं देता। दंड तो मिले और ऐसा मिले कि जिंदगी-भर याद रहे; पर पकड़ना तो मुश्किल है। दमड़ी भी अगर होशियार होता, तो जरा रात रहे आकर कोठरी में सो जाता। फिर किसे खबर होती कि वह रात को कहाँ रहा। पर गरीब इतना चंट न था।

3

दमड़ी के पास कुल छः बिस्वे जमीन थी ! पर इतने ही प्राणियों का खर्च भी था। उसके दो लड़के, दो लड़कियाँ और स्त्री, सब खेती में लगे रहते थे, फिर भी पेट की रोटियाँ नहीं मयस्सर होती थीं। इतनी जमीन क्या सोना उगल देती ! अगर सब-के-सब घर से निकल मजदूरी करने लगते, तो आराम से रह सकते थे; लेकिन मौरूसी किसान मजदूर कहलाने का अपमान न सह सकता था। इस बदनामी से बचने के लिए दो बैल बाँध रखे थे !

उसके वेतन का बड़ा भाग बैलों के दाने-चारे ही में उड़ जाता था। ये सारी तकलीफें मंजूर थीं, वह खेती छोड़कर मजदूर बन जाना मंजूर न था। किसान की जो प्रतिष्ठा है, वह कहीं मजदूर की हो सकती है, चाहे वह रुपया रोज ही क्यों न कमाये ? किसानी के साथ मजदूरी करना इतने अपमान की बात नहीं, द्वार पर बँधे हुए बैल उसकी मान-रक्षा किया करते हैं, पर बैलों को बेचकर फिर कहाँ मुँह दिखलाने की जगह रह सकती है !

एक दिन राय साहब उसे सरदी से काँपते देखकर बोले—कपड़े क्यों नहीं बनवाता ? काँप क्यों रहा है ?

दमड़ी—सरकार, पेट की रोटी तो पूरी ही नहीं पड़ती, कपड़े कहाँ से बनवाऊँ ?

राय साहब—बैलों को बेच क्यों नहीं डालता ? सैकड़ों बार समझा चुका, लेकिन न-जाने क्यों इतनी मोटी-सी बात तेरी समझ में नहीं आती।

दमड़ी—सरकार, बिरादरी में कहीं मुँह दिखाने लायक न रहूँगा। लड़की की सगाई न हो पायेगी, टाट बाहर कर दिया जाऊँगा।

राय साहब—इन्हीं हिमाकतों से तुम लोगों की यह दुर्गति हो रही है। ऐसे आदमियों पर दया करना भी पाप है। (मेरी तरफ फिर कर) क्यों मुंशीजी, इस पागलपन का भी कोई इलाज है ? जाड़ों मर रहे हैं, पर दरवाजे पर बैल जरूर बाँधेंगे।

मैंने कहा—जनाब, यह तो अपनी-अपनी समझ है।

राय साहब—ऐसी समझ को दूर से सलाम कीजिए। मेरे यहाँ कई पुश्तों से जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता था। कई हजार रुपयों पर पानी फिर जाता था। गाना होता था; दावतें होती थीं, रिश्तेदारों को न्योते दिये जाते थे, गरीबों को कपड़े बाँटे जाते थे। वालिद साहब के बाद पहले ही साल मैंने उत्सव बन्द कर दिया। फायदा क्या ? मुफ्त में चार-पाँच हजार की चपत पड़ती थी। सारे कसबे में बावेला मचा, आवाज़ें कसी गयीं; किसी ने नास्तिक कहा, किसी ने ईसाई बनाया, लेकिन यहाँ इन बातों की क्या परवा ! आखिर थोड़े ही दिनों में सारा कोलाहल शांत हो गया। अजी, बड़ी दिल्लगी थी। कसबे में किसी के यहाँ शादी हो, लकड़ी मुझसे ले ! पुश्तों से रस्म चली आती थी। वालिद तो दूसरों से दरख्त मोल लेकर इस रस्म को निभाते थे। थी हिमाकत या नहीं ? मैंने फौरन लकड़ी देना बन्द कर दिया। इस पर भी लोग बहुत रोये-धोये, लेकिन दूसरों का रोना-धोना सुनूँ, या अपना फायदा देखूँ। लकड़ी से ही कम-से-कम पांच सौ रुपये सालाना की बचत हो गयी। अब कोई भूलकर भी इन चीजों के लिए दिक करने नहीं आता।

मेरे दिल में फिर सवाल पैदा हुआ, दोनों में कौन सभ्य है, कुल-प्रतिष्ठा पर प्राण देनेवाले मूर्ख दमड़ी; या धन पर कुल-मर्यादा को बलि देनेवाले राय रतन किशोर !

4

राय साहब के इजलास में एक बड़े मार्के का मुकदमा पेश था। शहर का एक रईस खून के मामले में फँस गया था। उसकी जमानत के लिए राय साहब की खुशामदें होने लगीं। इज्जत की बात थी। रईस साहब का हुक्म था कि चाहे रियासत बिक जाय, पर इस मुकदमे से बेदाग निकल जाऊँ। डालियाँ लगाई गयीं, सिफारिशें पहुँचाई गयीं, पर राय साहब पर कोई असर न हुआ। रईस के आदमियों को प्रत्यक्ष रूप से रिश्वत की चर्चा करने

दिलाना चाहती हूँ। मेरा नारीत्व लुप्त हो गया है, मेरे हृदय में प्रचंड ज्वाला उठी हुई है।

घर के सारे आदमी सो रहे थे। मैं चुपके से नीचे उतरी, द्वार खोला और घर से निकली, जैसे कोई प्राणी गर्मी से व्याकुल हो कर घर से निकले और किसी खुली हुई जगह की ओर दौड़े। उस मकान में मेरा दम घुट रहा था।

सड़क पर सन्नाटा था, दूकानें बंद हो चुकी थीं। सहसा एक बुढ़िया आती हुई दिखायी दी। मैं डरी कहीं चुड़ैल न हो। बुढ़िया ने मेरे समीप आ कर मुझे सिर से पाँव तक देखा और बोली—किसकी राह देख रही हो ?

मैंने चिढ़ कर कहा—मौत की !

बुढ़िया—तुम्हारे नसीबों में तो अभी जिन्दगी के बड़े-बड़े सुख भोगने लिखे हैं। अँधेरी रात गुजर गयी, आसमान पर सुबह की रोशनी आ रही है।

मैंने हँस कर कहा—अँधेरे में भी तुम्हारी आँखें इतनी तेज हैं कि नसीबों की लिखावट पढ़ लेती हैं ?

बुढ़िया—आँखों से नहीं पढ़ती बेटी, अक्ल से पढ़ती हूँ, धूप में चूंड़े नहीं सुफेद किये हैं। तुम्हारे बुरे दिन गये और अच्छे दिन आ रहे हैं। हँसो मत बेटी, यही काम करते इतनी उम्र गुजर गयी। इसी बुढ़िया की बदौलत जो नदी में कूदने जा रही थीं, वे आज फूलों की सेज पर सो रही हैं; जो जहर का प्याला पीने को तैयार थीं, वे आज दूध की कुल्लियाँ कर रही हैं। इसीलिए इतनी रात गये निकलती हूँ कि अपने हाथों किसी अभागिन का उद्धार हो सके तो करूँ। किसी से कुछ नहीं माँगती, भगवान् का दिया सब कुछ घर में है, केवल यही इच्छा है कि अपने से जहाँ तक हो सके दूसरों का उपकार करूँ। जिन्हें धन की इच्छा है उन्हें धन, जिन्हें संतान की इच्छा है उन्हें संतान, बस और क्या कहूँ; वह मंत्र बता देती हूँ कि जिसकी जो इच्छा हो वह पूरी हो जाय।

मैंने कहा—मुझे न धन चाहिए न संतान। मेरी मनोकामना तुम्हारे बस की बात नहीं।

बुढ़िया हँसी—बेटी, जो तुम चाहती हो वह मैं जानती हूँ; तुम वह चीज चाहती हो जो संसार में होते हुए स्वर्ग की है, जो देवताओं के वरदान से भी ज्यादा आनंदप्रद है, जो आकाश-कुसुम है, गूलर का फूल है और अमावस का चाँद है। लेकिन मेरे मंत्र में वह शक्ति है जो भाग्य को भी सँवार सकती है। तुम प्रेम की प्यासी हो, मैं तुम्हें उस नाव पर बैठा सकती हूँ जो प्रेम के सागर में, प्रेम की तरंगों पर क्रीड़ा करती हुई तुम्हें पार उतार दे।

मैंने उत्कंठित हो कर पूछा—माता, तुम्हारा घर कहाँ है ?

बुढ़िया—बहुत नजदीक है बेटी, तुम चलो तो मैं अपनी आँखों पर बैठा कर ले चलूँ।

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यह कोई आकाश की देवी है। उसके पीछे-पीछे चल पड़ी।

8

आह ! वह बुढ़िया, जिसे मैं आकाश की देवी समझती थी, नरक की डाइन निकली। मेरा सर्वनाश हो गया। मैं अमृत खोजती थी, विष मिला, निर्मल स्वच्छ प्रेम की प्यासी थी, गंदे विषाक्त नाले में गिर पड़ी। वह वस्तु न मिलनी थी, न मिली। मैं सुशीला का-सा सुख चाहती थी, कुलटाओं की विषय-वासना नहीं। लेकिन जीवन-पथ में एक बार उलटी राह

चल कर फिर सीधे मार्ग पर आना कठिन है ?

लेकिन मेरे अधःपतन का अपराध मेरे सिर नहीं, मेरे माता-पिता और उस बूढ़े पर है जो मेरा स्वामी बनना चाहता था। मैं यह पंक्तियाँ न लिखती, लेकिन इस विचार से लिख रही हूँ कि मेरी आत्म-कथा पढ़ कर लोगों की आँखें खुलें; मैं फिर कहती हूँ, अब भी अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो जायदाद, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो। अगर उसके लिए जोड़ का वर नहीं पा सकते तो लड़की को क्वाँरी रख छोड़ो, जहर दे कर मार डालो, गला घोंट डालो, पर किसी बूढ़े खूसट से मत ब्याहो। स्त्री सब-कुछ सह सकती है, दारुण से दारुण दुःख, बड़े से बड़ा संकट, अगर नहीं सह सकती तो अपने यौवन-काल की उमंगों को कुचला जाना।

रही मैं, मेरे लिए अब इस जीवन में कोई आशा नहीं। इस अधम दशा को भी उस दशा से न बदलूँगी, जिससे निकल कर आयी हूँ।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', मार्च, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'हसरत' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

सभ्यता का रहस्य

यों तो मेरी समझ में दुनिया की एक हजार एक बातें नहीं आतीं—जैसे लोग प्रातःकाल उठते ही बालों पर छुरा क्यों चलाते हैं ? क्या अब पुरुषों में भी इतनी नजाकत आ गयी है कि बालों का बोझ उनसे नहीं सँभलता ? एक साथ ही सभी पढ़े-लिखे आदमियों की आँखें क्यों इतनी कमजोर हो गयी हैं ? दिमाग की कमजोरी ही इसका कारण है या और कुछ ? लोग खिताबों के पीछे क्यों इतने हैरान होते हैं ? इत्यादि—लेकिन इस समय मुझे इन बातों से मतलब नहीं। मेरे मन में एक नया प्रश्न उठ रहा है और उसका जवाब मुझे कोई नहीं देता। प्रश्न यह है कि सभ्य कौन है और असभ्य कौन ? सभ्यता के लक्षण क्या हैं ? सरसरी नजर से देखिए, तो इससे ज्यादा आसान और कोई सवाल ही न होगा। बच्चा-बच्चा इसका समाधान कर सकता है। लेकिन जरा गौर से देखिए, तो प्रश्न इतना आसान नहीं जान पड़ता। अगर कोट-पतलून पहनना, टाई-हैट कालर लगाना, मेज पर बैठकर खाना खाना, दिन में तेरह बार कोको या चाय पीना और सिगार पीते हुए चलना सभ्यता है, तो उन गोरों को भी सभ्य कहना पड़ेगा, जो सड़क पर शाम को कभी-कभी टहलते नजर आते हैं; शराब के नशे से आँखें सुर्ख, पैर लड़खड़ाये हुए, रास्ता चलनेवालों को अनायास छेड़ने की धुन! क्या उन गोरों को सभ्य कहा जा सकता है ? कभी नहीं ! तो यह सिद्ध हुआ कि सभ्यता कोई और ही चीज है, उसका देह से इतना सम्बन्ध नहीं है जितना मन से।

2

मेरे इने-गिने मित्रों में एक राय रतनकिशोर भी हैं। आप बहुत ही सहृदय, बहुत ही उदार, बहुत अधिक शिक्षित और एक बड़े ओहदेदार हैं। बहुत अच्छा वेतन पाने पर भी उनकी

की हिम्मत न पड़ती थी। आखिर जब कोई बस न चला, तो रईस की स्त्री ने राय साहब की स्त्री से मिलकर सौदा पटाने की ठानी।

रात के दस बजे थे। दोनों महिलाओं में बातें होने लगीं। बीस हजार की बातचीत थी ! राय साहब की पत्नी तो इतनी खुश हुई कि उसी वक्त राय साहब के पास दौड़ी हुई आयीं और कहने लगीं—ले लो, ले लो ! तुम न लोगे, तो मैं ले लूँगी।

राय साहब ने कहा—इतनी बेसब्र न हो। वह तुम्हें अपने दिल में क्या समझेंगी? कुछ अपनी इज्जत का भी खयाल है या नहीं ? माना कि रकम बड़ी है और इससे मैं एकबारगी तुम्हारे आये दिन की फरमायशों से मुक्त हो जाऊँगा, लेकिन एक सिविलियन की इज्जत भी तो कोई मामूली चीज नहीं है। तुम्हें पहले बिगड़कर कहना चाहिए था कि मुझसे ऐसी बेहूदी बातचीत करनी हो, तो यहाँ से चली जाओ। मैं अपने कानों से नहीं सुनना चाहती।

स्त्री—यह तो मैंने पहले ही किया, बिगड़कर खूब खरी-खोटी सुनायी। क्या इतना भी नहीं जानती ? बेचारी मेरे पैरों पर सर रखकर रोने लगी।

राय साहब—यह कहा था कि राय साहब से कहूँगी, तो मुझे कच्चा ही चबा जायँगे ?

यह कहते हुए राय साहब ने गद्‌गद् होकर पत्नी को गले लगा लिया।

स्त्री—अजी, मैं न-जाने ऐसी कितनी ही बातें कह चुकी, लेकिन किसी तरह टाले नहीं टलती। रो-रोकर जान दे रही है।

राय साहब—उससे वादा तो नहीं कर लिया ?

स्त्री—वादा ? मैं तो रुपये लेकर सन्दूक में रख आयी। नोट थे।

राय साहब—कितनी जबरदस्त अहमक हो, न मालूम ईश्वर तुम्हें कभी समझ भी देगा या नहीं।

स्त्री—अब क्या देगा ? देना होता, तो दे न दी होती।

राय साहब—हाँ, मालूम तो ऐसा ही होता है। मुझसे कहा तक नहीं और रुपये लेकर सन्दूक में दाखिल कर लिए ! अगर किसी तरह बात खुल जाय, तो कहीं का न रहूँ।

स्त्री—तो भाई, सोच लो। अगर कुछ गड़बड़ हो, तो मैं जाकर रुपये लौटा दूँ।

राय साहब—फिर वही हिमाकत ! अरे, अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। ईश्वर पर भरोसा करके जमानत लेनी पड़ेगी। लेकिन तुम्हारी हिमाकत में शक नहीं। जानती हो, यह साँप के मुँह में उँगली डालना है। यह भी जानती हो कि मुझे ऐसी बातों से कितनी नफरत है, फिर भी बेसब्र हो जाती हो। अबकी बार तुम्हारी हिमाकत से मेरा व्रत टूट रहा है। मैंने दिल में ठान लिया था कि अब इस मामले में हाथ न डालूँगा, लेकिन तुम्हारी हिमाकत के मारे जब मेरी कुछ चलने भी पाये ?

स्त्री—मैं जाकर लौटाये देती हूँ।

राय साहब—और मैं जाकर जहर खाये लेता हूँ।

इधर तो स्त्री-पुरुष में यह अभिनय हो रहा था, उधर दमड़ी उसी वक्त अपने गाँव के मुखिया के खेत से जुआर काट रहा था। आज वह रात भर की छुट्टी लेकर घर गया था। बैलों के लिए चारे का एक तिनका भी नहीं है। अभी वेतन मिलने में कई दिन की देर थी, मोल ले न सकता था। घरवालों ने दिन को कुछ घास छीलकर खिलायी तो थी, लेकिन ऊँट

के मुँह में जीरा। उतनी घास से क्या हो सकता था। दोनों बैल भूखे खड़े थे। दमड़ी को देखते ही दोनों पूँछें खड़ी करके हुंकारने लगे। जब वह पास गया तो दोनों उसकी हथेलियाँ चाटने लगे। बेचारा दमड़ी मन मसोसकर रह गया। सोचा, इस वक्त तो कुछ हो नहीं सकता; सबेरे किसी से कुछ उधार लेकर चारा लाऊँगा।

लेकिन जब ग्यारह बजे रात उसकी आँखें खुलीं, तो देखा कि दोनों बैल अभी तक नाँद पर खड़े हैं। चाँदनी रात थी, दमड़ी को जान पड़ा कि दोनों उसकी ओर उपेक्षा और याचना की दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी क्षुधा वेदना देखकर उसकी आँखें सजल हो आयीं। किसान को अपने बैल अपने लड़कों की तरह प्यारे होते हैं। वह उन्हें पशु नहीं, अपना मित्र और सहायक समझता। बैलों को भूखे खड़े देखकर नींद आँखों से भाग गयी। कुछ सोचता हुआ उठा। हँसिया निकाली और चारे की फिक्र में चला। गाँव के बाहर बाजरे और जुआर के खेत खड़े थे। दमड़ी के हाथ काँपने लगे। लेकिन बैलों की याद ने उसे उत्तेजित कर दिया। चाहता, तो कई बोझ काट सकता था; लेकिन वह चोरी करते हुए भी चोर न था। उसने केवल उतना ही चारा काटा, जितना बैलों को रात-भर के लिए काफी हो। सोचा, अगर किसी ने देख भी लिया, तो उससे कह दूँगा, बैल भूखे थे, इसलिए काट लिया। उसे विश्वास था कि थोड़े-से चारे के लिए कोई मुझे पकड़ नहीं सकता। मैं कुछ बेचने के लिए तो काट नहीं रहा हूँ; फिर ऐसा निर्दयी कौन है, जो मुझे पकड़ ले। बहुत करेगा, अपने दाम ले लेगा। उसने बहुत सोचा। चारे का थोड़ा होना ही उसे चोरी के अपराध से बचाने को काफी था। चोर उतना काटता, जितना उससे उठ सकता। उसे किसी के फायदे और नुकसान से क्या मतलब ? गाँव के लोग दमड़ी को चारा लिये जाते देखकर बिगड़ते जरूर, पर कोई चोरी के इलजाम में न फँसाता, लेकिन संयोग से हलके के थाने का सिपाही उधर जा निकला। वह पड़ोस के एक बनिये के यहाँ जुआ होने की खबर पाकर कुछ ऐंठने की टोह में आया था। दमड़ी को चारा सिर पर उठाते देखा, तो सन्देह हुआ। इतनी रात गये कौन चारा काटता है ? हो न हो, कोई चोरी से काट रहा है, डाँटकर बोला—कौन चारा लिये जाता है ? खड़ा रह !

दमड़ी ने चौंककर पीछे देखा, तो पुलिस का सिपाही ! हाथ-पाँव फूल गये, काँपते हुए बोला—हुजूर, थोड़ा ही-सा काटा है, देख लीजिए।

सिपाही—थोड़ा काटा हो या बहुत, है तो चोरी। खेत किसका है ?

दमड़ी—बलदेव महतो का।

सिपाही ने समझा था, शिकार फँसा, इससे कुछ ऐंठूँगा; लेकिन वहाँ क्या रखा था। पकड़कर गाँव में लाया और जब वहाँ भी कुछ हत्थे चढ़ता न दिखाई दिया तो थाने ले गया। थानेदार ने चालान कर दिया। मुकदमा राय साहब ही के इजलास में पेश किया।

राय साहब ने दमड़ी को फँसे हुए देखा, तो हमदर्दी के बदले कठोरता से काम लिया। बोले—यह मेरी बदनामी की बात है। तेरा क्या बिगड़ा, साल-छः महीने की सजा हो जायगी, शर्मिन्दा तो मुझे होना पड़ रहा है ! लोग यही तो कहते होंगे कि राय साहब के आदमी ऐसे बदमाश और चोर हैं। तू मेरा नौकर न होता, तो मैं हलकी सजा देता; लेकिन तू मेरा नौकर है, इसलिए कड़ी-से-कड़ी सजा दूँगा। मैं यह नहीं सुन सकता कि राय साहब ने अपने नौकर के साथ रिआयत की।

यह कहकर राय साहब ने दमड़ी को छः महीने की सख्त कैद का हुक्म सुना दिया।

उसी दिन उन्होंने खून के मुकदमे में जमानत ले ली। मैंने दोनों वृत्तान्त सुने और मेरे दिल में यह खयाल और भी पक्का हो गया कि सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे-से-बुरा काम करें, लेकिन अगर आप उस पर परदा डाल सकते हैं. तो आप सभ्य हैं, सज्जन हैं, जेन्टिलमैन हैं। अगर आप में यह सिफ़त नहीं तो आप असभ्य हैं, गँवार हैं, बदमाश हैं। यही सभ्यता का रहस्य है !

[हिन्दी कहानी। 'माधुरी' (मासिक पत्रिका), मार्च, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-4 में संकलित। उर्दू रूप 'तहजीब का राज' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'फ़िरदौसे ख़्याल' में संकलित।]

मंदिर और मस्जिद

चौधरी इतरतअली 'कड़े' के बड़े जागीरदार थे। उनके बुजुर्गो ने शाही जमाने में अंग्रेजी सरकार की बड़ी-बड़ी खिदमतें की थीं। उनके बदले में यह जागीर मिली थी। अपने सुप्रबंध से उन्होंने अपनी मिल्कियत और भी बढ़ा ली थी और अब उस इलाके में उनसे ज्यादा धनी-मानी कोई आदमी न था। अंग्रेज हुक्काम जब इलाके में दौरा करने जाते तो चौधरी साहब की मिजाजपुर्सी के लिए जरूर आते थे। मगर चौधरी साहब खुद किसी हाकिम को सलाम करने न जाते, चाहे वह कमिश्नर ही क्यों न हो। उन्होंने कचहरियों में न जाने का व्रत-सा कर लिया था। किसी इजलास-दरबार में भी न जाते थे। किसी हाकिम के सामने हाथ बांधकर खड़ा होना और उसकी हर एक बात पर 'जी हुजूर' करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे। वह यथासाध्य किसी मामले-मुकदमे में न पड़ते थे, चाहे अपना नुकसान ही क्यों न होता हो ! यह काम सोलहों आने मुखतारों के हाथ में था, वे एक के सौ करें या सौ का एक। फारसी और अरबी के आलिम थे, शरा के बड़े पाबंद, सूद को हराम समझते थे, पांचों वक्त की नमाज अदा करते, तीसों रोजे रखते और नित्य कुरान की तलावत (पाठ) करते थे। मगर धार्मिक संकीर्णता कहीं छू तक नहीं गई थी। प्रातःकाल गंगा-स्नान करना उनका नित्य का नियम था। पानी बरसे, पाला पड़े, पर पांच बजे वह कोस भर चलकर गंगा तट पर अवश्य पहुंच जाते। लौटते वक्त अपनी चांदी की सुराही गंगाजल से भर लेते और हमेशा गंगाजल पीते। गंगाजल के सिवा वह और कोई पानी पीते ही न थे। शायद कोई योगी-यती भी गंगाजल पर इतनी श्रद्धा न रखता होगा। उनका सारा घर, भीतर से बाहर तक, सातवें दिन गऊ के गोबर से लीपा जाता था। इतना ही नहीं, उनके यहां बगीचे में एक पंडित बारहों मास दुर्गा पाठ भी किया करते थे। साधु-संन्यासियों का आदर-सत्कार तो उनके यहां जितनी उदारता और भक्ति से किया जाता था, उस पर राजों को भी आश्चर्य होता था। यों कहिए कि सदाव्रत चलता था। उधर मुसलमान फकीरों का खाना बावर्चीखाने में पकता था और कोई सौ-सवा सौ आदमी नित्य एक दस्तरखान पर खाते थे। इतना दान-पुण्य करने पर भी उन पर किसी महाजन का एक कौड़ी का भी कर्ज न था। नीयत की कुछ ऐसी बरकत थी कि दिन-दिन उन्नति ही होती थी। उनकी रियासत में आम हुक्म था कि मुर्दों को जलाने के लिए, किसी यज्ञ में भोज के लिए, शादी- ब्याह के लिए सरकारी जंगल से जितनी लकड़ी चाहे काट लो। चौधरी साहब से पूछने की जरूरत

न थी। हिंदू असामियों की बारात में उनकी ओर से कोई-न-कोई जरूर शरीक होता था। नवेद के रुपये बंधे हुए थे, लड़कियों के विवाह में कन्यादान के रुपये मुकर्रर थे, उनको हाथी, घोड़े, तंबू, शामियाने, पालकी-नालकी, फर्श-जाजिमें, पंखें-चंवर, चांदी के महफिली सामान उनके यहां से बिना किसी दिक्कत के मिल जाते थे, मांगने भर की देर रहती थी। इस दानी, उदार, यशस्वी आदमी के लिए प्रजा भी प्राण देने को तैयार रहती थी।

2

चौधरी साहब के पास एक राजपूत चपरासी था भजनसिंह। पूरे छः फुट का जवान था, चौड़ा सीना, बाने का लठैत, सैकड़ों के बीच से मारकर निकल आने वाला। उसे भय तो छू भी नहीं गया था। चौधरी साहब को उस पर असीम विश्वास था, यहां तक कि हज करने गए तो उसे भी साथ लेते गए थे। उनके दुश्मनों की कमी न थी, आसपास के सभी जमींदार उनकी शक्ति और कीर्ति से जलते थे। चौधरी साहब के खौफ के मारे वे अपने असामियों पर मनमाना अत्याचार न कर सकते थे, क्योंकि वह निर्बलों का पक्ष लेने के लिए सदा तैयार रहते थे। लेकिन भजनसिंह साथ हो, तो उन्हें दुश्मन के द्वार पर भी सोने में कोई शंका न थी। कई बार ऐसा हुआ कि दुश्मनों ने उन्हें घेर लिया और भजनसिंह अकेला जान पर खेलकर उन्हें बेदाग निकाल लाया। ऐसा आग में कूद पड़ने वाला आदमी भी किसी ने कम देखा होगा। वह कहीं बाहर जाता तो जब तक खैरियत से घर न पहुंच जाए, चौधरी साहब को शंका बनी रहती थी कि कहीं किसी से लड़ न बैठा हो। बस, पालतू मेढ़े की-सी दशा थी, जो जंजीर से छूटते ही किसी-न-किसी से टक्कर लेने दौड़ता है। तीनों लोक में चौधरी साहब के सिवा उसकी निगाहों में और कोई था ही नहीं। बादशाह कहो, मालिक कहो, देवता कहो, जो कुछ थे चौधरी साहब थे।

मुसलमान लोग चौधरी साहब से जला करते थे। उनका खयाल था कि वह अपने दीन से फिर गए हैं। ऐसा विचित्र जीवन-सिद्धांत उनकी समझ में क्योंकर आता। मुसलमान, अगर सच्चा मुसलमान हो तो गंगाजल क्यों पिए, साधुओं का आदर-सत्कार क्यों करे, दुर्गापाठ क्यों करावे ? मुल्लाओं में उनके खिलाफ हंडिया पकती रहती थी और हिंदुओं को जक देने की तैयारियां होती रहती थीं। आखिर यह राय तय पायी कि ठीक जन्माष्टमी के दिन ठाकुरद्वारे पर हमला किया जाए और हिंदुओं का सिर नीचा कर दिया जाए, दिखा दिया जाए कि चौधरी साहब के बल पर फूले-फूले फिरना तुम्हारी भूल है। चौधरी साहब कर ही क्या लेंगे। अगर उन्होंने हिन्दुओं की हिमायत की, तो उनकी भी खबर ली जाएगी, सारा हिन्दूपन निकल जाएगा।

3

अंधेरी रात थी, कड़े के बड़े ठाकुरद्वारे में कृष्ण जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। एक वृद्ध महात्मा पोपले मुंह से तंबूरे पर ध्रुपद अलाप रहे थे और भक्तजन ढोल-मजीरे लिए बैठे थे कि इनका गाना बंद हो, तो हम अपना कीर्तन शुरू करें। भंडारी प्रसाद बना रहा था। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने के लिए जमा थे।

सहसा मुसलमानों का एक दल लाठियां लिए हुए आ पहुंचा और मंदिर पर पत्थर बरसाना शुरू किया। शोर मच गया—पत्थर कहां से आते हैं ! ये पत्थर कौन फेंक रहा है! कुछ लोग मंदिर के बाहर निकलकर देखने लगे। मुसलमान लोग तो घात में बैठे ही थे, लाठियां जमानी शुरू कीं। हिन्दुओं के हाथ में उस समय ढोल-मजीरे के सिवा और क्या था। कोई मंदिर में आ छिपा, कोई किसी तरह दूसरी तरफ भागा। चारों तरफ शोर मच गया।

चौधरी साहब को भी खबर हुई। भजनसिंह से बोले—ठाकुर, देखो तो क्या शोर-गुल है ? जाकर बदमाशों को समझा दो और न मानें तो दो-चार हाथ चला भी देना, मगर खून-खच्चर न होने पाए।

ठाकुर यह शोर-गुल सुन-सुनकर दांत पीस रहे थे, दिल पर पत्थर की सिल रक्खे बैठे हुए थे। यह आदेश सुना तो मुंहमांगी मुराद पाई। शत्रु-भंजन डंडा कंधे पर रक्खा और लपके हुए मंदिर पहुंचे। वहां मुसलमानों ने घोर उपद्रव मचा रक्खा था। कई आदमियों का पीछा करते हुए मंदिर में घुस गए थे और शीशे के सामान तोड़-फोड़ रहे थे।

ठाकुर की आंखों में खून उतर आया, सिर पर खून सवार हो गया। ललकारते हुए मंदिर में घुस गया और बदमाशों को पीटना शुरू किया। एक तरफ तो वह अकेला और दूसरी तरफ पचासों आदमी ! लेकिन वाह रे शेर ! अकेले सबके छक्के छुड़ा दिए, कई आदमियों को मार गिराया। गुस्से में उसे इस वक्त कुछ न सूझता था, किसी के मरने-जीने की परवा न थी। मालूम नहीं, उसमें इतनी शक्ति कहां से आ गई थी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि कोई दैवी शक्ति मेरी मदद कर रही है। कृष्ण भगवान् स्वयं उसकी रक्षा करते हुए मालूम होते थे। धर्म-संग्राम में मनुष्यों से अलौकिक काम हो जाते हैं।

उधर ठाकुर के चले आने के बाद चौधरी साहब को भय हुआ कि कहीं ठाकुर किसी का खून न कर डाले, उसके पीछे खुद भी मंदिर में आ पहुंचे। देखा तो कुहराम मचा हुआ है। बदमाश लोग अपनी जान ले-लेकर बेतहाशा भागे जा रहे हैं, कोई पड़ा कराह रहा है, कोई हाय-हाय कर रहा है। ठाकुर को पुकारना ही चाहते थे कि सहसा एक आदमी भागा हुआ आया और उनके सामने आता-आता जमीन पर गिर पड़ा। चौधरी साहब ने उसे पहचान लिया, और दुनिया उनकी आंखों में अंधेरी हो गई। यह उनका इकलौता दामाद और उनकी जायदाद का वारिस शाहिद हुसेन था।

चौधरी ने दौड़कर शाहिद को संभाला और जोर से बोले—ठाकुर, इधर आओ—लालटेन....लालटेन ! आह, यह तो मेरा शाहिद है !

ठाकुर के हाथ-पांव फूल गए। लालटेन लेकर बाहर निकले। शाहिद हुसेन ही थे। उनका सिर फट गया था और रक्त उछलता हुआ निकल रहा था।

चौधरी ने सिर पीटते हुए कहा—ठाकुर, तुमने तो मेरा चिराग ही गुल कर दिया।

ठाकुर ने थरथर कांपते हुए कहा—मालिक, भगवान् जानते हैं, मैंने पहचाना नहीं।

चौधरी—नहीं, मैं तुम्हारे ऊपर इल्जाम नहीं रखता। भगवान् के मंदिर में किसी को घुसने का अख्तियार नहीं है। अफसोस यही है कि खानदान का निशान मिट गया, और तुम्हारे हाथों ! तुमने मेरे लिए हमेशा अपनी जान हथेली पर रक्खी, और खुदा ने तुम्हारे ही हाथों मेरा सत्यानाश करा दिया।

चौधरी साहब रोते जाते थे और ये बातें कहते जाते थे। ठाकुर ग्लानि और पश्चात्ताप

से गड़ा जाता था। अगर उसका अपना लड़का मारा गया होता, तो उसे इतना दुःख न होता। आह ! मेरे हाथों मेरे मालिक का सर्वनाश हुआ। जिसके पसीने की जगह वह खून बहाने को तैयार रहता था, जो उसका स्वामी ही नहीं, इष्ट था, जिसके जरा-से इशारे पर वह आग में कूद सकता था, उसी के वंश की उसने जड़ काट दी! वह उसकी आस्तीन का सांप निकला ! रुंधे हुए कंठ से बोला—सरकार, मुझसे बढ़कर अभागा और कौन होगा। मेरे मुंह में कालिख लग गई।

यह कहते-कहते ठाकुर ने कमर से छुरा निकाल लिया। वह अपनी छाती में छुरा खोंसकर कालिमा को रक्त से धोना ही चाहते थे कि चौधरी साहब ने लपककर छुरा उनके हाथों से छीन लिया और बोले—क्या करते हो, होश संभालो। ये तकदीर के करिश्मे हैं, इसमें तुम्हारा कोई कसूर नहीं। खुदा को जो मंजूर था वह हुआ। मैं अगर खुद शैतान के बहकाने में आकर मंदिर में घुसता और देवता की तौहीन करता और तुम मुझे पहचानकर भी कत्ल कर देते, तो मैं अपना खून माफ कर देता। किसी के दीन की तौहीन करने से बड़ा और कोई गुनाह नहीं है। गो इस वक्त मेरा कलेजा फटा जाता है और यह सदमा मेरी जान ही लेकर छोड़ेगा, पर खुदा गवाह है कि मुझे तुमसे जरा भी मलाल नहीं है। तुम्हारी जगह मैं होता, तो मैं भी यही करता, चाहे मेरे मालिक का बेटा ही क्यों न होता। घर वाले मुझे तानों से छेदेंगे, लड़की रो-रोकर मुझसे खून का बदला मांगेगी, सारे मुसलमान मेरे खून के प्यासे हो जाएंगे, मैं काफिर और बेदीन कहा जाऊंगा, शायद कोई दीन का पक्का नौजवान मुझे कत्ल करने पर भी तैयार हो जाए, लेकिन मैं हक से मुंह न मोड़ूंगा। अंधेरी रात है, इसी दम यहां से भाग जाओ और मेरे इलाके में किसी छावनी में छिप जाओ। वह देखो, कई मुसलमान चले आ रहे हैं—मेरे घर वाले भी हैं—भागो-भागो !

4

साल-भर भजनसिंह चौधरी साहब के इलाके में छिपा रहा। एक ओर मुसलमान लोग उसकी टोह में लगे रहते थे, दूसरी ओर पुलिस। लेकिन चौधरी उसे हमेशा छिपाते रहते थे। अपने समाज के ताने सहे, अपने घर वालों का तिरस्कार सहा, पुलिस के वार सहे, मुल्लाओं की धमकियां सहीं, पर भजनसिंह की खबर किसी को कानोंकान न होने दी। ऐसे वफादार स्वामिभक्त सेवक को वह जीते-जी निर्दय कानून के पंजे में न देना चाहते थे। उनके इलाके की छावनियों में कई बार तलाशियां हुईं, मुल्लाओं ने घर के नौकरों, मामाओं, लौंडियों को मिलाया, लेकिन चौधरी ने ठाकुर को अपने एहसानों की भांति छिपाये रक्खा।

लेकिन ठाकुर को अपने प्राणों की रक्षा के लिए चौधरी साहब को संकट में पड़े देखकर असह्य वेदना होती थी। उसके जी में बार-बार आता था, चलकर मालिक से कह दूं—मुझे पुलिस के हवाले कर दीजिए। लेकिन चौधरी साहब बार-बार उसे छिपे रहने की ताकीद करते रहते थे।

जाड़ों के दिन थे। चौधरी साहब अपने इलाके का दौरा कर रहे थे। अब वह मकान पर बहुत कम रहते थे। घर वालों के शब्द-बाणों से बचने का यही उपाय था। रात को खाना खाकर लेटे ही थे कि भजनसिंह आकर सामने खड़ा हो गया। उसकी सूरत इतनी बदल गई थी कि चौधरी साहब देखकर चौंक पड़े। ठाकुर ने कहा—सरकार अच्छी तरह हैं ?

चौधरी—हां, खुदा का फजल है। तुम तो बिल्कुल पहचाने ही नहीं जाते। इस वक्त कहां से आ रहे हो ?

ठाकुर—मालिक, अब तो छिपकर नहीं रहा जाता। हुक्म हो तो जाकर अदालत में हाजिर हो जाऊं। जो भाग्य में लिखा होगा, वह होगा। मेरे कारण आपको इतनी हैरानी हो रही है, यह मुझसे नहीं देखा जाता।

चौधरी—नहीं ठाकुर, मेरे जीते-जी नहीं। तुम्हें जान-बूझकर भाड़ के मुंह में नहीं डाल सकता। पुलिस अपनी मर्जी के माफिक शहादतें बना लेगी और मुफ्त में तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। तुमने मेरे लिए बड़े-बड़े खतरे सहे हैं। अगर मैं तुम्हारे लिए इतना भी न कर सकूं, तो मुझसे बढ़कर एहसान-फरामोश और कौन होगा ? इस बारे में अब फिर मुझसे कुछ मत कहना।

ठाकुर—कहीं किसी ने सरकार...

चौधरी—इसका बिल्कुल गम न करो। जब तक खुदा को मंजूर न होगा, कोई मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता। तुम अब जाओ, यहां ठहरना खतरनाक है।

ठाकुर—सुनता हूं, लोगों ने आपसे मिलना-जुलना छोड़ दिया है।

चौधरी—दुश्मनों का दूर रहना ही अच्छा।

लेकिन ठाकुर के दिल में जो बात जम गई थी, वह न निकली। इस मुलाकात ने उसका इरादा और भी पक्का कर दिया। इन्हें मेरे कारण यों मारे-मारे फिरना पड़ रहा है। यहां इनका कौन अपना बैठा हुआ है ? जो चाहे आकर हमला कर सकता है। मेरी इस जिंदगानी को धिक्कार !

प्रातःकाल ठाकुर जिला हाकिम के बंगले पर पहुंचा। साहब ने पूछा—तुम अब तक चौधरी के कहने से छिपा था ?

ठाकुर—नहीं हजूर, अपनी जान के खौफ से।

5

चौधरी साहब ने यह खबर सुनी, तो सन्नाटे में आ गए। अब क्या हो ? अगर मुकदमे की पैरवी न की गई तो ठाकुर का बचना मुश्किल है। पैरवी करते हैं, तो इस्लामी दुनिया में तहलका पड़ जाता है। चारों तरफ फतवे निकलने लगेंगे। उधर मुसलमानों ने ठान ली कि इसे फांसी दिलाकर ही छोड़ेंगे। आपस में चंदा किया गया। मुल्लाओं ने मस्जिद में चंदे की अपील की, द्वार-द्वार झोली बांधकर घूमे। इस पर कौमी मुकदमे का रंग चढ़ाया गया। मुसलमान वकीलों को नाम लूटने का मौका मिला। आसपास के जिलों से जिहाद में शरीक होने के लिए आने लगे।

चौधरी साहब ने भी पैरवी करने का निश्चय किया, चाहे कितनी ही आफतें क्यों न सिर पर आ पड़ें। ठाकुर उन्हें इंसाफ की निगाह में बेकसूर मालूम होता था और बेकसूर की रक्षा करने में उन्हें किसी का खौफ न था। घर से निकलकर खड़े हुए और शहर में जाकर डेरा जमा दिया।

छः महीने तक चौधरी साहब ने जान लड़ाकर मुकदमे की पैरवी की। पानी की तरह रुपये बहाए, आंधी की तरह दौड़े। वह सब किया जो जिंदगी में कभी न किया था, और न

पीछे कभी किया। अहलकारों की खुशामदें कीं, वकीलों के नाज उठाए, हाकिमों को नजरें दीं और ठाकुर को छुड़ा लिया। सारे इलाके में धूम मच गई। जिसने सुना, दंग रह गया। इसे कहते हैं शराफत ! अपने नौकर को फांसी से उतार लिया।

लेकिन सांप्रदायिक द्वेष ने इस सत्कार्य को और ही आंखों से देखा—मुसलमान झल्लाए, हिंदुओं ने बगलें बजाईं। मुसलमान समझे, इनकी रही-सही मुसलमानी भी गायब हो गई। हिंदुओं ने खयाल किया, अब इनकी शुद्धि कर लेनी चाहिए, इसका मौका आ गया। मुल्लाओं ने और जोर-शोर से तबलीग की हांक लगानी शुरू की, हिंदुओं ने भी संगठन का झंडा उठाया। मुसलमानों की मुसलमानी जाग उठी और हिन्दुओं का हिंदुत्व। ठाकुर के कदम भी इस रेले में उखड गए। मनचले थे ही, हिंदुओं के मुखिया बन बैठे। जिंदगी में कभी एक लोटा जल तक शिव को न चढ़ाया था, अब देवी-देवताओं के नाम पर लठ चलाने के लिए उद्यत हो गए। शुद्धि करने को कोई मुसलमान न मिला, तो दो-एक चमारों ही की शुद्धि करा डाली। चौधरी साहब के दूसरे नौकरों पर भी असर पड़ा। जो मुसलमान कभी मस्जिद के सामने खड़े न होते थे, वे पांचों वक्त की नमाज अदा करने लगे। जो हिन्दू कभी मंदिर में झांकते भी न थे, वे दोनों वक्त संध्या करने लगे।

बस्ती में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी। उस पर ठाकुर भजनसिंह बने उनके मुखिया, जिनकी लाठी का लोहा सब मानते थे। पहले मुसलमान, संख्या में कम होने पर भी, उन पर गालिब रहते थे, क्योंकि वे संगठित न थे, लेकिन अब वे संगठित हो गए थे, भला मुट्ठी भर मुसलमान उनके सामने क्या ठहरते।

एक साल और गुजर गया। फिर जन्माष्टमी का उत्सव आया। हिन्दुओं को अभी तक अपनी हार भूली न थी। गुप्त रूप से बराबर तैयारियां होती रहती थीं। आज प्रातःकाल ही से भक्त लोग मंदिर में जमा होने लगे। सबके हाथों में लाठियां थीं, कितने ही आदमियों ने कमर में छुरे छिपा लिए थे। छेड़कर लड़ने की राय पक्की हो गई थी। पहले कभी इस उत्सव में जुलूस न निकला था। आज धूमधाम से जुलूस भी निकालने की ठहरी।

दीपक जल चुके थे। मस्जिदों में शाम की नमाज होने लगी थी। जुलूस निकला, हाथी घोड़े, झंडे-झंडियां, बाजे-गाजे, सब साथ थे। आगे-आगे भजनसिंह अपने अखाड़े के पट्ठों को लिए अकड़ते चले जाते थे।

जुमा मस्जिद सामने दिखाई दी। पट्ठों ने लाठियां संभालीं, सब लोग सतर्क हो गए। जो लोग इधर-उधर बिखरे हुए थे, आकर सिमट गए। आपस में कुछ कानाफूसी हुई। बाजे और जोर से बजने लगे। जयजयकार की ध्वनि और जोर से उठने लगी। जुलूस मस्जिद के सामने आ पहुंचा।

सहसा एक मुसलमान ने मस्जिद से निकलकर कहा—नमाज का वक्त है, बाजे बंद कर दो।

भजनसिंह—बाजे न बंद होंगे।

मुसलमान—बंद करने पड़ेंगे।

भजनसिंह—तुम अपनी नमाज क्यों नहीं बंद कर देते ?

मुसलमान—चौधरी साहब के बल पर मत फूलना। अबकी होश ठंडे हो जाएंगे।

भजनसिंह—चौधरी साहब के बल पर तुम फूलो, यहां अपने ही बल का भरोसा है।

यह धर्म का मामला है।

इतने में कुछ और मुसलमान निकल आए और बाजे बंद करने का आग्रह करने लगे, इधर और जोर से बाजे बजने लगे। बात बढ़ गई। एक मौलवी ने भजनसिंह को काफिर कह दिया। ठाकुर ने उसकी दाढ़ी पकड़ ली। फिर क्या था। सूरमा लोग निकल पड़े, मारपीट शुरू हो गई। ठाकुर हल्ला मारकर मस्जिद में घुस गए, और मस्जिद के अंदर मारपीट होने लगी। यह नहीं कहा जा सकता कि मैदान किसके हाथ रहा। हिंदू कहते थे, हमने खदेड़-खदेड़कर मारा, मुसलमान कहते थे, हमने वह मार मारी कि फिर सामने नहीं आएंगे। पर इन विवादों के बीच में एक बात सब मानते थे, और वह थी ठाकुर भजनसिंह की अलौकिक वीरता। मुसलमानों का कहना था कि ठाकुर न होता तो हम किसी को जिंदा न छोड़ते, हिन्दू कहते थे कि ठाकुर सचमुच महावीर का अवतार है। इसकी लाठियों ने उन सबों के छक्के छुड़ा दिए।

उत्सव समाप्त हो चुका था। चौधरी साहब दीवानखाने में बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। उनका मुख लाल था, त्यौरियां चढ़ी हुई थीं और आंखों से चिनगारियां-सी निकल रही थीं। 'खुदा का घर' नापाक किया गया ! यह खयाल रह-रहकर उनके कलेजे को मसोसता था।

खुदा का घर नापाक किया गया ! जालिमों को लड़ने के लिए क्या नीचे मैदान में जगह काफी न थी : खुदा के पाक घर में यह खून-खच्चर ! मस्जिद की यह बेहुरमती ! मंदिर भी खुदा का घर है और मस्जिद भी। मुसलमान किसी मंदिर को नापाक करने के लिए जिस सजा के लायक हैं, क्या हिन्दू मस्जिद को नापाक करने के लिए उसी सजा के लायक नहीं ?

और यह हरकत ठाकुर ने की ! इसी कसूर के लिए तो उसने मेरे दामाद को कत्ल किया था। मुझे मालूम होता कि उसके हाथों ऐसा फ़ेल होगा, तो उसे फांसी पर चढ़ने देता। क्यों उसके लिए इतना हैरान, इतना बदनाम, इतना ज़ेरबार होता। ठाकुर मेरा वफादार नौकर है। उसने बारहा मेरी जान बचाई है। मेरे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार रहता है। लेकिन आज उसने खुदा के घर को नापाक किया है और उसे इसकी सजा मिलनी चाहिए। इसकी सजा क्या है? जहन्नुम! जहन्नुम की आग के सिवा इसकी और कोई सजा नहीं है। जिसने खुदा के घर को नापाक किया, उसने खुदा की तौहीन की। ख़ुदा की तौहीन!

सहसा ठाकुर भजनसिंह आकर खड़े हो गए।

चौधरी साहब ने ठाकुर को क्रोधोन्मत्त आंखों से देखकर कहा—तुम मस्जिद में घुसे थे?

भजनसिंह—सरकार, मौलवी लोग हम लोगों पर टूटे पड़े।

चौधरी—मेरी बात का जवाब दो जी—तुम मस्जिद में घुसे थे ?

भजनसिंह—जब उन लोगों ने मस्जिद के भीतर से हमारे ऊपर पत्थर फेंकना शुरू किया तब हम लोग उन्हें पकड़ने के लिए मस्जिद में घुस गए।

चौधरी—जानते हो, मस्जिद खुदा का घर है ?

भजनसिंह—जानता हूं हुजूर, क्या इतना भी नहीं जानता।

चौधरी—मस्जिद खुदा का वैसा ही पाक घर है, जैसे मंदिर।

भजनसिंह ने इसका कुछ जवाब न दिया।

चौधरी—अगर कोई मुसलमान मंदिर को नापाक करने के लिए गर्दन-ज़दनी है तो

हिन्दू भी मस्जिद को नापाक करने के लिए गर्दन-ज़दनी है।

भजनसिंह इसका भी कुछ जवाब न दे सका। उसने चौधरी साहब को कभी इतने गुस्से में न देखा था।

चौधरी—तुमने मेरे दामाद को कत्ल किया, और मैंने तुम्हारी पैरवी की। जानते हो क्यों ? इसलिए कि मैं अपने दामाद को उस सजा के लायक समझता था जो तुमने उसे दी। अगर तुमने मेरे बेटे को, या मुझी को, उस कसूर के लिए मार डाला होता तो मैं तुमसे खून का बदला न मांगता। वही कसूर आज तुमने किया है। अगर किसी मुसलमान ने मस्जिद में तुम्हें जहन्नुम में पहुंचा दिया होता तो मुझे सच्ची खुशी होती। लेकिन तुम बेहयाओं की तरह वहां से बचकर निकल आए। क्या तुम समझते हो खुदा तुम्हें इस फ़ैल की सजा न देगा ? खुदा का हुक्म है कि जो उसकी तौहीन करे, उसकी गर्दन मार देनी चाहिए। यह हर एक मुसलमान का फ़र्ज़ है। चोर अगर सजा न पावे तो क्या वह चोर नहीं है। तुम मानते हो या नहीं कि तुमने खुदा की तौहीन की ?

ठाकुर इस अपराध से इंकार न कर सके। चौधरी साहब के सत्संग ने हठधर्मी को दूर कर दिया था। बोले—हां साहब, यह कसूर तो हो गया।

चौधरी—इसकी जो सजा तुम दे चुके हो, वह सजा खुद लेने के लिए तैयार हो?

ठाकुर—मैंने जान-बूझकर तो दूल्हा मियां को नहीं मारा था।

चौधरी—तुमने न मारा होता, तो मैं अपने हाथों से मारता, समझ गए ! अब मैं तुमसे खुदा की तौहीन का बदला लूंगा। बोलो, मेरे हाथों चाहते हो या अदालत के हाथों ? अदालत से कुछ दिनों के लिए सजा पा जाओगे। मैं कत्ल करूंगा। तुम मेरे दोस्त हो, मुझे तुमसे मुतलक कीना नहीं है। मेरे दिल को कितना रंज है, यह खुदा के सिवा और कोई नहीं जान सकता। लेकिन मैं तुम्हें कत्ल करूंगा। मेरे दीन का यह हुक्म है।

यह कहते हुए चौधरी साहब तलवार लेकर ठाकुर के सामने खड़े हो गए। विचित्र दृश्य था। एक बूढ़ा आदमी, सिर के बाल पके, कमर झुकी, तलवार लिए एक देव के सामने खड़ा था। ठाकुर लाठी के एक ही वार से उनका काम तमाम कर सकता था, लेकिन उसने सिर झुका दिया। चौधरी के प्रति उसके रोम-रोम में श्रद्धा थी। चौधरी साहब अपने दीन के इतने पक्के हैं, इसकी उसने कभी कल्पना तक न की थी। उसे शायद धोखा हो गया था कि यह दिल से हिन्दू हैं। जिस स्वामी ने उसे फांसी से उतार लिया, उसके प्रति हिंसा या प्रतिकार का भाव उसके मन में क्योंकर आता ? वह दिलेर था, और दिलेरों की भांति निष्कपट था। उसे इस समय क्रोध न था, पश्चात्ताप था। मरने का भय न था, दुख था।

चौधरी साहब ठाकुर के सामने खड़े थे। दीन कहता था—मारो। सज्जनता कहती थी—छोड़ो। दीन और धर्म में संघर्ष हो रहा था।

ठाकुर ने चौधरी का असमंजस देखा। गद्गद कंठ से बोला—मालिक, आपकी दया मुझ पर हाथ न उठाने देगी। अपने पाले हुए सेवक को आप मार नहीं सकते। लेकिन यह सिर आपका है, आपने इसे बचाया था, आप इसे ले सकते हैं, यह मेरे पास आपकी अमानत थी। वह अमानत आपको मिल जाएगी। सबेरे मेरे घर किसी को भेजकर मंगवा लीजिएगा। यहाँ दूंगा, तो उपद्रव खड़ा हो जाएगा। घर पर कौन जानेगा, किसने मारा। जो भूल-चूक हुई हो, क्षमा कीजिएगा।

यह कहता हुआ ठाकुर वहां से चला गया।

['दैरो-हरम' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। यह कहानी उर्दू की कई पत्रिकाओं में छपी। साप्ताहिक पत्र 'आजाद' में भी प्रकाशित हुई। प्रकाशन का मूल स्रोत अज्ञात। प्रकाशन-तिथि, अज्ञात। हिन्दी रूप 'मन्दिर और मस्जिद' शीर्षक से मासिक पत्रिका 'माधुरी', अप्रैल, 1925 में प्रकाशित। 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित।]

विश्वास

उन दिनों मिस जोशी बम्बई सभ्य-समाज की राधिका थी। थी तो वह एक छोटी-सी कन्या-पाठशाला की अध्यापिका पर उसका ठाट-बाट, मान-सम्मान बड़ी-बड़ी धन-रानियों को भी लज्जित करता था। वह एक बड़े महल में रहती थी, जो किसी जमाने में सतारा के महाराज का निवास-स्थान था। वहाँ सारे दिन नगर के रईसों, राजों, राज-कर्मचारियों का ताँता लगा रहता था। वह सारे प्रांत के धन और कीर्ति के उपासकों की देवी थी। अगर किसी को खिताब का खब्त था तो वह मिस जोशी की खुशामद करता था। किसी को अपने या अपने संबंधों के लिए कोई अच्छा ओहदा दिलाने की धुन थी तो वह मिस जोशी की आराधना करता था। सरकारी इमारतों के ठीके ; नमक, शराब, अफ़ीम आदि सरकारी चीजों के ठीके; लोहे-लकड़ी, कल-पुरजे आदि के ठीके सब मिस जोशी ही के हाथों में थे। जो कुछ करती थी वही करती थी, जो कुछ होता था उसी के हाथों होता था। जिस वक्त वह अपनी अरबी घोड़ों की फिटन पर सैर करने निकलती तो रईसों की सवारियाँ आप ही आप रास्ते से हट जाती थीं, बड़े-बड़े दुकानदार खड़े हो-हो कर सलाम करने लगते थे। वह रूपवती थी, लेकिन नगर में उससे बढ़ कर रूपवती रमणियाँ भी थीं; वह सुशिक्षिता थी, वाक्चतुर थी, गाने में निपुण, हँसती तो अनोखी छवि से, बोलती तो निराली छटा से, ताकती तो बाँकी चितवन से; लेकिन इन गुणों में उसका एकाधिपत्य न था। उसकी प्रतिष्ठा, शक्ति और कीर्ति का कुछ और ही रहस्य था। सारा नगर ही नहीं; सारे प्रांत का बच्चा-बच्चा जानता था कि बम्बई के गवर्नर मिस्टर जौहरी मिस जोशी के बिना दामों के गुलाम हैं। मिस जोशी की आँखों का इशारा उनके लिए नादिरशाही हुक्म है। वह थिएटरों में, दावतों में, जलसों में मिस जोशी के साथ साये की भाँति रहते हैं और कभी-कभी उनकी मोटर रात के सन्नाटे में मिस जोशी के मकान से निकलती हुई लोगों को दिखायी देती है। इस प्रेम में वासना की मात्रा अधिक है या भक्ति की, यह कोई नहीं जानता। लेकिन मिस्टर जौहरी विवाहित हैं और मिस जोशी विधवा, इसलिए जो लोग उनके प्रेम को कलुषित कहते हैं, वे उन पर कोई अत्याचार नहीं करते।

बम्बई की व्यवस्थापिका-सभा ने अनाज पर कर लगा दिया था और जनता की ओर से उसका विरोध करने के लिए एक विराट् सभा हो रही थी। सभी नगरों से प्रजा के प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित होने के लिए हजारों की संख्या में आये थे। मिस जोशी के विशाल भवन के सामने, चौड़े मैदान में हरी-हरी घास पर बम्बई की जनता अपनी फरियाद सुनाने के लिए जमा थी। अभी तक सभापति न आये थे, इसलिए लोग बैठे गप-शप कर

रहे थे। कोई कर्मचारियों पर आक्षेप करता था, कोई देश की स्थिति पर, कोई अपनी दीनता पर--अगर हम लोगों में अकड़ने का ज़रा भी सामर्थ्य होता तो मजाल थी कि यह कर लगा दिया जाता, अधिकारियों का घर से बाहर निकलना मुश्किल हो जाता। हमारा ज़रूरत से ज्यादा सीधापन हमें अधिकारियों के हाथों का खिलौना बनाये हुए है। वे जानते हैं कि इन्हें जितना दबाते जाओ, उतना दबते जायेंगे, सिर नहीं उठा सकते। सरकार ने भी उपद्रव की आशंका से सशस्त्र पुलिस बुला ली। उस मैदान के चारों कोने पर सिपाहियों के दल डेरा डाले पड़े थे। उनके अफसर, घोड़ों पर सवार, हाथ में हंटर लिये, जनता के बीच में निश्शंक भाव से घोड़े दौड़ाते-फिरते थे, मानो साफ मैदान है। मिस जोशी के ऊँचे बरामदे में नगर के सभी बड़े-बड़े रईस और राज्याधिकारी तमाशा देखने के लिए बैठे हुए थे। मिस जोशी मेहमानों का आदर-सत्कार कर रही थीं और मिस्टर जौहरी, आराम-कुर्सी पर लेटे, इस जन-समूह को घृणा और भय की दृष्टि से देख रहे थे।

सहसा सभापति महाशय आपटे एक किराये के ताँगे पर आते दिखायी दिये। चारों तरफ हलचल मच गयी, लोग उठ-उठ कर उनका स्वागत करने दौड़े और उन्हें ला कर मंच पर बैठा दिया। आपटे की अवस्था 30-35 वर्ष से अधिक न थी; दुबले-पतले आदमी थे, मुख पर चिंता का गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ; बाल भी पक चले थे, मुख पर सरल हास्य की रेखा झलक रही थी। वह एक सफ़ेद मोटा कुरता पहने थे, न पाँव में जूते थे, न सिर पर टोपी। इस अर्द्धनग्न, दुर्बल, निस्तेज प्राणी में न-जाने कौन-सा जादू था कि समस्त जनता उसकी पूजा करती थी, उसके पैरों पर सिर रगड़ती थी। इस एक प्राणी के हाथों में इतनी शक्ति थी कि वह क्षणमात्र में सारी मिलों को बन्द करा सकता था, शहर का सारा कारोबार मिटा सकता था। अधिकारियों को उसके भय से नींद न आती थी, रात को सोते-सोते चौंक पड़ते थे। उससे ज्यादा भयंकर जन्तु अधिकारियों की दृष्टि में दूसरा न था। यह प्रचंड शासन शक्ति उस एक हड्डी के आदमी से थरथर काँपती थी, क्योंकि उस हड्डी में एक पवित्र, निष्कलंक, बलवान और दिव्य आत्मा का निवास था।

2

आपटे ने मंच पर खड़े हो कर पहले जनता को शांत चित्त रहने और अहिंसा-व्रत पालन करने का आदेश दिया। फिर देश की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करने लगे। सहसा उनकी दृष्टि सामने मिस जोशी के बरामदे की ओर गयी तो उनका प्रजा-दुःख-पीड़ित हृदय तिलमिला उठा। यहाँ अगणित प्राणी अपनी विपत्ति की फरियाद सुनाने के लिए जमा थे और वहाँ मेजों पर चाय और बिस्कुट, मेवे और फल, बर्फ और शराब की रेल-पेल थी। वे लोग इन अभागों को देख-देख हँसते और तालियाँ बजाते थे। जीवन में पहली बार आपटे की ज़बान काबू से बाहर हो गयी। मेघ की भाँति गरज कर बोले--

'इधर तो हमारे भाई दाने-दाने को मुहताज हो रहे हैं, उधर अनाज पर कर लगाया जा रहा है, केवल इसलिए कि राजकर्मचारियों के हलुवे-पूरी में कमी न हो। हम जो देश के राजा हैं, जो छाती फाड़ कर धरती से धन निकालते हैं, भूखों मरते हैं; और वे लोग, जिन्हें हमने अपने सुख और शांति की व्यवस्था करने के लिए रखा है, हमारे स्वामी बने हुए शराबों की बोतलें उड़ाते हैं। कितनी अनोखी बात है कि स्वामी भूखों मरें और सेवक शराबें

उड़ायें, मेवे खायें और इटली और स्पेन की मिठाइयाँ चलें ! यह किसका अपराध है ? क्या सेवकों का? नहीं, कदापि नहीं, हमारा ही अपराध है कि हमने अपने सेवकों को इतना अधिकार दे रखा है। आज हम उच्च स्वर से कह देना चाहते हैं कि हम यह क्रूर और कुटिल व्यवहार नहीं सह सकते। यह हमारे लिए असह्य है कि हम और हमारे बाल-बच्चे दानों को तरसें और कर्मचारी लोग, विलास में डूबे हुए हमारे करुण-क्रन्दन की जरा भी परवा न करते हुए विहार करें। यह असह्य है कि हमारे घरों में चूल्हे न जलें और कर्मचारी लोग थिएटरों में ऐश करें, नाच-रंग की महफिलें सजायें, दावतें उड़ायें, वेश्याओं पर कंचन की वर्षा करें। संसार में ऐसा और कौन देश होगा, जहाँ प्रजा तो भूखों मरती हो और प्रधान कर्मचारी अपनी प्रेम-क्रीड़ाओं में मग्न हों, जहाँ स्त्रियाँ गलियों में ठोकरें खाती फिरती हों और अध्यापिकाओं का वेष धारण करनेवाली वेश्याएँ आमोद-प्रमोद के नशे में चूर हों...

3

एकाएक सशस्त्र सिपाहियों के दल में हलचल पड़ गयी। उनका अफ़सर हुक्म दे रहा था—सभा भंग कर दो, नेताओं को पकड़ लो, कोई न जाने पाये। यह विद्रोहात्मक व्याख्यान है।

मिस्टर जौहरी ने पुलिस के अफ़सर को इशारे से बुलाकर कहा—और किसी को गिरफ्तार करने की जरूरत नहीं। आपटे ही को पकड़ो। वही हमारा शत्रु है।

पुलिस ने डंडे चलाने शुरू किये और कई सिपाहियों के साथ जा कर अफ़सर ने आपटे को गिरफ्तार कर लिया।

जनता ने त्योरियाँ बदलीं। अपने प्यारे नेता को यों गिरफ्तार होते देख कर उनका धैर्य हाथ से जाता रहा।

लेकिन उसी वक्त आपटे की ललकार सुनाई दी—तुमने अहिंसा-व्रत लिया है और अगर किसी ने उस व्रत को तोड़ा तो उसका दोष मेरे सिर होगा। मैं तुमसे सविनय अनुरोध करता हूँ कि अपने-अपने घर जाओ। अधिकारियों ने वही किया जो हम समझते थे। इस सभा से हमारा जो उद्देश्य था वह पूरा हो गया। हम यहाँ बलवा करने नहीं, केवल संसार की नैतिक सहानुभूति प्राप्त करने के लिए जमा हुए थे, और हमारा उद्देश्य पूरा हो गया।

एक क्षण में सभा भंग हो गयी और आपटे पुलिस की हवालात में भेज दिये गये।

4

मिस्टर जौहरी ने कहा—बच्चा बहुत दिनों के बाद पंजे में आये हैं राज-द्रोह का मुकदमा चला कर कम से कम दस साल के लिए अंडमान भेजूँगा।

मिस जोशी—इससे क्या फ़ायदा ?

'क्यों ? उसको अपने किये की सज़ा मिल जायगी।'

'लेकिन सोचिए, हमें उसका कितना मूल्य देना पड़ेगा। अभी जिस बात को गिने-गिनाये लोग जानते हैं वह सारे संसार में फैलेगी और हम कहीं मुँह दिखाने लायक न रहेंगे। आप अखबारों के संवाददाताओं की जबान तो नहीं बंद कर सकते।'

'कुछ भी हो, मैं इसे जेल में सड़ाना चाहता हूँ। कुछ दिनों के लिए तो चैन की नींद

नसीब होगी। बदनामी से तो डरना ही व्यर्थ है। हम प्रांत के सारे समाचार-पत्रों को अपने सदाचार का राग अलापने के लिए मोल ले सकते हैं। हम प्रत्येक लांछन को झूठ साबित कर सकते हैं, आपटे पर मिथ्या दोषारोपण का अपराध लगा सकते हैं।'

'मैं इससे सहज उपाय बतला सकती हूँ। आप आपटे को मेरे हाथ में छोड़ दीजिए। मैं उससे मिलूँगी और उन यंत्रों से, जिनका प्रयोग करने में हमारी जाति सिद्धहस्त है, उसके आंतरिक भावों और विचारों की थाह ले कर आपके सामने रख दूँगी। मैं ऐसे प्रमाण खोज निकालना चाहती हूँ जिनके उत्तर में उसे मुँह खोलने का साहस न हो, और संसार की सहानुभूति उसके बदले हमारे साथ हो। चारों ओर से यही आवाज आये कि यह कपटी और धूर्त था और सरकार ने उसके साथ वही व्यवहार किया है जो होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि वह षड्यंत्रकारियों का मुखिया है और मैं इसे सिद्ध कर देना चाहती हूँ। मैं उसे जनता की दृष्टि में देवता नहीं बनाना चाहती, उसको राक्षस के रूप में दिखाना चाहती हूँ।'

'यह काम इतना आसान नहीं है, जितना तुमने समझ रखा है। आपटे राजनीति में बड़ा चतुर है।'

'ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जिस पर युवती अपनी मोहिनी न डाल सके।'

'अगर तुम्हें विश्वास है कि तुम यह काम पूरा कर दिखाओगी, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो केवल उसे दंड देना चाहता हूँ।'

'तो हुक्म दे दीजिए कि वह इसी वक्त छोड़ दिया जाय।'

'जनता कहीं यह तो न समझेगी कि सरकार डर गयी ?'

'नहीं, मेरे खयाल में तो जनता पर इस व्यवहार का बहुत अच्छा असर पड़ेगा। लोग समझेंगे कि सरकार ने जनमत का सम्मान किया है।'

'लेकिन तुम्हें उसके घर जाते लोग देखेंगे तो मन में क्या कहेंगे ?'

'नकाब डालकर जाऊँगी, किसी को कानोंकान खबर न होगी।'

'मुझे तो अब भी भय है कि वह तुम्हें संदेह की दृष्टि से देखेगा और तुम्हारे पंजे में न आयेगा, लेकिन तुम्हारी इच्छा है तो आजमा देखो।'

यह कह कर मिस्टर जौहरी ने मिस जोशी को प्रेममय नेत्रों से देखा, हाथ मिलाया और चले गये।

आकाश पर तारे निकले हुए थे, चैत की शीतल, सुखद वायु चल रही थी, सामने के चौड़े मैदान में सन्नाटा छाया हुआ था, लेकिन मिस जोशी को ऐसा मालूम हुआ मानो आपटे मंच पर खड़ा बोल रहा है। उसका शांत, सौम्य, विषादमय स्वरूप उसकी आँखों में समाया हुआ था।

5

प्रातःकाल मिस जोशी अपने भवन से निकली, लेकिन उसके वस्त्र बहुत साधारण थे और आभूषण के नाम शरीर पर एक धागा भी न था। अलंकारविहीन हो कर उसकी छवि स्वच्छ, निर्मल जल की भाँति और भी निखर गयी। उसने सड़क पर आ कर एक ताँगा लिया और चली।

आपटे का मकान गरीबों के एक दूर के मुहल्ले में था। ताँगेवाला मकान का पता जानता था। कोई दिक्कत न हुई। मिस जोशी जब मकान के द्वार पर पहुँची तो न जाने

क्यों उसका दिल धड़क रहा था। उसने काँपते हुए हाथों से कुंडी खटखटायी। एक अधेड़ औरत ने निकल कर द्वार खोल दिया। मिस जोशी उस घर की सादगी देख कर दंग रह गयी। एक किनारे चारपाई पड़ी हुई थी, एक टूटी आलमारी में कुछ किताबें चुनी हुई थीं, फ़र्श पर लिखने का डेस्क था और एक रस्सी की अलगनी पर कपड़े लटक रहे थे। कमरे के दूसरे हिस्से में एक लोहे का चूल्हा था और खाने के बरतन पड़े हुए थे। एक लम्बा-तड़ंगा आदमी, जो उसी अधेड़ औरत का पति था, बैठा एक टूटे हुए ताले की मरम्मत कर रहा था और एक पाँच-छः वर्ष का तेजस्वी बालक आपटे की पीठ पर चढ़ने के लिए उसके गले में हाथ डाल रहा था। आपटे इसी लोहार के साथ उसी के घर में रहते थे। समाचार-पत्रों में लेख लिख कर जो कुछ मिलता उसे दे देते और इस भाँति गृह-प्रबंध की चिंताओं से छुट्टी पा कर जीवन व्यतीत करते थे।

मिस जोशी को देख कर आपटे ज़रा चौंके, फिर खड़े हो कर उनका स्वागत किया और सोचने लगे कि कहाँ बैठाऊँ। अपनी दरिद्रता पर आज उन्हें जितनी लाज आयी उतनी और कभी न आयी थी। मिस जोशी उनका असमंजस देख कर चारपाई पर बैठ गयी और जरा रुखाई से बोली—मैं बिना बुलाये आपके यहाँ आने के लिए क्षमा माँगती हूँ किंतु काम ऐसा जरूरी था कि मेरे आये बिना पूरा न हो सकता। क्या मैं एक मिनट के लिए आपसे एकांत में मिल सकती हूँ ?

आपटे ने जगन्नाथ की ओर देख कर कमरे से बाहर चले जाने का इशारा किया। उसकी स्त्री भी बाहर चली गयी। केवल बालक रह गया। वह मिस जोशी की ओर बार-बार उत्सुक आँखों से देखता था। मानो पूछ रहा हो कि तुम आपटे दादा की कौन हो ?

मिस जोशी ने चारपाई से उतर कर जमीन पर बैठते हुए कहा—आप कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मैं इस वक्त क्यों आयी हूँ ?

आपटे ने झेंपते हुए कहा—आपकी कृपा के सिवा और क्या कारण हो सकता है ?

मिस जोशी—नहीं, संसार इतना उदार नहीं हुआ कि आप जिसे गालियाँ दें, वह आपको धन्यवाद दे। आपको याद है कि कल आपने अपने व्याख्यान में मुझ पर क्या-क्या आक्षेप किये थे ? मैं आप से जोर दे कर कहती हूँ कि वे आक्षेप करके आपने मुझ पर घोर अत्याचार किया है। आप जैसे सहृदय, शीलवान, विद्वान्, आदमी से मुझे ऐसी आशा न थी। मैं अबला हूँ, मेरी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है ? क्या आपको उचित था कि एक अबला पर मिथ्यारोपण करें ? अगर मैं पुरुष होती तो आपसे ड्यूल खेलने का आग्रह करती। अबला हूँ, इसलिए आपकी सज्जनता को स्पर्श करना ही मेरे हाथ में है। आपने मुझ पर जो लांछन लगाये हैं, वे सर्वथा निर्मूल हैं।

आपटे ने दृढ़ता से कहा—अनुमान तो बाहरी प्रमाणों से ही किया जाता है।

मिस जोशी—बाहरी प्रमाणों से आप किसी के अंतस्तल की बात नहीं जान सकते।

आपटे—जिसका भीतर-बाहर एक न हो, उसे देख कर भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक है।

मिस जोशी—हाँ, तो वह आपका भ्रम है और मैं चाहती हूँ कि आप उस कलंक को मिटा दें जो आपने मुझ पर लगाया है। आप इसके लिए प्रायश्चित्त करेंगे ?

आपटे—अगर न करूँ तो मुझसे बड़ा दुरात्मा संसार में न होगा।

मिस जोशी—आप मुझ पर विश्वास करते हैं।

आपटे—मैंने आज तक किसी रमणी पर अविश्वास नहीं किया।

मिस जोशी—क्या आपको यह संदेह हो रहा है कि मैं आपके साथ कौशल कर रही हूँ ?

आपटे ने मिस जोशी की ओर अपने सदय, सजल, सरल नेत्रों से देख कर कहा—बाई जी, मैं गँवार और अशिष्ट प्राणी हूँ, लेकिन नारी-जाति के लिए मेरे हृदय में जो आदर है, वह उस श्रद्धा से कम नहीं है, जो मुझे देवताओं पर है। मैंने अपनी माता का मुख नहीं देखा, यह भी नहीं जानता कि मेरा पिता कौन था; किन्तु जिस देवी के दया-वृक्ष की छाया में मेरा पालन-पोषण हुआ उनकी प्रेम-मूर्ति आज तक मेरी आँखों के सामने है और नारी के प्रति मेरी भक्ति को सजीव रखे हुए है। मैं उन शब्दों को मुँह से निकालने के लिए अत्यन्त दुःखी और लज्जित हूँ जो आवेश में निकल गये, और मैं आज ही समाचारपत्रों में खेद प्रकट करके आपसे क्षमा की प्रार्थना करूंगा।

मिस जोशी को अब तक अधिकांश स्वार्थी आदमियों ही से साबिका पड़ा था, जिनके चिकने-चुपड़े शब्दों में मतलब छिपा हुआ था। आपटे के सरल विश्वास पर उसका चित्त आनन्द से गद्‌गद्‌ हो गया। शायद वह गंगा में खड़ी हो कर अपने अन्य मित्रों से यह कहती तो उसके फैशनेबुल मिलनेवालों में से किसी को उस पर विश्वास न आता। सब मुँह के सामने तो हाँ-हाँ करते, पर बाहर निकलते ही उसका मजाक उड़ाना शुरू करते। उन कपटी मित्रों के सम्मुख यह आदमी था जिसके एक-एक शब्द में सच्चाई झलक रही थी और जो उसके अंतस्तल से निकलते हुए मालूम होते थे।

आपटे उसे चुप देख कर किसी और ही चिंता में पड़े हुए थे। उन्हें भय हो रहा था अब मैं चाहे कितनी क्षमा माँगूँ, मिस जोशी के सामने कितनी सफाईयाँ पेश करूँ, मेरे आक्षेपों का असर कभी न मिटेगा।

इस भाव ने अज्ञात रूप से उन्हें अपने विषय की गुप्त बातें कहने की प्रेरणा की जो उन्हें उसकी दृष्टि में लघु बना दें, जिससे वह भी उन्हें नीच समझने लगे, उसको संतोष हो जाय कि यह भी कलुषित आत्मा है। बोले—मैं जन्म से अभागा हूँ। माता-पिता का तो मुँह ही देखना नसीब न हुआ, जिस दयाशील महिला ने मुझे आश्रय दिया था, वह भी मुझे तेरह वर्ष की अवस्था में अनाथ छोड़ कर परलोक सिधार गयी। उस समय मेरे सिर पर जो कुछ बीती उसे याद करके इतनी लज्जा आती है कि किसी को मुँह न दिखाऊँ। मैंने धोबी का काम किया; मोची का काम किया; घोड़े की साईसी की; एक होटल में बरतन माँजता रहा; यहाँ तक कि कितनी ही बार क्षुधा से व्याकुल होकर भीख भी माँगी। मजदूरी करने को बुरा नहीं समझता, आज भी मजदूरी ही करता हूँ। भीख माँगनी भी किसी-किसी दशा में क्षम्य है, लेकिन, मैंने उस अवस्था में ऐसे-ऐसे कर्म किये, जिन्हें कहते लज्जा आती है—चोरी की, विश्वासघात किया, यहाँ तक कि चोरी के अपराध में कैद की सजा भी पायी।

मिस जोशी ने सजल नयन हो कर कहा—आप यह सब बातें मुझसे क्यों कह रहे हैं ? मैं इनका उल्लेख करके आपको कितना बदनाम कर सकती हूँ, इसका आपको भय नहीं है ?

आपटे ने हँस कर कहा—नहीं, आपसे मुझे यह भय नहीं है।

मिस जोशी–अगर मैं आपसे बदला लेना चाहूँ, तो ?

आपटे–जब मैं अपने अपराध पर लज्जित हो कर आपसे क्षमा माँग रहा हूँ, तो मेरा अपराध रहा ही कहाँ, जिसका आप मुझसे बदला लेंगी। इससे तो मुझे भय होता है कि आपने मुझे क्षमा नहीं किया। लेकिन यदि मैंने आपसे क्षमा न माँगी होती तो मुझसे बदला न ले सकतीं। बदला लेने वाले की आँखें यों सजल नहीं हो जाया करतीं। मैं आपको कपट करने के अयोग्य समझता हूँ। आप यदि कपट करना चाहतीं तो यहाँ कभी न आतीं।

मिस जोशी–मैं आपका भेद लेने ही के लिए आयी हूँ।

आपटे–तो शौक से लीजिए। मैं बतला चुका हूँ कि मैंने चोरी के अपराध में कैद की सजा पायी थी। नासिक के जेल में रखा गया था। मेरा शरीर दुर्बल था, जेल की कड़ी मेहनत न हो सकती थी और अधिकारी लोग मुझे कामचोर समझ कर बेंतों से मारते थे। आखिर एक दिन मैं रात को जेल से भाग खड़ा हुआ।

मिस जोशी–आप तो छिपे रुस्तम निकले !

आपटे- ऐसा भागा कि किसी को खबर न हुई। आज तक मेरे नाम वारंट जारी है और पांच सौ रुपये इनाम भी है।

मिस जोशी–तब तो मैं आपको जरूर पकड़ा दूँगी।

आपटे–तो फिर मैं आपको अपना असल नाम भी बतलाये देता हूँ। मेरा नाम दामोदर मोदी है। यह नाम तो पुलिस से बचने के लिये रख छोड़ा है।

बालक अब तक तो चुपचाप बैठा हुआ था। मिस जोशी के मुँह से पकड़ाने की बात सुन कर वह सजग हो गया।। उन्हें डाँट कर बोला–हमाले दादा को कौन पकलेगा ?

मिस जोशी–सिपाही और कौन ?

बालक–हम सिपाही को मालेंगे।

यह कह कर वह एक कोने से अपने खेलने का डंडा उठा लाया और आपटे के पास वीरोचित भाव से खड़ा हो गया, मानो सिपाहियों से उनकी रक्षा कर रहा है।

मिस जोशी–आपका रक्षक तो बड़ा बहादुर मालूम होता है।

आपटे–इसकी भी एक कथा है। साल-भर होता है, यह लड़का खो गया था। मुझे रास्ते में मिला। मैं पूछता-पूछता इसे यहाँ लाया। उसी दिन से इन लोगों से मेरा इतना प्रेम हो गया कि मैं इसके साथ रहने लगा।

मिस जोशी–आप अनुमान कर सकते हैं कि आपका वृत्तांत सुन कर मैं आपको क्या समझ रही हूँ।

आपटे–वही, जो मैं वास्तव में हूँ–नीच, कमीना, धूर्त...

मिस जोशी–नहीं, आप मुझ पर फिर अन्याय कर रहे हैं। पहला अन्याय तो क्षमा कर सकती हूँ, यह अन्याय क्षमा नहीं कर सकती। इतनी प्रतिकूल दशाओं में पड़ कर भी जिसका हृदय इतना पवित्र, इतना निष्कपट, इतना सदय हो, वह आदमी नहीं देवता है। भगवन्, आपने मुझ पर जो आक्षेप किये वह सत्य हैं। मैं आपके अनुमान से कहीं भ्रष्ट हूँ। मैं इस योग्य भी नहीं हूँ कि आपकी ओर ताक सकूँ। आपने अपने हृदय की विशालता दिखा कर मेरा असली स्वरूप मेरे सामने प्रकट कर दिया। मुझे क्षमा कीजिए, मुझ पर दया कीजिए।

यह कहते-कहते वह उनके पैरों पर गिर पड़ी। आपटे ने उसे उठा लिया और बोले—मिस जोशी, ईश्वर के लिए मुझे लज्जित न करो।

मिस जोशी ने गद्‌गद् कंठ से कहा—आप इन दुष्टों के हाथ से मेरा उद्धार कीजिए। मुझे इस योग्य बनाइए कि आपकी विश्वासपात्री बन सकूँ। ईश्वर साक्षी है कि मुझे कभी-कभी अपनी दशा पर कितना दुःख होता है। मैं बार-बार चेष्टा करती हूँ कि अपनी दशा सुधारूँ; इस विलासिता के जाल को तोड़ दूँ, जो मेरी आत्मा को चारों तरफ से जकड़े हुए हैं, पर दुर्बल आत्मा अपने निश्चय पर स्थित नहीं रहती। मेरा पालन-पोषण जिस ढंग से हुआ, उसका यह परिणाम होना स्वाभाविक-सा मालूम होता है। मेरी उच्च शिक्षा ने गृहिणी-जीवन से मेरे मन में घृणा पैदा कर दी। मुझे किसी पुरुष के अधीन रहने का विचार अस्वाभाविक जान पड़ता था। मैं गृहिणी की जिम्मेदारियों और चिंताओं को अपनी मानसिक स्वाधीनता के लिए विष-तुल्य समझती थी। मैं तर्कबुद्धि से अपने स्त्रीत्व को मिटा देना चाहती थी, मैं पुरुषों की भाँति स्वतन्त्र रहना चाहती थी। क्यों किसी की पाबंद हो कर रहूँ ? क्यों अपनी इच्छाओं को किसी व्यक्ति के साँचे में ढालूँ ? क्यों किसी को यह कहने का अधिकार दूँ कि तुमने यह क्यों किय, वह क्यों किया ? दाम्पत्य मेरी निगाह में तुच्छ वस्तु थी। अपने माता-पिता की आलोचना करना मेरे लिए उचित नहीं, ईश्वर उन्हें सद्‌गति दे, उनकी राय किसी बात पर न मिलती थी। पिता विद्वान् थे, माता के लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' था। उनमें रात-दिन वाद-विवाद होता रहता था। पिताजी ऐसी स्त्री से विवाह हो जाना अपने जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझते थे। वह यह कहते कभी न थकते थे कि तुम मेरे पाँव की बेड़ी बन गयीं, नहीं तो मैं न जाने कहाँ उड़ कर पहुँचा होता। उनके विचार में सारा दोष माता जी की अशिक्षा के सिर था। वह अपनी एकमात्र पुत्री को मूर्खा माता के संसर्ग से दूर रखना चाहते थे। माता कभी मुझसे कुछ कहतीं तो पिता जी उन पर टूट पड़ते—तुमसे कितनी बार कह चुका कि लड़की को डाँटो मत, वह स्वयं अपना भला-बुरा सोच सकती है, तुम्हारे डाँटने से उसके आत्म-सम्मान को कितना धक्का लगेगा, यह तुम नहीं जान सकतीं। आखिर माता जी ने निराश हो कर मुझे मेरे हाल पर छोड़ दिया और कदाचित् इसी शोक में चल बसीं। अपने घर की अशान्ति देख कर मुझे विवाह से और भी घृणा हो गयी। सबसे बड़ा असर मुझ पर मेरे कालेज की लेडी प्रिंसिपल का हुआ जो स्वयं अविवाहिता थीं। मेरा तो अब यह विचार है कि युवकों की शिक्षा का भार केवल आदर्श चरित्रों पर रखना चाहिए। विलास में रत, कालेजों के शौकीन प्रोफेसर विद्यार्थियों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकते। मैं इस वक्त ऐसी बात आपसे कह रही हूँ पर अभी घर जा कर यह सब भूल जाऊँगी। मैं जिस संसार में हूँ, उसकी जलवायु ही दूषित है। वहाँ सभी मुझे कीचड़ में लतपत देखना चाहते हैं, मेरे विलासासक्त रहने में ही उनका स्वार्थ है। आप वह पहले आदमी हैं जिसने मुझ पर विश्वास किया है, जिसने मुझसे निष्कपट व्यवहार किया है। ईश्वर के लिए, अब मुझे भूल न जाइएगा।

आपटे ने मिस जोशी की ओर वेदनापूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—अगर मैं आपकी कुछ सेवा कर सकूँ तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी। मिस जोशी ! हम सब मिट्टी के पुतले हैं, कोई निर्दोष नहीं। मनुष्य बिगड़ता है तो परिस्थितियों से, या पूर्वसंस्कारों से। परिस्थितियों का त्याग करने से ही बच सकता है, संस्कारों से गिरनेवाले मनुष्य का मार्ग

इससे कहीं कठिन है। आपकी आत्मा सुन्दर और पवित्र है, केवल परिस्थितियों ने उसे कुहरे की भाँति ढंक लिया है। अब विवेक का सूर्य उदय हो गया है, ईश्वर ने चाहा तो कुहरा भी फट जायगा। लेकिन सबसे पहले उन परिस्थितियों का त्याग करने को तैयार हो जाइए।

मिस जोशी—यही आपको करना होगा।

आपटे ने चुभती हुई निगाहों से देख कर कहा—वैद्य रोगी को जबरदस्ती दवा पिलाता है।

मिस जोशी—मैं सब कुछ करूँगी। मैं कड़वी से कड़वी दवा पियूँगी यदि आप पिलायेंगे। कल आप मेरे घर आने की कृपा करेंगे, शाम को ?

आपटे—अवश्य आऊँगा।

मिस जोशी ने विदा लेते हुए कहा—भूलिएगा नहीं, मैं आपकी राह देखती रहूँगी। अपने रक्षक को भी लाइएगा।

यह कह कर उसने बालक को गोद में उठाया और उसे गले से लगा कर बाहर निकल आयी।

गर्व के मारे उसके पाँव जमीन पर न पड़ते थे। मालूम होता था, हवा में उड़ी जा रही है। प्यास से तड़पते हुए मनुष्य को नदी का तट नजर आने लगा था।

6

दूसरे दिन प्रातःकाल मिस जोशी ने मेहमानों के नाम दावती कार्ड भेजे और उत्सव मनाने की तैयारियाँ करने लगी। मिस्टर आपटे के सम्मान में पार्टी दी जा रही थी। मिस्टर जौहरी ने कार्ड देखा तो मुस्कराये। अब महाशय इस जाल से बच कर कहाँ जायेंगे ? मिस जोशी ने उन्हें फँसाने की यह अच्छी तरकीब निकाली। इस काम में निपुण मालूम होती है। मैंने समझा था, आपटे चालाक आदमी होगा, मगर इन आंदोलनकारी विद्रोहियों को बकवास करने के सिवा और क्या सूझ सकती है।

चार ही बजे से मेहमान लोग आने लगे। नगर के बड़े-बड़े अधिकारी, बड़े-बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े विद्वान्, प्रधान समाचार-पत्रों के सम्पादक, अपनी-अपनी महिलाओं के साथ आने लगे। मिस जोशी ने आज अपने अच्छे-से-अच्छे वस्त्र और आभूषण निकाले हुए थे, जिधर निकल जाती थी मालूम होता था, अरुण प्रकाश की छटा चली आ रही है। भवन में चारों तरफ़ से सुगंध की लपटें आ रही थीं और मधुर संगीत की ध्वनि हवा में गूँज रही थी।

पाँच बजते-बजते मिस्टर जौहरी आ पहुँचे और मिस जोशी से हाथ मिलाते हुए मुस्करा कर बोले—जी चाहता है तुम्हारे हाथ चूम लूँ। अब मुझे विश्वास हो गया कि यह महाशय तुम्हारे पन्जे से नहीं निकल सकते।

मिसेज़ पेटिट बोलीं—मिस जोशी दिलों का शिकार करने ही के लिए बनायी गयी हैं।

मिस्टर सोराब जी—मैंने सुना है आपटे बिल्कुल गँवार-सा आदमी है।

मिस्टर भरूचा—किसी यूनिवर्सिटी में शिक्षा ही नहीं पायी, सभ्यता कहाँ से आती ?

मिसेज़ भरूचा—आज उसे खूब बनाना चाहिए।

महंत वीरभद्र डाढ़ी के भीतर से बोले—मैंने सुना है, नास्तिक है। वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करता।

मिस जोशी—नास्तिक तो मैं भी हूँ। ईश्वर पर मेरा भी विश्वास नहीं है।

महंत—आप नास्तिक हों, पर आप कितने ही नास्तिकों को आस्तिक बना देती हैं।

मिस्टर जौहरी—आपने लाख की बात कही महंत जी !

मिसेज भरूचा—क्यों महंत जी, आपको मिस जोशी ही ने आस्तिक बनाया है क्या ?

सहसा आपटे लोहार के बालक की उँगली पकड़े हुए भवन में दाखिल हुए। वह पूरे फैशनेबुल रईस बने हुए थे। बालक भी किसी रईस का लड़का मालूम होता था। आज आपटे को देख कर लोगों को विदित हुआ कि वह कितना सुंदर, सजीला आदमी है। मुख से शौर्य टपक रहा था, पोर-पोर से शिष्टता झलकती थी, मालूम होता था वह इसी समाज में पला है। लोग देख रहे थे कि वह कहीं चूके और तालियाँ बजायें, कहीं फिसलें और कहकहे लगायें पर आपटे मँजे हुए खिलाड़ी की भाँति, जो कदम उठाता था वह सधा हुआ, जो हाथ दिखलाता था वह जमा हुआ। लोग उसे पहले तुच्छ समझते थे, अब उससे ईर्ष्या करने लगे, उस पर फ़बतियाँ उड़ानी शुरू कीं। लेकिन आपटे इस कला में भी एक ही निकला। बात मुँह से निकली और उसने जवाब दिया, पर उसके जवाब में मालिन्य या कटुता का लेश भी न होता था। उसका एक-एक शब्द सरल, स्वच्छ, चित्त को प्रसन्न करनेवाले भावों में डूबा होता था। मिस जोशी उसकी वाक्यचातुरी पर फूल उठती थी ?

सोराब जी—आपने किस युनिवर्सिटी से शिक्षा पायी थी ?

आपटे—युनिवर्सिटी में शिक्षा पायी होती तो आज मैं भी शिक्षा-विभाग का अध्यक्ष न होता।

मिसेज भरूचा—मैं तो आपको भयंकर जंतु समझती थी ?

आपटे ने मुस्करा कर कहा—आपने मुझे महिलाओं के सामने न देखा होगा।

सहसा मिस जोशी अपने सोने के कमरे में गयी और अपने सारे वस्त्राभूषण उतार फेंके। उसके मुख से शुभ्र संकल्प का तेज निकल रहा था। नेत्रों से दबी ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी, मानो किसी देवता ने उसे वरदान दिया हो। उसने सजे हुए कमरे को घृणा के नेत्रों से देखा, अपने आभूषणों को पैरों से ठुकरा दिया और एक मोटी साफ साड़ी पहन कर बाहर निकली। आज प्रातःकाल ही उसने यह साड़ी मँगा ली थी।

उसे इस नये वेश में देख कर सब लोग चकित हो गये। कायापलट कैसी ? सहसा किसी की आँखों को विश्वास न आया; किन्तु मिस्टर जौहरी बगलें बजाने लगे। मिस जोशी ने इसे फँसाने के लिए यह कोई नया स्वाँग रचा है।

'मित्रों ! आपको याद है, परसों महाशय आपटे ने मुझे कितनी गालियाँ दी थीं। यह महाशय खड़े हैं। आज मैं इन्हें उस दुर्व्यवहार का दंड देना चाहती हूँ। मैं कल इनके मकान पर जा कर इनके जीवन के सारे गुप्त रहस्यों को जान आयी। यह जो जनता की भीड़ में गरजते फिरते हैं, मेरे एक ही निशाने में गिर पड़े। मैं उन रहस्यों के खोलने में अब विलम्ब न करूँगी, आप लोग अधीर हो रहे होंगे। मैंने जो कुछ देखा, वह इतना भयंकर है कि उसका वृत्तान्त सुन कर शायद आप लोगों को मूर्छा आ जायगी। अब मुझे लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि यह महाशय पक्के विद्रोही हैं—'

मिस्टर जौहरी ने ताली बजायी और तालियों से हॉल गूँज उठा।

मिस जोशी—लेकिन राज के द्रोही नहीं, अन्याय के द्रोही, दमन के द्रोही, अभिमान के द्रोही...

चारों ओर सन्नाटा छा गया। लोग विस्मित हो कर एक दूसरे की ओर ताकने लगे।

मिस जोशी—महाशय आपटे ने गुप्त रूप से शस्त्र जमा किये हैं और गुप्त रूप से हत्याए की हैं...

मिस्टर जौहरी ने तालियाँ बजायीं और तालियों का दौंगड़ा फिर बरस गया।

मिस जोशी—लेकिन किस की हत्या ? दुःख की, दरिद्रता की, प्रजा के कष्टों की, हठधर्मी की और अपने स्वार्थ की।

चारों ओर फिर सन्नाटा छा गया और लोग चकित हो-हो कर एक-दूसरे की ओर ताकने लगे, मानों उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं है।

मिस जोशी—महाराज आपटे ने गुप्त रूप से डकैतियाँ की हैं और कर रहे हैं—

अब की किसी ने ताली न बजायी, लोग सुनना चाहते थे कि देखें आगे क्या कहती है।

'उन्होंने मुझ पर भी हाथ साफ किया है, मेरा सब कुछ अपहरण कर लिया है, यहाँ तक कि अब मैं निराधार हूँ और उनके चरणों के सिवा मेरे लिए और कोई आश्रय नहीं है। प्राणाधार ! इस अबला को अपने चरणों में स्थान दो, उसे डूबने से बचाओ। मैं जानती हूँ, तुम मुझे निराश न करोगे।

यह कहते-कहते वह जा कर आपटे के चरणों पर गिर पड़ी। सारी मंडली स्तभित रहगयी।

7

एक सप्ताह गुजर चुका था। आपटे पुलिस की हिरासत में थे। उन पर अभियोग चलाने की तैयारियाँ हो रही थीं। सारे प्रांत में हलचल मची हुई थी। नगर में रोज सभाएँ होती थीं, पुलिस रोज दस-पाँच आदमियों को पकड़ती थी। समाचार-पत्रों में जोरों के साथ वाद-विवाद हो रहा था।

रात के नौ बज गये थे। मिस्टर जौहरी राज-भवन में मेज पर बैठे हुए सोच रहे थे कि मिस जोशी को क्योंकर वापस लाएँ ? उसी दिन से उनकी छाती पर साँप लोट रहा था। उसकी सूरत एक क्षण के लिए आँखों से न उतरती थी।

वह सोच रहे थे, इसने मेरे साथ ऐसी दगा की ! मैंने इसके लिए क्या कुछ न किया ? इसकी कौन-सी इच्छा थी, जो मैंने पूरी नहीं की और इसी ने मुझसे बेवफ़ाई की। नहीं, कभी नहीं, मैं इसके बगैर जिंदा नहीं रह सकता। दुनिया चाहे मुझे बदनाम करे, हत्यारा कहे, चाहे मुझे पद से हाथ धोना पड़े, लेकिन आपटे को न छोड़ूँगा। इस रोड़े को रास्ते से हटा दूँगा, इस काँटे को पहलू से निकाल बाहर करूँगा।

सहसा कमरे का द्वार खुला और मिस जोशी ने प्रवेश किया। मिस्टर जौहरी हकबका कर कुरसी पर से उठ खड़े हुए और यह सोच कर कि शायद मिस जोशी उधर से निराश हो कर मेरे पास आयी हैं, कुछ रूखे, लेकिन नम्र भाव से बोले—आओ बाला, तुम्हारी याद में बैठा था। तुम कितनी ही बेवफाई करो, पर तुम्हारी याद मेरे दिल से नहीं निकल सकती।

मिस जोशी—आप केवल ज़बान से कहते हैं।

मिस्टर जौहरी—क्या दिल चीर कर दिखा दूँ ?

मिस जोशी—प्रेम प्रतिकार नहीं करता, प्रेम से दुराग्रह नहीं होता। आप मेरे खून के

प्यासे हो रहे हैं; उस पर भी आप कहते हैं, मैं तुम्हारी याद करता हूँ। आपने मेरे स्वामी को हिरासत में डाल रखा है, यह प्रेम है ! आखिर आप मुझसे क्या चाहते हैं? अगर आप समझ रहे हों कि इन सख्तियों से डर कर मैं आपके शरण आ जाऊँगी तो आपका भ्रम है। आपको अख्तियार है कि आपटे को कालेपानी भेज दें, फाँसी पर चढ़ा दें, लेकिन इसका मुझ पर कोई असर न होगा। वह मेरे स्वामी हैं, मैं उनको अपना स्वामी समझती हूँ। उन्होंने अपनी विशाल उदारता से मेरा उद्धार किया। आप मुझे विषय के फंदों में फँसाते थे, मेरी आत्मा को कलुषित करते थे। कभी आपको यह खयाल आया कि इसकी आत्मा पर क्या बीत रही होगी ? आप मुझे आत्मशून्य समझते थे। इस देव पुरुष ने अपनी निर्मल स्वच्छ आत्मा के आकर्षण से मुझे पहली ही मुलाकात में खींच लिया। मैं उसकी हो गयी और मरते दम तक उसी की रहूँगी। उस मार्ग से अब आप मुझे नहीं हटा सकते। मुझे एक सच्ची आस्था की जरूरत थी, वह मुझे मिल गयी। उसे पा कर अब तीनों लोक की सम्पदा मेरी आँखों में तुच्छ है। मैं उनके वियोग में चाहे प्राण दे दूँ, पर आपके काम नहीं आ सकती।

मिस्टर जौहरी—मिस जोशी ! प्रेम उदार नहीं होता, क्षमाशील नहीं होता। मेरे लिए तुम सर्वस्व हो, जब तक मैं समझता हूँ कि तुम मेरी हो। अगर तुम मेरी नहीं हो सकती तो मुझे इसकी क्या चिंता हो सकती है कि तुम किस दशा में हो ?

मिस जोशी—यह आपका अंतिम निश्चय है ?

मिस्टर जौहरी—अगर मैं कह दूँ कि हाँ, तो ?

मिस जोशी ने सीने से पिस्तौल निकाल कर कहा—तो पहले आपकी लाश जमीन पर फड़कती होगी और आपके बाद मेरी। बोलिए, यह आपका अंतिम निश्चय है ?

यह कह कर मिस जोशी ने जौहरी की तरफ पिस्तौल सीधा किया। जौहरी कुरसी से उठ खड़े हुए और मुस्करा कर बोले—क्या तुम मेरे लिए कभी इतना साहस कर सकती थीं? कदापि नहीं। अब मुझे विश्वास हो गया कि मैं तुम्हें नहीं पा सकता। जाओ, तुम्हारा आपटे तुम्हें मुबारक हो। उस पर से अभियोग उठा लिया जायगा। पवित्र प्रेम ही में यह साहस है। अब मुझे विश्वास हो गया कि तुम्हारा प्रेम पवित्र है। अगर कोई पुराना पापी भविष्यवाणी कर सकता है तो मैं कहता हूँ, वह दिन दूर नहीं, जब तुम इस भवन की स्वामिनी होगी। आपटे ने मुझे प्रेम के क्षेत्र में नहीं, राजनीति के क्षेत्र में भी परास्त कर दिया। सच्चा आदमी एक मुलाकात में ही जीवन को बदल सकता है, आत्मा को जगा सकता है और अज्ञान को मिटा कर प्रकाश की ज्योति फैला सकता है, यह आज सिद्ध हो गया।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', अप्रैल, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई। यह कहानी 'भविष्य' के 13 नवम्बर, 1930 के अंक में भी प्रकाशित हुई।]

स्त्री और पुरुष

विपिन बाबू के लिये स्त्री ही संसार की सुन्दर वस्तु थी। वह कवि थे और उनकी कविता के लिए स्त्रियों के रूप और यौवन की प्रशंसा ही सबसे चित्ताकर्षक विषय था। उनकी

दृष्टि में स्त्री जगत् में व्याप्त कोमलता, माधुर्य और अलंकारों की सजीव प्रतिमा थी। ज़बान पर स्त्री का नाम आते ही उनकी आँखें जगमगा उठती थीं, कान खड़े हो जाते थे, मानो किसी रसिक ने गान की आवाज सुन ली हो। जब से होश सँभाला, तभी से उन्होंने उस सुंदरी की कल्पना करनी शुरू की जो उसके हृदय की रानी होगी; उसमें ऊषा की प्रफुल्लता होगी, पुष्प की कोमलता, कुंदन की चमक, बसंत की छवि, कोयल की ध्वनि—वह कवि-वर्णित सभी उपमाओं से विभूषित होगी। वह उस कल्पित मूर्ति के उपासक थे, कविताओं में उसका गुण गाते, मित्रों से उसकी चर्चा करते, नित्य उसी के खयाल में मस्त रहते थे। वह दिन भी समीप आ गया था, जब उनकी आशाएँ हरे-हरे पत्तों से लहरायेंगी, उनकी मुरादें पूरी होंगी। कालेज की अंतिम परीक्षा समाप्त हो गयी थी और विवाह के संदेशे आने लगे थे।

2

विवाह तय हो गया। विपिन बाबू ने कन्या को देखने का बहुत आग्रह किया, लेकिन जब उनके मामूँ ने विश्वास दिलाया कि लड़की बहुत ही रूपवती है, मैंने उसे अपनी आँखों से देखा है, तब वह राजी हो गये। धूमधाम से बारात निकली और विवाह का मुहूर्त आया। वधू आभूषणों से सजी हुई मंडप में आयी तो विपिन को उसके हाथ-पाँव नजर आये। कितनी सुंदर उँगलियाँ थीं, मानो दीप-शिखाएँ हों, अंगों की शोभा कितनी मनोहारिणी थी। विपिन फूले न समाये। दूसरे दिन वधू विदा हुई तो वह उसके दर्शनों के लिए इतने अधीर हुए कि ज्यों ही रास्ते में कहारों ने पालकी रख कर मुँह-हाथ धोना शुरू किया, आप चुपके से वधू के पास जा पहुँचे। वह घूँघट हटाये, पालकी से सिर निकाले बाहर झाँक रही थी। विपिन की निगाह उस पर पड़ गयी। घृणा, क्रोध और निराशा की एक लहर-सी उन पर दौड़ गयी। यह वह परम सुन्दरी रमणी न थी जिसकी उन्होंने कल्पना की थी, जिसकी वह बरसों से कल्पना कर रहे थे—यह एक चौड़े मुँह, चिपटी नाक, और फूले हुए गालों वाली कुरूपा स्त्री थी। रंग गोरा था, पर उसमें लाली के बदले सफेदी थी; और फिर रंग कैसा ही सुंदर हो, रूप की कमी नहीं पूरी कर सकता। विपिन का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया—हा! इसे मेरे ही गले पड़ना था। क्या इसके लिए समस्त संसार में और कोई न मिलता था ? उन्हें अपने मामूँ पर क्रोध आया जिसने वधू की तारीफों के पुल बाँध दिये थे। अगर इस वक्त वह मिल जाते तो विपिन उनकी ऐसी खबर लेता कि वह भी याद करते।

जब कहारों ने फिर पालकियाँ उठायीं तो विपिन मन में सोचने लगा, इस स्त्री के साथ कैसे मैं बोलूँगा, कैसे इसके साथ जीवन काटूँगा। इसकी ओर तो ताकने ही से घृणा होती है। ऐसी कुरूपा स्त्रियाँ भी संसार में हैं, इसका मुझे अब तक पता न था। क्या मुँह ईश्वर ने बनाया है, क्या आँखें हैं ! मैं और सारे ऐबों की ओर से आँखें बंद कर लेता, लेकिन वह चौड़ा-सा मुँह ! भगवान् ! क्या तुम्हें मुझी पर यह वज्रपात करना था।

3

विपिन को अपना जीवन नरक-सा जान पड़ता था। वह अपने मामूँ से लड़ा। ससुर को लम्बा खर्रा लिख कर फटकारा, माँ-बाप से हुज्जत की और जब इससे शांति न हुई तो कहीं

भाग जाने की बात सोचने लगा। आशा पर उसे दया अवश्य आती थी। वह अपने को समझाता कि इसमें उस बेचारी का क्या दोष है, उसने जबरदस्ती तो मुझसे विवाह किया नहीं। लेकिन यह दया और यह विचार उस घृणा को न जीत सकता था जो आशा को देखते ही उसके रोम-रोम में व्याप्त हो जाती थी। आशा अपने अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहनती; तरह-तरह से बाल सँवारती, घंटों आइने के सामने खड़ी हो कर अपना शृंगार करती, लेकिन विपिन को यह शुतुरग़मज़-से मालूम होते। वह दिल से चाहती थी कि उन्हें प्रसन्न करूँ, उनकी सेवा के लिए अवसर खोजा करती थी; लेकिन विपिन उससे भागा-भागा फिरता था। अगर कभी भेंट हो भी जाती तो कुछ ऐसी जली-कटी बातें करने लगता कि आशा रोती हुई वहाँ से चली जाती।

सबसे बुरी बात यह थी कि उसका चरित्र भ्रष्ट होने लगा। वह यह भूल जाने की चेष्टा करने लगा कि मेरा विवाह हो गया है। कई-कई दिनों तक आशा को उसके दर्शन भी न होते। वह उसके कहकहे की आवाजें बाहर से आती हुई सुनती, झरोखे से देखती कि वह दोस्तों के गले में हाथ डाले सैर करने जा रहे हैं और तड़प कर रह जाती।

एक दिन खाना खाते समय उसने कहा—अब तो आपके दर्शन ही नहीं होते। क्या मेरे कारण घर छोड़ दीजिएगा क्या ?

विपिन ने मुँह फेर कर कहा—घर ही पर तो रहता हूँ। आजकल ज़रा नौकरी की तलाश है इसलिए दौड़-धूप ज्यादा करनी पड़ती है।

आशा—किसी डाक्टर से मेरी सूरत क्यों नहीं बनवा देते ? सुनती हूँ, आजकल सूरत बनानेवाले डाक्टर पैदा हुए हैं।

विपिन—क्यों नाहक चिढ़ाती हो, यहाँ तुम्हें किसने बुलाया था ?

आशा—आखिर इस मर्ज की दवा कौन करेगा ?

विपिन—इस मर्ज की दवा नहीं है। जो काम ईश्वर से न करते बना उसे आदमी क्या बना सकता है ?

आशा—यह तो तुम्हीं सोचो कि ईश्वर की भूल के लिए मुझे दंड दे रहे हो। संसार में कौन ऐसा आदमी है जिसे अच्छी सूरत बुरी लगती हो, लेकिन तुमने किसी मर्द को केवल रूपहीन होने के कारण क्वाँरा रहते देखा है, रूपहीन लड़कियाँ भी माँ-बाप के घर नहीं बैठी रहतीं। किसी-न-किसी तरह उनका निर्वाह हो ही जाता है; उसका पति उन पर प्राण न देता हो, लेकिन दूध की मक्खी नहीं समझता।

विपिन ने झुँझला कर कहा—क्यों नाहक सिर खाती हो, मैं तुमसे बहस तो नहीं कर रहा हूँ। दिल पर जब्र नहीं किया जा सकता और न दलीलों का उस पर कोई असर पड़ सकता है। मैं तुम्हें कुछ कहता तो नहीं हूँ, फिर तुम क्यों मुझसे हुज्जत करती हो ?

आशा यह झिड़की सुन कर चली गयी। उसे मालूम हो गया कि इन्होंने मेरी ओर से सदा के लिए हृदय कठोर कर लिया है।

4

विपिन तो रोज सैर-सपाटे करते, कभी-कभी रात गायब रहते। इधर आशा चिंता और नैराश्य से घुलते-घुलते बीमार पड़ गयी। लेकिन विपिन भूल कर भी उसे देखने न आता,

सेवा करना तो दूर रहा। इतना ही नहीं, वह दिल में मनाता था कि वह मर जाती तो गला छूटता, अबकी खूब देखभाल कर अपनी पसंद का विवाह करता।

अब वह और भी खुल खेला। पहले आशा से कुछ दबता था, कम-से-कम उसे यह धड़का लगा रहता था कि कोई मेरी चाल-ढाल पर निगाह रखनेवाला भी है। अब वह धड़का छूट गया। कुवासनाओं में ऐसा लिप्त हो गया कि मरदाने कमरे में ही जमघटे होने लगे। लेकिन विषय-भोग में धन ही का सर्वनाश नहीं होता, इससे कहीं अधिक बुद्धि और बल का सर्वनाश होता है। विपिन का चेहरा पीला पड़ने लगा, देह भी क्षीण होने लगी, पसलियों की हड्डियाँ निकल आयीं, आँखों के इर्द-गिर्द गढ़े पड़ गये। अब वह पहले से कहीं ज्यादा शौक करता, नित्य तेल लगाता, बाल बनवाता, कपड़े बदलता, किन्तु मुख पर कांति न थी, रंग-रोगन से क्या हो सकता ?

एक दिन आशा बरामदे में चारपाई पर लेटी हुई थी। इधर हफ्तों से उसने विपिन को न देखा था। उन्हें देखने की इच्छा हुई। उसे भय था कि वह न आयेंगे, फिर भी वह मन को न रोक सकी। विपिन को बुला भेजा। विपिन को भी उस पर कुछ दया आ गयी। आ कर सामने खड़े हो गये। आशा ने उनके मुँह की ओर देखा तो चौंक पड़ी। वह इतने दुर्बल हो गये थे कि पहचानना मुश्किल था। बोली—क्या, तुम भी बीमार हो क्या ? तुम तो मुझसे भी ज्यादा घुल गये हो।

विपिन—उँह, जिंदगी में रखा ही क्या है जिसके लिए जीने की फिक्र करूँ !

आशा—जीने की फिक्र न करने से कोई इतना दुबला नहीं हो जाता। तुम अपनी कोई दवा क्यों नहीं करते ?

यह कह कर उसने विपिन का दाहिना हाथ पकड़ कर अपनी चारपाई पर बैठा लिया। विपिन ने भी हाथ छुड़ाने की चेष्टा न की। उनके स्वभाव में इस समय एक विचित्र नम्रता थी, जो आशा ने कभी न देखी थी। बातों से भी निराशा टपकती थी। अक्खड़पन न था, क्रोध की गंध भी न थी। आशा को ऐसा मालूम हुआ कि उनकी आँखों में आँसू भरे हुए हैं।

विपिन चारपाई पर बैठते हुए बोले—मेरी दवा अब मौत करेगी। मैं तुम्हें जलाने के लिए नहीं कहता। ईश्वर जानता है, मैं तुम्हें चोट नहीं पहुँचाना चाहता। मैं अब ज्यादा दिनों तक न जिऊँगा। मुझे किसी भयंकर रोग के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। डाक्टरों ने भी यही कहा है। मुझे इसका खेद है कि मेरे हाथों तुम्हें कष्ट पहुँचा पर क्षमा करना। कभी-कभी बैठे-बैठे मेरा दिल डूब जाता है, मूर्छा-सी आ जाती है।

यह कहते-कहते एकाएक वह काँप उठे। सारी देह में सनसनी सी दौड़ गयी। मूर्छित हो कर चारपाई पर गिर पड़े और हाथ-पैर पटकने लगे। मुँह से फिचकुर निकलने लगा। सारी देह पसीने से तर हो गयी।

आशा का सारा रोग हवा हो गया। वह महीनों से बिस्तर न छोड़ सकी थी। पर इस समय उसके शिथिल अंगों में विचित्र स्फूर्ति दौड़ गयी। उसने तेजी से उठ कर विपिन को अच्छी तरह लेटा दिया और उनके मुख पर पानी के छींटे देने लगी। महरी भी दौड़ी आयी और पंखा झलने लगी। बाहर खबर हुई, मित्रों ने दौड़ कर डाक्टर को बुलाया। बहुत यत्न करने पर भी विपिन ने आँखें न खोलीं। संध्या होते-होते उनका मुँह टेढ़ा हो गया और बायाँ अंग शून्य पड़ गया। हिलना तो दूर रहा, मुँह से बात निकालना भी मुश्किल हो गया। यह मूर्छा न थी, फालिज था।

5

फालिज के भयंकर रोग में रोगी की सेवा करना आसान काम नहीं। उस पर आशा महीनों से बीमार थी। लेकिन इस रोग के सामने वह अपना रोग भूल गयी। पन्द्रह दिनों तक विपिन की हालत बहुत नाजुक रही। आशा दिन के दिन और रात की रात उनके पास बैठी रहती। उनके लिए पथ्य बनाना, उन्हें गोद में सँभाल कर दवा पिलाना, उनके ज़रा-ज़रा से इशारे को समझना उसी जैसी धैर्यशीला स्त्री का काम था। अपना सिर दर्द से फटा करता, ज्वर से देह तपा करती, पर इसकी उसे जरा भी परवा न थी।

पन्द्रह दिनों के बाद विपिन की हालत कुछ सँभली। उनका दाहिना पैर तो लुँज पड़ गया था, पर तोतली भाषा में कुछ बोलने लगे थे। सबसे बुरी गत उनके सुंदर मुख की हुई थी। वह इतना टेढ़ा हो गया था कि जैसे कोई रबर के खिलौने को खींच कर बढ़ा दे। बैटरी की मदद से जरा देर के लिए बैठ या खड़े तो हो जाते थे; लेकिन चलने-फिरने की ताकत न थी।

एक दिन लेटे-लेटे उन्हें क्या जाने क्या खयाल आया। आइना उठा कर अपना मुँह देखने लगे। ऐसा कुरूप आदमी उन्होंने कभी न देखा था। आहिस्ता से बोले—आशा, ईश्वर ने मुझे गरूर की सजा दे दी। वास्तव में यह उसी बुराई का बदला है, जो मैंने तुम्हारे साथ की। अब तुम अगर मेरा मुँह देख कर घृणा से मुँह फेर लो तो मुझे तुमसे जरा भी शिकायत न होगी। मैं चाहता हूँ कि तुम मुझसे उस दुर्व्यवहार का बदला लो, जो मैंने तुम्हारे साथ किये हैं।

आशा ने पति की ओर कोमल भाव से देख कर कहा—मैं तो आपको अब भी उसी निगाह से देखती हूँ। मुझे तो आप में कोई अंतर नहीं दिखाई देता।

विपिन—वाह, बंदर का-सा मुँह हो गया है, तुम कहती हो कोई अंतर ही नहीं। मैं तो अब कभी बाहर न निकलूँगा। ईश्वर ने मुझे सचमुच दंड दिया।

6

बहुत यत्न किये गये पर विपिन का मुँह न सीधा हुआ। मुख का बायाँ भाग इतना टेढ़ा हो गया था कि चेहरा देख कर डर मालूम होता था। हाँ, पैरों में इतनी शक्ति आ गयी कि अब वह चलने-फिरने लगे।

आशा ने पति की बीमारी में देवी की मनौती की थी। आज उसी पूजा का उत्सव था। मुहल्ले की स्त्रियाँ बनाव-सिंगार किये जमा थीं। गाना-बजाना हो रहा था।

एक सहेली ने पूछा—क्यों आशा, अब तो तुम्हें उनका मुँह जरा भी अच्छा न लगता होगा।

आशा ने गंभीर हो कर कहा—मुझे तो पहले से कहीं अच्छा मालूम होता है।

'चलो, बातें बनाती हो।'

'नहीं बहन, सच कहती हूँ; रूप के बदले मुझे उनकी आत्मा मिल गयी जो रूप से कहीं बढ़ कर है।'

विपिन कमरे में बैठे हुए थे। कई मित्र जमा थे। ताश हो रहा था।

कमरे में एक खिड़की थी जो आँगन में खुलती थी। इस वक्त वह बंद थी। एक मित्र ने चुपके से उसे खोल दिया, और शीशे से झाँक कर विपिन से कहा—आज तो तुम्हारे यहाँ परियों का अच्छा जमघट है।

विपिन—बंद कर दो।

'अजी, जरा देखो तो कैसी-कैसी सूरते हैं ! तुम्हें इन सबों में कौन सबसे अच्छी मालूम होती है ?'

विपिन ने उड़ती हुई नजरों से देखकर कहा—मुझे तो वही सबसे अच्छी मालूम होती है जो थाल में फूल रख रही है।

'वाह री आपकी निगाह ! क्या सूरत के साथ तुम्हारी निगाह भी बिगड़ गयी ? मुझे तो वह सबसे बदसूरत मालूम होती है।'

'इसलिए कि तुम उसकी सूरत देखते हो और मैं उसकी आत्मा देखता हूँ।'

'अच्छा, यही मिसेज़ विपिन हैं ?'

'जी हाँ, यह वही देवी है।'

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'चांद' मासिक, मई-जून, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'देनी' शीर्षक से 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

भाड़े का टट्टू

आगरा कालेज के मैदान में संध्या-समय दो युवक हाथ से हाथ मिलाये टहल रहे थे। एक का नाम यशवंत था, दूसरे का रमेश। यशवंत डीलडौल का ऊँचा और बलिष्ठ था। उसके मुख पर संयम और स्वास्थ्य की कांति झलकती थी। रमेश छोटे कद और इकहरे बदन का, तेज-हीन और दुर्बल आदमी था। दोनों में किसी विषय पर बहस हो रही थी।

यशवंत ने कहा—मैं आत्मा के आगे धन का कुछ मूल्य नहीं समझता।

रमेश बोला—बड़ी खुशी की बात है।

यशवंत—हाँ देख लेना। तुम ताना मार रहे हो, लेकिन मैं दिखला दूँगा कि धन को कितना तुच्छ समझता हूँ।

रमेश—खैर, दिखला देना। मैं तो धन को तुच्छ नहीं समझता। धन के लिए 15 वर्षों से किताब चाट रहा हूँ, धन के लिए माँ-बाप, भाई-बंद सबसे अलग यहाँ पड़ा हूँ, न जाने अभी कितनी सलामियाँ देनी पड़ेंगी, कितनी खुशामद करनी पड़ेगी। क्या इसमें आत्मा का पतन न होगा ? मैं तो इतने ऊँचे आदर्श का पालन नहीं कर सकता। यहाँ तो अगर किसी मुकदमे में अच्छी रिश्वत पा जायँ तो शायद छोड़ न सकें। क्या तुम छोड़ दोगे ?

यशवंत—मैं उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखूँगा और मुझे विश्वास है कि तुम जितने नीच बनते हो, उतने नहीं हो।

रमेश—मैं उससे कहीं नीच हूँ, जितना कहता हूँ।

यशवंत—मुझे तो यकीन नहीं आता कि स्वार्थ के लिए तुम किसी को नुकसान पहुँचा सकोगे ?

रमेश—भाई, संसार में आदर्श का निर्वाह केवल संन्यासी ही कर सकता है; मैं तो नहीं कर सकता। मैं तो समझता हूँ कि अगर तुम्हें धक्का दे कर तुमसे बाजी जीत सकूँ, तो तुम्हें जरूर गिरा दूँगा। और, बुरा न मानो तो कह दूँ, तुम भी मुझे जरूर गिरा दोगे। स्वार्थ का त्याग करना कठिन है।

यशवंत—तो मैं कहूँगा कि तुम भाड़े के टट्टू हो।

रमेश—और मैं कहूँगा कि तुम काठ के उल्लू हो।

2

यशवंत और रमेश साथ-साथ स्कूल में दाखिल हुए और साथ-ही-साथ उपाधियाँ ले कर कालेज से निकले। यशवंत कुछ मंदबुद्धि, पर बला का मिहनती था। जिस काम को हाथ में लेता, उससे चिमट जाता और उसे पूरा करके ही छोड़ता। रमेश तेज था, पर आलसी। घंटे-भर भी जम कर बैठना उसके लिए मुश्किल था। एम. ए. तक तो वह आगे रहा और यशवंत पीछे, मेहनत बुद्धि-बल से परास्त होती रही; लेकिन सिविल-सर्विस में पाँसा पलट गया। यशवंत सब धंधे छोड़ कर किताबों पर पिल पड़ा; घूमना-फिरना, सैर-सपाटा, सरकस-थिएटर, यार-दोस्त, सबसे मुँह मोड़ कर अपनी एकांत कुटीर में जा बैठा। रमेश दोस्तों के साथ गप-शप उड़ाता, क्रिकेट खेलता रहा। कभी-कभी मनोरंजन के तौर पर किताब देख लेता। कदाचित् उसे विश्वास था कि अब की भी मेरी तेज़ी बाजी ले जायगी। अक्सर जा कर यशवंत को दिक करता। उसकी किताब बंद कर देता; कहता, क्यों प्राण दे रहे हो ? सिविल-सर्विस कोई मुक्ति तो नहीं है, जिसके लिए दुनिया से नाता तोड़ लिया जाय ! यहाँ तक कि यशवंत उसे आते देखता, तो किवाड़ें बंद कर लेता।

आखिर परीक्षा का दिन आ पहुँचा। यशवंत ने सब-कुछ याद किया था, पर किसी प्रश्न का उत्तर सोचने लगता, तो उसे मालूम होता, मैंने जितना पढ़ा था, सब भूल गया। वह बहुत घबराया हुआ था। रमेश पहले से कुछ सोचने का आदी न था। सोचता, जब परचा सामने आयेगा, उस वक्त देखा जायगा। वह आत्मविश्वास से फूला-फूला फिरता था।

परीक्षा का फल निकला, तो सुस्त कछुआ तेज खरगोश से बाजी मार ले गया था।

अब रमेश की आँखें खुलीं पर वह हताश न हुआ। योग्य आदमी के लिए यश और धन की कमी नहीं, यह उसका विश्वास था। उसने कानून की परीक्षा की तैयारी शुरू की और यद्यपि उसने बहुत ज्यादा मिहनत न की, लेकिन अव्वल दरजे में पास हुआ। यशवंत ने उसको बधाई का तार भेजा। अब एक जिले का अफसर हो गया था।

3

दस साल गुजर गये। यशवंत दिलोजान से काम करता था और उसके अफसर उससे बहुत प्रसन्न थे। पर अफसर जितने प्रसन्न थे, मातहत उतने ही अप्रसन्न रहते थे। वह खुद जितनी मिहनत करता था, मातहतों से भी उतनी ही मिहनत लेना चाहता था, खुद जितना बेलौस था, मातहतों को भी उतना ही बेलौस बनाना चाहता था। ऐसे आदमी बड़े कारगुजार समझे जाते हैं। यशवंत की कारगुजारी का अफसरों पर सिक्का जमता जाता था। पाँच वर्षों

में ही वह जिले का जज बना दिया गया।

रमेश इतना भाग्यशाली न था। वह जिस इजलास में वकालत करने जाता, वहीं असफल रहता। हाकिम को नियत समय पर आने में देर हो जाती, तो खुद भी चल देता, और फिर बुलाने से भी न आता। कहता—अगर हाकिम वक्त की पाबंदी नहीं करता, तो मैं क्यों करूँ ? मुझे क्या गरज पड़ी है कि घंटों उनके इजलास पर खड़ा उनकी राह देखा करूँ? बहस इतनी निर्भीकता से करता कि खुशामद के आदी हुक्काम की निगाहों में उसकी निर्भीकता गुस्ताखी मालूम होती। सहनशीलता उसे छू नहीं गयी थी। हाकिम हो या दूसरे पक्ष का वकील, जो उसके मुँह लगता, उसकी खबर लेता था। यहाँ तक कि एक बार वह जिला-जज ही से लड़ बैठा। फल यह हुआ कि उसकी सनद छीन ली गयी। किंतु मुवक्किलों के हृदय में उसका सम्मान ज्यों-का-त्यों रहा।

तब उसने आगरा-कालेज में शिक्षक का पद प्राप्त कर लिया। किंतु यहाँ भी दुर्भाग्य ने साथ न छोड़ा। प्रिंसिपल से पहले ही दिन खटपट हो गयी। प्रिंसिपल का सिद्धांत यह था कि विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहना चाहिए। वह अपने कालेज के किसी छात्र को किसी राजनीतिक जलसे में शरीक न होने देते। रमेश पहले ही दिन से इस आज्ञा का खुल्लमखुल्ला विरोध करने लगा। उसका कथन था कि अगर किसी को राजनीतिक जलसों में शामिल होना चाहिए, तो विद्यार्थी को। यह भी उसकी शिक्षा का एक अंग है। अन्य देशों में छात्रों ने युगांतर उपस्थित कर दिया है, तो इस देश में क्यों उनकी जबान बंद की जाती है। इसका फल यह हुआ कि साल खतम होने के पहले ही रमेश को इस्तीफा देना पड़ा। किंतु विद्यार्थियों पर उसका दबाव तिल भर भी कम न हुआ।

इस भाँति कुछ तो अपने स्वभाव और कुछ परिस्थितियों ने रमेश को मार-मार कर हाकिम बना दिया। पहले मुवक्किलों का पक्ष ले कर अदालत से लड़ा, फिर छात्रों का पक्ष ले कर प्रिंसिपल से रार मोल ली, और अब प्रजा का पक्ष ले कर सरकार को चुनौती दी। वह स्वभाव से ही निर्भीक, आदर्शवादी, सत्यभक्त तथा आत्माभिमानी था। ऐसे प्राणी के लिए प्रजा सेवक बनने के सिवा और उपाय ही क्या था ? समाचार-पत्रों में वर्तमान परिस्थिति पर उसके लेख निकलने लगे। उसकी आलोचनाएँ इतनी स्पष्ट, इतनी व्यापक और इतनी मार्मिक होती थीं कि शीघ्र ही उसकी कीर्ति फैल गयी। लोग मान गये कि इस क्षेत्र में एक नयी शक्ति का उदय हुआ है। अधिकारी लोग उसके लेख पढ़ कर तिलमिला उठते थे। उसका निशाना इतना ठीक बैठता था कि उससे बच निकलना असंभव था। अतिशयोक्तियाँ तो उनके सिरों पर से सनसनाती हुई निकल जाती थीं। उनका वे दूर से तमाशा देख सकते थे, अभिज्ञताओं की वे उपेक्षा कर सकते थे। ये सब शस्त्र उनके पास पहुँचते ही न थे, रास्ते ही में गिर पड़ते थे। पर रमेश के निशाने सिरों पर बैठते और अधिकारियों में हलचल और हाहाकार मचा देते थे।

देश की राजनीतिक स्थिति चिंताजनक हो रही थी। यशवंत अपने पुराने मित्र के लेखों को पढ़-पढ़ कर काँप उठते थे। भय होता, कहीं वह कानून के पंजे में न आ जाय। बार-बार उसे संयत रहने की ताकीद करते, बार-बार मिन्नतें करते कि जरा अपनी कलम को और नरम कर दो, जान-बूझ कर क्यों विषधर कानून के मुँह में उँगली डालते हो ? लेकिन रमेश को नेतृत्व का नशा चढ़ा हुआ था। वह इन पत्रों का जवाब तक न देता था।

पाँचवें साल यशवंत बदल कर आगरे का जिला-जज हो गया।

4

देश की राजनीतिक दशा चिंताजनक हो रही थी। खुफ़िया-पुलिस ने एक तूफ़ान खड़ा कर दिया था। उसकी कपोल-कल्पित कथाएँ सुन-सुन कर हुक्कामों की रूह फ़ना हो रही थी। कहीं अखबारों का मुँह बंद किया जाता था, कहीं प्रजा के नेताओं का। खुफ़िया-पुलिस ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए हुक्कामों के कुछ इस तरह कान भरे कि उन्हें हर एक स्वतंत्र विचार रखनेवाला आदमी खूनी और कातिल नजर आता था।

रमेश यह अँधेर देख कर चुप बैठनेवाला मनुष्य न था। ज्यों-ज्यों अधिकारियों की निरंकुशता बढ़ती थी, त्यों-त्यों उसका भी जोश बढ़ता था। रोज कहीं न कहीं व्याख्यान देता और उसके प्रायः सभी व्याख्यान विद्रोहात्मक भावों से भरे होते थे। स्पष्ट और खरी बातें कहना ही विद्रोह है ! अगर किसी का राजनीतिक भाषण विद्रोहात्मक नहीं माना गया, तो समझ लो, उसने अपने आंतरिक भावों को गुप्त रखा है। उसके दिल में जो कुछ है, उसे जबान पर लाने का साहस उसमें नहीं है। रमेश ने मनोभावों को गुप्त रखना सीखा ही न था। प्रजा का नेता बन कर जेल और फाँसी से डरना क्या! जो आफ़त आनी हो, आवे। वह सब कुछ सहने को तैयार बैठा था। अधिकारियों की आँखों में भी वही सबसे ज्यादा गड़ा हुआ था।

एक दिन यशवंत ने रमेश को अपने यहाँ बुला भेजा। रमेश के जी में तो आया कि कह दें, तुम्हें आते क्या शरम आती है ? आखिर हो तो गुलाम ही। लेकिन फिर कुछ सोच कर कहला भेजा, कल शाम को आऊँगा। दूसरे दिन वह ठीक छः बजे यशवंत के बँगले पर जा पहुँचा। उसने किसी से इसका जिक्र न किया। कुछ तो यह खयाल था कि लोग कहेंगे, मैं अफ़सरों की खुशामद करता हूँ और कुछ यह कि शायद इससे यशवंत को कोई हानि पहुँचे।

वह यशवंत के बँगले पर पहुँचा तो चिराग जल चुके थे। यशवंत ने आ कर उसे गले से लगा लिया। आधीरात तक दोनों मित्रों में खूब बातें होती रहीं। यशवंत ने इतने में नौकरी के जो अनुभव प्राप्त किये थे, सब बयान किये। रमेश को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि यशवंत के राजनीतिक विचार कितने विषयों में मेरे विचारों से भी ज्यादा स्वतंत्र हैं। उसका यह खयाल बिल्कुल गलत निकला कि वह बिल्कुल बदल गया होगा, वफ़ादारी के राग अलापता होगा।

रमेश ने कहा—भले आदमी, जब इतने जले हुए हो; तो छोड़ क्यों नहीं देते नौकरी ? और कुछ न सही, अपनी आत्मा की रक्षा तो कर सकोगे !

यशवंत—मेरी चिंता पीछे करना, इस समय अपनी चिंता करो। मैंने तुम्हें सावधान करने को बुलाया है। इस वक्त सरकार की नजर में तुम बेतरह खटक रहे हो। मुझे भय है कि तुम कहीं पकड़े न जाओ।

रमेश—इसके लिए तो तैयार बैठा हूँ।

यशवंत—आखिर आग में कूदने से लाभ ही क्या ?

रमेश—हानि-लाभ देखना मेरा काम नहीं। मेरा काम तो अपने कर्त्तव्य का पालन करना है।

यशवंत—हठी तो तुम सदा के हो, मगर मौका नाजुक है, सँभले रहना ही अच्छा है। अगर मैं देखता कि जनता में वास्तविक जागृति है, तो तुमसे पहले मैदान में आता। पर जब देखता हूँ कि अपने ही मरे स्वर्ग देखना है, तो आगे कदम रखने की हिम्मत नहीं पड़ती।

दोनों दोस्तों ने देर तक बातें कीं। कालेज के दिन याद आये। सहपाठियों के लिए कालेज की पुरानी स्मृतियाँ मनोरंजन और हास्य का अविरल स्रोत हुआ करती हैं। अध्यापकों पर आलोचनाएँ हुईं; कौन-कौन साथी क्या कर रहा है, इसकी चर्चा हुई। बिलकुल यह मालूम होता था कि दोनों अब भी कालेज के छात्र हैं। गम्भीरता नाम को भी न थी।

रात ज्यादा हो गयी। भोजन करते-करते एक बज गया। यशवंत ने कहा—अब कहाँ जाओगे, यहीं सो रहो और बातें हों। तुम तो कभी आते भी नहीं ?

रमेश तो रमते जोगी थे ही; खाना खा कर बात करते-करते सो गये। नींद खुली, तो नौ बज गये थे। यशवंत सामने खड़े मुस्करा रहे थे।

इसी रात को आगरे में भयंकर डाका पड़ गया।

5

रमेश दस बजे घर पहुँचे, तो देखा, पुलिस ने उनका मकान घेर रखा है। इन्हें देखते ही एक अफसर ने वारंट दिखाया। तुरंत घर की तलाशी होने लगी। मालूम नहीं, क्योंकर रमेश के मेज की दराज में एक पिस्तौल निकल आया। फिर क्या था, हाथों में हथकड़ी पड़ गयी। अब किसे उनके डाके में शरीक होने से इन्कार हो सकता था? और भी कितने ही आदमियों पर आफत आयी। सभी प्रमुख नेता चुन लिये गये। मुकदमा चलने लगा।

औरों की बात को ईश्वर जाने पर रमेश निरपराध था। इसका उसके पास ऐसा प्रबल प्रमाण था, जिसकी सत्यता से किसी को इनकार न हो सकता था। पर क्या वह इस प्रमाण का उपयोग कर सकता था !

रमेश ने सोचा, यशवंत स्वयं मेरे वकील द्वारा सफाई के गवाहों में अपना नाम लिखाने का प्रस्ताव करेगा। मुझे निर्दोष जानते हुए वह कभी मुझे जेल न जाने देगा। वह इतना हृदय-शून्य नहीं है। लेकिन दिन गुजरते जाते थे और यशवंत की ओर से इस प्रकार का कोई प्रस्ताव न होता था; और रमेश खुद संकोच-वश उसका नाम लिखाते हुए डरते थे। न-जाने इसमें उसे क्या बाधा हो। अपनी रक्षा के लिए वह उसे संकट में न डालना चाहते थे।

यशवंत हृदय-शून्य न थे, भाव-शून्य न थे, लेकिन कर्म-शून्य अवश्य थे। उन्हें अपने परम मित्र को निर्दोष मारे जाते देख कर दुःख होता था, कभी-कभी रो पड़ते थे; पर इतना साहस न होता था कि सफाई दे कर उसे छुड़ा लें। न जाने अफसरों को क्या खयाल हो ! कहीं यह न समझने लगें कि मैं भी षड्यंत्रकारियों से सहानुभूति रखता हूँ, मेरा भी उनके साथ कुछ सम्पर्क है। यह मेरे हिन्दुस्तानी होने का दंड है ! जान कर जहर निगलना पड़ रहा है। पुलिस ने अफसरों पर इतना आतंक जमा दिया कि चाहे मेरी शहादत से रमेश छूट भी जाय खुल्लमखुल्ला मुझ पर अविश्वास न किया जाय, पर दिलों से यह संदेह क्योंकर दूर होगा कि मैंने केवल एक स्वदेश-बंधु को छुड़ाने के लिए झूठी गवाही दी ? और

बंधु भी कौन ? जिस पर राज-विद्रोह का अभियोग है !

इसी सोच-विचार में एक महीना गुजर गया। उधर मजिस्ट्रेट ने यह मुकदमा यशवंत ही के इजलास में भेज दिया। डाके में कई खून हो गये थे। और मजिस्ट्रेट को उतनी ही कड़ी सजाएँ देने का अधिकार न था जितनी उसके विचार में दी जानी चाहिए थीं।

6

यशवंत अब बड़े संकट में पड़ा। उसने छुट्टी लेनी चाही; लेकिन मंजूर न हुई। सिविल सर्जन अँग्रेज था। इस वजह से उसकी सनद लेने की हिम्मत न पड़ी। बला सिर पर आ पड़ी थी और उससे बचने का उपाय न सूझता था।

भाग्य की कुटिल क्रीड़ा देखिए। साथ खेले और साथ पढ़े हुए दो मित्र एक-दूसरे के सम्मुख खड़े थे, केवल एक कठघरे का अंतर था। पर एक की जान दूसरे की मुट्ठी में थी। दोनों की आँखें कभी चार न होतीं। दोनों सिर नीचा किये रहते थे। यद्यपि यशवंत न्याय के पद पर था, और रमेश मुलजिम, लेकिन यथार्थ में दशा इसके प्रतिकूल थी। यशवंत की आत्मा लज्जा, ग्लानि और मानसिक पीड़ा से तड़पती थी और रमेश का मुख निर्दोषिता के प्रकाश से चमकता रहता था।

दोनों मित्रों में कितना अंतर था। एक उदार था। दूसरा कितना स्वार्थी। रमेश चाहता, तो भरी अदालत में उस रात की बात कह देता। लेकिन यशवंत जानता था, रमेश फाँसी से बचने के लिए भी उस प्रमाण का आश्रय न लेगा, जिसे मैं गुप्त रखना चाहता हूँ।

जब तक मुकदमे की पेशियाँ होती रहीं, तब तक यशवंत को असह्य मर्म-वेदना होती रही। उसकी आत्मा और स्वार्थ में नित्य संग्राम होता रहता था; पर फैसले के दिन तो उसकी वही दशा हो रही थी, जो किसी खून के अपराधी को हो। इजलास पर जाने की हिम्मत न पड़ती थी। वह तीन बजे कचहरी पहुँचा। मुलजिम अपना भाग्य-निर्णय सुनने को तैयार खड़े थे। रमेश भी आज रोज से ज्यादा उदास था। उसके जीवन-संग्राम में वह अवसर आ गया था, जब उसका सिर तलवार की धार के नीचे होगा। अब तक भय सूक्ष्म रूप में था, आज उसने स्थूल रूप धारण कर लिया था।

यशवंत ने दृढ़ स्वर में फैसला सुनाया। जब उसके मुख से ये शब्द निकले कि रमेशचन्द्र को सात वर्ष का कठिन कारावास, तो उसका गला रुँध गया। उसने तजवीज़ मेज पर रख दी। कुर्सी पर बैठ कर पसीना पोंछने के बहाने आँखों में उमड़े हुए आँसुओं को पोंछा। इसके आगे तजबीज़ उससे न पढ़ी गयी।

7

रमेश जेल से निकल कर पक्का क्रांतिवादी बन गया। जेल की अँधेरी कोठरी में दिन भर के कठिन परिश्रम के बाद वह दोनों के उपकार और सुधार के मनसूबे बाँधा करता था। सोचता, मनुष्य क्यों पाप करता है ? इसलिए न कि संसार में इतनी विषमता है। कोई तो विशाल भवनों में रहता है और किसी को पेंड़ की छाँह भी मयस्सर नहीं। कोई रेशम और रत्नों से मढ़ा हुआ है, किसी को फटा वस्त्र भी नहीं। ऐसे न्याय-विहीन संसार में यदि चोरी,

हत्या और अधर्म है तो यह किसका दोष है ? वह एक ऐसी समिति खोलने का स्वप्न देखा करता, जिसका काम संसार से इस विषमता को मिटा देना हो। संसार सबके लिए है और उसमें सबको सुख भोगने का समान अधिकार है। न डाका, डाका है, न चोरी, चोरी। धनी अगर अपना धन खुशी से नहीं बाँट देता, तो उसकी इच्छा के विरुद्ध बाँट लेने में क्या पाप! धनी उसे पाप कहता है तो कहे। उसका बनाया हुआ कानून दण्ड देना चाहता है, तो दे। हमारी अदालत भी अलग होगी। उसके सामने वे सभी मनुष्य अपराधी होंगे जिसके पास जरूरत से ज्यादा सुख-भोग की सामग्रियाँ हैं। हम भी उन्हें दंड देंगे, हम भी उनसे कड़ी मिहनत लेंगे। जेल से निकलते ही उसने इस सामाजिक क्रांति की घोषणा कर दी। गुप्त सभाएँ बनने लगीं, शस्त्र जमा किये जाने लगे और थोड़े ही दिनों में डाकों का बाजार गरम हो गया। पुलिस ने उसका पता लगाना शुरू किया। उधर क्रांतिकारियों ने पुलिस पर भी हाथ साफ करना शुरू किया। उनकी शक्ति दिन-दिन बढ़ने लगी। काम इतनी चतुराई से होता था कि किसी को अपराधी का कुछ सुराग न मिलता। रमेश कहीं गरीबों के लिए दवाखाने खोलता, कहीं बैंक। डाके के रुपयों से उसने इलाके खरीदना शुरू किया। जहाँ कोई इलाका नीलाम होता वह उसे खरीद लेता। थोड़े ही दिनों में उसके अधीन एक बड़ी जायदाद हो गयी। इसका नफ़ा गरीबों के उपकार में खर्च होता था। तुर्रा यह कि सभी जानते थे, यह रमेश की करामात है, पर किसी की मुँह खोलने की हिम्मत न होती थी। सभ्य-समाज की दृष्टि में रमेश से ज्यादा घृणित और कोई प्राणी संसार में न था। लोग उसका नाम सुन कर कानों पर हाथ रख लेते थे। शायद उसे प्यासों मरता देख कर कोई एक बूँद पानी भी उसके मुँह में न डालता लेकिन किसी की मज़ाल न थी कि उस पर आक्षेप कर सके।

इस तरह कई साल गुजर गये। सरकार ने डाकुओं का पता लगाने के लिए बड़े-बड़े इनाम रखे। यूरप से गुप्त पुलिस के सिद्धहस्त आदमियों को बुला कर इस काम पर नियुक्त किया। लेकिन ग़ज़ब के डकैत थे, जिनकी हिकमत के आगे किसी की कुछ न चलती थी।

पर रमेश खुद अपने सिद्धान्तों का पालन न कर सका। ज्यों-ज्यों दिन गुजरते थे, उसे अनुभव होता था कि मेरे अनुयायियों में असंतोष बढ़ता जाता है। उनमें भी जो ज्यादा चतुर और साहसी थे, वे दूसरों पर रोब जमाते और लूट के माल में बराबर हिस्सा न देते थे। यहाँ तक कि रमेश से कुछ लोग जलने लगे। वह राजसी ठाट से रहता था। लोग कहते उसे हमारी कमाई को यों उड़ाने का क्या अधिकार है ? नतीजा यह हुआ कि आपस में फूट पड़ गयी।

रात का वक्त था; काली घटा छायी हुई थी। आज डाकगाड़ी में डाका पड़नेवाला था। प्रोग्राम पहले से तैयार कर लिया गया था। पांच साहसी युवक इस काम के लिए चुने गए थे।

सहसा एक युवक ने खड़े होकर कहा—आप बार-बार मुझी को क्यों चुनते हैं ? हिस्सा लेनेवाले तो सभी हैं, मैं ही क्यों बार-बार अपनी जान जोखिम में डालूँ ?

रमेश ने दृढ़ता से कहा—इसका निश्चय करना मेरा काम है कि कौन कहाँ भेजा जाय। तुम्हारा काम केवल मेरी आज्ञा का पालन है।

युवक—अगर मुझसे काम ज्यादा लिया जाता है, तो हिस्सा क्यों नहीं ज्यादा दिया जाता ?

रमेश ने उसकी त्योरियाँ देखीं और चुपके से पिस्तौल हाथ में ले कर बोले—इसका फैसला वहाँ से लौटने के बाद होगा।

युवक—मैं जाने से पहले इसका फैसला करना चाहता हूँ।

रमेश ने इसका जवाब न दिया। वह पिस्तौल से उसका काम तमाम कर देना ही चाहते थे कि युवक खिड़की से नीचे कूद पड़ा और भागा। कूदने-फाँदने में उसका जोड़ न था। चलती रेलगाड़ी से फाँद पड़ना उसके बायें हाथ का खेल था।

वह वहाँ से सीधा गुप्त पुलिस के प्रधान के पास पहुँचा।

8

यशवंत ने भी पेंशन ले कर वकालत शुरू की थी। न्याय-विभाग के सभी लोगों से उनकी मित्रता थी। उनकी वकालत बहुत जल्द चमक उठी। यशवंत के पास लाखों रुपये थे। उन्हें पेंशन भी बहुत मिलती थी। वह चाहते, तो घर बैठे आनन्द से अपनी उम्र के बाकी दिन काट देते। देश और जाति की कुछ सेवा करना भी उनके लिए मुश्किल न था। ऐसे ही पुरुषों से निस्वार्थ सेवा की आशा की जा सकती है। पर यशवंत ने अपनी सारी उम्र रुपये कमाने में गुजारी थी, और वह अब कोई ऐसा काम न कर सकते थे, जिसका फल रुपयों की सूरत में न मिले।

यों तो सारा सभ्य-समाज रमेश से घृणा करता था, लेकिन यशवंत सबसे बढ़ा हुआ था। कहता, अगर कभी रमेश पर मुकदमा चलेगा, तो मैं बिना फीस लिये सरकार की तरफ़ से पैरवी करूँगा। खुल्लमखुल्ला रमेश पर छींटे उड़ाया करता—यह आदमी नहीं, शैतान है; राक्षस है; ऐसे आदमी का तो मुँह न देखना चाहिए ! उफ् ! इसके हाथों कितने भले घरों का सर्वनाश हो गया। कितने भले आदमियों के प्राण गये। कितनी स्त्रियाँ विधवा हो गयीं। कितने बालक अनाथ हो गये। आदमी नहीं, पिशाच है। मेरा बस चले, तो इसे गोली मार दूँ, जीता चुनवा दूँ।

9

सारे शहर में शोर मचा हुआ था—रमेश बाबू पकड़ गये ! बात सच्ची थी। रमेश चुपचाप पकड़ गया था। उसी युवक ने, जो रमेश के सामने कूद कर भागा था, पुलिस के प्रधान से सारा कच्चा-चिट्ठा बयान कर दिया था। अपहरण और हत्या का कैसा रोमांचकारी, कैसा पैशाचिक, कैसा पापपूर्ण वृत्तांत था।

भद्र समुदाय बगलें बजाता था। सेठों के घरों में घी के चिराग जलते थे। उनके सिर पर एक नंगी तलवार लटकती रहती थी, आज वह हट गयी। अब वे मीठी नींद से सो सकते थे।

अखबारों में रमेश के हथकंडे छपने लगे। वे बातें जो अब तक मारे भय के किसी की जबान पर न आती थीं, अब अखबारों में निकलने लगीं। उन्हें पढ़ कर पता चलता था कि रमेश ने कितना अँधेर मचा रखा था। कितने ही राजे और रईस उसे माहवार टैक्स दिया करते थे। उसका पुरजा पहुँचता, फलाँ तारीख को इतने रुपये भेज दो फिर किसकी मज़ाल थी कि उसका हुक्म टाल सके। वह जनता के हित के लिए जो काम करता, उसके लिए भी अमीरों से चंदे लिये थे। रक़म लिखना रमेश का काम था। अमीर को बिना कान-पूँछ

हिलाये वह रकम दे देनी पड़ती थी।

लेकिन भद्र समुदाय जितना ही प्रसन्न था, जनता उतनी ही दुखी थी। अब कौन पुलिसवालों के अत्याचार से उनकी रक्षा करेगा ? कौन सेठों के जुल्म से उन्हें बचायेगा, कौन उनके लड़कों के लिए कला-कौशल के मदरसे खोलेगा? वे अब किसके बल पर कूदेंगे? वह अब अनाथ थे। वही उनका अवलम्ब था। अब वे किसका मुँह ताकेंगे? किसको अपनी फरियाद सुनायेंगे ?

पुलिस शहादतें जमा कर रही थी। सरकारी वकील जोरों से मुकदमा चलाने की तैयारियाँ कर रहा था। लेकिन रमेश की तरफ से कोई वकील न खड़ा होता था। जिले भर में एक ही आदमी था, जो उसे कानून के पंजे से छुड़ा सकता था। वह था यशवंत ! लेकिन यशवंत जिसके नाम से कानों पर उँगली रखता था, क्या उसी की वकालत करने को खड़ा होगा ? असम्भव।

रात के नौ बजे थे। यशवंत के कमरे में एक स्त्री ने प्रवेश किया। यशवंत अखबार पढ़ रहा था। बोला—क्या चाहती हो ?

स्त्री—अपने पति के लिए एक वकील।

यशवंत—तुम्हारा पति कौन है ?

स्त्री—वह जो आपके साथ पढ़ता था, और जिस पर डाके का झूठा अभियोग चलाया जानेवाला है।

यशवंत ने चौंक कर पूछा—तुम रमेश की स्त्री हो ?

स्त्री—हाँ।

यशवंत—मैं उनकी वकालत नहीं कर सकता।

स्त्री—आपको अख्तियार है। आप अपने जिले के आदमी हैं, और मेरे पति के मित्र रह चुके हैं। इसलिए सोचा था, क्यों बाहरवालों को बुलाऊँ। मगर अब इलाहाबाद या कलकत्ते से ही किसी को बुलाऊँगी।

यशवंत—मिहनताना दे सकोगी ?

स्त्री ने अभिमान के साथ कहा—बड़े-से-बड़े वकील का मिहनताना क्या होता है ?

यशवंत—तीन हजार रुपये रोज़।

स्त्री—बस ! आप इस मुकदमे को ले लें, मैं आपको तीन हजार रुपये रोज़ दूँगी।

यशवंत—तीन हजार रुपये रोज़ !

स्त्री—हाँ, और यदि आपने उन्हें छुड़ा लिया, तो पचास हजार रुपये आपको इनाम के तौर पर और दूँगी।

यशवंत के मुँह में पानी भर आया। अगर मुकदमा दो महीने भी चला, तो कम-से-कम एक लाख रुपये सीधे हो जायँगे। पुरस्कार ऊपर से, पूरे दो लाख की गोटी है। इतना धन तो जिंदगी-भर में भी जमा न कर पाये थे। मगर दुनिया क्या कहेगी। अपनी आत्मा भी तो नहीं गवाही देती। ऐसे आदमी को कानून के पंजे से बचाना असंख्य प्राणियों की हत्या करना है। लेकिन गोटी दो लाख की है। कुछ रमेश के फँस जाने से इस जत्थे का अंत तो हुआ नहीं जाता। उसके चेले-चापड़ तो रहेंगे ही। शायद वे अब और भी उपद्रव मचायें। फिर मैं दो लाख की गोटी क्यों जाने दूँ ! लेकिन मुझे कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी। न सही। जिसका जी चाहे खुश हो जिसका जी चाहे नाराज़। ये दो लाख तो नहीं छोड़े

जाते। कुछ मैं किसी का गला तो दबाता नहीं, चोरी तो करता नहीं ? अपराधियों की रक्षा करना तो मेरा काम ही है।

सहसा स्त्री ने पूछा—आप जवाब देते हैं।

यशवंत—मैं कल जवाब दूँगा। जरा सोच लूँ ?

स्त्री—नहीं, मुझे इतनी फुरसत नहीं है। अगर आप को कुछ उलझन हो तो साफ़-साफ़ कह दीजिएगा, मैं और प्रबंध करूँ।

यशवंत को और विचार करने का अवसर न मिला। जल्दी का फैसला स्वार्थ ही की ओर झुकता है। यहाँ हानि की सम्भावना नहीं रहती।

यशवंत—आप कुछ रुपये पेशग़ी के दे सकती हैं ?

स्त्री—रुपयों की मुझसे बार-बार चर्चा न कीजिए। उनकी जान के सामने रुपयों की हस्ती क्या है ? आप जितनी रकम चाहें, मुझसे ले लें। आप चाहे उन्हें छुड़ा न सकें लेकिन सरकार के दाँत खट्टे जरूर कर दें।

यशवंत—खैर, मैं ही वकील हो जाऊँगा। कुछ पुरानी दोस्ती का निर्वाह भी तो करना चाहिए।

10

पुलिस ने एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया, सैकड़ों शहादतें पेश कीं। मुखबिर ने तो पूरी गाथा ही सुना दी; लेकिन यशवंत ने कुछ ऐसी दलीलें कीं; शहादतों को कुछ इस तरह झूठा•सिद्ध किया और मुखबिर की कुछ ऐसी खबर ली कि रमेश बेदाग़ छूट गये। उन पर कोई अपराध न सिद्ध हो सका। यशवंत जैसे संयत और विचारशील वकील का उनके पक्ष में खड़े हो जाना ही इसका प्रमाण था कि सरकार ने गलती की।

संध्या का समय था। रमेश के द्वार पर शामियाना तना हुआ था। गरीबों को भोजन कराया जा रहा था। मित्रों की दावत हो रही थी। यह रमेश के छूटने का उत्सव था। यशवंत को चारों ओर से धन्यवाद मिल रहे थे। रमेश को बधाइयाँ दी जा रही थीं। यशवंत बार-बार रमेश से बोलना चाहता था, लेकिन रमेश उनकी ओर से मुँह फेर लेते थे। अब तक उन दोनों में एक बात भी न हुई थी।

आखिर यशवंत ने एक बार झुँझला कर कहा—तुम तो मुझसे इस तरह ऐंठे हुए हो, मानो मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई की है।

रमेश—और आप क्या समझते हैं कि मेरे साथ भलाई की है ? पहले आपने मेरे इस लोक का सर्वनाश किया था, अबकी परलोक का किया। पहले न्याय किया होता, तो मेरी जिंदगी सुधर जाती और अब जेल जाने देते, तो आकबत बन जाती।

यशवंत—यह तो न कहोगे कि इस मामले में कितने साहस से काम लेना पड़ा।

रमेश—आपने साहस से काम नहीं लिया, स्वार्थ से काम लिया। आप अपने स्वार्थ के भक्त हैं। मैं तो आपको 'भाड़े का टट्टू' समझता हूँ। मैंने अपने जीवन का बहुत दुरुपयोग किया, लेकिन उसे आपके जीवन से बदलने को किसी दशा में तैयार नहीं हूँ। आप मुझसे धन्यवाद की आशा न रखें।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। मासिक पत्रिका 'माधुरी' जुलाई, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप इसी शीर्षक से 'फिरदौस-ए-ख्याल' में संकलित।]

माता का हृदय

माधवी की आँखों में सारा संसार अँधेरा हो रहा था। कोई अपना मददगार न दिखायी देता था। कहीं आशा की झलक न थी। उस निर्धन घर में वह अकेली पड़ी रोती थी और कोई आँसू पोंछनेवाला न था। उसके पति को मरे हुए 22 वर्ष हो गये थे। घर में कोई सम्पत्ति न थी। उसने न-जाने किन तकलीफ़ों से अपने बच्चे को पाल-पोस कर बड़ा किया था। वही जवान बेटा आज उसकी गोद से छीन लिया गया था और छीननेवाले कौन थे ? अगर मृत्यु ने छीना होता तो वह सब्र कर लेती। मौत से किसी को द्वेष नहीं होता। मगर स्वार्थियों के हाथों यह अत्याचार असह्य हो रहा था। इस घोर संताप की दशा में उसका जी रह-रह कर इतना विकल हो जाता कि इसी समय चलूँ और उस अत्याचारी से इसका बदला लूँ जिसने उस पर यह निष्ठुर आघात किया है। मारूँ या मर जाऊँ। दोनों ही में संतोष हो जायगा। कितना सुन्दर, कितना होनहार बालक था ! यही उसके पति की निशानी, उसके जीवन का आधार, उसकी उम्र भर की कमाई थी। वही लड़का इस वक्त जेल में पड़ा न जाने क्या-क्या तकलीफें झेल रहा होगा ! और उसका अपराध क्या था ? कुछ नहीं। सारा मुहल्ला उस पर जान देता था। विद्यालय के अध्यापक उस पर जान देते थे। अपने-बेगाने सभी तो उसे प्यार करते थे। कभी उसकी कोई शिकायत सुनने ही में नहीं आयी। ऐसे बालक की माता होने पर अन्य माताएँ उसे बधाई देती थीं। कैसा सज्जन, कैसा उदार, कैसा परमार्थी ! खुद भूखों सो रहे मगर क्या मजाल कि द्वार पर आनेवाले अतिथि को रूखा जवाब दे। ऐसा बालक क्या इस योग्य था कि जेल में जाता ! उसका अपराध यही था, वह कभी-कभी सुनने वालों को अपने दुखी भाइयों का दुखड़ा सुनाया करता था, अत्याचार से पीड़ित प्राणियों की मदद के लिए हमेशा तैयार रहता था। क्या यही उसका अपराध था ? दूसरों की सेवा करना भी अपराध है ? किसी अतिथि को आश्रय देना भी अपराध है ?

इस युवक का नाम आत्मानंद था। दुर्भाग्यवश उसमें वे सभी सद्गुण थे जो जेल का द्वार खोल देते हैं। वह निर्भीक था, स्पष्टवादी था, साहसी था, स्वदेशप्रेमी था, निःस्वार्थ था, कर्त्तव्यपरायण था। जेल जाने के लिए इन्हीं गुणों की ज़रूरत है। स्वाधीन प्राणियों के लिए वे गुण स्वर्ग का द्वार खोल देते हैं, पराधीनों के लिए नरक के ! आत्मानंद के सेवा-कार्य ने, उसकी वक्तृताओं ने और उसके राजनीतिक लेखों ने उसे सरकारी कर्मचारियों की नजरों में चढ़ा दिया था। सारा पुलिस-विभाग नीचे से ऊपर तक उससे सतर्क रहता था, सबकी निगाहें उस पर लगी रहती थीं। आखिर जिले में एक भयंकर डाके ने उन्हें इच्छित अवसर प्रदान कर दिया। आत्मानंद के घर की तलाशी हुई, कुछ पत्र और लेख मिले, जिन्हें पुलिस ने डाके का बीजक सिद्ध किया। लगभग बीस युवकों की एक टोली फाँस ली गयी। आत्मानंद इसका मुखिया ठहराया गया। शहादतें हुईं। इस बेकारी और गिरानी के जमाने में आत्मा से ज्यादा सस्ती और कौन वस्तु हो सकती है ! बेचने को और किसी के पास रह ही क्या गया है। नाममात्र का प्रलोभन दे कर अच्छी-से-अच्छी शहादतें मिल सकती हैं, और पुलिस के हाथ पड़ कर तो निकृष्ट-से-निकृष्ट गवाहियाँ भी देववाणी का महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। शहादतें मिल गयीं, महीने-भर तक मुकदमा चला, मुकदमा क्या चला एक स्वाँग चलता रहा और सारे अभियुक्तों को सजाएँ दे दी गयीं। आत्मानंद को सबसे कठोर दंड

मिला आठ वर्ष का कठिन कारावास ! माधवी रोज कचहरी जाती; एक कोने में बैठी सारी कारवाई देखा करती। मानवीय चरित्र कितना दुर्बल, कितना निर्दय, कितना नीच है, इसका उसे तब तक अनुमान भी न हुआ था। जब आत्मानंद को सजा सुना दी गयी और वह माता को प्रणाम करके सिपाहियों के साथ चला तो माधवी मूर्छित हो कर जमीन पर गिर पड़ी। दो-चार दयालु सज्जनों ने उसे एक ताँगे पर बैठाकर घर तक पहुँचाया। जब से वह होश में आयी है उसके हृदय में शूल-सा उठ रहा है। किसी तरह धैर्य नहीं होता। उस घोर आत्म-वेदना की दशा में अब अपने जीवन का केवल एक लक्ष्य दिखायी देता है और वह इस अत्याचार का बदला है।

अब तक पुत्र उसके जीवन का आधार था। अब शत्रुओं से बदला लेना ही उसके जीवन का आधार होगा। जीवन में अब उसके लिए कोई आशा न थी। इस अत्याचार का बदला लेकर वह अपना जन्म सफल समझेगी। इस अभागे नर-पिशाच बागची ने जिस तरह उसे रक्त के आँसू रुलाये हैं उसी भाँति यह भी उसे रुलायेगी। नारी-हृदय कोमल है, लेकिन केवल अनुकूल दशा में; जिस दशा में पुरुष दूसरों को दबाता है, स्त्री शील और विनय की देवी हो जाती है। लेकिन जिसके हाथों अपना सर्वनाश हो गया हो उसके प्रति स्त्री की पुरुष से कम घृणा और क्रोध नहीं होता। अंतर इतना ही है कि पुरुष शस्त्रों से काम लेता है, स्त्री कौशल से।

रात भीगती जाती थी और माधवी उठने का नाम न लेती थी। उसका दुःख प्रतिकार के आवेश में विलीन होता जाता था। यहाँ तक कि इसके सिवा उसे और किसी बात की याद ही न रही। उसने सोचा, कैसे यह काम होगा ? कभी घर से नहीं निकली। वैधव्य के बाइस साल इसी घर में कट गये; लेकिन अब निकलूँगी। ज़बरदस्ती निकलूँगी, भिखारिन बनूँगी, टहलनी बनूँगी, झूठ बोलूँगी, सब कुकर्म करूँगी। सत्कर्म के लिए संसार में स्थान नहीं। ईश्वर ने निराश हो कर कदाचित् इसकी ओर से मुँह फेर लिया है। जभी तो यहाँ ऐसे ऐसे अत्याचार होते हैं और पापियों को दंड नहीं मिलता। अब इन्हीं हाथों से उसे दंड दूँगी।

2

संध्या का समय था। लखनऊ के एक सजे हुए बँगले में मित्रों की महफ़िल जमी हुई थी। गाना-बजाना हो रहा था। एक तरफ आतशबाजियाँ रखी हुई थीं। दूसरे कमरे में मेजों पर खाना चुना जा रहा था। चारों तरफ़ पुलिस के कर्मचारी नजर आते थे। वह पुलिस के सुपरिंटेंडेंट मिस्टर बागची का बंगला है। कई दिन हुए उन्होंने एक मारके का मुक़दमा जीता था। अफ़सरों ने खुश हो कर उनकी तरक्की कर दी थी। और उसी की खुशी में यह उत्सव मनाया जा रहा था। यहाँ आये दिन ऐसे उत्सव होते रहते थे। मुफ़्त के गवैये मिल जाते थे, मुफ़्त की आतशबाजी; फल और मेवे और मिठाइयाँ आधे दामों पर बाजार से आ जाती थीं और चट दावत हो जाती थी। दूसरों के जहाँ सौ लगते, वहाँ इनका दस से काम चल जाता था। दौड़-धूप करने को सिपाहियों की फ़ौज थी ही। और यह मार्के का मुक़दमा क्या था ? वह जिसमें निरपराध युवकों को बनावटी शहादत से जेल में ठूँस दिया गया था।

गाना समाप्त होने पर लोग भोजन करने बैठे। बेगार के मज़दूर और पल्लेदार जो

बाजार से दावत और सजावट के सामान लाये थे, रोते या दिल में गालियाँ देते चले गये थे; पर एक बुढ़िया अभी तक द्वार पर बैठी हुई थी। अन्य मज़दूरों की तरह वह भुनभुना कर काम न करती थी। हुक्म पाते ही खुश-दिल मज़दूर की तरह दौड़-दौड़ कर हुक्म बजा लाती थी। यह माधवी थी, जो इस समय मजूरनी का वेष धारण करके अपना घातक संकल्प पूरा करने आयी थी।

मेहमान चले गये। महफिल उठ गयी। दावत का सामान समेट दिया गया। चारों ओर सन्नाटा छा गया; लेकिन माधवी अभी तक यहीं बैठी थी।

सहसा मिस्टर बागची ने पूछा—बुड्ढी तू यहाँ क्यों बैठी है ? तुझे कुछ खाने को मिल गया ?

माधवी—हाँ हुजूर मिल गया।

बागची—तो जाती क्यों नहीं ?

माधवी—कहाँ जाऊँ सरकार, मेरा कोई घर-द्वार थोड़े ही है। हुकुम हो तो यहीं पड़ी रहूँ। पाव-भर आटे की परवस्ती हो जाय हुजूर।

बागची—नौकरी करेगी ?

माधवी—क्यों न करूँगी सरकार, यही तो चाहती हूँ।

बागची—लड़का खेला सकती है ?

माधवी—हाँ हुजूर, वह मेरे मन का काम है।

बागची—अच्छी बात है। तू आज ही से रह। जा, घर में देख, जो काम बतायें, वह कर।

3

एक महीना गुजर गया। माधवी इतना तन-मन से काम करती है कि सारा घर उससे खुश है। बहू जी का मिजाज बहुत ही चिड़चिड़ा है। वह दिन भर खाट पर पड़ी रहती हैं और बात-बात पर नौकरों पर झल्लाया करती हैं। लेकिन माधवी उनकी घुड़कियों को भी सहर्ष सह लेती है। अब तक मुश्किल से कोई दाई एक सप्ताह से अधिक ठहरी थी। माधवी ही का कलेजा है कि जली-कटी सुन कर भी मुख पर मैल नहीं आने देती।

मिस्टर बागची के कई लड़के हो चुके थे, पर यही सबसे छोटा बच्चा बच रहा था। बच्चे पैदा तो हृष्ट-पुष्ट होते, किन्तु जन्म लेते ही उन्हें एक-न-एक रोग लग जाता था और कोई दो-चार महीने, कोई साल-भर जी कर चल देते थे। माँ-बाप दोनों इस शिशु पर प्राण देते थे। उसे जरा जुकाम भी हो तो दोनों विकल हो जाते। स्त्री-पुरुष दोनों शिक्षित थे, पर बच्चे की रक्षा के लिए टोना-टोटका, दुआ-ताबीज, जंतर-मंतर एक से भी उन्हें इंकार न था।

माधवी से यह बालक इतना हिल गया कि एक क्षण के लिए भी उसकी गोद से न उतरता। वह कहीं एक क्षण के लिए चली जाती तो रो-रो कर दुनिया सिर पर उठा लेता। वह सुलाती तो सोता, वह दूध पिलाती तो पीता, वह खेलाती तो खेलता, उसी को वह अपनी माता समझता। माधवी के सिवा उसके लिए संसार में कोई अपना न था। बाप को तो वह दिन-भर में केवल दो-चार बार देखता और समझता यह कोई परदेशी आदमी है। माँ आलस्य और कमजोरी के मारे गोद में ले कर टहल न सकती थी। उसे वह अपनी रक्षा का भार सँभालने के योग्य न समझता था, और नौकर-चाकर उसे गोद में लेते तो इतनी बेदर्दी

से कि उसके कोमल अंगों में पीड़ा होने लगती थी। कोई उसे ऊपर उछाल देता था, यहाँ तक कि अबोध शिशु का कलेजा मुँह को आ जाता था। उन सबों से वह डरता था। केवल माधवी थी जो उसके स्वभाव को समझती थी। वह जानती थी कि कब क्या करने से बालक प्रसन्न होगा। इसीलिए बालक को भी उससे प्रेम था।

माधवी ने समझा था, यहाँ कंचन बरसता होगा; लेकिन उसे देख कर कितना विस्मय हुआ कि बड़ी मुश्किल से महीने का खर्च पूरा पड़ता है। नौकरों से एक-एक पैसे का हिसाब लिया जाता था और बहुधा आवश्यक वस्तुएँ भी टाल दी जाती थीं। एक दिन माधवी ने कहा—बच्चे के लिए कोई तेज गाड़ी क्यों नहीं मँगवा देतीं। गोद में उसकी बाढ़ मारी जाती है।

मिसेज बागची ने कुंठित हो कर कहा—कहाँ से मँगवा दूँ कम-से-कम पचास-साठ रुपये में आयेगी। इतने रुपये कहाँ हैं ?

माधवी—मालकिन, आप भी ऐसा कहती हैं !

मिसेज बागची—झूठ नहीं कहती। बाबू जी की पहली स्त्री से पाँच लड़कियाँ और हैं। सब इस समय इलाहाबाद के एक स्कूल में पढ़ रही हैं। बड़ी की उम्र पन्द्रह-सोलह वर्ष से कम न होगी। आधा वेतन तो उधर ही चला जाता है। फिर उनकी शादी की भी तो फिक्र है। पाँचों के विवाह में कम-से-कम पच्चीस हजार लगेंगे। इतने रुपये कहाँ से आयेंगे। मैं चिंता के मारे मरी जाती हूँ। मुझे कोई दूसरी बीमारी नहीं है केवल यही चिन्ता का रोग है।

माधवी—घूस भी तो मिलती है।

मिसेज बागची—बूढ़ा, ऐसी कमाई में बरकत नहीं होती। यही क्यों, सच पूछो तो इसी घूस ने हमारी यह दुर्गति कर रखी है। क्या जाने औरों को कैसे हजम होती है। यहाँ तो जब ऐसे रुपये आते हैं तो कोई-न-कोई नुकसान भी अवश्य हो जाता है। एक आता है तो दो ले कर जाता है। बार-बार मना करती हूँ, हराम की कौड़ी घर में न लाया करो, लेकिन मेरी कौन सुनता है।

बात यह थी कि माधवी को बालक से स्नेह होता जाता था। उसके अमंगल की कल्पना भी वह न कर सकती थी। वह अब उसी की नींद सोती और उसी की नींद जागती थी। अपने सर्वनाश की बात याद करके एक क्षण के लिए उसे बागची पर क्रोध तो हो आता था और घाव फिर हरा हो जाता था; पर मन पर कुत्सित भावों का आधिपत्य न था। घाव भर रहा था, केवल ठेस लगने से दर्द हो जाता था। उसमें स्वयं टीस या जलन न थी। इस परिवार पर अब उसे दया आती थी। सोचती, बेचारे यह छीन-झपट न करें तो कैसे गुजर हो। लड़कियों का विवाह कहाँ से करेंगे! स्त्री को जब देखो बीमार ही रहती है। उन पर बाबू जी को एक बोतल शराब भी रोज चाहिए। यह लोग तो स्वयं अभागे हैं। जिसके घर में पांच-पांच क्वाँरी कन्याएँ हों, बालक हो-हो कर मर जाते हों, घरनी सदा बीमार रहती हो, स्वामी शराब का लती हो, उस पर तो यों ही ईश्वर का कोप है। इनसे तो मैं अभागिनी ही अच्छी !

4

दुर्बल बालकों के लिए बरसात बुरी बला है। कभी खाँसी है, कभी ज्वर, कभी दस्त। जब

हवा में ही शीत भरी हो तो कोई कहाँ तक बचाये। माधवी एक दिन अपने घर चली गयी थी। बच्चा रोने लगा तो माँ ने एक नौकर को दिया, इसे बाहर से बहला ला। नौकर ने बाहर ले जा कर हरी-हरी घास पर बैठा दिया। पानी बरस कर निकल गया था। भूमि गीली हो रही थी। कहीं-कहीं पानी भी जमा हो गया था। बालक को पानी में छपके लगाने से ज्यादा प्यारा और कौन खेल हो सकता है। खूब प्रेम से उमग-उमग कर पानी में लोटने लगा। नौकर बैठा और आदमियों के साथ गप-शप करता रहा। इस तरह घंटों गुजर गये। बच्चे ने खूब सर्दी खायी। घर आया तो उसकी नाक बह रही थी। रात को माधवी ने आकर देखा तो बच्चा खाँस रहा था। आधी रात के करीब उसके गले से खुरखुर की आवाज निकलने लगी। माधवी का कलेजा सन से हो गया। स्वामिनी को जगा कर बोली—देखो तो बच्चे को क्या हो गया है। क्या सर्दी-वर्दी तो नहीं लग गयी। हाँ, सर्दी ही तो मालूम होती है।

स्वामिनी हकबका कर उठ बैठी और बालक की खुरखुराहट सुनी तो पाँव तले से ज़मीन निकल गयी। यह भयंकर आवाज उसने कई बार सुनी थी और उसे खूब पहचानती थी। व्यग्र हो कर बोली—ज़रा आग जलाओ। थोड़ा-सा चोकर ला कर एक पोटली बनाओ, सेंकने से लाभ होता है। इन नौकरों से तंग आ गयी। आज कहार ज़रा देर के लिए बाहर ले गया था, उसी ने सर्दी में छोड़ दिया होगा।

सारी रात दोनों बालक को सेंकती रहीं। किसी तरह सबेरा हुआ। मिस्टर बागची को खबर मिली तो सीधे डाक्टर के यहाँ दौड़े। खैरियत इतनी थी कि जल्द एहतियात की गयी। तीन दिन में बच्चा अच्छा हो गया; लेकिन इतना दुर्बल हो गया था कि उसे देख कर डर लगता था। सच पूछो तो माधवी की तपस्या ने बालक को बचाया। माता सोती, पिता सो जाता, किंतु माधवी की आँखों में नींद न थी। खाना-पीना तक भूल गयी। देवताओं की मनौतियाँ करती थी, बच्चे की बलाएँ लेती थी, बिल्कुल पागल हो गयी थी। यह वही माधवी है जो अपने सर्वनाश का बदला लेने आयी थी। अपकार की जगह उपकार कर रही थी। विष पिलाने आयी थी, सुधा पिला रही थी। मनुष्य में देवता कितना प्रबल है !

प्रातःकाल का समय था। मिस्टर बागची शिशु के झूले के पास बैठे हुए थे। स्त्री के सिर में पीड़ा हो रही थी। वहीं चारपाई पर लेटी हुई थी और माधवी समीप बैठी बच्चे के लिए दूध गरम कर रही थी। सहसा बागची ने कहा—बूढ़ा, हम जब तक जियेंगे तुम्हारा यश गायेंगे। तुमने बच्चे को जिला लिया।

स्त्री—यह देवी बन कर हमारा कष्ट निवारण करने के लिए आ गयी। यह न होती तो न-जाने क्या होता। बूढ़ा, तुमसे मेरी एक विनती है। यों तो मरना-जीना प्रारब्ध के हाथ है, लेकिन अपना-अपना पौरा भी बड़ी चीज है। मैं अभागिनी हूँ। अबकी तुम्हारे ही पुण्य-प्रताप से बच्चा सँभल गया। मुझे ड़र लग रहा है कि ईश्वर इसे हमारे हाथ से छीन न लें। सच कहती हूँ बूढ़ा, मुझे इसको गोद में लेते डर लगता है। इसे तुम आज से अपना बच्चा समझो। तुम्हारा हो कर शायद बच जाय, हम अभागे हैं हमारा हो कर इस पर कोई-न-कोई संकट आता रहेगा। आज से तुम इसकी माता हो जाओ। तुम इसे अपने घर ले जाओ। जहाँ चाहे ले जाओ तुम्हारी गोद में दे कर मुझे फिर कोई चिंता न रहेगी। वास्तव में तुम्हीं इसकी माता हो मैं तो राक्षसी हूँ।

माधवी—बहू जी, भगवान् सब कुशल करेंगे, क्यों जी इतना छोटा करती हो ?

मिस्टर बागची—नहीं-नहीं बूढ़ी माता, इसमें कोई हरज नहीं है। मैं मस्तिष्क से तो इन बातों को ढकोसला ही समझता हूँ; लेकिन हृदय से इन्हें दूर नहीं कर सकता। मुझे स्वयं मेरी माता जी ने एक धोबिन के हाथ बेच दिया था। मेरे तीन भाई मर चुके थे। मैं जो बच गया तो माँ-बाप ने समझा बेचने से ही इसकी जान बच गयी। तुम इस शिशु को पालो-पोसो। इसे अपना पुत्र समझो। ख़र्च हम बराबर देते रहेंगे। इसकी कोई चिंता मत करना। कभी-कभी जब हमारा जी चाहेगा, आ कर देख लिया करेंगे। हमें विश्वास है कि तुम इसकी रक्षा हम लोगों से कहीं अच्छी तरह कर सकती हो। मैं कुकर्मी हूँ। जिस पेशे में हूँ, उसमें कुकर्म किये बगैर काम नहीं चल सकता। झूठी शहादतें बनानी ही पड़ती हैं, निरपराधों को फँसाना ही पड़ता है। आत्मा इतनी दुर्बल हो गयी है कि प्रलोभन में पड़ ही जाता हूँ। जानता हूँ कि बुराई का फल बुरा ही होता है; पर परिस्थिति से मजबूर हूँ। अगर न करूँ तो आज नालायक बना कर निकाल दिया जाऊँ। अँगरेज हजारों भूलें करें, कोई नहीं पूछता। हिंदुस्तानी एक भूल भी कर बैठे तो सारे अफसर उसके सिर हो जाते हैं। हिंदुस्तानियों को तो कोई बड़ा पद न मिले, वही अच्छा। पद पा कर तो उनकी आत्मा का पतन हो जाता है। उनको हिन्दुस्तानियत का दोष मिटाने के लिए कितनी ही ऐसी बातें करनी पड़ती हैं जिनका अंग्रेज के दिल में कभी खयाल ही पैदा नहीं हो सकता। तो बोलो, स्वीकार करती हो?

माधवी गद्‌गद् हो कर बोली—बाबू जी, आपकी इच्छा है तो मुझसे भी जो कुछ बन पड़ेगा, आपकी सेवा कर दूँगी। भगवान् बालक को अमर करें, मेरी तो उनसे यही विनती है।

माधवी को ऐसा मालूम हो रहा था कि स्वर्ग के द्वार सामने खुले हैं और स्वर्ग की देवियाँ अंचल फैला-फैला कर आशीर्वाद दे रही हैं, मानो उसके अंतस्थल में प्रकाश की लहरें-सी उठ रही हैं। इस स्नेहमय सेवा में कितनी शांति थी।

बालक अभी तक चादर ओढ़े सो रहा था। माधवी ने दूध गरम हो जाने पर उसे झूले पर से उठाया, तो चिल्ला पड़ी। बालक की देह ठंडी हो गयी थी और मुँह पर पीलापन आ गया था जिसे देख कर कलेजा हिल जाता है, कंठ से आह निकल जाती है और आँखों से आँसू बहने लगते हैं। जिसने उसे एक बार देखा है फिर कभी नहीं भूल सकता। माधवी ने शिशु को गोद से चिपटा लिया, हालाँकि नीचे उतार देना चाहिए था।

कुहराम मच गया। माँ बच्चे को गले से लगाये रोती थी; पर उसे जमीन पर न सुलाती थी। क्या बातें हो रही थीं और क्या हो गया। मौत को धोखा देने में आनंद आता है। वह उस वक्त कभी नहीं आती जब लोग उसकी राह देखते हैं। रोगी जब सँभल जाता है, जब वह पथ्य लेने लगता है, उठने-बैठने लगता है, घर-भर खुशियाँ मनाने लगता है, सबको विश्वास हो जाता है कि संकट टल गया, उस वक्त घात में बैठी हुई मौत सिर पर आ पड़ती है। यही उसकी निठुर लीला है।

आशाओं के बाग लगाने में हम कितने कुशल हैं। यहाँ हम रक्त के बीज बोकर सुधा के फल खाते हैं। अग्नि से पौधों को सींच कर शीतल छाँह में बैठते हैं। हा, मंद बुद्धि!

दिन-भर मातम होता रहा; बाप रोता था, माँ तड़पती थी और माधवी बारी-बारी से दोनों को समझाती थी। यदि अपने प्राण दे कर वह बालक को जिला सकती तो इस समय

अपना धन्य भाग समझती। वह अहित का संकल्प करके यहाँ आयी थी और आज जब उसकी मनोकामना पूरी हो गयी और उसे खुशी से फूला न समाना चाहिए था, उसे उससे कहीं घोर पीड़ा हो रही थी जो अपने पुत्र की जेल-यात्रा से हुई थी। रुलाने आयी थी और खुद रोती जा रही थी। माता का हृदय दया का आगार है। उसे जलाओ तो उसमें दया की ही सुगंध निकलती है, पीसो तो दया का ही रस निकलता है। वह देवी है। विपत्ति की क्रूर लीलाएँ भी उस स्वच्छ निर्मल स्रोत को मलिन नहीं कर सकतीं।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', जुलाई, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई।]

चोरी

हाय बचपन ! तेरी याद नहीं भूलती ! यह कच्चा, टूटा घर, यह पुवाल का बिछौना; वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं। चमरौधे जूते पहन कर उस वक्त कितनी खुशी होती थी, अब 'फ्लेक्स' के बूटों से भी नहीं होती। गरम पनुए रस में जो मजा था, वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं; चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था, वह अब अंगूर और खीर मोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना ले कर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न गैरहाजिरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का ! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के सम्य का जितना ज्ञान हमको था, उतना शायद टाइम-टेबिल को भी न था। रास्ते में शहर के एक महाजन ने एक बाग लगवाना शुरू किया था। वहाँ एक कुआँ खुद रहा था। वह भी हमारे लिए एक दिलचस्प तमाशा था। बूढ़ा माली हमें अपनी झोंपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़-झगड़ कर उसका काम करते ! कहीं बाल्टी लिये पौधों को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोंड़ रहे हैं, कहीं कैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे हैं। उन कामों में कितना आनन्द था ! माली बाल-प्रकृति का पंडित था। हमसे काम लेता, पर इस तरह मानो हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है। जितना काम वह दिन भर में करता, हम घंटे भर में निबटा देते थे। अब वह माली नहीं है; लेकिन बाग हरा-भरा है। उसके पास से हो कर गुजरता हूँ, तो जी चाहता है उन पेड़ों के गले मिल कर रोऊँ, और कहूँ—प्यारे, तुम मुझे भूल गये, लेकिन मैं तुम्हें नहीं भूला; मेरे हृदय में तुम्हारी याद अभी तक हरी है—उतनी ही हरी, जितने तुम्हारे पत्ते। निस्वार्थ प्रेभ के तुम जीते-जागते स्वरूप हो।

कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाजिर रहते; पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी बढ़ी हुई त्योरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना-शक्ति आज होती तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। खैर हमारे मौलवी साहब दरजी थे। मौलवीगीरी केवल शौक से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कुरमी-कुम्हारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे। यों कहिए कि हम मौलवी साहब के सफरी एजेंट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता, तो हम फूले न समाते ! जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता, मौलवी साहब के लिए कोई-न-कोई सौगात ले जाते। कभी सेर-आध-सेर फलियाँ तोड़ लीं, तो कभी दस-पाँच ऊख; कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालें ले लीं, उन सौगातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शांत हो जाता। जब इन चीजों की फसल न होती, तो हम सजा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक था। मकतब में श्याम, बुलबुल, दहियल और चंडूलों के पिंजरे लटकते रहते थे। हमें सबक याद हो या न हो पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही वे पढ़ा करतीं थीं। इन चिड़ियों के लिए बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों ही के सिर चली जाती थी। उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।

एक दिन सबेरे हम दोनों भाई तालाब में मुँह धोने गये, हलधर ने कोई सफेद-सी चीज मुट्ठी में ले कर दिखायी। मैंने लपक कर मुट्ठी खोली; तो उसमें एक रुपया था। विस्मित हो कर पूछा—यह रुपया तुम्हें कहाँ मिला ?

हलधर—अम्माँ ने ताक पर रखा था; चारपाई खड़ी करके निकाल लाया।

घर में कोई संदूक या आलमारी तो थी नहीं; रुपये-पैसे एक ऊँचे ताक पर रख दिये जाते थे। एक दिन पहले चचा जी ने सन बेचा था। उसी के रुपये जमींदार को देने के लिए रखे हुए थे। हलधर को न-जाने क्योंकर पता लग गया। जब घर के सब लोग काम-धंधे में लग गये, तो अपनी चारपाई खड़ी की और उस पर चढ़ कर एक रुपया निकाल लिया।

उस वक्त तक हमने कभी रुपया छुआ तक न था। वह रुपया देख कर आनंद और भय की जो तरंगें दिल में उठी थीं, वे अभी तक याद हैं; हमारे लिए रुपया एक अलभ्य वस्तु थी। मौलवी साहब को हमारे यहाँ से सिर्फ बारह आने मिला करते थे। महीने के अंत में चचा जी खुद जाकर पैसे दे आते थे। भला, कौन हमारे गर्व का अनुमान कर सकता है ! लेकिन मार का भय आनंद में विघ्न डाल रहा था। रुपये अनगिनती तो थे नहीं। चोरी का खुल जाना मानी हुई बात थी। चचा जी के क्रोध का भी, मुझे तो नहीं, हलधर को प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था। यों उनसे ज्यादा सीधा-सादा आदमी दुनिया में न था। चचा ने उनकी रक्षा का भार सिर पर न रख लिया होता, तो कोई बनिया उन्हें बाजार में बेच सकता था; पर जब क्रोध आ जाता, तो फिर उन्हें कुछ न सूझता। और तो और, चची भी उनके क्रोध का सामना करते डरती थीं। हम दोनों ने कई मिनट तक इन्हीं बातों पर विचार किया, और

आखिर यही निश्चय हुआ कि आयी हुई लक्ष्मी को न जाने देना चाहिए। एक तो हमारे ऊपर संदेह होगा ही नहीं, अगर हुआ भी तो हम साफ इनकार कर जायँगे। कहेंगे, हम रुपया लेकर क्या करते। थोड़ा सोच-विचार करते, तो यह निश्चय पलट जाता, और वह वीभत्स लीला न होती, जो आगे चलकर हुई; पर उस समय हममें शांति से विचार करने की क्षमता ही न थी।

मुँह-हाथ धो कर हम दोनों घर आये और डरते-डरते अंदर कदम रखा। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आयी, तो फिर भगवान् ही मालिक हैं। लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला। हमने नाश्ता भी न किया, चबेना भी न लिया; किताब बगल में दबायी और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाये हुए थे। हम दोनों खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे। आज काउन्सिल की मिनिस्ट्री पा कर भी शायद उतना आनंद न होता। हजारों मंसूबे बाँधते थे, हजारों हवाई किले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। जीवन में फिर शायद ही वह अवसर मिले। इसलिए रुपये को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज्यादा से ज्यादा दिनों तक चल सके। यद्यपि उन दिनों पाँच आने सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी और शायद आधा सेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते; लेकिन यह खयाल हुआ कि मिठाई खायेंगे तो रुपया आज ही गायब हो जायगा। कोई सस्ती चीज खानी चाहिए, जिसमें मजा भी आये, पेट भी भरे और पैसे भी कम खर्च हों। आखिर अमरूदों पर हमारी नजर गयी। हम दोनों राजी हो गये। दो पैसे के अमरूद लिये। सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले। हम दोनों के कुर्तों के दामन भर गये। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रखा, तो उसने संदेह से देख कर पूछा—रुपया कहाँ पाया, लाला ? चुरा तो नहीं लाये ?

जवाब हमारे पास तैयार था। ज्यादा नहीं, तो दो-तीन किताबें पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा—मौलवी साहब की फीस देनी है। घर में पैसे न थे, तो चचा जी ने रुपया दे दिया।

इस जवाब ने खटकिन का संदेह दूर कर दिया। हम दोनों ने एक पुलिया पर बैठ कर खूब अमरूद खाये। मगर अब साढ़े पन्द्रह आने पैसे कहाँ ले जाएँ। एक रुपया छिपा लेना तो इतना मुश्किल काम न था। पैसों का ढेर कहाँ छिपता। न कमर में इतनी जगह थी और न जेब में इतनी गुंजाइश। उन्हें अपने पास रखना चोरी का ढिंढोरा पीटना था। बहुत सोचने के बाद यह निश्चय किया कि बारह आने तो मौलवी साहब को दे दिये जायँ, शेष साढ़े तीन आने की मिठाई उड़े। यह फैसला करके हम लोग मकतब पहुँचे। आज कई दिन के बाद गये थे। मौलवी साहब ने बिगड़ कर पूछा—इतने दिन कहाँ रहे ?

मैंने कहा—मौलवी साहब, घर में गमी हो गयी।

यह कहते-कहते बारह आने उनके सामने रख दिये। फिर क्या पूछना था ? पैसे देखते ही मौलवी साहब की बाछें खिल गयीं। महीना खत्म होने में अभी कई दिन बाकी थे। साधारणतः महीना चढ़ जाने और बार-बार तकाजे करने पर कहीं पैसे मिलते थे। अबकी इतनी जल्दी पैसे पा कर उनका खुश होना कोई अस्वाभाविक बात न थी। हमने अन्य लड़कों की ओर सगर्व नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हों—एक तुम हो कि माँगने पर भी

पैसे नहीं देते, एक हम हैं कि पेशगी देते हैं।

हम अभी सबक पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ, आज तालाब का मेला है, दोपहर में छुट्टी हो जायगी। मौलवी साहब मेले में बुलबुल लड़ाने जायँगे। यह खबर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। बारह आने तो बैंक में जमा ही कर चुके थे; साढ़े तीन आने में मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मजे से रेवड़ियाँ खायेंगे, गोलगप्पे उड़ायेंगे, झूले पर चढ़ेंगे और शाम को घर पहुँचेंगे; लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक सुना दें। जो सबक न सुना सकेगा, उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गयी; पर हलधर कैद कर लिये गये। और कई लड़कों ने भी सबक सुना दिये थे, वे सभी मेला देखने चल पड़े। मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे; इसलिए मैंने हलधर को साथ लेने का इंतजार न किया। तय हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले में आ जायँ, और दोनों साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आयेंगे, एक पैसा भी खर्च न करूँगा; लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है ! मुझे मेला पहुँचे एक घंटे से ज्यादा गुजर गया; पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गये? आँखें फाड़-फाड़ कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी न लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गयी और चाचा जी हलधर को पकड़ कर घर तो नहीं ले गये ? आखिर जब शाम हो गयी, तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खायीं और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रख कर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में खयाल आया, मकतब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हो; मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ, एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही जोर से कहकहा मारा और बोला—बचा, घर जाओ, तो कैसी मार पड़ती है। तुम्हारे चचा आये थे। हलधर को मारते-मारते ले गये हैं। अजी, ऐसा तान कर घूँसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गये हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी; वह भी ले ली। अभी कोई बहाना सोच लो, नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी-पिट्टी भूल गयी, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ, जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन-मन भर के हो गये। घर की ओर एक-एक कदम चलना मुश्किल हो गया। देवी-देवताओं के जितने नाम याद थे सभी की मानता मानी—किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बतासे। गाँव के पास पहुँचा, तो गाँव के डीह का सुमिरन किया; क्योंकि अपने हलके में डीह ही की इच्छा सर्व-प्रधान होती है।

यह सब कुछ किया, लेकिन ज्यों-ज्यों घर निकट आता, दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएँ उमड़ी आती थीं। मालूम होता था—आसमान फट कर गिरा ही चाहता है। देखता था—लोग अपने-अपने काम छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं, गोरू भी पूँछ उठाये घर की ओर उछलते-कूदते चले जाते थे। चिड़ियाँ अपने घोंसलों की ओर उड़ी चली आती थीं, लेकिन मैं उसी मंद गति से चला जाता था; मानो पैरों में शक्ति नहीं। जी चाहता था—जोर का बुखार चढ़ आये, या कहीं चोट लग जाय; लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत नहीं आती। बीमारी का तो कहना ही क्या ! कुछ न हुआ, और

धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो ? हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था। मैं उसी की आड़ में छिप गया कि जरा और अँधेरा हो जाय, तो चुपके से घुस जाऊँ और अम्माँ के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे, तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। जरा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा, तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सबका गुस्सा ठंडा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते, तो इसमें संदेह नहीं कि मैं बेदाग बच जाता। लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और मंजूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया, और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिए कोई आशा न रही। लाचार घर में दाखिल हुआ, तो सहसा मुँह से एक चीख निकल गयी, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आता देख कर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिता जी बैठे थे। पिता जी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ खराब हो गया था। छुट्टी ले कर घर आये हुए थे, यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी; पर वह मूँग की दाल खाते थे, और संध्या-समय शीशे की गिलास में एक बोतल में से कुछ उँड़ेल-उँड़ेल कर पीते थे। शायद यह किसी तजुरबेकार हकीम की बतायी हुई दवा थी। दवाएँ सब बासनेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी; पर पिता जी न-जाने क्यों इस दवा को खूब मजा ले-ले कर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं, तो आँखें बन्द करके एक ही घूँट में गटक जाते हैं; पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो। पिता जी के पास गाँव के दो-तीन और कभी-कभी चार-पाँच और रोगी भी जमा हो जाते; और घंटों दवा पीते रहते थे। मुश्किल से खाना खाने उठते थे। इस समय भी वह दवा पी रहे थे। रोगियों की मंडली जमा थी, मुझे देखते ही पिता जी ने लाल-लाल आँखें करके पूछा—कहाँ थे अब तक ?

मैंने दबी जबान से कहा—कहीं तो नहीं।

'अब चोरी की आदत सीख रहा है ! बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं ?'

मेरी जबान बंद हो गयी। सामने नंगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकालते हुए डरता था।

पिता जी ने जोर से डाँट कर पूछा—बोलता क्यों नहीं ? तूने रुपया चुराया कि नहीं ?

मैंने जान पर खेल कर कहा—मैंने कहाँ....

मुँह से पूरी बात भी न निकलने पायी थी कि पिता जी विकराल रूप धारण किये, दाँत पीसते, झपट कर उठे और हाथ उठाये मेरी ओर चले। मैं जोर से चिल्ला कर रोने लगा। ऐसा चिल्लाया कि पिता जी भी सहम गये। उनका हाथ उठा ही रह गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है, तब तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गयी, तो और भी गला फाड़-फाड़ कर रोने लगा। इतने में मंडली के दो-तीन आदमियों ने पिता जी को पकड़ लिया और मेरी ओर इशारा किया कि भाग जा ! बच्चे ऐसे मौके पर और भी मचल जाते हैं, और व्यर्थ मार खा जाते हैं। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।

लेकिन अन्दर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था। मेरा तो खून सर्द हो गया, हलधर

के दोनों हाथ एक खम्भे से बँधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आँगन भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उसके आँसुओं से भर गया है। चची हलधर को डाँट रही थीं और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझ पर चची की निगाह पड़ी। बोलीं—लो, वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने ?

मैंने निश्शंक हो कर कहा—हलधर ने।

अम्माँ बोलीं—अगर उसी ने चुराया था, तो तूने घर आ कर किसी से कहा क्यों नहीं!

अब झूठ बोले बगैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी को जान का खतरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे, दो-चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खायी थी। मेरा तो दो ही चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फँसाने की चेष्टा की थी, नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछतीं—रुपया तूने चुराया या हलधर ने ? किसी भी सिद्धांत से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य जरूर था। मैंने छूटते ही कहा—हलधर कहते थे किसी से बताया, तो मार ही डालूँगा।

अम्माँ—देखा, वही बात निकली न ! मैं तो कहती थी कि बच्चा की ऐसी आदत नहीं; पैसा तो वह हाथ से छूता ही नहीं, लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हल.—मैंने तुमसे कब कहा था कि बताओगे, तो मारूँगा ?

मैं—वहीं, तालाब के किनारे तो !

हल.—अम्माँ, बिलकुल झूठ है !

चची—झूठ नहीं, सच है। झूठा तो तू है, और तो सारा संसार सच्चा है, तेरा नाम निकल गया है न ! तेरा बाप नौकरी करता, बार से रुपये कमा लाता, चार जने उसे भला आदमी कहते, तो तू भी सच्चा होता। अब तो तू ही झूठा है। जिसके भाग में मिठाई लिखी थी, उसने मिठाई खायी। तेरे भाग में तो लात खाना ही लिखा था।

यह कहते हुए चची ने हलधर को खोल दिया और हाथ पकड़ कर भीतर ले गयीं। मेरे विषय में स्नेह-पूर्ण आलोचना करके अम्माँ ने पाँसा पलट दिया था, नहीं तो अभी बेचारे पर न-जाने कितनी मार पड़ती। मैंने अम्माँ के पास बैठ कर अपनी निर्दोषिता का राग खूब अलापा। मेरी सरल-हृदया माता मुझे सत्य का अवतार समझती थीं। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि सारा अपराध हलधर का है। एक क्षण बाद मैं गुड़-चबेना लिये कोठरी से बाहर निकला। हलधर भी उसी वक्त चिउड़ा खाते हुए बाहर निकले। हम दोनों साथ-साथ बाहर आये और अपनी-अपनी बीती सुनाने लगे। मेरी कथा सुखमय थी, हलधर की दुःखमय; पर अंत दोनों का एक था—गुड़ और चबेना।

[हिन्दी में प्रथम प्रकाशन। मासिक पत्रिका 'माधुरी', सितम्बर, 1925। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप 'चोरी' शीर्षक से प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

स्वर्ग की देवी

भाग्य की बात ! शादी-विवाह में आदमी का क्या अख्तियार ! जिससे ईश्वर ने, या उनके नायबों—ब्राह्मणों—ने तय कर दी, उससे हो गयी। बाबू भारतदास ने लीला के लिए सुयोग्य वर खोजने में कोई बात उठा नहीं रखी। लेकिन जैसा घर-वर चाहते थे, वैसा न पा सके। वह लड़की को सुखी देखना चाहते थे, जैसा हर एक पिता का धर्म है; किंतु इसके लिए उनकी समझ में सम्पत्ति ही सबसे जरूरी चीज थी। चरित्र या शिक्षा का स्थान गौण था। चरित्र तो किसी के माथे पर लिखा नहीं रहता और शिक्षा का आजकल के ज़माने में मूल्य ही क्या ? हाँ, सम्पत्ति के साथ शिक्षा भी हो तो क्या पूछना ! ऐसा घर उन्होंने बहुत ढूँढ़ा, पर न मिला। ऐसे घर हैं ही कितने जहाँ दोनों पदार्थ मिलें ? दो-चार मिले भी तो अपनी बिरादरी के न थे। बिरादरी भी मिली, तो ज़ायजा न मिला; ज़ायजा भी मिला तो शर्तें तय न हो सकीं। इस तरह मजबूर हो कर भारतदास को लीला का विवाह लाला सन्तसरन के लड़के सीतासरन से करना पड़ा। अपने बाप का इकलौता बेटा था, थोड़ी-बहुत शिक्षा भी पायी थी, बातचीत सलीके से करता था, मामले-मुकदमे समझता था और ज़रा दिल का रँगीला भी था। सबसे बड़ी बात यह थी कि रूपवान, बलिष्ठ, प्रसन्न-मुख, साहसी आदमी था; मगर विचार वही बाबा आदम के ज़माने के थे। पुरानी जितनी बातें हैं, सब अच्छी; नयी जितनी बातें हैं, सब खराब। जायदाद के विषय में जमींदार साहब नये-नये दफों का व्यवहार करते थे, वहाँ अपना कोई अख्तियार न था; लेकिन सामाजिक प्रथाओं के कट्टर पक्षपाती थे। सीतासरन अपने बाप को जो करते या कहते देखता वही खुद भी कहता और करता था। उसमें खुद सोचने की शक्ति ही न थी। बुद्धि की मंदता बहुधा सामाजिक अनुदारता के रूप में प्रकट होती है।

2

लीला ने जिस दिन घर में पाँव रखा उसी दिन उसकी परीक्षा शुरू हुई। वे सभी काम, जिनकी उसके घर में तारीफ़ होती थी यहाँ वर्जित थे। उसे बचपन से ताजी हवा पर जान देना सिखाया गया था, यहाँ उसके सामने मुँह खोलना भी पाप था। बचपन से सिखाया गया था रोशनी ही जीवन है, यहाँ रोशनी के दर्शन भी दुर्लभ थे। घर पर अहिंसा, क्षमा और दया ईश्वरीय गुण बताये गये थे, यहाँ इसका नाम लेने की भी स्वाधीनता न थी। संतसरन बडे तीखे, गुस्सेवर आदमी थे, नाक पर मक्खी न बैठने देते। धूर्तता और छल-कपट से ही उन्होंने जायदाद पैदा की थी और उसी को सफल जीवन का मंत्र समझते थे। उनकी पत्नी उनसे भी दो अंगुल ऊँची थीं। मजाल क्या कि बहू अपनी अँधेरी कोठरी के द्वार पर खड़ी हो जाय, या कभी छत पर टहल सके। प्रलय आ जाता, आसमान सिर पर उठा लेतीं। उन्हें बकने का मर्ज था। दाल में नमक का ज़रा तेज हो जाना उन्हें दिन-भर बकने के लिए काफ़ी बहाना था। मोटी-ताज़ी महिला थीं, छींट का घाघरेदार लहँगा पहने, पानदान बगल में रखे, गहनों से लदी हुई, सारे दिन बरोठे में माची पर बैठी रहती थीं। क्या मजाल कि घर में उनकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी हिल जाय ! बहू की नयी-नयी आदतें देख-देख जला करती थीं। अब काहे को आबरू रहेगी। मुँडेर पर खड़ी हो कर झाँकती है। मेरी लड़की ऐसी दीदा-दिलेर होती तो गला घोंट देती। न-जाने इसके देश में कौन लोग बसते हैं ! गहने

नहीं पहनती। जब देखो नंगी-बुच्ची बनी बैठी रहती है। यह भी कोई अच्छे लच्छन हैं। लीला के पीछे सीतासरन पर भी फटकार पड़ती। तुझे भी चाँदनी में सोना अच्छा लगता है, क्यों ? तू भी अपने को मर्द कहेगा ? वह मर्द कैसा कि औरत उसके कहने में न रहे। दिन-भर घर में घुसा रहता है। मुँह में जबान नहीं है ? समझाता क्यों नहीं ?

सीतासरन कहता—अम्माँ, जब कोई मेरे समझाने से माने तब तो ?

माँ—मानेगी क्यों नहीं, तू मर्द है कि नहीं ? मर्द वह चाहिए कि कड़ी निगाह से देखे तो औरत काँप उठे।

सीतासरन—तुम तो समझाती ही रहती हो।

माँ—मेरी उसे क्या परवा ? समझती होगी, बुढ़िया चार दिन में मर जायगी, तब मैं मालकिन हो ही जाऊँगी।

सीतासरन—तो मैं भी तो उसकी बातों का जवाब नहीं दे पाता। देखती नहीं हो कितनी दुर्बल हो गयी है। वह रंग ही नहीं रहा। उस कोठरी में पड़े-पड़े उसकी दशा बिगड़ती जाती है।

बेटे के मुँह से ऐसी बातें सुन माता आग हो जाती और सारे दिन जलती; कभी भाग्य को कोसती, कभी समय को।

सीतासरन माता के सामने तो ऐसी बातें करता; लेकिन लीला के सामने जाते ही उसकी मति बदल जाती थी। वह वही बातें करता जो लीला को अच्छी लगतीं। यहाँ तक कि दोनों वृद्धा की हँसी उड़ाते। लीला को इस में और कोई सुख न था। वह सारे दिन कुढ़ती रहती। कभी चूल्हे के सामने न बैठी थी; पर यहाँ पसेरियों आटा थोपना पड़ता, मजूरों और टहलुओं के लिए भी रोटियाँ पकानी पड़तीं। कभी-कभी वह चूल्हे के सामने बैठी घंटों रोती। यह बात न थीं कि यह लोग कोई महाराज-रसोइया न रख सकते हों; पर घर की पुरानी प्रथा यही थी कि बहू खाना पकाये और उस प्रथा का निभाना ज़रूरी था। सीतासरन को देख कर लीला का संतप्त हृदय एक क्षण के लिए शान्त हो जाता था।

गर्मी के दिन थे और संध्या का समय। बाहर हवा चलती, भीतर देह फुकती थी। लीला कोठरी में बैठी एक किताब देख रही थी कि सीतासरन ने आ कर कहा—यहाँ तो बड़ी गर्मी है, बाहर बैठो।

लीला—यह गर्मी उन तानों से अच्छी है जो अभी सुनने पड़ेंगे।

सीतासरन—आज अगर बोलीं तो मैं भी बिगड़ जाऊँगा।

लीला—तब तो मेरा घर में रहना भी मुश्किल हो जायगा।

सीतासरन—बला से अलग ही रहेंगे !

लीला—मैं तो मर भी जाऊँ तो भी अलग न रहूँ। वह जो कुछ कहती-सुनती हैं, अपनी समझ से मेरे भले ही के लिए कहती-सुनती हैं। उन्हें मुझसे कुछ दुश्मनी थोड़े ही है। हाँ, हमें उनकी बातें अच्छी न लगें, यह दूसरी बान है। उन्होंने खुद वह सब कष्ट झेले हैं, जो वह मुझे झेलवाना चाहती हैं। उनके स्वास्थ्य पर उन कष्टों का जरा भी असर नहीं पड़ा। वह इस पैंसठ वर्ष की उम्र में मुझसे कहीं टाँठी हैं। फिर उन्हें कैसे मालूम हो कि इन कष्टों से स्वास्थ्य बिगड़ सकता है ?

सीतासरन ने उसके मुरझाये हुए मुख की ओर करुण नेत्रों से देख कर कहा—तुम्हें

इस घर में आ कर बहुत दुःख सहना पड़ा। यह घर तुम्हारे योग्य न था। तुमने पूर्व-जन्म में जरूर कोई पाप किया होगा।

लीला ने पति के हाथों से खेलते हुए कहा—यहाँ न आती तो तुम्हारा प्रेम कैसे पाती ?

3

पाँच साल गुजर गये। लीला दो बच्चों की माँ हो गयी। एक लड़का था, दूसरी लड़की। लड़के का नाम जानकीसरन रखा गया और लड़की का नाम कामिनी। दोनों बच्चे घर को गुलजार किये रहते थे। लड़की दादा से हिली थी, लड़का दादी से। दोनों शोख और शरीर थे। गाली दे बैठना, मुँह चिढ़ा देना तो उनके लिए मामूली बात थी। दिन-भर खाते और आये-दिन बीमार पड़े रहते। लीला ने खुद सभी कष्ट सह लिये थे पर बच्चों में बुरी आदतों का पड़ना उसे बहुत बुरा मालूम होता था; किन्तु उसकी कौन सुनता था। बच्चों की माता होकर उसकी अब गणना ही न रही थी। जो कुछ थे बच्चे थे, वह कुछ न थी। उसे किसी बच्चे को डाँटने का भी अधिकार न था, सास फाड़ खाती थी।

सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि उसका स्वास्थ्य अब और भी खराब हो गया था। प्रसव-काल में उसे वे भी अत्याचार सहने पड़े जो अज्ञान, मूर्खता और अंध-विश्वास ने सौर की रक्षा के लिए गढ़ रखे हैं। उस काल-कोठरी में, जहाँ हवा का गुज़र था, न प्रकाश का, न सफ़ाई का, चारों ओर दुर्गन्ध, और सील और गन्दगी भरी हुई थी। उसका कोमल शरीर सूख गया। एक बार जो कसर रह गयी थी, वह दूसरी बार पूरी हो गयी। चेहरा पीला पड़ गया, आँखें धँस गयीं। ऐसा मालूम होता, बदन में खून ही नहीं रहा। सूरत ही बदल गयी।

गर्मियों के दिन थे। एक तरफ आम पके, दूसरी तरफ खरबूजे। इन दोनों फलों की ऐसी अच्छी फसल पहले कभी न हुई थी। अबकी इनमें इतनी मिठास न-जाने कहाँ से आ गयी थी कि कितना ही खाओ मन न भरे। संतसरन के इलाके से आम और खरबूजे के टोकरे भरे चले आते थे। सारा घर खूब उछल-उछल खाता था। बाबू साहब पुरानी हड्डी के आदमी थे। सबेरे एक सैकड़े आमों का नाश्ता करते, फिर पसेरी-भर खरबूजे चट कर जाते। मालकिन उनसे पीछे रहनेवाली न थीं। उन्होंने तो एक वक्त का भोजन ही बंद कर दिया। अनाज सड़नेवाली चीज़ नहीं। आज नहीं कल खर्च हो जायगा। आम ओर खरबूजे तो एक दिन भी नहीं ठहर सकते ? शुदनी थी और क्या। यों ही हर साल दोनों चीजों की रेल-पेल होती थी; पर किसी को कभी कोई शिकायत न होती थी। कभी पेट में गिरानी मालूम हुई तो हड़ की फंकी मार ली। एक दिन बाबू संतसरन के पेट में मीठा-मीठा दर्द होने लगा। आपने उसकी परवा न की। आम खाने बैठ गये। सैकड़ा पूरा करके उठे ही थे कि कै हुई। गिर पड़े। फिर तो तिल-तिल पर कै और दस्त होने लगे। हैजा हो गया। शहर के डाक्टर बुलाये गये, लेकिन उनके आने के पहले ही बाबू साहब चल बसे थे। रोना-पीटना मच गया। संध्या होते-होते लाश घर से निकली। लोग दाह-क्रिया करके आधी रात को लौटे तो मालकिन को भी कै और दस्त हो रहे थे। फिर दौड़-धूप शुरू हुई; लेकिन सूर्य निकलते-निकलते वह भी सिधार गयीं। स्त्री-पुरुष जीवनपर्यंत एक दिन के लिए भी अलग न हुए थे। संसार से भी साथ ही साथ गये, सूर्यास्त के समय पति ने प्रस्थान किया, सूर्योदय के समय पत्नी ने।

लेकिन मुसीबत का अभी अंत न हुआ था। लीला तो संस्कार की तैयारियों में लगी थी; मकान की सफ़ाई की तरफ किसी ने ध्यान न दिया। तीसरे दिन दोनों बच्चे दादा-दादी के लिए रोते-रोते बैठके में जा पहुँचे। वहाँ एक आले पर खरबूजा कटा हुआ पड़ा था; दो-तीन क़लमी आम भी रखे थे। इन पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। जानकी ने एक तिपाई पर चढ़ कर दोनों चीजें उतार लीं और दोनों ने मिल कर खायीं। शाम होते-होते दोनों को हैजा हो गया और दोनों माँ-बाप को रोता छोड़ चल बसे। घर में अँधेरा हो गया। तीन दिन पहले जहाँ चारों तरफ़ चहल-पहल थी, वहाँ अब सन्नाटा छाया हुआ था, किसी के रोने की आवाज भी सुनायी न देती थी। रोता ही कौन ? ले-दे के कुल दो प्राणी रह गये थे। और उन्हें रोने की सुधि न थी।

4

लीला का स्वास्थ्य पहले भी कुछ अच्छा न था, अब तो वह और भी बेजान हो गयी। उठने-बैठने की शक्ति भी न रही। हरदम खोयी-सी रहती, न कपड़े-लत्ते की सुधि थी, न खाने-पीने की। उसे न घर से वास्ता था, न बाहर से। जहाँ बैठती, वहीं बैठी रह जाती। महीनों कपड़े न बदलती, सिर में तेल न डालती। बच्चे ही उसके प्राणों के आधार थे। जब वही न रहे तो मरना और जीना बराबर था। रात-दिन यही मनाया करती कि भगवान् यहाँ से ले चलो। सुख-दुःख सब भुगत चुकी। अब सुख की लालसा नहीं है; लेकिन बुलाने से मौत किसी को आयी है ?

सीतासरन भी पहले तो बहुत रोया-धोया; यहाँ तक कि घर छोड़कर भाग जाता था; लेकिन ज्यों-ज्यों दिन गुजरते थे बच्चों का शोक उसके दिल से मिटता जाता था; संतान का दुःख तो कुछ माता ही को होता है। धीरे-धीरे उसका जी सँभल गँया। पहिले की भाँति मित्रों के साथ-हँसी-दिल्लगी होने लगी। यारों ने और भी चंग चढ़ाया। अब घर का मालिक था, जो चाहे कर सकता था। कोई उसका हाथ रोकने वाला न था। सैर-सपाटे करने लगा। कहाँ तो लीला को रोते देख उसकी आँखें सजल हो जाती थीं, कहाँ अब उसे उदास और शोक-मग्न देख कर झुँझला उठता। जिंदगी रोने ही के लिए तो नहीं है। ईश्वर ने लड़के दिये थे, ईश्वर ही ने छीन लिये। क्या लड़कों के पीछे प्राण दे देना होगा ? लीला यह बातें सुन कर भौंचक रह जाती। पिता के मुँह से ऐसे शब्द निकल सकते हैं। संसार में ऐसे प्राणी भी हैं !

होली के दिन थे। मर्दाने में गाना-बजाना हो रहा था। मित्रों की दावत का भी सामान किया गया था। अंदर लीला जमीन पर पड़ी हुई रो रही थी। त्योहारों के दिन उसे रोते ही कटते थे। आज बच्चे होते तो अच्छे-अच्छे कपड़े पहने कैसे उछलते-फिरते ! वही न रहे तो कहाँ की तीज और कहाँ का त्योहार।

सहसा सीतासरन ने आकर कहा—क्या दिन-भर रोती ही रहोगी ? ज़रा कपड़े तो बदल डालो, आदमी बन जाओ। यह क्या तुमने अपनी गत बना रखी है ?

लीला—तुम जाओ अपनी महफिल में बैठो, तुम्हें मेरी क्या फिक्र पड़ी है।

सीतासरन—क्या दुनिया में और किसी के लड़के नहीं मरते ? तुम्हारे ही सिर यह मुसीबत आयी है ?

लीला—यह बात कौन नहीं जानता। अपना-अपना दिल ही तो है। उस पर किसी का बस है ?

सीतासरन—मेरे साथ भी तो तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य है ?

लीला ने कुतूहल से पति को देखा, मानो उसका आशय नहीं समझी। फिर मुँह फेर कर रोने लगी।

सीतासरन—मैं अब इस मनहूसत का अन्त कर देना चाहता हूँ। अगर तुम्हारा अपने दिल पर काबू नहीं है तो मेरा भी अपने दिल पर काबू नहीं है। मैं अब जिन्दगी-भर मातम नहीं मना सकता।

लीला—तुम राग-रंग मनाते हो, मैं तुम्हें मना तो नहीं करती ! मैं रोती हूँ तो क्यों रोने नहीं देते।

सीतासरन—मेरा घर रोने के लिए नहीं है ?

लीला—अच्छी बात है, तुम्हारे घर में न रोऊँगी।

5

लीला ने देखा, मेरे स्वामी मेरे हाथों से निकले जा रहे हैं। उन पर विषय का भूत सवार हो गया है और कोई समझानेवाला नहीं। वह अपने होश में नहीं हैं। मैं क्या करूँ, अगर मैं चली जाती हूँ तो थोड़े ही दिनों में सारा घर मिट्टी में मिल जायगा और इनका वही हाल होगा जो स्वार्थी मित्रों के चंगुल में फँसे हुए नौजवान रईसों का होता है। कोई कुलटा घर में आ जायगी और इनका सर्वनाश कर देगी। ईश्वर ! मैं क्या करूँ ? अगर इन्हें कोई बीमारी हो जाती तो क्या मैं उस दशा में इन्हें छोड़ कर चली जाती ? कभी नहीं। मैं तन-मन से इनकी सेवा-सुश्रूषा करती, ईश्वर से प्रार्थना करती, देवताओं की मनौतियाँ करती। माना इन्हें शारीरिक रोग नहीं है, लेकिन मानसिक रोग अवश्य है। आदमी रोने की जगह हँसे और हँसने की जगह रोये, उसके दिवाना होने में क्या संदेह है ! मेरे चले जाने से इनका सर्वनाश हो जायगा। इन्हें बचाना मेरा धर्म है।

हाँ, मुझे अपना शोक भूल जाना होगा। रोऊँगी, रोना तो तकदीर में लिखा ही है—रोऊँगी, लेकिन हँस-हँस कर। अपने भाग्य से लडूँगी। जो जाते रहे उनके नाम को रोने के सिवा और कर ही क्या सकती हूँ, लेकिन जो है उसे न जाने दूँगी। आ, ऐ टूटे हुए हृदय! आज तेरे टुकड़ों को जमा करके एक समाधि बनाऊँ और अपने शोक को उसके हवाले कर दूँ। ओ रोनेवाली आँखें, आओ मेरे आँसुओं को अपनी विहँसित छटा में छिपा लो। आओ मेरे आभूषणो, मैंने बहुत दिनों तक तुम्हारा अपमान किया, मेरा अपराध क्षमा करो। तुम मेरे भले दिनों के साथी हो, तुमने मेरे साथ बहुत विहार किये हैं, अब इस संकट में मेरा साथ दो; मगर देखो दगा न करना; मेरे भेदों को छिपाये रखना !

लीला सारी रात बैठी अपने मन से यही बातें करती रही। उधर मर्दाने में धमा-चौकड़ी मची हुई थी। सीतासरन नशे में चूर कभी गाता था, कभी तालियाँ बजाता था। उसके मित्र लोग भी उसी रंग में रंगे हुए थे। मालूम होता था इनके लिए भोग-विलास के सिवा और कोई काम नहीं है।

पिछले पहर को महफिल में सन्नाटा हो गया। हू-हा की आवाजें बन्द हो गयीं। लीला

ने सोचा, क्या लोग कहीं चले गए, या सो गये ? एकाएक सन्नाटा क्यों छा गया। जा कर देहलीज़ में खड़ी हो गयी और बैठक में झाँक कर देखा, सारी देह में एक ज्वाला-सी दौड़ गयी। मित्र लोग विदा हो गये थे। समाजियों का पता न था। केवल एक रमणी मसनद पर लेटी हुई थी और सीतासरन उसके सामने झुका हुआ उससे बातें कर रहा था। दोनों के चेहरों और आँखों से उनके मन के भाव साफ झलक रहे थे। एक की आँखों में अनुराग था, दूसरी की आँखों में कटाक्ष ! एक भोला-भाला हृदय एक मायाविनी रमणी के हाथों लुटा जाता था। लीला की सम्पत्ति को उसकी आँखों के सामने एक छलिनी चुराये लिये जाती थी। लीला को ऐसा क्रोध आया कि इसी समय चल कर इस कुलटा को आड़े हाथों लूँ, ऐसा दुत्कारूँ, कि वह भी याद करे, खड़े-खड़े निकाल दूँ। वह पत्नी-भाव जो बहुत दिनों से सो रहा था, जाग उठा और उसे विकल करने लगा। पर उसने जब्त किया। वेग से दौड़ती हुई तृष्णाएँ अकस्मात् न रोकी जा सकती थीं। वह उलटे पाँव भीतर लौट आयी और मन को शांत करके सोचने लगी—वह रूप-रंग में, हाव-भाव में, नखे-तिल्ले में उस दुष्टा की बराबरी नहीं कर सकती। बिलकुल चाँद का टुकड़ा है, अंग-अंग में स्फूर्ति भरी हुई है, पोर-पोर में मद झलक रहा है। उसकी आँखों में कितनी तृष्णा है, तृष्णा नहीं, बल्कि ज्वाला ! लीला उसी वक्त आइने के सामने गयी। आज कई महीनों के बाद उसने आइने में अपनी सूरत देखी। उसके मुख से एक आह निकल गयी। शोक ने उसकी कायापलट कर दी थी। उस रमणी के सामने वह ऐसी लगती थी जैसे गुलाब के सामने जूही का फूल !

6

सीतासरन का खुमार शाम को टूटा। आँखें खुलीं तो सामने लीला को खड़ी मुस्कराते देखा। उसकी अनोखी छवि आँखों में समा गयी। ऐसे खुश हुए मानो बहुत दिनों के वियोग के बाद उससे भेंट हुई हो। उसे क्या मालूम था कि यह रूप भरने के लिए लीला ने कितने आँसू बहाये हैं; केशों में यह फूल गूँथने के पहले आँखों से कितने मोती पिरोये हैं। उन्होंने एक नवीन प्रेमोत्साह से उठ कर उसे गले लगा लिया और मुस्करा कर बोले—आज तो तुमने बड़े-बड़े शस्त्र सजा रखे हैं, कहाँ भागूँ ?

लीला ने अपने हृदय की ओर उँगली दिखा कर कहा—यहाँ आ बैठो। बहुत भागे फिरते हो, अब तुम्हें बाँध कर रखूँगी। बाग की बहार का आनंद तो उठा चुके, अब इस अँधेरी कोठरी को भी देख लो।

सीतासरन ने लज्जित हो कर कहा—उसे अँधेरी कोठरी मत कहो लीला ! वह प्रेम का मानसरोवर है !

इतने में बाहर से किसी मित्र के आने की खबर आयी। सीतासरन चलने लगे तो लीला ने उनका हाथ पकड़ कर कहा—मैं न जाने दूँगी।

सीतासरन—अभी आता हूँ।

लीला—मुझे डर लगता है कहीं तुम चले न जाओ।

सीतासरन बाहर आये तो मित्र महाशय बोले—आज दिन भर सोते ही रहे क्या? बहुत खुश नजर आते हो। इस वक्त तो वहाँ चलने की ठहरी थी न ? तुम्हारी राह देख रही हैं।

सीतासरन—चलने को तो तैयार हूँ, लेकिन लीला जाने नहीं देती।

मित्र—निरे गाउदी ही रहे। आ गये फिर बीबी के पंजे में ! फिर किस बिरते पर गरमाये थे ?

सीतासरन—लीला ने घर से निकाल दिया था, तब आश्रय ढूँढता-फिरता था। अब उसने द्वार खोल दिये और खड़ी बुली रही है।

मित्र—अजी, यहाँ वह आनंद कहाँ ? घर को लाख सजाओ तो क्या बाग हो जायगा ?

सीतासरन—भई, घर बाग नहीं हो सकता, पर स्वर्ग हो सकता है। मुझे इस वक्त अपनी क्षुद्रता पर जितनी लज्जा आ रही है, वह मैं ही जानता हूँ। जिस संतानशोक में उसने अपने शरीर को घुला डाला और अपने रूपलावण्य को मिटा दिया उसी शोक को केवल मेरा एक इशारा पाकर उसने भुला दिया। ऐसा भुला दिया मानो कभी शोक हुआ ही नहीं ! मैं जानता हूँ कि वह बड़े से बड़े कष्ट सह सकती है। मेरी रक्षा उसके लिए आवश्यक है। जब अपनी उदासीनता के कारण उसने मेरी दशा बिगड़ती देखी तो अपना सारा शोक भूल गयी। आज मैंने उसे अपने आभूषण पहन कर मुस्कराते हुए देखा तो मेरी आत्मा पुलकित हो उठी। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि वह स्वर्ग की देवी है और केवल मुझ-जैसे दुर्बल प्राणी की रक्षा करने के लिए भेजी गयी है। मैंने उसे जो कठोर शब्द कहे, वे अगर अपनी सारी सम्पत्ति बेच कर भी मिल सकते, तो लौटा लेता। लीला वास्तव में स्वर्ग की देवी है !

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद', सितम्बर, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'जन्नत की देवी' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

दण्ड

संध्या का समय था। कचहरी उठ गयी थी। अहलकार और चपरासी जेबें खनखनाते घर जा रहे थे। मेहतर कूड़े टटोल रहा था कि शायद कहीं पैसे-वैसे मिल जायँ। कचहरी के बरामदों में साँड़ों ने वकीलों की जगह ले ली थी। पेड़ों के नीचे मुहर्रिरों की जगह कुत्ते बैठे नजर आते थे। इसी समय एक बूढ़ा आदमी, फटे-पुराने कपड़े पहने, लाठी टेकता हुआ, जंट साहब के बँगले पर पहुँचा और सायबान में खड़ा हो गया। जंट साहब का नाम था मिस्टर जी. सिन्हा। अरदली ने दूर ही से ललकारा—कौन सायबान में खड़ा है ? क्या चाहता है ?

बूढ़ा—गरीब बाम्हन हूँ भैया, साहब से भेंट होगी ?

अरदली—साहब तुम-जैसों से नहीं मिला करते।

बूढ़े ने लाठी पर अकड़ कर कहा—क्यों भाई, हम खड़े हैं या डाकू-चोर हैं कि हमारे मुँह में कुछ लगा हुआ है ?

अरदली—भीख माँग कर मुकदमा लड़ने आये होगे

बूढ़ा—तो कोई पाप किया ? अगर घर बेच कर मुकदमा नहीं लड़ते तो कुछ बुरा करते हैं ? यहाँ तो मुकदमा लड़ते-लड़ते उमर बीत गयी; लेकिन घर का पैसा नहीं खरचा। मियाँ की जूती मियाँ का सिर करते हैं। दस भलेमानसों से माँग कर एक को दे दिया। चलो छुट्टी हुई। गाँव भर नाम से काँपता है। किसी ने जरा भी टिर-पिर की और मैंने

अदालत में दावा दायर किया।

अरदली—किसी बड़े आदमी से पाला नहीं पड़ा अभी ?

बूढ़ा—अजी, कितने ही बड़ों को बड़े घर भिजवा दिया तुम हो किस फेर में। हाई-कोर्ट तक जाता हूँ सीधा। कोई मेरे मुँह क्या आयेगा बेचारा ! गाँठ से तो कौड़ी जाती नहीं, फिर डरें क्यों ? जिसकी चीज पर दाँत लगाये, अपना करके छोड़ा। सीधे न दिया तो अदालत में घसीट लाये और रगेद-रगेद कर मारा, अपना क्या बिगड़ता है? तो साहब से इत्तला करते हो कि मैं ही पुकारूँ ?

अरदली ने देखा; यह आदमी यों टलनेवाला नहीं तो जा कर साहब से उसकी इत्तला की। साहब ने हुलिया पूछा और खुश हो कर कहा—फौरन बुला लो।

अरदली—हजूर, बिलकुल फटेहाल है।

साहब—गुदड़ी ही में लाल होते हैं। जा कर भेज दो।

मिस्टर सिन्हा अधेड़ आदमी थे, बहुत ही शांत, बहुत ही विचारशील। बातें बहुत कम करते थे। कठोरता और असभ्यता, जो शासन का अंग समझी जाती है, उनको छू भी नहीं गयी थी। न्याय और दया के देवता मालूम होते थे। निगाह ऐसी बारीक पायी थी कि सूरत देखते ही आदमी पहचान जाते थे। डील-डौल देवों का-सा था और रंग आबनूस का-सा। आराम-कुर्सी पर लेटे हुए पेचवान पी रहे थे। बूढ़े ने जा कर सलाम किया।

सिनहा—तुम हो जगत पांड़े ! आओ बैठो। तुम्हारा मुकदमा तो बहुत ही कमजोर है। भले आदमी, जाल भी न करते बना ?

जगत—ऐसा न कहें हजूर, गरीब आदमी हूँ, मर जाऊँगा।

सिनहा—किसी वकील मुख्तार से सलाह भी न ले ली ?

जगत—अब तो सरकार की सरन में आया हूँ।

सिनहा—सरकार क्या मिसिल बदल देंगे; या नया कानून गढ़ेंगे ? तुम गच्चा खा गये। मैं कभी कानून के बाहर नहीं जाता। जानते हो न अपील से कभी मेरी तजवीज रद्द नहीं होती ?

जगत—बड़ा धरम हो सरकार ! (सिन्हा के पैरों पर गिन्नियों की एक पोटली रख कर) बड़ा दुखी हूँ सरकार !

सिनहा--(मुस्करा कर) यहाँ भी अपनी चालबाजी से नहीं चूकते ? निकालो अभी और, ओस से प्यास नहीं बुझती। भला दहाई तो तुम पूरा करो।

जगत—बहुत तंग हूँ दीनबंधु !

सिनहा—डालो-डालो कमर में हाथ। भला कुछ मेरे नाम की लाज तो रखो।

जगत—लुट जाऊँगा सरकार !

सिनहा—लुटें तुम्हारे दुश्मन, जो इलाका बेच कर लड़ते हैं। तुम्हारे जजमानों का भगवान् भला करें, तुम्हें किस बात की कमी है।

मिस्टर सिनहा इस मामले में जरा भी रियायत न करते थे। जगत ने देखा कि यहाँ काइयाँपन से काम न चलेगा तो चुपके से पांच गिन्नियाँ और निकालीं। लेकिन उन्हें मिस्टर सिनहा के पैरों पर रखते समय उसकी आँखों से खून निकल आया। यह उसकी

बरसों की कमाई थी। बरसों पेट काट कर, तन जला कर, मन बाँध कर, झूठी गवाहियाँ दे कर उसने यह थाती संचय कर पायी थी। उसका हाथों से निकलना प्राण निकलने से कम दुखदायी न था।

जगत पाँडे के चले जाने के बाद, कोई नौ बजे रात को, जंट साहब के बँगले पर एक ताँगा आ कर रुका और उस पर से पंडित सत्यदेव उतरे जो राजा साहब शिवपुर के मुख़्तार थे।

मिस्टर सिनहा ने मुस्करा कर कहा—आप शायद अपने इलाके में गरीबों को न रहने देंगे। इतना जुल्म !

सत्यदेव—गरीबपरवर, यह कहिए कि गरीबों के मारे अब इलाके में हमारा रहना मुश्किल हो रहा है। आप जानते हैं, सीधी उँगली घी नहीं निकलता। जमींदार को कुछ-न-कुछ सख्ती करनी ही पड़ती है, मगर अब यह हाल है कि हमने ज़रा चूँ भी की तो उन्हीं ग़रीबों की त्योरियाँ बदल जाती हैं। सब मुफ़्त में जमीन जोतना चाहते हैं। लगान माँगिये तो फ़ौजदारी का दावा करने को तैयार ! अब इसी जगत पाँडे को देखिए। गंगा क़सम है हुजूर, सरासर झूठा दावा है। हुजूर से कोई बात छिपी तो रह नहीं सकती। अगर जगत पाँडे यह मुकदमा जीत गया तो हमें बोरिया-बँधना छोड़ कर भागना पड़ेगा। अब हुजूर ही बसाएँ तो बस सकते हैं। राजा साहब ने हुजूर को सलाम कहा है और अर्ज की है कि इस मामले में जगत पाँड़े की ऐसी खबर लें कि वह भी याद करे।

मिस्टर सिनहा ने भवें सिकोड़ कर कहा—कानून मेरे घर तो नहीं बनता ?

सत्यदेव—हुजूर आप के हाथ में सब कुछ है।

यह कह कर गिन्नियों की एक गड्डी निकाल कर मेज़ पर रख दी। मिस्टर सिनहा ने गड्डी को आँखों से गिन कर कहा—इन्हें मेरी तरफ़ से राजा साहब की नज़र कर दीजिएगा। आखिर आप कोई वकील तो करेंगे ही। उसे क्या दीजिएगा ?

सत्यदेव—यह तो हुजूर के हाथ में है। जितनी ही पेशियाँ होंगी उतना ही खर्च भी बढ़ेगा।

सिनहा—मैं चाहूँ तो महीनों लटका सकता हूँ।

सत्यदेव—हाँ, इससे कौन इनकार कर सकता है।

सिनहा—पाँच पेशियाँ भी हुई तो आपके कम से कम एक हजार उड़ जायेंगे। आप यहाँ उसका आधा पूरा कर दीजिए तो एक ही पेशी में वारा-न्यारा हो जाय। आधी रकम बच जाय।

सत्यदेव ने दस गिन्नियाँ और निकाल कर मेज़ पर रख दीं और घमंड के साथ बोले—हुक्म हो तो राजा साहब से कह दूँ, आप इत्मीनान रखें साहब की कृपादृष्टि हो गयी है।

मिस्टर सिनहा ने तीव्र स्वर में कहा जी नहीं, यह कहने की ज़रूरत नहीं। मैं किसी शर्त पर यह रकम नहीं ले रहा हूँ। मैं करूँगा वही जो कानून की मंशा होगी। कानून के खिलाफ़ जौ-भर भी नहीं जा सकता। यही मेरा उसूल है। आप लोग मेरी खातिर करते हैं, यह आपकी शराफ़त है। मैं उसे अपना दुश्मन समझूँगा जो मेरा ईमान खरीदना चाहे। मैं जो कुछ लेता हूँ, सच्चाई का इनाम समझ कर लेता हूँ।

2

जगत पाँडे को पूरा विश्वास था कि मेरी जीत होगी; लेकिन तजबीज सुनी तो होश उड़ गये!

दावा ख़ारिज हो गया ! उस पर खर्च की चपत अलग। मेरे साथ यह चाल ! अगर लाला साहब को इसका मज़ा न चखा दिया तो बाम्हन नहीं। है किस फेर में? सारा रोब भुला दूँगा। यहाँ गाढ़ी कमाई के रुपये हैं। कौन पचा सकता है ? हाड़ फोड़-फोड़ कर निकलेंगे ; द्वार पर सिर पटक-पटक कर मर जाऊँगा।

उसी दिन संध्या को जगत पाँड़े ने मिस्टर सिनहा के बँगले के सामने आसन जमा दिया। वहाँ बरगद का घना वृक्ष था। मुकदमेवाले वहीं सत्तू, चबेना खाते और दोपहरी उसी की छाँह में काटते थे। जगत पाँडे उनसे मिस्टर सिनहा की दिल खोल कर निंदा करता। न कुछ खाता न पीता, बस लोगों को अपनी रामकहानी सुनाया करता। जो सुनता वह जंट साहब को चार खोटी-खरी कहता—आदमी नहीं पिशाच है, इसे तो ऐसी जगह मारे जहां पानी न मिले। रुपये के रुपये लिये, ऊपर से खरचे समेत डिग्री कर दी ! यही करना था तो रुपये काहे को निगले थे ? यह है हमारे भाई-बंदों का हाल। यह अपने कहलाते हैं ! इनसे तो अंग्रेज ही अच्छे। इस तरह की आलोचनाएँ दिन-भर हुआ करतीं। जगत पाँड़े के आस-पास आठों पहर जमघट लगा रहता।

इस तरह चार दिन बीत गये और मिस्टर सिनहा के कानों में भी बात पहुँची। अन्य रिश्वती कर्मचारियों की तरह वह भी हेकड़ आदमी थे। ऐसे निर्द्वंद्व रहते मानो उन्हें यह बीमारी छू तक नहीं गयी है। जब वह कानून से जौ-भर भी न टलते थे तो उन पर रिश्वत का संदेह हो ही क्योंकर सकता था, और कोई करता भी तो उसकी मानता कौन ? ऐसे चतुर खिलाड़ी के विरुद्ध कोई जाब्ते की कार्रवाई कैसे होती ? मिस्टर सिनहा अपने अफसरों से भी खुशामद का व्यवहार न करते। इससे हुक्काम भी उनका बहुत आदर करते थे। मगर जगत पाँड़े ने वह मंत्र मारा था जिसका उनके पास कोई उत्तर न था। ऐसे बॉगड़ आदमी से आज तक उन्हें साबिका न पड़ा था। अपने नौकरों से पूछते—बुड्ढा क्या कर रहा है ! नौकर लोग अपनापन जताने के लिए झूठ के पुल बाँध देते—हुज़ूर, कहता था भूत बन कर लगूँगा, मेरी वेदी बने तो सही, जिस दिन मरूँगा, उस दिन के सौ जगत पाँड़े होंगे। मिस्टर सिंनहा पक्के नास्तिक थे; लेकिन ये बातें सुन-सुन कर सशंक हो जाते और उनकी पत्नी तो थर-थर काँपने लगतीं। वह नौकरों से बार-बार कहतीं उससे जा कर पूछा, क्या चाहता है। जितना रुपया चाहे ले ले, हमसे जो माँगे वह देंगे, बस यहाँ से चला जाय। लेकिन मिस्टर सिनहा आदमियों को इशारे से मना कर देते थे। उन्हें अभी तक आशा थी कि भूख-प्यास से व्याकुल हो कर बुड्ढा चला जायगा। इससे अधिक भय यह था कि ज़रा भी नरम पड़ा और नौकरों ने मुझे उल्लू बनाया।

छठे दिन मालूम हुआ कि जगत पाँडे अबोल हो गया है, उससे हिला तक नहीं जाता, चुपचाप पड़ा आकाश की ओर देख रहा है। शायद आज रात को दम निकल जाय। मिस्टर सिनहा ने लंबी साँस ली और गहरी चिंता में डूब गये। पत्नी ने आँखों में आँसू भर कर आग्रहपूर्वक कहा—तुम्हें मेरे सिर की कसम, जा कर किसी तरह इस बला को टालो। बुड्ढा मर गया तो हम कहीं के न रहेंगे। अब रुपये का मुँह मत देखो। दो-चार हजार भी देने पड़ें तो दे कर उसे मनाओ। तुमको जाते शर्म आती हो तो मैं चली जाऊँ।

सिनहा—जाने का इरादा तो मैं कई दिन से कर रहा हूँ; लेकिन जब देखता हूँ वहाँ

भीड़ लगी रहती है, इससे हिम्मत नहीं पड़ती। सब आदमियों के सामने तो मुझसे न जाया जायगा, चाहे कितनी ही बड़ी आफ़त क्यों न आ पड़े। तुम दो-चार हजार की कहती, मैं दस-पाँच हजार देने को तैयार हूँ। लेकिन वहाँ नहीं जा सकता। न जाने किस बुरी साइत से मैंने इसके रुपये लिये। जानता कि यह इतना फिसाद खड़ा करेगा तो फाटक में घुसने ही न देता। देखने से तो ऐसा सीधा मालूम होता था कि गऊ है। मैंने पहली बार आदमी पहचानने में धोखा खाया।

पत्नी–तो मैं ही चली जाऊँ ? शहर की तरफ़ से आऊँगी और सब आदमियों को हटा कर अकेले में बात करूँगी। किसी को खबर न होगी कि कौन है। इसमें तो कोई हरज नहीं ?

मिस्टर सिनहा ने संदिग्ध भाव से कहा–ताड़नेवाले ताड़ ही जायेंगे, चाहे तुम कितना ही छिपाओ।

पत्नी–ताड़ जायँगे ताड़ जायँ, अब किससे कहाँ तक डरूँ। बदनामी अभी क्या कम हो रही है, जो और हो जायगी। सारी दुनिया जानती है कि तुमने रुपये लिये। यों ही कोई किसी पर प्राण नहीं देता। फिर अब व्यर्थ की ऐंठ क्यों करो ?

मिस्टर सिनहा अब मर्मवेदना को न दबा सके। बोले–प्रिये, यह व्यर्थ की ऐंठ नहीं है। चोर को अदालत में बेंत खाने से उतनी लज्जा नहीं आती, स्त्री को कलंक से उतनी लज्जा नहीं आती, जितनी किसी हाकिम को अपनी रिश्वत का परदा खुलने से आती है। वह जहर खा कर मर जायगा; पर संसार के सामने अपना परदा न खोलेगा। अपना सर्वनाश देख सकता है; पर यह अपमान नहीं सह सकता, जिंदा खाल खींचने, या कोल्हू में पेरे जाने के सिवा और कोई स्थिति नहीं है जो उसे अपना अपराध स्वीकार करा सके। इसका तो मुझे जरा भी भय नहीं है कि ब्राह्मण भूत बन कर हमको सतायेगा, या हमें उसकी वेदी बना कर पूजनी पड़ेगी, यह भी जानता हूँ कि पाप का दंड भी बहुधा नहीं मिलता; लेकिन हिंदू होने के कारण संस्कारों की शंका कुछ-कुछ बनी हुई है। ब्रह्महत्या का कलंक सिर पर लेते हुए आत्मा काँपती है। बस, इतनी बात है। मैं आज रात का मौका देख कर जाऊँगा और इस संकट को काटने के लिए जो कुछ हो सकेगा, करूँगा। तिर जमा रखो।

3

आधी रात बीत चुकी थी। मिस्टर सिनहा घर से निकले और अकेले जगत पाँड़े को मनाने चले। बरगद के नीचे बिलकुल सन्नाटा था। अंधकार ऐसा था मानो निशादेवी यहीं शयन कर रही हों। जगत पाँड़े की साँस जोर-जोर से चल रही थी मानो मौत ज़बरदस्ती घसीटे लिये जाती हो। मिस्टर सिनहा के रोएँ खड़े हो गये। बुड्ढा कहीं मर तो नहीं रहा है ? जेबी लालटेन निकाली और जगत के समीप जा कर बोले–पाँड़े जी कहो क्या हाल है ?

जगत पाँड़े ने आँखें खोल कर देखा और उठने की असफल चेष्टा करके बोला–मेरा हाल पूछते हो ? देखते नहीं हो, मर रहा हूँ ?

सिनहा–तो इस तरह क्यों प्राण देते हो ?

जगत–तुम्हारी यही इच्छा है तो मैं क्या करूँ ?

सिनहा—मेरी तो यही इच्छा नहीं। हाँ, अलबत्ता मेरा सर्वनाश करने पर तुम तुले हुए हो। आखिर मैंने तुम्हारे डेढ़ सौ रुपये ही तो लिये हैं। इतने ही रुपये के लिए तुम इतना बड़ा अनुष्ठान कर रहे हो !

जगत—डेढ़ सौ रुपये की बात नहीं है। जो तुमने मुझे मिट्टी में मिला दिया। मेरी डिग्री हो गयी होती तो मुझे दस बीघे जमीन मिल जाती और सारे इलाके में नाम हो जाता। तुमने मेरे डेढ़ सौ नहीं लिये, मेरे पाँच हजार बिगाड़ दिये। पूरे पाँच हजार; लेकिन यह घमंड न रहेगा, याद रखना। कहे देता हूँ, सत्यानाश हो जायगा। इस अदालत में तुम्हारा राज्य है; लेकिन भगवान् के दरबार में विप्रों ही का राज्य है। विप्र का धन ले कर कोई सुखी नहीं रह सकता।

मिस्टर सिनहा ने बहुत खेद और लज्जा प्रकट की, बहुत अनुनय-विनय से काम लिया और अंत में पूछा—सच बतलाओ पाँड़े, कितने रुपये पा जाओ तो यह अनुष्ठान छोड़ दो।

जगत पाँड़े ज़ोर लगा कर उठ बैठे और बड़ी उत्सुकता से बोले—पाँच हजार से कौड़ी कम न लूँगा।

सिनहा—पाँच हजार तो बहुत होते हैं। इतना जुल्म न करो।

जगत—नहीं, इससे कम न लूँगा।

यह कर कर जगत पाँड़े फिर लेट गया। उसने ये शब्द इतने निश्चयात्मक भाव से कहे थे कि मिस्टर सिनहा को और कुछ कहने का साहस न हुआ। रुपये लाने घर चले; लेकिन घर पहुँचते-पहुँचते नीयत बदल गयी। डेढ़ सौ के बदले पाँच हजार देते कलक हुआ। मन में कहा—मरता है मर जाने दो, कहाँ की ब्रह्महत्या और कैसा पाप! यह सब पाखंड है। बदनामी न होगी ? सरकारी मुलाज़िम तो यों ही बदनाम होते हैं, यह कोई नयी बात थोड़े ही है। बचा कैसे उठ बैठे थे। समझा होगा, उल्लू फँसा। अगर छः दिन के उपवास करने से पाँच हजार मिलें तो मैं महीने में कम-से-कम पाँच मरतबा यह अनुष्ठान करूँ। पाँच हजार नहीं, कोई मुझे एक ही हजार दे दे। यहाँ तो महीने भर नाक रगड़ता हूँ तब जाके छः सौ रुपये के दर्शन होते हैं। नोच-खसोट से भी शायद ही किसी महीने में इससे ज्यादा मिलता हो। बैठा मेरी राह देख रहा होगा। लेगा रुपये, मुँह मीठा हो जायगा।

वह चारपाई पर लेटना चाहते थे कि उनकी पत्नी जी आ कर खड़ी हो गयीं। उनके सिर के बाल खुले हुए थे, आँखें सहमी हुईं, रह-रह कर काँप उठती थीं। मुँह से शब्द न निकलता था। बड़ी मुश्किल से बोलीं—आधी रात तो हो गयी होगी ? तुम जगत पाँड़े के पास चले जाओ। मैंने अभी ऐसा बुरा सपना देखा है कि अभी तक कलेजा धड़क रहा है, जान संकट में पड़ी हुई है। जाके किसी तरह उसे टालो।

मिस्टर सिनहा--वहीं से तो चला आ रहा हूँ। मुझे तुमसे ज्यादा फ़िक्र है। अभी आ कर खड़ा ही हुआ था कि तुम आयीं।

पत्नी—अच्छा ! तो तुम गये थे ! क्या बातें हुईं, राजी हुआ ?

सिनहा—पाँच हजार रुपये माँगता है !

पत्नी—पाँच हजार !

सिनहा—कौड़ी कम नहीं कर सकता और मेरे पास इस वक्त एक हजार से ज्यादा न होंगे।

पत्नी ने एक क्षण सोच कर कहा—जितना माँगता है उतना ही दे दो, किसी तरह गला तो छूटे। तुम्हारे पास रुपये न हों तो मैं दे दूँगी। अभी से सपने दिखाई देने लगे हैं। मरा तो प्राण कैसे बचेंगे। बोलता-चालता है न ?

मिस्टर सिनहा अगर आबनूस थे तो उनकी पत्नी चंदन। सिनहा उनके गुलाम थे, उनके इशारों पर चलते थे। पत्नी जी भी पति-शासन में कुशल थीं। सौंदर्य और अज्ञान में अपवाद है। सुंदरी कभी भोली नहीं होती। वह पुरुष के मर्मस्थल पर आसन जमाना जानती है!

सिनहा—तो लाओ देता आऊँ; लेकिन आदमी बड़ा चग्घड़ है, कहीं रुपये ले कर सबको दिखाता फिरे तो ?

पत्नी—इसको यहाँ से इसी वक्त भागना होगा।

सिनहा—तो निकालो दे ही दूँ। जिंदगी में यह बात भी याद रहेगी।

पत्नी ने अविश्वास भाव से कहा—चलो, मैं भी चलती हूँ। इस वक्त कौन देखता है ?

पत्नी से अधिक पुरुष के चरित्र का ज्ञान और किसी को नहीं होता। मिस्टर सिनहा की मनोवृत्तियों को उनकी पत्नी जी खूब जानती थीं। कौन जाने रास्ते में रुपये कहीं छिपा दें, और कह दें, दे आये। या कहने लगें, रुपये ले कर भी नहीं टलता तो मैं क्या करूँ। जा कर संदूक से नोटों के पुलिंदे निकाले और उन्हें चादर में छिपा कर मिस्टर सिनहा के साथ चलीं। सिन्हा के के मुँह पर झाड़ू-सी फिरी हुई थी। लालटेन लिये पछताते चले जाते थे। पांच रुपये निकले जाते हैं। फिर इतने रुपये कब मिलेंगे; कौन जानता है ? इससे तो कहीं अच्छा था कि दुष्ट मर ही जाता। बला से बदनामी होती, कोई मेरे जेब से रुपये तो न छीन लेता। ईश्वर करे मर गया हो !

अभी तक दोनों आदमी फाटक ही तक आये थे कि देखा, जगत पाँड़े लाठी टेकता चला आता है। उसका स्वरूप इतना डरावना था मानो श्मशान से कोई मुरदा भागा आता हो।

इनको देखते ही जगत पाँड़े बैठ गया और हाँफता हुआ बोला—बड़ी देर हुई, लाये ?

पत्नी जी बोलीं—महाराज, हम तो आ ही रहे थे, तुमने क्यों कष्ट दिया ? रुपये ले कर सीधे घर चले जाओगे न ?

जगत—हाँ-हाँ, सीधा घर जाऊँगा। कहाँ हैं रुपये देखूँ !

पत्नी जी ने नोटों का पुलिंदा बाहर निकाला और लालटेन दिखा कर बोलीं—गिन लो। पूरे पांच हजार रुपये हैं !

पाँड़े ने पुलिंदा लिया और बैठ कर उसे उलट-पुलट कर देखने लगा। उसकी आँखें एक नये प्रकाश से चमकने लगीं। हाथों में नोटों को तौलता हुआ बोला—पूरे पाँच हजार हैं?

पत्नी—पूरे गिन लो !

जगत—पाँच हजार में दो टोकरी भर जायगी ! (हाथों से बता कर) इतने सारे हुए पाँच हजार !

सिनहा—क्या अब भी तुम्हें विश्वास नहीं आता ?

जगत—हैं-हैं, पूरे हैं पूरे पाँच हजार ! तो अब जाऊँ, भाग जाऊँ ?

यह कह कर वह पुलिंदा लिए कई कदम लड़खड़ाता हुआ चला, जैसे कोई शराबी, और तब धम से जमीन पर गिर पड़ा। मिस्टर सिनहा लपक कर उसे उठाने दौड़े तो देखा उसकी आँखें पथरा गयी हैं और मुख पीला पड़ गया है। बोलो—पाँड़े-पाँड़े क्या कहीं चोट आ गयी ?

पाँड़े ने एक बार मुँह खोला जैसे मरती हुई चिड़िया सिर लटका कर चोंच खोल देती है। जीवन का अंतिम धागा भी टूट गया। ओंठ खुले हुए थे और नोटों का पुलिंदा छाती पर रखा हुआ था। इतने में पत्नी जी भी आ पहुँची और शव को देखकर चौंक पड़ीं !

पत्नी—इसे क्या हो गया ?

सिनहा—मर गया और क्या हो गया ?

पत्नी—(सिर पीट कर) मर गया ! हाय भगवान ! अब कहाँ जाऊँ ?

यह कह कर वह बँगले की ओर बड़ी तेजी से चलीं। मिस्टर सिनहा ने भी नोटों का पुलिंदा शव की छाती पर से उठा लिया और चले।

पत्नी—ये रुपये अब क्या होंगे ?

सिनहा—किसी धर्म-कार्य में दे दूँगा।

पत्नी—घर में मत रखना, खबरदार ! हाय भगवान् !

4

दूसरे दिन सारे शहर में खबर मशहूर हो गयी—जगत पाँड़े ने जंट साहब पर जान दे दी। उसका शव उठा तो हज़ारों आदमी साथ थे। मिस्टर सिनहा को खुल्लम-खुल्ला गालियाँ दी जा रही थीं।

संध्या समय मिस्टर सिनहा कचहरी से आ कर मन मारे बैठे थे कि नौकरों ने आ कर कहा—सरकार, हमको छुट्टी दी जाय ! हमारा हिसाब कर दीजिए। हमारी बिरादरी के लोग धमकाते हैं कि तुम जंट साहब की नौकरी करोगे तो हुक्का-पानी बन्द हो जायगा।

सिनहा ने झल्ला कर कहा—कौन धमकाता है ?

कहार—किसका नाम बतायें सरकार ! सभी तो कह रहे हैं।

रसोइया—हुजूर, मुझे तो लोग धमकाते हैं कि मन्दिर में न घुसने पाओगे।

सिनहा—एक महीने की नोटिस दिये बग़ैर तुम नहीं जा सकते।

साईस—हुज़ूर, बिरादरी से बिगाड़ करके हम लोग कहाँ जायँगे ? हमारा आज से इस्तीफ़ा है। हिसाब जब चाहे कर दीजिएगा।

मिस्टर सिनहा ने बहुत धमकाया, फिर दिलासा देने लगे; लेकिन नौकरों ने एक न सुनी। आध घन्टे के अंदर सबों ने अपना-अपना रास्ता लिया। मिस्टर सिनहा दाँत पीस कर रह गये; लेकिन हाकिमों का काम कब रुकता है ? उन्होंने उसी वक्त कोतवाल को खबर दी कि कई आदमी बेगार में पकड़ आये। काम चल निकला।

उसी दिन से मिस्टर सिनहा और हिन्दू समाज में खींचतान शुरू हुई। धोबी ने कपड़े धोना बन्द कर दिया। ग्वाले ने दूध लाने में आनाकानी की। नाई ने हजामत बनानी छोड़ी। इन विपत्तियों पर पत्नी जी का रोना-धोना और भी ग़जब था। इन्हें रोज भयंकर स्वप्न

दिखाई देते। रात को एक कमरे से दूसरे में जाते प्राण निकलते थे। किसी का ज़रा सिर भी दुखता तो नहों में जान समा जाती। सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि अपने सम्बन्धियों ने भी आना-जाना छोड़ दिया। एक दिन साले आये, मगर बिना पानी पिये चले गये। इसी तरह एक बहनोई का आगमन हुआ। उन्होंने पान तक न खाया। मिस्टर सिनहा बड़े धैर्य से यह सारा तिरस्कार सहते जाते थे। अब तक उनकी आर्थिक हानि न हुई थी। ग़रज के बावले झक मार कर आते ही थे और नज़र-नज़राना मिलता ही था। फिर विशेष चिंता का कोई कारण न था।

लेकिन बिरादरी से बैर करना पानी में रह कर मगर से बैर करना है। कोई-न-कोई ऐसा अवसर आ ही जाता है, जब हमको बिरादरी के सामने सिर झुकाना पड़ता है। मिस्टर सिनहा को भी साल के अन्दर ही ऐसा अवसर आ पड़ा। यह उनकी पुत्री का विवाह था। यही वह समस्या है जो बड़े-बड़े हेकड़ों का घमंड चूर-चूर कर देती है। आप किसी के आने-जाने की परवा न करें, हुक्का-पानी, भोज-भात, मेल-जोल किसी बात की परवा न करें; मगर लड़की का विवाह तो न टलनेवाली बला है। उससे बच कर आप कहाँ जायेंगे ! मिस्टर सिनहा को इस बात का दग़दग़ा तो पहिले ही था कि त्रिवेणी के विवाह में बाधाएँ पड़ेंगी; लेकिन उन्हें विश्वास था कि द्रव्य की अपार शक्ति इस मुश्किल को हल कर देगी। कुछ दिनों तक उन्होंने जान-बूझ कर टाला कि शायद इस आँधी का ज़ोर कुछ कम हो जाय; लेकिन जब त्रिवेणी का सोलहवाँ साल समाप्त हो गया तो टाल-मटोल की गुंजाइश न रही। संदेशे भेजने लगे; लेकिन जहाँ संदेशिया जाता वहीं जवाब मिलता—हमें मंजूर नहीं। जिन घरों में साल-भर पहले उनका संदेशा पा कर लोग अपने भाग्य को सराहते, वहाँ से अब सूखा जवाब मिलता था—हमें मंजूर नहीं। मिस्टर सिनहा धन का लोभ देते, जमीन नज़र करने को कहते, लड़के को विलायत भेज कर ऊँची शिक्षा दिलाने का प्रस्ताव करते किंतु उनकी सारी आयोजनाओं का एक ही जवाब मिलता था—हमें मंजूर नहीं। ऊँचे घरानों का यह हाल देखकर मिस्टर सिनहा उन घरानों में संदेश भेजने लगे, जिनके साथ पहले बैठ कर भोजन करने में भी उन्हें संकोच होता था, लेकिन वहाँ भी वही जवाब मिला—हमें मंजूर नहीं। यहाँ तक कि कई जगह वह खुद दौड़-दौड़ कर गये, लोगों की मिन्नतें कीं, पर यही जवाब मिला—साहब, हमें मंजूर नहीं। शायद बहिष्कृत घरानों में उनका संदेश स्वीकार कर लिया जाता; पर मिस्टर सिनहा जानबूझ कर मक्खी न निगलना चाहते थे। ऐसे लोगों से सम्बन्ध न करना चाहते थे जिनका बिरादरी में कोई स्थान न था। इस तरह एक वर्ष बीत गया।

मिसेज़ सिनहा चारपाई पर पड़ी कराह रही थीं, त्रिवेणी भोजन बना रही थी और मिस्टर सिनहा पत्नी के पास चिंता में डूबे बैठे हुए थे। उनके हाथ में एक खत था, बार-बार उसे देखते और कुछ सोचने लगते थे। बड़ी देर के बाद रोगिणी ने आँखें खोलीं और बोलीं—अब न बचूँगी। पाँड़े मेरी जान ले कर छोड़ेगा। हाथ में कैसा कागज है?

सिनहा—यशोदानंदन के पास से ख़त आया है। पाजी को यह ख़त लिखते हुए शर्म नहीं आती, मैंने इसकी नौकरी लगायी। इसकी शादी करवायी और आज उसका मिजाज इतना बढ़ गया है कि अपने छोटे भाई की शादी मेरी लड़की से करना पसंद नहीं करता। अभागे के भाग्य खुल जाते !

पत्नी—भगवान्, अब ले चलो। यह दुर्दशा नहीं देखी जाती। अंगूर खाने का जी चाहता है, मँगवाये हैं कि नहीं ?

सिनहा—मैं जा कर खुद लेता आया था।

यह कह कर उन्होंने तश्तरी में अंगूर भर कर पत्नी के पास रख दिये। वह उठा-उठा कर खाने लगीं। जब तश्तरी खाली हो गयी तो बोलीं—अब किसके यहाँ संदेशा भेजोगे ?

सिनहा—किसके यहाँ बताऊँ ! मेरी समझ में तो अब कोई ऐसा आदमी नहीं रह गया। ऐसी बिरादरी में रहने से तो यह हजार दरजा अच्छा है कि बिरादरी के बाहर रहूँ। मैंने एक ब्राह्मण से रिश्वत ली। इससे मुझे इनकार नहीं। लेकिन कौन रिश्वत नहीं लेता ? अपने गौं पर कोई नहीं चूकता। ब्राह्मण नहीं खुद ईश्वर ही क्यों न हों, रिश्वत खानेवाले उन्हें भी चूस लेंगे। रिश्वत देनेवाला अगर निराश हो कर अपने प्राण दे देता है तो मेरा क्या अपराध ! अगर कोई मेरे फैसले से नाराज हो कर जहर खा ले तो मैं क्या कर सकता हूँ। इस पर भी मैं प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ। बिरादरी जो दंड दे, उसे स्वीकार करने को तैयार हूँ। सब से कह चुका हूँ मुझसे जो प्रायश्चित्त चाहो करा लो पर कोई नहीं सुनता। दंड अपराध के अनुकूल होना चाहिए, नहीं तो यह अन्याय है। अगर किसी मुसलमान का छुआ भोजन खाने के लिए बिरादरी मुझे कालेपानी भेजना चाहे तो मैं उसे कभी न मानूँगा। फिर अपराध अगर है तो मेरा है। मेरी लड़की ने क्या अपराध किया है। मेरे अपराध के लिए लड़की को दंड देना सरासर न्याय-विरुद्ध है।

पत्नी—मगर करोगे क्या ? कोई पंचायत क्यों नहीं करते ?

सिनहा—पंचायत में भी तो वही बिरादरी के मुखिया लोग ही होंगे, उनसे मुझे न्याय की आशा नहीं। वास्तव में इस तिरस्कार का कारण ईर्ष्या है। मुझे देख कर सब जलते हैं और इसी बहाने से मुझे नीचा दिखाना चाहते हैं। मैं इन लोगों को खूब समझता हूँ।

पत्नी—मन की लालसा मन ही में रह गयी। यह अरमान लिये संसार से जाना पड़ेगा। भगवान् की जैसी इच्छा। तुम्हारी बातों से मुझे डर लगता है कि मेरी बच्ची की न-जाने क्या दशा होगी। मगर तुमसे मेरी अंतिम विनय यही है कि बिरादरी से बाहर न जाना, नहीं तो परलोक में भी मेरी आत्मा को शांति न मिलेगी। यह शोक मेरी जान ले रहा है। हाय, बच्ची पर न-जाने क्या विपत्ति आनेवाली है।

यह कहते मिसेज़ सिनहा की आँखों से आँसू बहने लगे। मिस्टर सिनहा ने उनको दिलासा देते हुए कहा—इसकी चिंता मत करो प्रिये, मेरा आशय केवल यह था कि ऐसे भाव मेरे मन में आया करते हैं। तुमसे सच कहता हूँ बिरादरी के अन्याय से कलेजा चलनी हो गया है।

पत्नी—बिरादरी को बुरा मत कहो। बिरादरी का डर न हो तो आदमी न जाने क्या-क्या उत्पात करे। बिरादरी को बुरा न कहो। (कलेजे पर हाथ रख कर) यहाँ बड़ा दर्द हो रहा है। यशोदानंदन ने भी कोरा जवाब दे दिया। किसी करवट चैन नहीं आता। क्या करूँ भगवान्।

सिनहा—डाक्टर को बुलाऊँ ?

पत्नी—तुम्हारा जी चाहे बुला लो, लेकिन मैं बचूँगी नहीं। ज़रा तिब्बो को बुला लो, प्यार कर लूँ। जी डूबा जाता है। मेरी बच्ची ! हाय मेरी बच्ची !!

[हिन्दी कहानी। 'चांद' (मासिक पत्रिका), अक्टूबर, 1925 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'प्रेम चालीसी' (उर्दू कहानी संग्रह) में 'सजा' शीर्षक से संकलित।]

शूद्रा

माँ और बेटी एक झोंपड़ी में गाँव के उस सिरे पर रहती थीं। बेटी बाग से पत्तियाँ बटोर लाती, माँ भाड़ झोंकती। यही उनकी जीविका थी। सेर-दो सेर अनाज मिल जाता था, खाकर पड़ रहती थीं। माता विधवा थी, बेटी क्वाँरी, घर में और कोई आदमी न था। माँ का नाम गंगा था, बेटी का गौरा !

गंगा को कई साल से यह चिन्ता लगी हुई थी कि कहीं गौरा की सगाई हो जाय, लेकिन कहीं बात पक्की न होती थी। अपने पति के मर जाने के बाद गंगा ने कोई दूसरा घर न किया था, न कोई दूसरा धन्धा ही करती थी। इससे लोगों को संदेह हो गया था कि आखिर इसका गुजर कैसे होता है ! और लोग तो छाती फाड़-फाड़कर काम करते हैं, फिर भी पेट-भर अन्न मयस्सर नहीं होता। यह स्त्री कोई धंधा नहीं करती, फिर भी माँ-बेटी आराम से रहती हैं, किसी के सामने हाथ नहीं फैलातीं। इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य है। धीरे-धीरे यह संदेह और भी दृढ़ हो गया और अब तक जीवित था। बिरादरी में कोई गौरा से सगाई करने पर राजी न होता था। शूद्रों की बिरादरी बहुत छोटी होती है। दस-पाँच कोस से अधिक उसका क्षेत्र नहीं होता, इसीलिए एक-दूसरे के गुण-दोष किसी से छिपे नहीं रहते, न उन पर पर्दा ही डाला जा सकता है।

इस भ्रांति को शान्त करने के लिए माँ ने बेटी के साथ कई तीर्थ-यात्राएँ कीं। उड़ीसा तक हो आयी, लेकिन संदेह न मिटा। गौरा युवती थी, सुन्दरी थी, पर उसे किसी ने कुएँ पर या खेतों में हँसते-बोलते नहीं देखा। उसकी निगाह कभी ऊपर उठती ही न थी। लेकिन ये बातें भी संदेह को और पुष्ट करती थीं। अवश्य कोई-न-कोई रहस्य है। कोई युवती इतनी सती नहीं हो सकती। कुछ गुप-चुप की बात अवश्य है।

यों ही दिन गुजरते जाते थे। बुढ़िया दिनोंदिन चिन्ता से घुल रही थी। उधर सुन्दरी की मुख-छवि दिनोंदिन निखरती जाती थी। कली खिलकर फूल हो रही थी।

2

एक दिन एक परदेशी गाँव से होकर निकला। दस-बारह कोस से आ रहा था। नौकरी की खोज में कलकत्ता जा रहा था। रात हो गयी। किसी कहार का घर पूछता हुआ गंगा के घर आया। गंगा ने उसका खूब आदर-सत्कार किया, उसके लिए गेहूँ का आटा लायी, घर से बरतन निकालकर दिये। कहार ने पकाया, खाया, लेटा, बातें होने लगीं। सगाई की चर्चा छिड़ गयी। कहार जवान था, गौरा पर निगाह पड़ी, उसका रंग-ढंग देखा, उसकी सजल छवि आँखों में खुब गयी। सगाई करने पर राजी हो गया। लौटकर घर चला गया। दो-चार गहने अपनी बहन के यहाँ से लाया; गाँव के बजाज ने कपड़े उधार दे दिये। दो-चार भाईबन्दों के साथ सगाई करने आ पहुँचा। सगाई हो गयी, यहीं रहने लग। गंगा बेटी और दामाद को आँखों से दूर न कर सकती थी।

परन्तु दस ही पाँच दिनों में मँगरू के कानों में इधर-उधर की बातें पड़ने लगीं। सिर्फ बिरादरी ही के नहीं, अन्य जाति वाले भी उसके कान भरने लगे। ये बातें सुन-सुनकर मँगरू पछताता था कि नाहक यहाँ फँसा। पर गौरा को छोड़ने का खयाल कर उसका दिल

काँप उठता था।

एक महीने के बाद मँगरू अपनी बहन के गहने लौटाने गया। खाना खाने के समय उसका बहनोई उसके साथ भोजन करने न बैठा। मँगरू को कुछ संदेह हुआ, बहनोई से बोला—तुम क्यों नहीं आते ?

बहनोई ने कहा—तुम खा लो, मैं फिर खा लूँगा।

मँगरू—बात क्या है ? तुम खाने क्यों नहीं उठते ?

बहनोई—जब तक पंचायत न होगी, मैं तुम्हारे साथ कैसे खा सकता हूँ ? तुम्हारे लिए बिरादरी भी न छोड़ दूँगा। किसी से पूछा न गाछा, जाकर एक हरजाई से सगाई कर ली।

मँगरू चौके पर से उठ आया, मिरजई पहनी और ससुराल चला आया। बहन खड़ी रोती रह गयी।

उसी रात को वह किसी से कुछ कहे-सुने बगैर, गौरा को छोड़कर कहीं चला गया। गौरा नींद में मग्न थी। उसे क्या खबर थी कि वह रत्न, जो मैंने इतनी तपस्या के बाद पाया है, मुझे सदा के लिए छोड़े चला जा रहा है।

3

कई साल बीत गये। मँगरू का कुछ पता न चला। कोई पत्र तक न आया, पर गौरा बहुत प्रसन्न थी। वह माँग में सेंदूर डालती, रंग-बिरंग के कपड़े पहनती और अधरों पर मिस्सी के धड़े जमाती। मँगरू भजनों की एक पुरानी किताब छोड़ गया था। उसे कभी-कभी पढ़ती और गाती। मँगरू ने उसे हिन्दी सिखा दी थी। टटोल-टटोलकर भजन पढ़ लेती थी।

पहले वह अकेली बैठी रहती। गाँव की और स्त्रियों के साथ बोलते-चालते उसे शर्म आती थी। उसके पास वह वस्तु न थी, जिस पर दूसरी स्त्रियाँ गर्व करती थीं। सभी अपने-अपने पति की चर्चा करतीं। गौरा के पति कहाँ था ? वह किसकी बातें करती ! अब उसके भी पति था। अब वह अन्य स्त्रियों के साथ इस विषय पर बातचीत करने की अधिकारिणी थी। वह भी मँगरू की चर्चा करती, मँगरू कितना स्नेहशील है, कितना सज्जन, कितना वीर। पति चर्चा से उसे कभी तृप्ति ही न होती थी।

स्त्रियाँ पूछतीं—मँगरू तुम्हें छोड़कर क्यों चले गये ?

गौरा कहती—क्या करते ? मर्द कभी ससुराल में पड़ा रहता है। देश-परदेश में निकलकर चार पैसे कमाना ही तो मर्दों का काम है, नहीं तो मान-मरजाद का निर्वाह कैसे हो ?

जब कोई पूछता, चिट्ठी-पत्री क्यों नहीं भेजते ? तो हँसकर कहती—अपना पता-ठिकाना बताने में डरते हैं। जानते हैं न गौरा आकर सिर पर सवार हो जायगी। सच कहती हूँ, उनका पता-ठिकाना मालूम हो जाय, तो यहाँ मुझसे एक दिन भी न रहा जाय। वह बहुत अच्छा करते हैं कि मेरे पास चिट्ठी-पत्री नहीं भेजते। बेचारे परदेश में कहाँ घर गिरस्ती सँभालते फिरेंगे ?

एक दिन किसी सहेली ने कहा—हम न मानेंगे, तुझसे जरूर मँगरू से झगड़ा हो गया है, नहीं तो बिना कुछ कहे-सुने क्यों चले जाते ?

गौरा ने हँसकर कहा—बहन, अपने देवता से भी कोई झगड़ा करता है ? वह मेरे मालिक हैं, भला मैं उनसे झगड़ा करूँगी ? जिस दिन झगड़े की नौबत आयेगी, कहीं डूब मरूँगी। मुझसे कहके जाने पाते ? मैं उनके पैरों से लिपट न जाती ?

4

एक दिन कलकत्ते से एक आदमी आकर गंगा के घर ठहरा। पास ही के किसी गाँव में अपना घर बताया। कलकत्ते में वह मँगरू के पड़ोस ही में रहता था। मँगरू ने उससे गौरा को अपने साथ लाने को कहा था। दो साड़ियाँ और राह-खर्च के लिए रुपये भी भेजे थे। गौरा फूली न समायी। बूढ़े ब्राह्मण के साथ चलने को तैयार हो गयी। चलते वक्त वह गाँव की सब औरतों से गले मिली। गंगा उसे स्टेशन तक पहुँचाने गयी। सब कहते थे, बेचारी लड़की के भाग जग गये, नहीं तो यहाँ कुढ़-कुढ़कर मर जाती।

रास्ते-भर गौरा सोचती थी—न जाने वह कैसे हो गये होंगे। अब तो मूँछें अच्छी तरह निकल आयी होंगी। परदेश में आदमी सुख से रहता है। देह भर आयी होगी। बाबू साहब हो गये होंगे। मैं पहले दो-तीन दिन उनसे बोलूँगी नहीं। फिर पूछूँगी—तुम मुझे छोड़कर क्यों चले गये ? अगर किसी ने मेरे बारे में कुछ बुरा-भला कहा ही था, तो तुमने उसका विश्वास क्यों कर लिया ? तुम अपनी आँखों से न देखकर दूसरों के कहने पर क्यों गये। मैं भली हूँ या बुरी हूँ, हूँ तो तुम्हारी, तुमने मुझे इतने दिनों रुलाया क्यों ? तुम्हारे बारे में अगर इसी तरह कोई मुझसे कहता, तो क्या मैं तुमको छोड़ देती? जब तुमने मेरी बाँह पकड़ ली, तो तुम मेरे हो गये। फिर तुममें लाख ऐब हों, मेरी बला से। चाहे तुम तुर्क ही क्यों न हो जाओ, मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकती।। तुम क्यों मुझे छोड़ कर भागे ? क्या समझते थे, भागना सहज है ? आखिर झख मारकर बुलाया कि नहीं ? कैसे न बुलाते ? मैंने तो तुम्हारे ऊपर दया की, कि चली आयी, नहीं तो कह देती कि मैं ऐसे निर्दयी के पास नहीं जाती, तो तुम आप दौड़े आते। तप करने से देवता भी मिल जाते हैं, आकर सामने खड़े हो जाते हैं; तुम कैसे न आते ? वह बार-बार उद्विग्न हो-होकर बूढ़े ब्राह्मण से पूछती, अब कितनी दूर है ? धरती के छोर पर रहते हैं क्या ? और भी कितनी ही बातें वह पूछना चाहती थी, लेकिन संकोच-वश न पूछ सकती थी। मन-ही-मन अनुमान करके अपने को सन्तुष्ट कर लेती थी। उनका मकान बड़ा-सा होगा, शहर में लोग पक्के घरों में रहते हैं। जब उनका साहब इतना मानता है, तो नौकर भी होगा। मैं नौकर को भगा दूँगी। मैं दिन-भर पड़े-पड़े क्या किया करूँगी ?

बीच-बीच में उसे घर की याद भी आ जाती थी। बेचारी अम्माँ रोती होंगी। अब उन्हें घर का सारा काम आप ही करना पड़ेगा। न-जाने बकरियों को चराने ले जाती हैं या नहीं। बेचारी दिन-भर में-में करती होंगी। मैं अपनी बकरियों के लिए महीने-महीने रुपये भेजूँगी। जब कलकत्ते से लौटूँगी तब सबके लिए साड़ियाँ लाऊँगी। तब मैं इस तरह थोड़े लौटूँगी। मेरे साथ बहुत-सा असबाब होगा। सबके लिए कोई-न-कोई सौगात लाऊँगी। तब तक तो बहुत-सी बकरियाँ हो जायँगी।

यही सुख स्वप्न देखते-देखते गौरा ने सारा रास्ता काट दिया। पगली क्या जानती थी

कि मेरे मन कुछ और है कर्त्ता के मन कुछ और। क्या जानर्ती थी कि बूढ़े ब्राह्मणों के भेष में भी पिशाच होते हैं। मन की मिठाई खाने में मगन थी।

5

तीसरे दिन गाड़ी कलकत्ते पहुँची। गौरा की छाती धड़-धड़ करने लगी। वह यहीं कहीं खड़े होंगे। अब आते ही होंगे। यह सोचकर उसने घूँघट निकाल लिया और सँभल बैठी। मगर मँगरू वहाँ न दिखाई दिया। बूढ़ा ब्राह्मण बोला—मँगरू तो यहाँ नहीं दिखाई देता, मैं चारों ओर छान आया। शायद किसी काम में लग गया होगा; आने की छुट्टी न मिली होगी, मालूम भी तो न था कि हम लोग किस गाड़ी से आ रहे हैं। उनकी राह क्यों देखें, चलो, डेरे पर चलें।

दोनों गाड़ी पर बैठकर चले। गौरा कभी ताँगे पर सवार न हुई थी। उसे गर्व हो रहा था कि कितने ही बाबू लोग पैदल जा रहे हैं, मैं ताँगे पर बैठी हूँ।

एक क्षण में गाड़ी मँगरू के डेरे पर पहुँच गयी। एक विशाल भवन था, अहाता साफ-सुथरा, सायबान में फूलों के गमले रखे हुए थे। ऊपर चढ़ने लगी, विस्मय, आनन्द और आशा से। उसे अपनी सुधि ही न थी। सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते पैर दुखने लगे। यह सारा महल उनका है। केराया बहुत देना पड़ता होगा। रुपये को तो वह कुछ समझते ही नहीं। उसका हृदय धड़क रहा था कि कहीं मँगरू ऊपर से उतरते आ न रहे हों। सीढ़ी पर भेंट हो गयी, तो मैं क्या करूँगी ? भगवान् करे वह पड़े सोते हों, तब मैं जगाऊँ और वह मुझे देखते ही हड़बड़ा कर उठ बैठें। आखिर सीढ़ियों का अन्त हुआ। ऊपर एक कमरे में गौरा को ले जाकर ब्राह्मण देवता ने बिठा दिया। यही मँगरू का डेरा था। मगर मँगरू यहाँ भी नदारद ! कोठरी में केवल एक खाट पड़ी हुई थी। एक किनारे दो-चार बरतन रखे हुए थे। यही उनकी कोठरी है। तो मकान किसी दूसरे का है, उन्होंने यह कोठरी केराये पर ली होगी। देखती हूँ, चूल्हा ठंडा पड़ा हुआ है। मालूम होता है, रात को बाजार में पूरियाँ खाकर सो रहे होंगे। यही उनके सोने की खाट है। एक किनारे घड़ा रखा हुआ था। गौरा का मारे प्यास के तालू सूख रहा था। घड़े से पानी उँड़ेल कर पिया। एक किनारे एक झाडू रखा था। गौरा रास्ते की थकी थी, पर प्रेमोल्लास में थकन कहाँ ? उसने कोठरी में झाडू लगाया, बरतनों को धो-धोकर एक जगह रखा। कोठरी की एक-एक वस्तु, यहाँ तक कि उसकी फर्श और दीवारों में उसे आत्मीयता की झलक दिखायी देती थी। उस घर में भी, जहाँ उसने अपने जीवन के पच्चीस वर्ष काटे थे, उसे अधिकार का ऐसा गौरव-युक्त आनन्द न प्राप्त हुआ था।

मगर उस कोठरी में बैठे-बैठे उसे सन्ध्या हो गयी और मँगरू का कहीं पता नहीं। अब छुट्टी मिली होगी। साँझ को सब जगह छुट्टी होती है। अब वह आ रहे होंगे। मगर बूढ़े बाबा ने उनसे कह तो दिया ही होगा, क्या वह अपने साहब से थोड़ी देर की छुट्टी न ले सकते थे ? कोई बात होगी, तभी तो नहीं आये।

अँधेरा हो गया। कोठरी में दीपक न था। गौरा द्वार पर खड़ी पति की बाट देख रही थी। जीने पर बहुत-से आदमियों के चढ़ने-उतरने की आहट मिलती थी, बार-बार गौरा को मालूम होता था कि वह आ रहे हैं, पर इधर कोई न आता था।

नौ बजे बूढ़े बाबा आये। गौरा ने समझा, मँगरू है। झपटकर कोठरी के बाहर निकल आयी। देखा तो ब्राह्मण ! बोली—वह कहाँ रह गये ?

बूढ़ा—उनकी तो यहाँ से बदली हो गयी। दफ्तर में गया था तो मालूम हआ कि वह कल अपने साहब के साथ यहाँ से कोई आठ दिन की राह पर चले गये। उन्होंने साहब से बहुत हाथ-पैर जोड़े कि मुझे दस दिन की मुहलत दे दीजिए, लेकिन साहब ने एक न मानी। मँगरू यहाँ लोगों से कह गये हैं कि घर के लोग आयें तो मेरे पास भेज देना। अपना पता दे गये हैं। कल मैं तुम्हें यहाँ से जहाज पर बैठा दूँगा। उस जहाज पर हमारे देश के और भी बहुत से आदमी होंगे; इसलिए मार्ग में कोई कष्ट न होगा।

गौरा ने पूछा—कै दिन में जहाज पहुँचेगा ?

बूढ़ा—आठ-दस दिन से कम न लगेंगे, मगर घबराने की कोई बात नहीं। तुम्हें किसी बात की तकलीफ न होगी।

6

अब तक गौरा को अपने गाँव लौटने की आशा थी। कभी-न-कभी वह अपने पति को वहाँ अवश्य खींच ले जायगी। लेकिन जहाज पर बैठकर उसे ऐसा मालूम हुआ कि अब फिर माता को न देखूँगी, फिर गाँव के दर्शन न होंगे, देश से सदा के लिए नाता टूट रहा है। वह देर तक घाट पर खड़ी रोती रही, जहाज और समुद्र देखकर उसे भय हो रहा था। हृदय दहल जाता था।

शाम को जहाज खुला। उस समय गौरा का हृदय एक अक्षय भय से चंचल हो उठा। थोड़ी देर के लिए नैराश्य ने उस पर अपना आतंक जमा लिया। न-जाने किस देश जा रही हूँ, उनसे वहाँ भेंट भी होगी या नहीं। उन्हें कहाँ खोजती फिरूँगी, कोई पता-ठिकाना भी तो नहीं मालूम। बार-बार पछताती थी कि एक दिन पहिले क्यों न चली आयी। कलकत्ते में भेंट हो जाती तो मैं उन्हें वहाँ कभी न जाने देती।

जहाज पर और भी कितने ही मुसाफिर थे, कुछ स्त्रियाँ भी थीं। उनमें बराबर गाली-गलौज होती रहती थी। इसलिए गौरा को उनसे बातें करने की इच्छा न होती थी। केवल एक स्त्री उदास दिखाई देती थी। रंग-ढंग से वह किसी भले घर की स्त्री मालूम होती थी। गौरा ने उससे पूछा—तुम कहाँ जाती हो बहन ?

उस स्त्री की बड़ी-बड़ी आँखें सजल हो गयीं। बोली, कहाँ बताऊँ बहन कहाँ जा रही हूँ। जहाँ भाग्य लिये जाता है, वहीं जा रही हूँ। तुम कहाँ जाती हो ?

गौरा—मैं तो अपने मालिक के पास जा रही हूँ। जहाँ यह जहाज रुकेगा वह वहीं नौकर हैं। मैं कल आ जाती तो उनसे कलकत्ते में ही भेंट हो जाती। आने में देर हो गयी। क्या जानती थी कि वह इतनी दूर चले जायँगे, नहीं तो क्यों देर करती !

स्त्री—अरे बहन, कहीं तुम्हें भी तो कोई बहकाकर नहीं लाया है ? तुम घर से किसके साथ आयी हो ?

गौरा—मेरे आदमी ने कलकत्ता से आदमी भेजकर मुझे बुलाया था।

स्त्री—वह आदमी तुम्हारी जान-पहचान का था ?

गौरा—नहीं, उसी तरफ का एक बूढ़ा ब्राह्मण था।

स्त्री—वही लम्बा-सा दुबला-पतला लकलक बूढ़ा, जिसकी एक आँख में फूली पड़ी हुई है।

गौरा—हाँ, हाँ वही। क्या तुम उसे जानती हो ?

स्त्री—उसी दुष्ट ने तो मेरा भी सर्वनाश किया। ईश्वर करे, उसकी सातों पुश्तें नरक भोगें, उसका निर्वंश हो जाय, कोई पानी देनेवाला भी न रहे, कोढ़ी होकर मरे। मैं अपना वृत्तान्त सुनाऊँ तो तुम समझोगी कि झूठ है। किसी को विश्वास न आयेगा। क्या कहूँ, बस यही समझ लो कि इसके कारन मैं न घर की रह गयी, न घाट की। किसी को मुँह नहीं दिखा सकती। मगर जान तो बड़ी प्यारी होती है। मिरिच के देश जा रही हूँ कि वहीं मेहनत-मजूरी करके जीवन के दिन काटूँ।

गौरा के प्राण नहों में समा गये। मालूम हुआ जहाज अथाह जल में डूबा जा रहा है। समझ गयी कि बूढ़े ब्राह्मण ने दगा की। अपने गाँव में सुना करती थी कि गरीब लोग मिरिच में भरती होने के लिए जाया करते हैं। मगर जो वहाँ जाता है, वह फिर नही लौटता। हा भगवान्, तुमने मुझे किस पाप का दण्ड दिया ? बोली—यह सब क्यों लोगों को इस तरह छलकर मिरिच भेजते हैं ?

स्त्री—रुपये के लोभ से और किसलिए ? सुनती हूँ, आदमी पीछे इन सभों को कुछ रुपये मिलते हैं।

गौरा—तो बहन वहाँ हमें क्या करना पड़ेगा ?

स्त्री—मजूरी।

गौरा सोचने लगी—अब क्या करूँ। वह आशा-नौका जिस पर बैठी हुई वह चली जा रही थी, टूट गयी थी और अब समुद्र की लहरों के सिवा उसकी रक्षा करने वाला कोई न था। जिस आधार पर उसने अपना जीवन भवन बनाया था, वह जलमग्न हो गया। अब उसके लिए जल के सिवा और कहाँ आश्रय है ? उसको अपनी माता की, अपने घर की, अपने गाँव की, सहेलियों की याद आयी और ऐसी घोर मर्म वेदना होने लगी, मानो कोई सर्प अन्तस्तल में बैठा हुआ, बार-बार डस रहा हो। भगवान् ! अगर मुझे यही यातना देनी थी तो तुमने मुझे जन्म ही क्यों दिया था ? तुम्हें दुखिया पर दया नहीं आती ? जो पिसे हुए हैं उन्हीं को पीसते हो ! करुण स्वर से बोली—तो अब क्या करना होगा बहन ?

स्त्री—यह तो वहाँ पहुँच कर मालूम होगा। अगर मजूरी ही करनी पड़े तो कोई बात नहीं, लेकिन अगर किसी ने कुदृष्टि से देखा तो मैंने निश्चय कर लिया है कि या तो उसी के प्राण ले लूँगी या अपने प्राण दे दूँगी।

यह कहते-कहते उसे अपना वृतान्त सुनाने की वह उत्कट इच्छा हुई, जो दुखियों को हुआ करती है। बोली—मैं बड़े घर की बेटी और उससे भी बड़े घर की बहू हूँ, पर अभागिनी ! विवाह के तीसरे ही साल पतिदेव का देहान्त हो गया। चित्त की कुछ ऐसी दशा हो गयी कि नित्य मालूम होता कि वह मुझे बुला रहे हैं। पहले तो आँख झपकते ही उनकी मूर्ति सामने आ जाती थी, लेकिन फिर तो यह दशा हो गयी कि जाग्रत दशा में भी रह-रहकर उनके दर्शन होने लगे। बस यही जान पड़ता था कि वह साक्षात् खड़े बुला रहे हैं। किसी से शर्म के मारे कहती न थी, पर मन में यह शंका होती थी कि जब उनका देहावसान हो गया तो वह मुझे दिखाई कैसे देते हैं ? मैं इसे भ्रान्ति समझकर चित्त को शान्त न कर

सकती ? मन कहता था, जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखायी देती है, वह मिल क्यों नहीं सकती ? केवल वह ज्ञान चाहिए। साधु-महात्माओं के सिवा ज्ञान और कौन दे सकता है ? मेरा तो अब भी विश्वास है कि अभी ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनसे हम मरे हुए प्राणियों से बातचीत कर सकते हैं, उनको स्थूल रूप में देख सकते हैं। महात्माओं की खोज में रहने लगी। मेरे यहाँ अक्सर साधु-सन्त जाते थे, उनसे एकान्त में इस विषय में बातें किया करती थी, पर वे लोग सदुपदेश देकर मुझे टाल देते थे। मुझे सदुपदेशों की जरूरत न थी। मैं वैधव्य-धर्म खूब जानती थी। मैं तो वह ज्ञान चाहती थी जो जीवन और मरण के बीच का परदा उठा दे। तीन साल तक मैं इसी खेल में लगी रही। दो महीने होते हैं, वही बूढ़ा ब्राह्मण संन्यासी बना हुआ मेरे यहाँ जा पहुँचा। मैंने इससे वही भिक्षा माँगी। इस धूर्त ने कुछ ऐसा मायाजाल फैलाया कि मैं आँखें रहते हुए भी फँस गयी। अब सोचती हूँ तो अपने ऊपर आश्चर्य होता है कि मुझे उसकी बातों पर इतना विश्वास क्यों हुआ ? मैं पति-दर्शन के लिए सब कुछ झेलने को, सब कुछ करने को तैयार थी। इसने मुझे रात को अपने पास बुलाया। मैं घरवालों से पड़ोसिन के घर जाने का बहाना करके इसके पास गयी। एक पीपल से इसकी धूई जल रही थी। उस विमल चाँदनी में यह जटाधारी ज्ञानी और योग का देवता-सा मालूम होता था। मैं आकर धूई के पास खड़ी हो गयी। उस समय यदि बाबाजी मुझे आग में कूद पड़ने की आज्ञा देते, तो मैं तुरन्त कूद पड़ती। इसने मुझे बड़े प्रेम से बैठाया और मेरे सिर पर हाथ रखकर न जाने क्या कर दिया कि मैं बेसुध हो गयी। फिर मुझे कुछ नहीं मालूम कि मैं कहाँ गयी, क्या हुआ। जब मुझे होश आया तो मैं रेल पर सवार थी। जी में आया कि चिल्लाऊँ, पर यह सोचकर कि अब गाड़ी रुक भी गयी और मैं उतर भी पड़ी तो घर में घुसने न पाऊँगी, मैं चुपचाप बैठी रह गई। मैं परमात्मा की दृष्टि में निर्दोष थी, पर संसार की दृष्टि में कलंकित हो चुकी थी। रात को किसी युवती का घर से निकल जाना कलंकित करने के लिए काफी था। जब मुझे मालूम हो गया कि सब मुझे मिर्च टापू में भेज रहे हैं तो मैंने जरा भी आपत्ति नहीं की। मेरे लिये अब सारा संसार एक-सा है। जिसका संसार में कोई न हो, उसके लिए देश-परदेश दोनों बराबर हैं। हाँ, यह पक्का निश्चय कर चुकी हूँ कि मरते दम तक अपने सत की रक्षा करूँगी। विधि के हाथ में मृत्यु से बढ़कर कोई यातना नहीं। विधवा के लिए मृत्यु का क्या भय। उसका तो जीना और मरना दोनों बराबर है। बल्कि मर जाने से जीवन की विपत्तियों का तो अन्त हो जायगा।

गौरा ने सोचा—इस स्त्री में कितना धैर्य और साहस है। फिर मैं क्यों इतनी कातर और निराश हो रही हूँ ? जब जीवन की अभिलाषाओं का अन्त हो गया तो जीवन के अन्त का क्या डर ! बोली—बहन, हम और तुम एक जगह रहेंगी। मुझे तो अब तुम्हारा ही भरोसा है।

स्त्री ने कहा—भगवान् का भरोसा रखो और मरने से मत डरो।

सघन अन्धकार छाया हुआ था। ऊपर काला आकाश था, नीचे काला जल। गौरा आकाश की ओर ताक रही थी। उसकी संगिनी जल की ओर। उसके सामने आकाश के कुसुम थे, इसके चारों ओर अनन्त, अखण्ड, अपार अन्धकार था !

जहाज से उतरते ही एक आदमी ने यात्रियों के नाम लिखने शुरू किये। इसका पहनावा तो अँग्रेजी था, पर बातचीत से हिन्दुस्तानी मालूम होता था। गौरा सिर झुकाये

अपनी संगिनी के पीछे खड़ी थी। उस आदमी की आवाज सुनकर वह चौंक पड़ी। उसने दबी आँखों से उसकी ओर देखा। उसके समस्त शरीर में सनसनी दौड़ गयी। क्या स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ। आँखों पर विश्वास न आया; फिर उस पर निगाह डाली। उसकी छाती वेग से धड़कने लगी। पैर थर-थर काँपने लगे। ऐसा मालूम होने लगा, मानो चारों ओर जल-ही-जल है और उसमें बही जा रही हूँ। उसने अपनी संगिनी का हाथ पकड़ लिया, नहीं तो जमीन में गिर पड़ती। उसके सम्मुख वही पुरुष खड़ा था, जो उसका प्राणाधार था और जिससे इस जीवन में भेंट होने की उसे लेशमात्र भी आशा न थी। यह मँगरू था, इसमें जरा भी सन्देह न था। हाँ उसकी सूरत बदल गयी थी। यौवन-काल की वह कान्तिमय सहास, सदय छवि, नाम को भी न थी। बाल खिचड़ी हो गये थे, गाल पिचके हुए, लाल आँखों से कुवासना और कठोरता झलक रही थी। पर था वह मँगरू। गौरा के जी में प्रबल इच्छा हुई कि स्वामी के पैरों से लिपट जाऊँ। चिल्लाने का जी चाहा, पर संकोच ने मन को रोका। बूढ़े ब्राह्मण ने बहुत ठीक कहा था। स्वामी ने अवश्य मुझे बुलाया था और आने से पहले यहाँ चले आये। उसने अपनी संगिनी के कान में कहा—बहन, तुम उस ब्राह्मण को व्यर्थ ही बुरा कह रही थीं। यही तो वह हैं जो यात्रियों के नाम लिख रहे हैं।

स्त्री—सच, खूब पहचानती हो ?

गौरा—बहन, क्या इसमें भी धोखा हो सकता है ?

स्त्री—तब तो तुम्हारे भाग जग गये, मेरी भी सुधि लेना।

गौरा—भला, बहन ऐसा भी हो सकता है कि यहाँ तुम्हें छोड़ दूँ।

मँगरू यात्रियों से बात-बात पर बिगड़ता था, बात-बात पर गालियाँ देता था, कई आदमियों को ठोकर मारे और कई को केवल अपने गाँव का जिला न बता सकने के कारण धक्का देकर गिरा दिया। गौरा मन-ही-मन गड़ी जाती थी। साथ ही अपने स्वामी के अधिकार पर उसे गर्व भी हो रहा था। आखिर मँगरू उसके सामने आकर खड़ा हो गया और कुचेष्टा-पूर्ण नेत्रों से देखकर बोला—तुम्हारा क्या नाम है ?

गौरा ने कहा—गौरा।

मँगरू चौंक पड़ा, फिर बोला—घर कहाँ है ?

गौरा ने कहा—मदनपुर; जिला बनारस।

यह कहते-कहते उसे हँसी आ गयी। मँगरू ने अबकी उसकी ओर ध्यान से देखा, तब लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और बोला—गौरा ! तुम यहाँ कहाँ ? मुझे पहचानती हो ?

गौरा रो रही थी, मुँह से बात न निकली।

मँगरू फिर बोला—तुम यहाँ कैसे आयीं ?

गौरा खड़ी हो गयी, आँसू पोंछ डाले और मँगरू की ओर देखकर बोली—तुम्हीं ने तो बुला भेजा था।

मँगरू—मैंने ! मैं तो सात साल से यहाँ हूँ।

गौरा—तुमने उस बूढ़े ब्राह्मण से मुझे लाने को नहीं कहा था ?

मँगरू—कह तो रहा हूँ, मैं सात साल से यहाँ हूँ और मरने पर ही यहाँ से जाऊँगा। भला, तुम्हें क्यों बुलाता।

गौरा को मँगरू से इस निष्ठुरता की आशा न थी। उसने सोचा, अगर यह सत्य भी हो कि इन्होंने मुझे नहीं बुलाया, तो भी इन्हें मेरा यों अपमान न करना चाहिए था। क्या वह समझते हैं कि मैं इनकी रोटियों पर आयी हूँ ? यह तो इतने ओछे स्वभाव के न थे। शायद दरजा पाकर इन्हें मद हो गया है। नारिसुलभ अभिमान से गरदन उठाकर उसने कहा—तुम्हारी इच्छा हो तो अब से लौट जाऊँ, तुम्हारे ऊपर भार बनना नहीं चाहती ?

मँगरू कुछ लज्जित होकर बोला—अब तुम यहाँ से लौट नहीं सकतीं, गौरा ? यहाँ आकर बिरला ही कोई लौटता है।

यह कहकर वह कुछ देर चिन्ता में मग्न खड़ा रहा, मानो संकट में पड़ा हुआ हो कि क्या करना चाहिए। उसकी कठोर मुखाकृति पर दीनता का रंग झलक पड़ा। तब कातर स्वर से बोला—जब आ ही गयी हो तो रहो। जैसी कुछ पड़ेगी, देखी जायगी।

गौरा—जहाज फिर कब लौटेगा ?

मँगरू—तुम यहाँ से पाँच बरस के पहले नहीं जा सकतीं।

गौरा—क्यों, क्या कुछ जबरदस्ती है ?

मँगरू—हाँ, यहाँ का यही हुक्म है।

गौरा—तो फिर मैं अलग मजूरी करके अपना पेट पालूँगी।

मँगरू ने सजल-नेत्र होकर कहा—जब तक मैं जीता हूँ, तुम मुझसे अलग नहीं रह सकतीं।

गौरा—तुम्हारे ऊपर भार बनकर न रहूँगी।

मँगरू—मैं तुम्हें भार नहीं समझता गौरा, लेकिन यह जगह तुम-जैसी देवियों के रहने लायक नहीं है, नहीं तो अब तक मैंने तुम्हें कब का बुला लिया होता। वही बूढ़ा आदमी जिसने तुम्हें बहकाया, मुझे घर से आते समय पटने में मिल गया और झाँसे देकर मुझे यहाँ भरती कर दिया। तब से यहीं पड़ा हुआ हूँ। चलो, मेरे घर में रहो; वहाँ बातें होंगी। यह दूसरी औरत कौन है ?

गौरा—यह मेरी सखी हैं। इन्हें भी बूढ़ा बहका लाया है।

मँगरू—यह तो किसी कोठी में जायँगी ? इन सब आदमियों की बाँट होगी। जिसके हिस्से में जितने आदमी आयेंगे, उतने हर एक कोठी में भेजे जायँगे।

गौरा—यह तो मेरे साथ रहना चाहती हैं।

मँगरू—अच्छी बात है, इन्हें भी लेती चलो।

यात्रियों के नाम तो लिखे ही जा चुके थे, मँगरू ने उन्हें एक चपरासी को सौंपकर दोनों औरतों के साथ घर की राह ली। दोनों ओर सघन वृक्षों की कतारें थीं। जहाँ तक निगाह जाती थी, ऊख ही ऊख दिखायी देती थी। समुद्र की ओर से शीतल, निर्मल वायु के झोंके आ रहे थे। अत्यन्त सुरम्य दृश्य था। पर मँगरू की निगाह उस ओर न थी। वह भूमि की ओर ताकता, सिर झुकाये, सन्दिग्ध चाल से चला जा रहा था, मानो मन-ही-मन समस्या हल कर रहा था।

थोड़ी ही दूर गये थे कि सामने से दो आदमी आते हुए दिखायी दिये। समीप आकर दोनों रुक गये और एक ने हँसकर कहा—मँगरू, इनमें से एक हमारी है।

दूसरा बोला—और दूसरी मेरी।

मँगरू का चेहरा तमतमा उठा था। भीषण क्रोध से काँपता हुआ बोला—यह दोनों मेरे घर की औरतें हैं। समझ गये ?

इन दोनों ने जोर से कहकहा मारा और एक ने गौरा के समीप आकर उसका हाथ पकड़ने की चेष्टा करके कहा—यह मेरी है। चाहे तुम्हारे घर की हो, चाहे बाहर की। बचा, हमें चकमा देते हो।

मँगरू—कासिम, इन्हें मत छेड़ो, नहीं तो अच्छा न होगा। मैंने कह दिया, मेरे घर की औरतें हैं।

मँगरू की आँखों से अग्नि की ज्वाला-सी निकल रही थी। वह दोनों उसके मुख का भाव देखकर कुछ सहम गये और समझ लेने की धमकी देकर आगे बढ़े। किन्तु मँगरू के अधिकार-क्षेत्र से बाहर पहुँचते ही एक ने पीछे से ललकार कर कहा—देखें कहाँ ले के जाते हो ?

मँगरू ने उधर ध्यान नहीं दिया। जरा कदम बढ़ाकर चलने लगा, जैसे संध्या के एकान्त में हम कब्रिस्तान के पास से गुजरते हैं, हमें पग-पग पर यह शंका होती है कि कोई शब्द कान में न पड़ जाय, कोई सामने आकर खड़ा न हो जाय, कोई जमीन के नीचे से कफन ओढ़े उठ न खड़ा हो।

गौरा ने कहा—ये दोनों बड़े शोहदे थे।

मँगरू—और मैं किसलिए कह रहा था कि यह जगह तुम-जैसी स्त्रियों के रहने लायक नहीं है।

सहसा दाहिनी तरफ से एक अंग्रेज घोड़ा दौड़ाता हुआ आ पहुँचा और मँगरू से बोला—वेल जमादार, ये दोनों औरतें हमारी कोठी में रहेगा। हमारे कोठी में कोई औरत नहीं है।

मँगरू ने दोनों औरतों को अपने पीछे कर लिया और सामने खड़ा होकर बोला—साहब, ये दोनों हमारे घर की औरतें हैं।

साहब—ओ हो ! तुम झूठा आदमी। हमारे कोठी में कोई औरत नहीं और तुम दो ले जायगा। ऐसा नहीं हो सकता। (गौरा की ओर इशारा करके) इसको हमारे कोठी पर पहुँचा दो।

मँगरू ने सिर से पैर तक काँपते हुए कहा—ऐसा नहीं हो सकता।

मगर साहब आगे बढ़ गया था, उसके कान में बात न पहुँची। उसने हुक्म दे दिया था और उसकी तामील करना जमादार का काम था।

शेष मार्ग निर्विघ्न समाप्त हुआ। आगे मजूरों के रहने के मिट्टी के घर थे। द्वारों पर स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ बैठे हुए थे। सभी इन दोनों स्त्रियों की ओर घूरते थे और आपस में इशारे करते हँसते थे। गौरा ने देखा, उनमें, छोटे-बड़े का लिहाज नहीं है, न किसी के आँखों में शर्म है।

एक भदेसल औरत ने हाथ पर चिलम पीते हुए अपनी पड़ोसिन से कहा—चार दिन की चाँदनी, फिर अँधेरा पाख !

दूसरी अपनी चोटी गूँथती हुई बोली—कलोर हैं न।

7

मँगरू दिन-भर द्वार पर बैठा रहा, मानो कोई किसान अपने मटर के खेत की रखवाली कर रहा हो। कोठरी में दोनों स्त्रियाँ बैठी अपने नसीबों को रो रही थीं। इतनी देर में दोनों को यहाँ की दशा का परिचय कराया गया था। दोनों भूखी-प्यासी बैठी थीं। यहाँ का रंग देखकर भूख-प्यास सब भाग गयी थी।

रात के दस बजे होंगे कि एक सिपाही ने आकर मँगरू से कहा चलो, तुम्हें जण्ट साहब बुला रहे हैं।

मँगरू ने बैठे-बैठे कहा—देखो नब्बी, तुम भी हमारे देश के आदमी हो। कोई मौका पड़े, तो हमारी मदद करोगे न ? जाकर साहब से कह दो, मँगरू कहीं गया है, बहुत होगा जुरबाना कर देंगे।

नब्बी—न भैया, गुस्से में भरा बैठा है, पिये हुए है, कहीं मार चले, तो बस, चमड़ा इतना मजबूत नहीं है।

मँगरू—अच्छा तो जाकर कह दो, नहीं आता।

नब्बी—मुझे क्या, जाकर कह दूँगा, पर तुम्हारी खैरियत नहीं है।

मँगरू ने जरा देर सोचकर लकड़ी उठायी और नब्बी के साथ साहब के बँगले पर चला। यह वही साहब थे, जिनसे आज मँगरू से भेंट हुई थी। मँगरू जानता था कि साहब से बिगाड़ करके यहाँ एक क्षण भी निर्वाह नहीं हो सकता। जाकर साहब के सामने खड़ा हो गया। साहब ने दूर से ही डाँटा, वह औरत कहाँ है ? तुमने उसे अपने घर में क्यों रखा है ?

मँगरू—हजूर, वह मेरी ब्याहता औरत है।

साहब—अच्छा, वह दूसरी कौन है ?

मँगरू—वह मेरी सगी बहन है हजूर !

साहब—हम कुछ नहीं जानता। तुमको लाना पड़ेगा। दो में से कोई, दो में से कोई।

मँगरू पैरों पर गिर पड़ा और रो-रोकर अपनी सारी गमकहानी सुना गया। पर साहब जरा भी न पसीजे ! अन्त में वह बोला—हजूर, वह दूसरी औरतों की तरह नहीं हैं। अगर यहाँ आ भी गयीं, तो प्राण दे देंगी।

साहब ने हँसकर कहा—ओ ! जान देना इतना आसान नहीं है !

नब्बी—मँगरू अपनी दाँव रोते क्यों हो ? तुम हमारे घर नहीं घुसे थे ! अब भी जब घात पाते हो, जा पहुँचते हो। अब क्यों रोते हो ?

एजेण्ट—ओ, यह बदमाश है। अभी जाकर लाओ, नहीं तो हम तुमको हण्टरों से पीटेगा।

मँगरू—हजूर जितना चाहे पीट लें, मगर मुझसे यह काम करने को न कहें, जो मैं जीते-जी नहीं कर सकता !

एजेण्ट—हम एक सौ हण्टर मारेगा।

मँगरू—हुजूर एक हजार हण्टर मार लें, लेकिन मेरे घर की औरतों से न बोलें।

एजेण्ट नशे में चूर था। हण्टर लेकर मँगरू पर पिल पड़ा और लगा सड़ासड़ जमाने। दस-बारह कोड़े मँगरू ने धैर्य के साथ सहे, फिर हाय-हाय करने लगा। देह की खाल फट

गयी थी और मांस पर चाबुक पड़ता था, तो बहुत जब्त करने पर भी कण्ठ से आर्त्त-ध्वनि निकल आती थी और अभी एक सौ में कुल पन्द्रह चाबुक पड़े थे।

रात के दस बज गये थे। चारों ओर सन्नाटा छाया था और उस नीरव अंधकार में मँगरू का करुण-विलाप किसी पक्षी की भाँति आकाश में मँडला रहा था। वृक्षों के समूह भी हतबुद्धि-से खड़े मौन रोदन की मूर्ति बने हुए थे। यह पाषाणहृदय लम्पट, विवेक शून्य जमादार इस समय एक अपरिचित स्त्री के सतीत्व की रक्षा करने के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार था, केवल इस नाते कि यह उसकी पत्नी की संगिनी थी। वह समस्त संसार की नजरों में गिरना गँवारा कर सकता था, पर अपनी पत्नी की भक्ति पर अखंड राज्य करना चाहता था। इसमें अणुमात्र की कमी भी उसके लिए असह्य थी। उस अलौकिक भक्ति के सामने उसके जीवन का क्या मूल्य था ?

ब्राह्मणी तो जमीन पर ही सो गयी थी, पर गौरा बैठी पति की बाट जोह रही थी। अभी तक वह उससे कोई बात न कह सकी थी। सात वर्षों की विपत्ति-कथा कहने और सुनने के लिए बहुत समय की जरूरत थी और रात के सिवा वह समय फिर कब मिल सकता था। उसे ब्राह्मणी पर कुछ क्रोध-सा आ रहा था कि यह क्यों मेरे गले का हार हुई। इसी के कारण तो वह घर में नहीं आ रहे हैं।

यकायक वह किसी का रोना सुनकर चौंक पड़ी। भगवान्, इतनी रात गये कौन दुःख का मारा रो रहा है। अवश्य कोई कहीं मर गया है। वह उठकर द्वार पर आयी और यह अनुमान करके कि मँगरू यहाँ बैठा हुआ है, बोली—वह कौन रो रहा है ! जरा देखो तो।

लेकिन जब कोई जवाब न मिला, तो वह स्वयं कान लगाकर सुनने लगी। सहसा उसका कलेजा धक् से हो गया। तो यह उन्हीं की आवाज है। अब आवाज साफ सुनायी दे रही थी। मँगरू की आवाज थी। वह द्वार के बाहर निकल आयी। उसके सामने एक गोली के टप्पे पर एजेन्ट का बँगला था। उसी तरफ से आवाज आ रही थी। कोई उन्हें मार रहा है। आदमी मार पड़ने ही पर इस तरह रोता है। मालूम होता है, वही साहब उन्हें मार रहा है। वह वहाँ खड़ी न रह सकी, पूरी शक्ति से उस बँगले की ओर दौड़ी, रास्ता साफ था। एक क्षण में वह फाटक पर पहुँच गयी। फाटक बन्द था। उसने जोर से फाटक पर धक्का दिया, लेकिन वह फाटक न खुला और कई बार जोर-जोर से पुकारने पर भी कोई बाहर न निकला, तो वह फाटक के जँगलों पर पैर रखकर भीतर कूद पड़ी और उस पार जाते ही उसने एक रोमांचकारी दृश्य देखा। मँगरू नंगे बदन बरामदे में खड़ा था और एक अँग्रेज उसे हन्टरों से मार रहा था। गौरा की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह एक छलाँग में साहब के सामने जाकर खड़ी हो गयी और मँगरू को अपने अक्षय-प्रेम-सबल हाथों से ढाँककर बोली—सरकार, दया करो, इनके बदले मुझे जितना चाहो मार लो; पर इनको छोड़ दो।

एजेन्ट ने हाथ रोक लिया और उन्मत्त की भाँति गौरा की ओर कई कदम आकर बोला—हम इसको छोड़ दें, तो तुम मेरे पास रहेगा।

मँगरू के नथने फड़कने लगे। यह पामर, नीच, अँग्रेज मेरी पत्नी से इस तरह की बातें कर रहा है। अब तक वह जिस अमूल्य रत्न की रक्षा के लिए इतनी यातनाएँ सह रहा

था, वही वस्तु साहब के हाथ में चली जा रही है, यह असह्य था। उसने चाहा कि लपककर साहब की गरदन पर चढ़ बैठूँ, जो कुछ होना है, हो जाय। यह अपमान सहने के बाद जीकर ही क्या करूँगा ! लेकिन नब्बी ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और कई आदमियों को बुलाकर उसके हाथ-पाँव बाँध दिये। मँगरू भूमि पर छटपटाने लगा!!

गौरा रोती हुई साहब के पैरों पर गिर पड़ी और बोली—हजूर, इन्हें छोड़ दें, मुझ पर दया करें।

एजेन्ट—तुम हमारे पास रहेगा।

गौरा ने खून का घूँट पीकर कहा—हाँ, रहूँगी।

8

बाहर मँगरू बरामदे में पड़ा कराह रहा था। उसकी देह में सूजन थी और घावों में जलन, सारे अंग जकड़ गये थे। हिलने की भी शक्ति न थी। हवा घावों में शर के समान चुभती थी, लेकिन यह व्यथा वह सह सकता था। असह्य यह था कि साहब गौरा के साथ इसी घर में विहार कर रहा है और मैं कुछ नहीं कर सकता। उसे अपनी पीड़ा भूल-सी गयी थी, कान लगाये सुन रहा था कि उनकी बातों की भनक कान में पड़ जाय, तो देखूँ क्या बातें हो रही हैं। गौरा अवश्य चिल्लाकर भागेगी और साहब उसके पीछे दौड़ेगा। अगर मुझसे उठा जाता, तो उस वक्त बचा को खोदकर गाड़ ही देता। लेकिन बड़ी देर हो गयी, न तो गौरा चिल्लायी, न बँगले से निकलकर भागी ! वह उस सजे-सजाये कमरे में साहब के साथ बैठी सोच रही थी—क्या इसमें तनिक भी दया नहीं है ? मँगरू का पीड़ा-क्रन्दन सुन-सुनकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। क्या इसके अपने भाईबन्द, माँ-बहन नहीं हैं ? माता यहाँ होती, तो उसे इतना अत्याचार न करने देती। मेरी अम्माँ लड़कों पर कितना बिगड़ती थीं, जब वह किसी को पेड़ पर ढेले चलाते देखती थीं। पेड़ में भी प्राण होते हैं। क्या इसकी माता इसे एक आदमी के प्राण लेते देखकर भी इसे मना न करती ! साहब शराब पी रहा था और गौरा गोश्त काटने का छुरा हाथ में लिए खेल रही थी।

सहसा गौरा की निगाह एक चित्र की ओर गयी। उसमें एक माता बैठी हुई थी। गौरा ने पूछा—साहब यह किसकी तसवीर है। साहब ने शराब का गिलास मेज पर रखकर कहा—ओ, वह हमारे खुदा की माँ मरियम है।

गौरा—बड़ी अच्छी तसवीर है ! क्यों साहब, तुम्हारी माँ जीती हैं न !

साहब—वह मर गया। जब हम यहाँ आया, तो वह बीमार हो गया। हम उसको देख भी नहीं सका।

साहब के मुख-मण्डल पर करुणा की झलक दिखायी दी।

गौरा बोली—तब तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ होगा। तुम्हें अपनी माता का प्यार नहीं था। वह रो-रोकर मर गयी और तुम देखने भी न गये ! तभी तुम्हारा दिल कड़ा है।

साहब—नहीं, नहीं, हम अपनी माता को बहुत चाहता था। वैसी औरत दुनिया में न होगी। हमारा बाप हमको बहुत छोटा-सा छोड़कर मर गया था। माता ने कोयले की खान में मजूरी करके हमको पाला।

गौरा—तब तो वह देवी थी। इतनी गरीबी का दुःख सहकर भी तुम्हें दूसरे पर तरस

नहीं आता ! क्या वह दया की देवी तुम्हारी बेदरदी देखकर दुखी न होती होंगी, उनकी कोई तसवीर तुम्हारे पास है ?

साहब—ओ, हमारे पास उनके कई फोटो हैं। देखो, वह उन्हीं की तसवीर है, वह दीवाल पर।

गौरा ने समीप जाकर तसवीर देखी और करुण स्वर में बोली—सचमुच देवी थीं, जान पड़ता है, दया की देवी हैं। वह तुम्हें कभी मारती थीं कि नहीं ? मैं तो जानती हूँ, वह कभी किसी पर न बिगड़ती रही होंगी। बिलकुल दया की मूर्ति हैं।

साहब—ओ, मामा हमको कभी नहीं मारता था। वह बहुत गरीब था, पर अपने कमाई में कुछ-न-कुछ जरूर खैरात करता था। किसी बे-बाप के बालक को देखकर उसकी आँखों में आँसू भर आता था। वह बहुत ही दयावान था।

गौरा ने तिरस्कार के स्वर में कहा—और उसी देवी के पुत्र होकर तुम इतने निर्दयी हो! क्या वह होतीं तो तुम्हें किसी को इस तरह हत्यारों की भाँति मारने देतीं ? वह सरग में रो रही होंगी। सरग-नरक तो तुम्हारे यहाँ भी होगा। ऐसी देवी के पुत्र कैसे हो गये ?

गौरा को ये बातें कहते हुए जरा भी भय न होता था। उसने अपने मन में एक दृढ़ संकल्प कर लिया था और अब उसे किसी प्रकार का भय न था। जान से हाथ धो लेने का निश्चय कर लेने के बाद भय की छाया भी नहीं रह जाती। किन्तु वह हृदय-शून्य अंग्रेज इन तिरस्कारों पर आग हो जाने के बदले और भी नम्र होता जाता था। गौरा मानवी भावों से कितनी ही अनभिज्ञ हो, पर इतना जानती थी कि अपनी जननी के लिए प्रत्येक हृदय में, चाहे वह साधु का हो या कसाई का, आदर और प्रेम का एक कोना सुरक्षित रहता है। ऐसा भी कोई अभागा प्राणी है, जिसे मातृ-स्नेह की स्मृति थोड़ी देर के लिए रुला न देती हो, उसके हृदय के कोमल भाव को जगा न देती हो ?

साहब की आँखें डबडबा गयी थीं। सिर झुकाये बैठा रहा। गौरा ने फिर उसी ध्वनि में कहा—तुमने उनकी सारी तपस्या धूल से मिला दी। जिस देवी ने मर-मरकर तुम्हारा पालन किया, उसी को मरने के पीछे तुम इतना कष्ट दे रहे हो ? क्या इसीलिए माता अपने पुत्र को अपना रक्त पिला-पिला कर पालती है ? अगर वह बोल सकतीं तो क्या चुप बैठी रहतीं; तुम्हारे हाथ पकड़ सकतीं तो न पकड़तीं ? मैं तो समझती हूँ, वह जीती होतीं तो इस वक्त विष खाकर मर जातीं।

साहब अब जब्त न कर सके। नशे में क्रोध की भाँति ग्लानि का वेग सहज ही में उठ आता है। दोनों हाथों से मुँह छिपाकर साहब ने रोना शुरू किया और इतना रोया कि हिचकी बँध गयी। माता के चित्र के सम्मुख जाकर वह कुछ देर तक खड़ा रहा, मानो माता से क्षमा माँग रहा हो। तब आकर आर्द्र-कण्ठ से बोला—हमारे माता को अब कैसे शान्ति मिलेगा ! हाय-हाय ! हमारे सबब से उसको स्वर्ग में भी सुख नहीं मिला। हम कितना अभागा है !

गौरा—अभी जरा देर में तुम्हारा मत बदल जायगा और तुम फिर दूसरों पर अत्याचार करने लगोगे।

साहब—नईं, नईं, अब हम मामा को कभी दुःख नहीं देगा ? हम अभी मँगरू को अस्पताल भेजता है।

9

रात ही को मँगरू अस्पताल पहुँचा दिया गया। एजेन्ट खुद उसको पहुँचाने आया। गौरा भी उसके साथ थी। मँगरू को ज्वर हो आया था, बेहोश पड़ा हुआ था।

मँगरू ने तीन दिन आँखें न खोलीं और गौरा तीनों दिन उसके पास बैठी रही। एक क्षण के लिए भी वहाँ से न हटी। एजेन्ट भी कई बार हाल-चाल पूछने आ जाता और हर मरतबा गौरा से क्षमा माँगता।

चौथे दिन मँगरू ने आँखें खोलीं, तो देखा गौरा सामने बैठी हुई है। गौरा उसे आँखें खोलते देखकर पास आ खड़ी हुई और बोली—अब कैसा जी है ?

मँगरू ने कहा—तुम यहाँ कब आयी ?

गौरा—मैं तो तुम्हारे साथ ही यहाँ आयी थी, तब से यहीं हूँ।

मँगरू—साहब के बँगले में क्या जगह नहीं है ?

गौरा—अगर बँगले की चाह होती, तो सात समुद्र-पार तुम्हारे पास क्यों आती ?

मँगरू—आकर कौन-सा सुख दे दिया है ? तुम्हें यही करना था, तो मुझे मर क्यों न जाने दिया ?

गौरा ने झुँझला कर कहा—तुम इस तरह की बातें मुझसे न करो। ऐसी बातों से मेरी देह में आग लग जाती है !

मँगरू ने मुँह फेर लिया, मानों उसे गौरा की बात पर विश्वास नहीं आया।

दिन-भर गौरा मँगरू के पास बे दाना-पानी खड़ी रही। गौरा ने कई बार उसे बुलाया, लेकिन वह चुप्पी साधे रह गया। यह संदेह-युक्त निरादर. कोमल हृदय गौरा के लिए असह्य था। जिस पुरुष को वह देव-तुल्य समझती थी, उसके प्रेम से वंचित होकर वह कैसे जीवित रह सकती थी ? यही प्रेम उसके जीवन का आधार था। उसे खोकर अब वह अपना सर्वस्व खो चुकी थी।

आधीरात से अधिक बीत चुकी थी। मँगरू बेखबर सोया हुआ था। शायद वह कोई स्वप्न देख रहा था। गौरा ने उसके चरणों पर सिर रखा और अस्पताल से निकली। मँगरू ने उसका परित्याग कर दिया था। वह भी उसका परित्याग करने जा रही थी।

अस्पताल के पूर्व दिशा में एक फर्लांग पर एक छोटी-सी नदी बहती थी। गौरा उसके कगार पर खड़ी हो गयी। अभी कई दिन पहले वह अपने गाँव में आराम-से पड़ी हुई थी। उसे क्या मालूम था कि जो वस्तु इतनी मुश्किल से मिल सकती है, वह इतनी आसानी से खोयी भी जा सकती है। उसे अपनी माँ की, अपने घर की, अपने सहेलियों की, अपने बकरी के बच्चों की याद आयी। वह सब कुछ छोड़कर इसीलिए यहाँ आयी थी ? पति के ये शब्द—'क्या साहब के बँगले में जगह नहीं है' उसके मर्मस्थान में वाणों के समान चुभे हुए थे। यह सब मेरे ही कारण तो हुआ ? मैं न रहूँगी, तो वह फिर आराम से रहेंगे। सहसा उसे ब्राह्मणी की याद आ गयी। उस दुखिया के दिन यहाँ कैसे कटेंगे। चलकर साहब से कह दूँ कि उसे या तो उसके घर भेज दें या किसी पाठशाला में काम दिला दें।

वह लौटाना ही चाहती थी कि किसी ने पुकारा—गौरा ! गौरा !!

यह मँगरू का करुण-कम्पित स्वर था। वह चुपचाप खड़ी हो गयी। मँगरू ने फिर पुकारा—

गौरा ! गौरा ! तुम कहाँ ? मैं ईश्वर से कहता हूँ कि...

गौरा ने और कुछ न सुना। वह धम-से नदी में कूद पड़ी। बिना अपने जीवन का अन्त किये वह स्वामी की विपत्ति का अन्त न कर सकती थी।

धमाके की आवाज सुनते ही मँगरू भी नदी में कूदा। वह अच्छा तैराक था ! मगर कई बार गोते मारने पर भी गौरा का कहीं पता न चला।

प्रातःकाल दोनों लाशें साथ-साथ नदी में तैर रही थीं। जीवन-यात्रा में उन्हें वह चिर-संग कभी न मिला था। स्वर्ग-यात्रा में दोनों साथ-साथ जा रहे थे !!

['नीच जात की लड़की' शीर्षक से उर्दू में प्रथम प्रकाशन। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', दिसम्बर, 1925 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'चांद' (मासिक पत्रिका), जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-2 में संकलित।]

लैला

यह कोई न जानता था कि लैला कौन है, कहाँ से आयी है और क्या करती है। एक दिन लोगों ने एक अनुपम सुंदरी को तेहरान के चौक में अपने डफ पर हाफ़िज की यह ग़ज़ल झूम-झूम कर गाते सुना—

रसीद मुज़रा कि ऐयामे ग़म न ख़्वाहद माँद,
चुनाँ न माँद, चुनीं नीज़ हम न ख़्वाहद माँद।

और सारा तेहरान उस पर फ़िदा हो गया। यही लैला थी।

लैला के रूप-लालित्य की कल्पना करनी हो तो ऊषा की प्रफुल्ल लालिमा की कल्पना कीजिए, जब नील गगन स्वर्ण-प्रकाश से रंजित हो जाता है; बहार की कल्पना कीजिए, जब बाग़ में रंग-रंग के फूल खिलते हैं और बुलबुलें गाती हैं।

लैला के स्वर-लालित्य की कल्पना करनी हो, तो उस घंटी की अनवरत ध्वनि की कल्पना कीजिए जो निशा की निस्तब्धता में ऊँटों की गरदनों में बजती हुई सुनायी देती है; या उस बाँसुरी की ध्वनि की जो मध्याह्न की आलस्यमयी शांति में किसी वृक्ष की छाया में लेटे हुए चरवाहे के मुख से निकलती है।

जिस वक्त लैला मस्त हो कर गाती थी, उसके मुख पर एक स्वर्गीय आभा झलकने लगती थी। वह काव्य, संगीत, सौरभ और सुषमा की एक मनोहर प्रतिमा थी, जिसके सामने छोटे और बड़े, अमीर और ग़रीब सभी के सिर झुक जाते थे। सभी मंत्रमुग्ध हो जाते थे, सभी सिर धुनते थे। वह उस आनेवाले समय का संदेश सुनाती थी; जब देश में संतोष और प्रेम का साम्राज्य होगा, जब द्वंद्व और संग्राम का अंत हो जायगा। वह राजा को जगाती और कहती, यह विलासिता कब तक, यह ऐश्वर्य-भोग कब तक ? वह प्रजा की सोयी हुई अभिलाषाओं को जगाती, उनकी हृत्तंत्रियों को अपने स्वर से कम्पित कर देती। वह उन अमर वीरों की कीर्ति सुनाती जो दीनों की पुकार सुन कर विकल हो जाते थे; उन विदुषियों की महिमा गाती जो कुल-मर्यादा पर मर मिटी थीं। उसकी अनुरक्त ध्वनि सुन कर लोग

दिलों को थाम लेते थे, तड़प जाते थे।

सारा तेहरान लैला पर फ़िदा था। दलितों के लिए वह आशा की दीपक थी, रसिकों के लिए जन्नत की हूर, धनियों के लिए आत्मा की जागृति और सत्ताधारियों के लिए दया और धर्म का संदेश। उसकी भौहों के इशारे पर जनता आग में कूद सकती थी। जैसे चैतन्य जड़ को आकर्षित कर देता है, उसी भाँति लैला ने जनता को आकर्षित कर लिया था।

और यह अनुपम सौंदर्य सुधा की भाँति पवित्र, हिम के समान निष्कलंक और नव कुसुम की भाँति अनिंद्य था। उसके लिए प्रेम कटाक्ष, एक भेदभरी मुस्कान, एक रसीली अदा पर क्या न हो जाता—कंचन के पर्वत खड़े हो जाते, ऐश्वर्य उपासना करता, रियासतें पैर की धूल चाटतीं, कवि कट जाते, विद्वान घुटने टेकते; लेकिन लैला किसी की ओर आँख उठा कर भी न देखती थी। वह एक वृक्ष की छाँह में रहती, भिक्षा माँग कर खाती और अपनी हृदयवीणा के राग अलापती थी। वह कवि की सूक्ति की भाँति केवल आनंद और प्रकाश की वस्तु थी, भोग की नहीं। वह ऋषियों के आशीर्वाद की प्रतिमा थी, कल्याण में डूबी हुई, शांति में रंगी हुई, कोई उसे स्पर्श न कर सकता था, उसे मोल न ले सकता था।

2

एक दिन संध्या समय तेहरान का शाहज़ादा नादिर घोड़े पर सवार उधर से निकला। लैला गा रही थी। नादिर ने घोड़े की बाग़ रोक ली और देर तक आत्म-विस्मृत की दशा में खड़ा सुनता रहा। ग़ज़ल का पहला शेर यह था—

मरा दर्देस्त अंदर दिल, अगर गोयम जबाँ सोज़द;
बगैर दम दरकशम, तरसन कि मगज़ो उस्तख्वाँ सोज़द।

फिर वह घोड़े से उतर कर वहीं जमीन पर बैठ गया और सिर झुकाये रोता रहा। तब वह उठा और लैला के पास जा कर उसके कदमों पर सिर रख दिया। लोग अदब से इधर-उधर हट गये।

लैला ने पूछा—तुम कौन हो ?

नादिर—तुम्हारा गुलाम।

लैला—मुझसे क्या चाहते हो ?

नादिर—आपकी खिदमत करने का हुक्म। मेरे झोंपड़े को अपने कदमों से रोशन कीजिए।

लैला—यह मेरी आदत नहीं।

शाहज़ादा फिर वहीं बैठ गया और लैला फिर गाने लगी। लेकिन गला थर्राने लगा, मानो वीणा का कोई तार टूट गया हो। उसने नादिर की ओर करुण नेत्रों से देख कर कहा—तुम यहाँ मत बैठो।

कई आदमियों ने कहा—लैला, हमारे हुजूर शाहज़ादा नादिर हैं।

लैला बेपरवाही से बोली—बड़ी खुशी की बात है। लेकिन यहाँ शाहज़ादों का क्या काम ? उनके लिए महल है, महफिलें हैं और शराब के दौर हैं। मैं उनके लिए गाती हूँ, जिनके दिल में दर्द है; उनके लिए नहीं जिनके दिल में शौक है।

शाहज़ादा ने उन्मत्त भाव से कहा—लैला, तुम्हारी एक तान पर अपना सब-कुछ

निसार कर सकता हूँ। मैं शौक़ का गुलाम था, लेकिन तुमने दर्द का मज़ा चखा दिया।

लैला फिर गाने लगी; लेकिन आवाज काबू में न थी, मानो वह उसका गला ही न था।

लैला ने डफ कंधे पर रख लिया और अपने डेरे की ओर चली। श्रोता अपने-अपने घर चले। कुछ लोग उसके पीछे-पीछे उस वृक्ष तक आये, जहाँ वह विश्राम करती थी। जब वह अपनी झोपड़ी के द्वार पर पहुँची, तब सभी आदमी विदा हो चुके थे। केवल एक आदमी झोपड़ी से कई हाथ पर चुपचाप खड़ा था।

लैला ने पूछा—तुम कौन हो ?

नादिर ने कहा—तुम्हारा गुलाम नादिर !

लैला—तुम्हें मालूम नहीं कि मैं अपने अमन के गोशे में किसी को नहीं आने देती ?

नादिर—यह तो देख ही रहा हूँ।

लैला—फिर क्यों बैठे हो ?

नादिर—उम्मीद दामन पकड़े हुए है।

लैला ने कुछ देर के बाद फिर पूछा—कुछ खा कर आये हो ?

नादिर—अब तो न भूख है, न प्यास।

लैला—आओ, आज तुम्हें गरीबों का खाना खिलाऊँ। इसका मजा भी चख लो।

नादिर इनकार न कर सका। आज उसे बाजरे की रोटियों में अभूतपूर्व स्वाद मिला। वह सोच रहा था कि विश्व के इस विशाल भवन में कितना आनंद है। उसे अपनी आत्मा में विकास का अनुभव हो रहा था।

जब वह खा चुका तब लैला ने कहा—अब जाओ। आधी रात से ज़्यादा गुजर गयी।

नादिर ने आँखों में आँसू भर कर कहा—नहीं लैला, अब मेरा आसन भी यहीं जमेगा।

नादिर दिन-भर लैला के नग़मे सुनता; गलियों में, सड़कों पर जहाँ वह जाती उसके पीछे-पीछे घूमता रहता। रात को उसी पेड़ के नीचे जा कर पड़ रहता। बादशाह ने समझाया, मलका ने समझाया, उमरा ने मिन्नतें कीं, लेकिन नादिर के सिर से लैला का सौदा न गया। जिन हालों लैला रहती थी उन हालों वह भी रहता था। मलका उसके लिए अच्छे से अच्छे खाने बना कर भेजती, लेकिन नादिर उनकी ओर देखता भी न था—

लेकिन लैला के संगीत में अब वह क्षुधा न थी। वह टूटे हुए तारों का राग था जिसमें न वह लोच था, न वह जादू, न वह असर। वह अब भी गाती थी, सुनने वाले अब भी आते थे; लेकिन अब वह अपना दिल खुश करने को नहीं, उनका दिल खुश करने को गाती थी और सुनने वाले विह्वल हो कर नहीं, उसको खुश करने के लिए आते थे।

इस तरह छः महीने गुज़र गये।

एक दिन लैला गाने न गयी। नादिर ने कहा—क्यों लैला, आज गाने न चलोगी ?

लैला ने कहा—अब कभी न जाऊँगी। सच कहना, तुम्हें अब भी मेरे गाने में पहले ही का-सा मजा आता है ?

नादिर बोला—पहले से कहीं ज़्यादा।

लैला—लेकिन और लोग तो अब नहीं पसंद करते।

नादिर—हाँ, मुझे इसका ताज़्जुब है।

लैला—ताज्जुब की बात नहीं। पहले मेरा दिल खुला हुआ था, उसमें सब के लिए जगह थी, वह सबके दिलों में पहुँचती थी। अब तुमने उसका दरवाज़ा बंद कर दिया। अब वहाँ सिर्फ़ तुम हो, इसीलिए उसकी आवाज तुम्हीं को पसंद आती है। यह दिल अब तुम्हारे सिवा और किसी के काम का नहीं रहा। चलो, आज तक तुम मेरे गुलाम थे; आज से मैं तुम्हारी लौंडी होती हूँ। चलो, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगी। आज से तुम मेरे मालिक हो। थोड़ी-सी आग ले कर इस झोपड़े में लगा दो। इस डफ को उसी में जला दूँगी।

3

तेहरान में घर-घर आनंदोत्सव हो रहा था। आज शाहज़ादा नादिर लैला को ब्याह कर लाया था। बहुत दिनों के बाद उसके दिल की मुराद पूरी हुई थी। सारा तेहरान शाहज़ादे पर जान देता था और उसकी खुशी में शरीक था। बादशाह ने तो अपनी तरफ से मुनादी करवा दी थी कि इस शुभ अवसर पर धन और समय का अपव्यय न किया जाय, केवल लोग मसज़िदों में जमा होकर खुदा से दुआ माँगें कि वर और वधू चिरंजीवी हों और सुख से रहें। लेकिन अपने प्यारे शाहज़ादे की शादी में धन और धन से अधिक मूल्यवान् समय का मुँह देखना किसी को गवारा न था। रईसों ने महफ़िलें सजायीं, चिराग़ जलाये, बाजे बजवाये, ग़रीबों ने अपनी डफलियाँ सँभालीं और सड़कों पर घूम-घूम कर उछलते-कूदते फिरे।

संध्या के समय शहर के सारे अमीर और रईस शाहज़ादे को बधाई देने के लिए दीवाने-खास में जमा हुए। शाहज़ादा इत्रों से महकता, रत्नों से चमकता और मनोल्लास से खिलता हुआ आ कर खड़ा हो गया।

काज़ी ने अर्ज़ की—हुजूर पर खुदा की बरकत हो।

हजारों आदमियों ने कहा—आमीन !

शहर की ललनाएँ भी लैला को मुबारकबाद देने आयीं। लैला बिलकुल सादे कपड़े पहने थी। आभूषणों का कहीं नाम न था।

एक महिला ने कहा—आपका सोहाग सदा सलामत रहे।

हज़ारों कंठों से ध्वनि निकली—आमीन !

4

कई साल गुजर गये। नादिर अब बादशाह था और लैला उसकी मलका। ईरान का शासन इतने सुचारु रूप से कभी न हुआ था। दोनों ही प्रजा के हितैषी थे, दोनों ही उसे सुखी और सम्पन्न देखना चाहते थे। प्रेम ने वे सभी कठिनाइयाँ दूर कर दीं जो लैला को पहले शंकित करती रहती थीं। नादिर राजसत्ता का वकील था, लैला प्रजा-सत्ता की; लेकिन व्यावहारिक रूप से उनमें कोई भेद न पड़ता था; कभी यह दब जाता, कभी वह हट जाती। उनका दाम्पत्य-जीवन आदर्श था। नादिर लैला का रुख देखता था, लैला नादिर का। काम से अवकाश मिलता तो दोनों बैठ कर गाते-बजाते, कभी नदियों की सैर करते, कभी किसी वृक्ष की छाँह में बैठे हुए हाफ़िज की ग़ज़लें पढ़ते और झूमते। न लैला में अब उतनी सादगी थी, न नादिर में अब उतना तकल्लुफ था। नादिर का लैला पर एकाधिपत्य

था जो साधारण बात थी। जहाँ बादशाहों की महलसरा में बेगमों के मुहल्ले बसते थे, दरजनों और कौड़ियों से उनकी गणना होती थी, वहाँ लैला अकेली थी। उन महलों में अब शफ़ाखाने, मदरसे और पुस्तकालय थे। जहाँ महलसरों का वार्षिक व्यय करोड़ों तक पहुँचता था, यहाँ अब हजारों से आगे न बढ़ता था। शेष रुपये प्रजा-हित के कामों में खर्च कर दिये जाते थे। यह सारी कतर-ब्योंत लैला ने की थी। बादशाह नादिर था, पर अख्तियार लैला के हाथों में था।

सब-कुछ था, किंतु प्रजा संतुष्ट न थी। उसका असंतोष दिन-दिन बढ़ता जाता था। राजसत्तावादियों को भय था कि अगर यही हाल रहा तो बादशाहत के मिट जाने में संदेह नहीं। जमशेद का लगाया हुआ वृक्ष, जिसने हजारों सदियों से आँधी और तूफान का मुकाबिला किया, अब एक हसीना के नाज़ुक, पर कातिल हाथों जड़ से उखाड़ा जा रहा था। उधर प्रजा-सत्तावादियों को लैला से जितनी आशाएँ थीं, सभी दुराशाएँ सिद्ध हो रही थीं। वे कहते, अगर ईरान इस चाल से तरक्की के रास्ते पर चलेगा तो इससे पहले कि वह मंजिले-मकसूद पर पहुँचे, क़यामत आ जायगी। दुनिया हवाई जहाज पर बैठी उड़ी जा रही है और हम अभी ठेलों पर बैठते भी डरते हैं कि कहीं इसकी हरकत से दुनिया में भूचाल न आ जाय। दोनों दलों में आये दिन लड़ाइयाँ होती रहती थीं। न नादिर के समझाने का असर अमीरों पर होता था, न लैला के समझाने का गरीबों पर। सामंत नादिर के खून के प्यासे हो गये, प्रजा लैला की जानी दुश्मन।

5

राज्य में तो यह अशांति फैली हुई थी, विद्रोह की आग दिलों में सुलग रही थी और राजभवन में प्रेम का शांतिमय राज्य था, बादशाह और मलका दोनों प्रजा-संतोष की कल्पना में मग्न थे।

रात का समय था। नादिर और लैला आरामगाह में बैठे हुए शतरंज की बाजी खेल रहे थे। कमरे में कोई सजावट न थी, केवल एक जाजिम बिछी हुई थी।

नादिर ने लैला का हाथ पकड़ कर कहा—बस, अब यह ज़्यादती नहीं, तुम्हारी चाल हो चुकी। यह देखो, तुम्हारा एक प्यादा पिट गया।

लैला—अच्छा यह शह ! आपके सारे पैदल रखे रह गये और बादशाह पर शह पड़ गयी। इसी पर दावा था।

नादिर—तुम्हारे साथ हारने में जो मजा है, वह जीतने में नहीं।

लैला—अच्छा, तो गोया आप दिल खुश कर रहे हैं ! शह बचाइए, नहीं दूसरी चाल में मात होती है।

नादिर—(अर्दब दे कर) अच्छा अब सँभल जाना, तुमने मेरे बादशाह की तौहीन की है। एक बार मेरा फर्जी उठा तो तुम्हारे प्यादों का सफाया कर देगा।

लैला—बसंत की भी खबर है ! यह शह, लाइए। फर्जी अब कहिए। अबकी मैं न मानूँगी, कहे देती हूँ। आपको दो बार छोड़ दिया, अबकी हर्गिज न छोड़ूँगी।

नादिर—जब तक मेरे दिलराम (घोड़ा) है, बादशाह को कोई ग़म नहीं।

लैला—अच्छा यह शह ? लाइए अपने दिलराम को ! कहिए, अब तो मात हुई?

नादिर—हाँ जानेमन, अब मात हो गयी। जब मैं ही तुम्हारी अदाओं पर निसार हो गया, तब मेरा बादशाह कब बच सकता है।

लैला—बातें न बनाइए, चुपके से इस फरमान पर दस्तखत कर दीजिए। जैसा आपने वादा किया था।

यह कह कर लैला ने फरमान निकाला, जिसे उसने खुद अपने मोती के-से अक्षरों में लिखा था। इसमें अन्न का आयात-कर घटा कर आधा कर दिया गया था। लैला प्रजा को भूली न थी, वह अब भी उनकी हितकामना में संलग्न रहती थी। नादिर ने इस शर्त पर फरमान पर दस्तखत करने का वचन दिया था कि लैला उसे शतरंज में तीन बार मात करे। वह सिद्धहस्त खिलाड़ी था, इसे लैला जानती थी; पर यह शतरंज की बाजी न थी, केवल विनोद था। नादिर ने मुस्कराते हुए फरमान पर हस्ताक्षर कर दिये। कलम के एक चिह्न से प्रजा की पाँच करोड़ वार्षिक कर से मुक्ति हो गयी। लैला का मुख गर्व से आरक्त हो गया। जो काम बरसों से आन्दोलन से न हो सकता था, वह प्रेम कटाक्षों से कुछ ही दिनों में पूरा हो गया।

यह सोच कर वह फूली न समाती थी कि जिस वक्त यह फरमान सरकारी पत्रों में प्रकाशित हो जायगा और व्यवस्थापिका के लोगों को इसके दर्शन होंगे, उस वक्त प्रजावादियों को कितना आनंद होगा। लोग मेरा यश गायेंगे और मुझे आशीर्वाद देंगे।

नादिर प्रेममुग्ध होकर उसके चंद्रमुख की ओर देख रहा था, और मानो उसका वश होता तो सौन्दर्य की इस प्रतिमा को हृदय में बिठा लेता।

6

सहसा राज्य-भवन के द्वार पर शोर मचने लगा। एक क्षण में मालूम हुआ कि जनता की टीडी दल, अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, राज द्वार पर खड़ा दीवारों को तोड़ने की चेष्टा कर रहा है। प्रतिक्षण शोर बढ़ता जाता था और ऐसी आशंका होती थी कि क्रोधोन्मत्त जनता द्वारों को तोड़ कर भीतर घुस आयेगी। फिर ऐसा मालूम हुआ कि कुछ लोग सीढ़ियाँ लगा कर दीवार पर चढ़ रहे हैं। लैला लज्जा और ग्लानि से सिर झुकाये खड़ी थी। उसके मुख से एक शब्द भी न निकलता था। क्या यही वह जनता है, जिनके कष्टों की कथा कहते हुए उसकी वाणी उन्मत्त हो जाती थी ? यही वह अशक्त, दलित, क्षुधा-पीड़ित, अत्याचार की वेदना से तड़पती हुई जनता है, जिस पर वह अपने को अर्पण कर चुकी थी।

नादिर भी मौन खड़ा था; लेकिन लज्जा से नहीं, क्रोध से उसका मुख तमतमा उठा था, आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं, बार-बार ओंठ चबाता और तलवार के कब्जे पर हाथ रख कर रह जाता था। वह बार-बार लैला की ओर संतप्त नेत्रों से देखता था। ज़रा से इशारे की देर थी। उसका हुक्म पाते ही उसकी सेना इस विद्रोही दल को यों भगा देगी जैसे आँधी पत्तों को उड़ा देती है; पर लैला से आँखें न मिलती थीं।

आखिर वह अधीर हो कर बोला—लैला, मैं राज-सेना को बुलाना चाहता हूँ। क्या कहती हो ?

लैला ने दीनतापूर्ण नेत्रों से देख कर कहा—ज़रा ठहर जाइए, पहले इन लोगों से पूछिए कि चाहते क्या हैं।

यह आदेश पाते ही नादिर छत पर चढ़ गया, लैला भी उसके पीछे-पीछे ऊपर आ पहुँची। दोनों अब जनता के सम्मुख आ कर खड़े हो गये। मशालों के प्रकाश में लोगों ने इन दोनों को छत पर खड़े देखा, मानो आकाश से देवता उतर आये हों; सहस्रों कंठों से ध्वनि निकली—वह खड़ी है, वह खड़ी है, लैला वह खड़ी है ! यह वह जनता थी जो लैला के मधुर संगीत पर मस्त हो जाया करती थी।

नादिर ने उच्च स्वर से विद्रोहियों को सम्बोधित किया—ऐ ईरान की बदनसीब रिआया। तुमने शाही महल को क्यों घेर रखा है ? क्यों बगावत का झंडा खड़ा किया है ? क्या तुमको मेरा और अपने खुदा का बिलकुल खौफ नहीं ? क्या तुम नहीं जानते कि मैं अपनी आँखों के एक इशारे से तुम्हारी हस्ती खाक में मिला सकता हूँ ? मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि एक लमूहे के अंदर यहाँ से चले जाओ, वरना कलामे-पाक की कसम, मैं तुम्हारी खून की नदी बहा दूँगा।

एक आदमी ने, जो विद्रोहियों का नेता मालूम होता था, सामने आ कर कहा—हम उस वक्त तक न जायँगे, जब तक शाही महल लैला से खाली न हो जायगा।

नादिर ने बिगड़ कर कहा—ओ नाशुक्रो, खुदा से डरो ! तुम्हें अपनी मलका की शान में ऐसी बेअदबी करते हुए शर्म नहीं आती ! जब से लैला तुम्हारी मलका हुई है, उसने तुम्हारे साथ कितनी रियायतें की हैं ! क्या उन्हें तुम बिलकुल भूल गये ? ज़ालिमो, वह मलका है; पर वही खाना खाती है, जो तुम कुत्तों को खिला देते हो; वही कपड़े पहनती है, जो तुम फ़कीरों को दे देते हो। आकर महलसरा में देखो, तुम इसे अपने झोपड़ों ही की तरह तकल्लुफ और सजावट से खाली पाओगे। लैला तुम्हारी मलका हो कर भी फ़कीरों की जिंदगी बसर करती है, तुम्हारी खिदमत में हमेशा मस्त रहती है। तुम्हें उसके कदमों की खाक माथे पर लगानी चाहिए, आँखों का सुरमा बनाना चाहिए। ईरान के तख़्त पर कभी ऐसी गरीबों पर जान देनेवाली, उनके दर्द में शरीक होने वाली, ग़रीबों पर अपने को निसार करनेवाली मलका ने कदम नहीं रखे और उसकी शान में तुम ऐसी बेहूदा बातें करते हो! अफ़सोस ! मुझे मालूम हो गया कि तुम जाहिल, इन्सानियत से खाली और कमीने हो! तुम इसी क़ाबिल हो कि तुम्हारी गरदनें कुन्द छुरी से काटी जायँ, तुम्हें पैरों तले रौंदा जाय...

नादिर ने बात भी पूरी न कर पायी थी कि विद्रोहियों ने एक स्वर से चिल्ला कर कहा—लैला, लैला हमारी दुश्मन है, हम उसे अपनी मलका की सूरत में नहीं देख सकते।

नादिर ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—ज़ालिमों, जरा ख़ामोश हो जाओ; यह देखो वह फरमान है, जिस पर लैला ने अभी-अभी मुझसे ज़बरदस्ती दस्तख़त कराये हैं। आज से गल्ले का महसूल घटाकर आधा कर दिया गया है और तुम्हारे सिर से महसूल का बोझ पाँच करोड़ कम हो गया है।

हजारों आदमियों ने शोर मचाया—यह महसूल बहुत पहले बिलकुल माफ़ हो जाना चाहिये था। हम एक कौड़ी नहीं दे सकते। लैला, लैला, हम उसे अपनी मलका की सूरत में नहीं देख सकते।

अब बादशाह क्रोध से काँपने लगा। लैला ने सजल नेत्र हो कर कहा—अगर रिआया की यही मरजी है कि मैं फिर डफ़ बजा-बजा कर गाती फिरूँ तो मुझे कोई उज़्र नहीं, मुझे यकीन है कि मैं अपने गाने से एक बार फिर इनके दिल पर हुकूमत कर सकती हूँ।

नादिर ने उत्तेजित होकर कहा—लैला, मैं रिआया की तुनुकमिजाजियों का गुलाम नहीं। इससे पहले कि मैं तुम्हें अपने पहलू से जुदा करूँ, तेहरान की गलियाँ खून से लाल हो जायँगी। मैं इन बदमाशों को इनकी शरारत का मज़ा चखाता हूँ।

नादिर ने मीनार पर चढ़ कर खतरे का घंटा बजाया। सारे तेहरान में उसकी आवाज गूँज उठी; पर शाही फौज का एक आदमी भी न नजर आया।

नादिर ने दोबारा घंटा बजाया, आकाश मंडल उसकी झंकार से कम्पित हो गया, तारागण काँप उठे; पर एक भी सैनिक न निकला।

नादिर ने तब तीसरी बार घंटा बजाया, पर उसका भी उत्तर केवल एक क्षीण पतिध्वनि ने दिया, मानो किसी मरनेवाले की अंतिम प्रार्थना के शब्द हों।

नादिर ने माथा पीट लिया। समझ गया कि बुरे दिन आ गये। अब भी लैला को जनता के दुराग्रह पर बलिदान करके वह अपने राजसत्ता की रक्षा कर सकता था, पर लैला उसे प्राणों से प्रिय थी। उसने छत पर आ कर लैला का हाथ पकड़ लिया और उसे लिये हुए सदर फाटक से निकला। विद्रोहियों ने एक विजय-ध्वनि के साथ उनका स्वागत किया; पर सब के सब किसी गुप्त प्रेरणा के वश रास्ते से हट गये।

दोनों चुपचाप तेहरान की गलियों में होते हुए चले जाते थे। चारों ओर अंधकार था। दूकानें बंद थीं। बाज़ारों में सन्नाटा छाया हुआ था। कोई घर से बाहर न निकलता था। फ़कीरों ने भी मसजिदों में पनाह ले ली थी। पर इन दोनों प्राणियों के लिए कोई आश्रय न था। नादिर की कमर में तलवार थी, लैला के हाथ में डफ़ था। यही उनके विशाल ऐश्वर्य का विलुप्त चिह्न था।

7

पूरा साल गुजर गया। लैला और नादिर देश-विदेश की खाक छानते फिरते थे। समरकंद और बुखारा, बगदाद और हलब, काहिरा और अदन ये सारे देश उन्होंने छान डाले। लैला की डफ़ फिर जादू करने लगी, उसकी आवाज सुनते ही शहर में हलचल मच जाती, आदमियों का मेला लग जाता, आवभगत होने लगती; लेकिन ये दोनों यात्री कहीं एक दिन से अधिक न ठहरते थे। न किसी से कुछ माँगते, न किसी के द्वार पर जाते। केवल रूखा-सूखा भोजन कर लेते और कभी किसी वृक्ष के नीचे, कभी पर्वत की गुफा में और कभी सड़क के किनारे रात काट देते थे। संसार के कठोर व्यवहार ने उन्हें विरक्त कर दिया था उसके प्रलोभन से कोसों दूर भागते थे। उन्हें अनुभव हो गया था कि यहाँ जिसके लिए प्राण अर्पण कर दो, वही अपना शत्रु हो जाता है; जिसके साथ भलाई करो, वही बुराई पर कमर बाँधता है; यहाँ किसी से दिल न लगाना चाहिए। उनके पास बड़े-बड़े रईसों के निमंत्रण आते, उन्हें एक दिन अपना मेहमान बनाने के लिए लोग हजारों मिन्नतें करते, पर लैला किसी की न सुनती। नादिर को अब तक कभी-कभी बादशाहत की सनक सवार हो जाती थी, वह चाहता था कि गुप्त रूप से शक्ति-संग्रह करके तेहरान पर चढ़ जाऊँ और बाग़ियों को परास्त करके अखंड राज्य करूँ; पर लैला की उदासीनता देख कर उसे किसी से मिलने-जुलने का साहस न होता था। लैला उसकी प्राणेश्वरी थी, वह उसी के इशारों पर चलता था।

उधर ईरान में भी अराजकता फैली हुई थी। जनसत्ता से तंग आकर रईसों ने भी फौजें जमा कर ली थीं और दोनों दलों में आये दिन संग्राम होता रहता था। पूरा साल गुजर गया और खेत न जुते, देश में भीषण अकाल पड़ा हुआ था; व्यापार शिथिल था, खजाना खाली। दिन-दिन जनता की शक्ति घटती जाती थी और रईसों का जोर बढ़ता जाता था। आखिर यहाँ तक नौबत पहुँची कि जनता ने हथियार डाल दिये और रईसों ने राज-भवन पर अपना अधिकार जमा लिया। प्रजा के नेताओं को फाँसी दे दी गयी, कितने ही कैद कर लिये गये और जनसत्ता का अंत हो गया। शक्तिवादियों को अब नादिर की याद आयी। यह बात अनुभव से सिद्ध हो गयी थी कि देश में प्रजातंत्र स्थापित करने की क्षमता का अभाव है। प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की जरूरत न थी। इस अवसर पर राजसत्ता ही देश का उद्धार कर सकती थी। यह भी मानी हुई बात थी कि लैला और नादिर को जनमत से विशेष प्रेम न होगा। वे सिंहासन पर बैठ कर भी रईसों ही के हाथ में कठपुतली बने रहेंगे और रईसों को प्रजा पर मनमाने अत्याचार करने का अवसर मिलेगा। अतएव आपस में लोगों ने सलाह की और प्रतिनिधि नादिर को मना लाने के लिये रवाना हुए।

8

संध्या का समय था। लैला और नादिर दमिश्क में एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। आकाश पर लालिमा छायी हुई थी और उससे मिली हुई पर्वत-मालाओं की श्याम रेखा ऐसी मालूम हो रही थी मानो कमल-दल मुरझा गया हो। लैला उल्लसित नेत्रों से प्रकृति की यह शोभा देख रही थी। नादिर मलिन और चिंतित भाव से लेटा हुआ सामने के सुदूर प्रांत की ओर तृषित नेत्रों से देख रहा था, मानो इस जीवन से तंग आ गया है।

सहसा बहुत दूर गर्द उड़ती हुई दिखाई दी, और एक क्षण में ऐसा मालूम हुआ कि कुछ आदमी घोड़ों पर सवार चले आ रहे हैं। नादिर उठ बैठा और गौर से देखने लगा कि ये कौन आदमी हैं। अकस्मात् वह उठ कर खड़ा हो गया। उसका मुख-मंडल दीपक की भाँति चमक उठा, जर्जर शरीर में एक विचित्र स्फूर्ति दौड़ गयी। वह उत्सुकता से बोला—लैला, ये तो ईरान के आदमी, कलामे-पाक की कसम, ये ईरान के आदमी हैं। इनके लिबास से साफ जाहिर हो रहा है।

लैला ने भी उन यात्रियों की ओर देखा और सचेत हो कर बोली—अपनी तलवार सँभाल लो, शायद उसकी जरूरत पड़े।

नादिर—नहीं लैला, ईरान के लोग इतने कमीने नहीं हैं कि अपने बादशाह पर तलवार उठायें।

लैला—पहले मैं भी यही समझती थी।

सवारों ने समीप आ कर घोड़े रोक लिये और उतर कर बड़े अदब से नादिर को सलाम किया ! नादिर बहुत जब्त करने पर भी अपने मनोवेग को न रोक सका, दौड़ कर उनके गले से लिपट गया। वह अब बादशाह न था, ईरान का एक मुसाफिर था। बादशाहत मिट गयी थी; यह ईरानियत रोम-रोम में भरी हुई थी। वे तीनों आदमी इस समय ईरान के विधाता थे। इन्हें वह खूब पहचानता था। उनकी स्वामिभक्ति की वह कई बार परीक्षा ले चुका था। उन्हें ला कर अपने बोरिये पर बैठाना चाहा, लेकिन वे जमीन ही पर

बैठे। उनकी दृष्टि से वह बोरिया उस समय सिंहासन था, जिस पर अपने स्वामी के सम्मुख वे कदम न रख सकते थे। बातें होने लगीं। ईरान की दशा अत्यंत शोचनीय थी। लूट-मार का बाजार गर्म था, न कोई व्यवस्था थी न व्यवस्थापक थे। अगर यही दशा रही तो शायद बहुत जल्द उसकी गरदन में पराधीनता का जुआ पड़ जाय। देश अब नादिर को ढूँढ़ रहा था। उसके सिवा कोई दूसरा उस डूबते हुए बेड़े को पार नहीं लगा सकता था। इसी आशा से ये लोग उसके पास आये थे।

नादिर ने विरक्त भाव से कहा—एक बार इज़्ज़त ली, क्या अबकी जान लेने की सोची है ? मैं बड़े आराम से हूँ ! आप मुझे दिक़ न करें।

सरदारों ने आग्रह करना शुरू किया—हम हुजूर का दामन न छोड़ेंगे, यहाँ अपनी गरदनों पर छुरी फेर कर हुजूर के कदमों पर जान दे देंगे। जिन बदमाशों ने आपको परेशान किया था, अब उनका कहीं निशान भी न रहा, हम लोग उन्हें फिर कभी सिर न उठाने देंगे, सिर्फ हुजूर की आड़ चाहिए।

नादिर ने बात काट कर कहा—साहबो, अगर आप मुझे इस इरादे से ईरान का बादशाह बनाना चाहते हैं, तो माफ़ कीजिए। मैंने इस सफ़र में रिआया की हालत का गौर से मुलाहजा किया है और इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि सभी मुल्कों से उनकी हालत खराब है। वे रहम के क़ाबिल हैं। ईरान में मुझे कभी ऐसे मौके न मिले थे। मैं रिआया को अपने दरबारियों की आँखों से देखता था। मुझसे आप लोग यह उम्मीद न रखें कि रिआया को लूट कर आपकी जेबें भरूँगा। यह अजाब अपनी गरदन पर नहीं ले सकता। मैं इन्साफ का मीजान बराबर रखूँगा और इसी शर्त पर ईरान चल सकता हूँ।

लैला ने मुस्करा कर कहा—तुम रिआया का क़सूर माफ कर सकते हो, क्योंकि उसकी तुमसे कोई दुश्मनी न थी। उसके दाँत तो मुझ पर थे। मैं उसे कैसे माफ़ कर सकती हूँ।

नादिर ने गम्भीर भाव से कहा—लैला, मुझे यक़ीन नहीं आता कि तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें सुन रहा हूँ।

लोगों ने समझा, अभी उन्हें भड़काने की जरूरत ही क्या है। ईरान में चल कर देखा जायगा। दो-चार मुखबिरों से रिआया के नाम पर ऐसे उपद्रव खड़े करा देंगे कि इनके सारे खयाल पलट जायँगे। एक सरदार ने अर्ज की—माज़ल्लाह ! हुजूर यह क्या फ़रमाते हैं ? क्या हम इतने नादान हैं कि हुजूर को इन्साफ के रास्ते से हटाना चाहेंगे? इन्साफ ही बादशाह का जौहर है और हमारी दिली आरजू है कि आपका इन्साफ नौशेखबाँ को भी शर्मिंदा कर दे। हमारी मंशा सिर्फ यह थी कि आइंदा से हम रिआया को कभी ऐसा मौका न देंगे कि वह हुजूर की शान में बेअदबी कर सके। हम अपनी जानें हुज़ूर पर निसार करने के लिए हाजिर रहेंगे।

सहसा ऐसा मालूम हुआ कि सारी प्रकृति संगीतमय हो गयी है। पर्वत और वृक्ष, तारे और चाँद, वायु और जल सभी एक स्वर से गाने लगे। चाँदनी की निर्मल छटा में, वायु के नीरव प्रहार में, संगीत की तरंगें उठने लगीं। लैला अपना डफ़ बजा-बजा कर गा रही थी। आज मालूम हुआ, ध्वनि ही सृष्टि का मूल है। पर्वतों पर देवियाँ निकल-निकल कर नाचने लगीं, आकाश पर देवता नृत्य करने लगे। संगीत ने एक नया संसार रच डाला।

उसी दिन से जब कि प्रजा ने राजभवन के द्वार पर उपद्रव मचाया था और लैला के

निर्वासन पर आग्रह किया था, लैला के विचारों में क्रांति हो गयी थी। जन्म से ही उसने जनता के साथ सहानुभूति करना सीखा था। वह राजकर्मचारियों को प्रजा पर अत्याचार करते देखती थी और उसका कोमल हृदय तड़प उठता था। तब धन, ऐश्वर्य और विलास से उसे घृणा होने लगती थी। जिसके कारण प्रजा को इतने कष्ट भोगने पड़ते हैं। वह अपने में किसी ऐसी शक्ति का आह्वान करना चाहती थी जो आततायियों के हृदय में दया और प्रजा के हृदय में अभय का संचार करे। उसकी बाल कल्पना उसे एक सिंहासन पर बिठा देती, जहाँ वह अपनी न्याय-नीति से संसार में युगांतर उपस्थित कर देती। कितनी रातें उसने यही स्वप्न देखने में काटी थी। कितनी बार वह अन्याय-पीड़ितों के सिरहाने बैठ कर रोयी थी; लेकिन जब एक दिन ऐसा आया कि उसके स्वर्ण-स्वप्न आंशिक रीति से पूरे होने लगे, तब उसे एक नया और कठोर अनुभव हुआ। उसने देखा कि प्रजा इतनी सहनशील, इतनी दीन और दुर्बल नहीं है, जितना वह समझती थी। इसकी अपेक्षा उसमें ओछेपन, अविचार और अशिष्टता की मात्रा कहीं अधिक थी। वह सद्व्यवहार की कद्र करना नहीं जानती, शक्ति पा कर उसका सदुपयोग नहीं कर सकती। उसी दिन से उसका दिल जनता से फिर गया था।

जिस दिन नादिर और लैला ने फिर तेहरान में पदार्पण किया, सारा नगर उनका अभिवादन करने के लिए निकल पड़ा। शहर पर आतंक छाया हुआ था, चारों ओर करुण रुदन की ध्वनि सुनाई देती थी। अमीरों के मुहल्ले में श्री लोटती फिरती थी, गरीबों के मुहल्ले उजड़े हुए थे, उन्हें देख कर कलेजा फटा जाता था। नादिर रो पड़ा; लेकिन लैला के ओंठों पर निष्ठुर निर्दय हास्य अपनी छटा दिखा रहा था।

नादिर के सामने अब एक विकट समस्या थी। वह नित्य देखता कि मैं जो करना चाहता हूँ वह नहीं होता और जो नहीं करना चाहता, वह होता है, और इसका कारण लैला है; पर कुछ कह न सकता था। लैला उसके हर एक काम में हस्तक्षेप करती रहती थी। वह जनता के उपकार और उद्धार के लिए जो विधान करता लैला उसमें कोई न कोई विघ्न अवश्य डाल देती, और उसे चुप रह जाने के सिवा और कुछ न सूझता। लैला के लिए उसने एक बार राज्य का त्याग कर दिया था। तब आपत्ति-काल ने लैला की परीक्षा ली थी। इतने दिनों की विपत्ति में उसे लैला के चरित्र का जो अनुभव प्राप्त हुआ था, वह इतना मनोहर, इतना सरस था कि वह लैला-मय हो गया था। लैला ही उसका स्वर्ग थी, उसके प्रेम में रत रहना ही उसकी परम अभिलाषा थी। इस लैला के लिए वह अब क्या कुछ न कर सकता था ? प्रजा की और साम्राज्य की उसके सामने क्या हस्ती थी।

इस भाँति तीन साल बीत गये, प्रजा की दशा दिन-दिन बिगड़ती ही गयी।

9

एक दिन नादिर शिकार खेलने गया। और साथियों से अलग हो कर जंगल में भटकता फिरा, यहाँ तक कि रात हो गयी और साथियों का पता न चला। घर लौटने का भी रास्ता न जानता था। आखिर खुदा का नाम ले कर एक तरफ चला कि कहीं तो कोई गाँव या बस्ती का नाम निशान मिलेगा ! वहाँ रात-भर पड़ा रहूँगा। सबेरे लौट जाऊँगा। चलते-चलते जंगल के दूसरे सिरे पर उसे एक गाँव नजर आया, जिसमें मुश्किल से तीन-चार घर होंगे।

हाँ, एक मसजिद अलबत्ता बनी हुई थी। मसजिद में एक दीपक टिमटिमा रहा था; पर किसी आदमी या आदमज़ात का निशान न था। आधी रात से ज्यादा बीत चुकी थी, इसलिए किसी को कष्ट देना भी उचित न था। नादिर ने घोड़े को एक पेड़ से बाँध दिया और उसी मसजिद में रात काटने की ठानी। वहाँ एक फटी सी चटाई पड़ी हुई थी। उसी पर लेट गया। दिन भर का थका था, लेटते ही नींद आ गयी। मालूम नहीं, वह कितनी देर तक सोता रहा; पर किसी की आहट पा कर चौंका तो क्या देखता है कि एक बूढ़ा आदमी बैठा नमाज पढ़ रहा है। नादिर को आश्चर्य हआ कि इतनी रात गये कौन नमाज़ पढ़ रहा है। उसे यह खबर न थी कि रात गुज़र गयी और यह फ़जर की नमाज़ है। वह पड़ा-पड़ा देखता रहा। वृद्ध पुरुष ने नमाज़ अदा की, फिर वह छाती के सामने अंजलि फैला कर दुआ माँगने लगा। दुआ के शब्द सुन कर नादिर का खून सर्द हो गया। वह दुआ उसके राज्यकाल की ऐसी तीव्र, ऐसी वास्तविक, ऐसी शिक्षाप्रद आलोचना थी, जो आज तक किसी ने न की थी। उसे अपने जीवन में अपना अपयश सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। वह यह तो जानता था कि मेरा शासन आदर्श नहीं है; लेकिन उसने कभी यह कल्पना न की थी कि विपत्ति इतनी असह्य हो गयी है। दुआ यह थी–

'ऐ खुदा ! तू ही गरीबों का मददगार और बेकसों का सहारा है। तू इस जालिम बादशाह के जुल्म देखता है और तेरा कहर उस पर नहीं गिरता। यह बेदीन काफ़िर एक हसीन औरत की मुहब्बत में अपने को इतना भूल गया है कि न आँखों से देखता है, न कानों से सुनता है। अगर देखता है तो उसी औरत की आँखों से, सुनता है तो उसी औरत के कानों से। अब यह मुसीबत नहीं सही जाती। या तो तू उस ज़ालिम को जहन्नुम पहुँचा दे; या हम बेकसों को दुनिया से उठा ले। ईरान उसके जुल्म से तंग आ गया है और तू ही उसके सिर से इस बला को टाल सकता है।'

बूढ़े ने तो अपनी छड़ी सँभाली और चलता हुआ; लेकिन नादिर मृतक की भाँति वहीं पड़ा रहा, मानो उस पर बिजली गिर पड़ी हो।

10

एक सप्ताह तक नादिर दरबार में न आया, न किसी कर्मचारी को अपने पास आने की आज्ञा दी। दिन के दिन अंदर पड़ा सोचा करता कि क्या करूँ। नाममात्र को कुछ खा लेता। लैला बार-बार उसके पास जाती और कभी उसका सिर अपनी जाँघ पर रख कर, कभी उसके गले में बाँहें डाल कर पूछती–तुम क्यों इतने उदास और मलिन हो! नादिर उसे देख कर रोने लगता; पर मुँह से कुछ न कहता। यश या लैला, यही उसके सामने कठिन समस्या थी। उसके हृदय में भीषण द्वन्द्व रहता और वह कुछ निश्चय न कर सकता था। यश प्यारा था; पर लैला उससे भी प्यारी थी। वह बदनाम होकर जिंदा रह सकता था; पर लैला के बिना वह जीवन की कल्पना ही न कर सकता था। लैला उसके रोम-रोम में व्याप्त थी।

अंत को उसने निश्चय कर लिया–लैला मेरी है, मैं लैला का हूँ। न मैं उससे अलग, न वह मुझसे जुदा। जो कुछ वह करती है मेरा है, जो कुछ मैं करता हूँ उसका है। यहाँ मेरा और तेरा का भेद ही कहाँ ? बादशाहत नश्वर है, प्रेम अमर। हम अनंत काल तक एक दूसरे के पहलू में बैठे हुए स्वर्ग के सुख भोगेंगे। हमारा प्रेम अनंत काल तक आकाश में तारे

की भाँति चमकेगा।

नादिर प्रसन्न हो कर उठा। उसका मुख-मंडल विजय की लालिमा से रंजित हो रहा था। आँखों में शौर्य टपका पड़ता था। वह लैला के प्रेम का प्याला पीने जा रहा था जिसे एक सप्ताह से उसने मुँह नहीं लगाया था। उसका हृदय उसी उमंग से उछला पड़ता था, जो आज से पाँच साल पहले उठा करती थी। प्रेम का फूल कभी नहीं मुरझाता, प्रेम की नींद कभी नहीं उतरती।

लेकिन लैला की आरामगाह के द्वार बंद थे और उसका डफ़ जो द्वार पर नित्य एक खूँटी से लटका रहता था, गायब था। नादिर का कलेजा सन्न-सा हो गया। द्वार बंद रहने का आशय तो यह हो सकता था कि लैला बाग़ में होगी; लेकिन डफ़ कहाँ गया ? सम्भव है, वह डफ़ ले कर बाग में गयी हो; लेकिन यह उदासी क्यों छायी है? यह हसरत क्यों बरस रही है !

नादिर ने काँपते हुए हाथों से द्वार खोल दिया। लैला अंदर न थी। पलंग बिछा हुआ था, शमा जल रही थी, वजू का पानी रखा हुआ था। नादिर के पाँव थर्राने लगे। क्या लैला रात को भी नहीं सोयी ? कमरे की एक-एक वस्तु में लैला की याद थी, उसकी तस्वीर थी, उसकी महक थी, लेकिन लैला न थी। मकान सूना मालूम होता था, ज्योति-हीन नेत्र।

नादिर का दिल भर आया। उसकी हिम्मत न पड़ी कि किसी से कुछ पूछे। हृदय इतना कातर हो गया कि हतबुद्धि की भाँति फ़र्श पर बैठ कर बिलख-बिलख कर रोने लगा। जब जरा आँसू थमे तब उसने बिस्तर को सूँघा कि शायद लैला के स्पर्श की कुछ गंध आये; लेकिन खस और गुलाब की महक के सिवा और कोई सुगंध न थी।

सहसा उसे तकिये के नीचे से बाहर निकला हुआ एक कागज का पुर्जा दिखायी दिया। उसने एक हाथ से कलेजे को सँभाल कर पुर्जा निकाल लिया और सहमी हुई आँखों से उसे देखा। एक निगाह में सब कुछ मालूम हो गया। वह नादिर की किस्मत का फैसला था। नादिर के मुँह से निकला, हाय लैला ! और वह मूर्छित हो कर जमीन पर गिर पड़ा। लैला ने पुर्जे में लिखा था—'मेरे प्यारे नादिर, तुम्हारी लैला तुमसे जुदा होती है—हमेशा के लिए। मेरी तलाश मत करना, तुम मेरा सुराग़ न पाओगे। मैं तुम्हारी मुहब्बत की लौंडी थी, तुम्हारी बादशाहत की भूखी नहीं। आज एक हफ़्ते से देख रही हूँ, तुम्हारी निगाह फिरी हुई है। तुम मुझसे नहीं बोलते, मेरी तरफ़ आँख उठा कर नहीं देखते। मुझसे बेजार रहते हो। मैं किन-किन अरमानों से तुम्हारे पास जाती हूँ और कितनी मायूस हो कर लौटती हूँ, इसका तुम अंदाज नहीं कर सकते। मैंने इस सजा के लायक कोई काम नहीं किया। मैंने जो कुछ किया है, तुम्हारी ही भलाई के ख़याल से। एक हफ्ता मुझे रोते गुजर गया। मुझे मालूम हो रहा है कि अब मैं तुम्हारी नजरों से गिर गयी, तुम्हारे दिल से निकाल दी गयी। आह ! ये पाँच साल हमेशा याद रहेंगे, हमेशा तड़पाते रहेंगे ! यही डफ़ ले कर आयी थी, वही लेकर जाती हूँ. पाँच साल मुहब्बत के मजे उठा कर जिंदगी भर के लिए हसरत का दाग लिये जाती हूँ। लैला मुहब्बत की लौंडी थी; जब मुहब्बत न रही, तब लैला क्योंकर रहती ? रुखसत !'

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'सरस्वती', जनवरी, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'फिरदौसे खयाल' तथा 'प्रेमचालीसी' में संकलित।]

मंत्र-1

पंडित लीलाधर चौबे की जबान में जादू था। जिस वक्त वह मंच पर खड़े हो कर अपनी वाणी की सुधावृष्टि करने लगते थे; श्रोताओं की आत्माएँ तृप्त हो जाती थीं, लोगों पर अनुराग का नशा छा जाता था। चौबेजी के व्याख्यानों में तत्त्व तो बहुत कम होता था, शब्द-योजना भी बहुत सुन्दर न होती थी; लेकिन बार-बार दुहराने पर भी उसका असर कम न होता, बल्कि घन की चोटों की भाँति और भी प्रभावोत्पादक हो जाता था। हमें तो विश्वास नहीं आता, किन्तु सुननेवाले कहते हैं, उन्होंने केवल एक व्याख्यान रट रखा है। और उसी को वह शब्दशः प्रत्येक सभा में एक नये अन्दाज से दुहराया करते हैं। जातीय गौरव-गान उनके व्याख्यानों का प्रधान गुण था; मंच पर आते ही भारत के प्राचीन गौरव और पूर्वजों की अमर-कीर्ति का राग छेड़ कर सभा को मुग्ध कर देते थे। यथा–

'सज्जनो ! हमारी अधोगति की कथा सुन कर किसकी आँखों से अश्रुधारा न निकल पड़ेगी ? हमें प्राचीन गौरव को याद करके संदेह होने लगता है कि हम वही हैं, या बदल गये। जिसने कल सिंह से पंजा लिया, वह आज चूहे को देख कर बिल खोज रहा है। इस पतन की भी सीमा है। दूर क्यों जाइए, महाराज चंद्रगुप्त के समय को ही ले लीजिए। यूनान का सुविज्ञ इतिहासकार लिखता है कि उस जमाने में यहाँ द्वार पर ताले न डाले जाते थे, चोरी कहीं सुनने में न आती थी, व्यभिचार का नाम-निशान न था, दस्तावेजों का आविष्कार ही न हुआ था, पुर्जो पर लाखों का लेन-देन हो जाता था, न्याय पद पर बैठे हुए कर्मचारी मक्खियाँ मारा करते थे। सज्जनो ! उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था। (तालियाँ) हाँ, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था। बाप के सामने बेटे का अवसान हो जाना एक अभूतपूर्व–एक असंभव–घटना थी। आज ऐसे कितने माता-पिता हैं, जिनके कलेजे पर जवान बेटे का दाग न हो ? वह भारत नहीं रहा, भारत गारत हो गया !'

यह चौबे जी की शैली थी। वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग अलाप कर लोगों में जातीय स्वाभिमान जाग्रत कर देते थे। इसी सिद्धि की बदौलत उनकी नेताओं में गणना होती थी। विशेषतः हिंदू-सभा के तो वह कर्णधार ही समझे जाते थे। हिंदू-सभा के उपासकों में कोई ऐसा उत्साही, ऐसा दक्ष, ऐसा नीति-चतुर दूसरा न था। यों कहिए कि सभा के लिए उन्होंने अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। धन तो उनके पास न था, कम से कम लोगों का विचार यही था; लेकिन साहस, धैर्य और बुद्धि जैसा अमूल्य रत्न उनके पास थे, और ये सभी सभा को अर्पण थे। 'शुद्धि' के तो मानो प्राण ही थे। हिंदू-जाति का उत्थान और पतन, जीवन और मरण उनके विचार में इसी प्रश्न पर अवलम्बित था। शुद्धि के सिवा अब हिंदू जाति के पुनर्जीवन का और कोई उपाय न था। जाति की समस्त नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आंदोलन की सफलता में मर्यादित थी, और वह तन, मन से इसका उद्योग किया करते थे। चंदे वसूल करने में चौबे जी सिद्धहस्त थे। ईश्वर ने उन्हें वह 'गुन' बता दिया था कि पत्थर से भी तेल निकाल सकते थे। कंजूसों को तो वह ऐसा उलटे छुरे से मूड़ते थे कि उन महाशयों को सदा के लिए शिक्षा मिल जाती थी ! इस विषय

में पंडित जी साम, दाम, दंड और भेद इन चारों नीतियों से काम लेते थे, यहाँ तक कि राष्ट्र-हित के लिए डाका और चोरी को भी क्षम्य समझते थे।

2

गरमी के दिन थे। लीलाधर जी किसी शीतल पार्वत्य-प्रदेश को जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि सैर की सैर हो जायगी, और बन पड़ा तो कुछ चंदा भी वसूल कर लायेंगे। उनको जब भ्रमण की इच्छा होती, तो मित्रों के साथ एक डेपुटेशन के रूप में निकल खड़े होते; अगर एक हजार रुपये वसूल करके वह इसका आधा सैर-सपाटे में खर्च भी कर दें, तो किसी की क्या हानि ? हिंदू सभा को तो कुछ न कुछ मिल ही जाता था। वह न उद्योग करते, तो इतना भी तो न मिलता ! पंडित जी ने अब की सपरिवार जाने का निश्चय किया था ? जब से 'शुद्धि' का आविर्भाव हुआ था, उनकी आर्थिक दशा, जो पहले बहुत शोचनीय रहती थी, बहुत कुछ सम्हल गयी थी।

लेकिन जाति के उपासकों का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि शांति-निवास का आनन्द उठा सकें। उनका तो जन्म ही मारे-मारे फिरने के लिए होता है। खबर-आयी कि मद्रास-प्रांत में तबलीग वालों ने तूफान मचा रखा है। हिन्दुओं के गाँव के गाँव मुसलमान होते जाते हैं। मुल्लाओं ने बड़े जोश से तबलीग का काम शुरू किया है; अगर हिन्दू-सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रांत हिन्दुओं से शून्य हो जायगा—किसी शिखाधरी की सूरत तक न नजर आयेगी।

हिन्दू-सभा में खलबली मच गयी। तुरन्त एक विशेष अधिवेशन हुआ और नेताओं के सामने यह समस्या उपस्थित की गयी। बहुत सोच-विचार के बाद निश्चय हुआ कि चौबे जी पर इस कार्य का भार रखा जाय। उनसे प्रार्थना की जाय कि वह तुरंत मद्रास चले जायें, और धर्म-विमुख बंधुओं का उद्धार करें। कहने ही की देर थी। चौबे जी तो हिंदू-जाति की सेवा के लिए अपने को अर्पण ही कर चुके थे; पर्वत-यात्रा का विचार रोक दिया, और मद्रास जाने को तैयार हो गये। हिन्दू-सभा के मंत्री ने आँखों में आँसू भर कर उनसे विनय की कि महाराज, यह बेड़ा आप ही उठा सकते हैं। आप ही को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है। आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य भारतवर्ष में नहीं है, जो इस घोर विपत्ति में काम आये। जाति की दीन-हीन दशा पर दया कीजिए। चौबे जी इस प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। फौरन सेवकों की एक मंडली बनी और पंडित जी के नेतृत्व में रवाना हुई। हिन्दू-सभा ने उसे बड़ी धूम से बिदाई का भोज दिया। एक उदार रईस ने चौबे जी को एक थैली भेंट की, और रेलवे-स्टेशन पर हजारों आदमी उन्हें बिदा करने आये।

यात्रा का वृत्तांत लिखने की जरूरत नहीं। हर एक बड़े स्टेशन पर सेवकों का सम्मानपूर्ण स्वागत हुआ। कई जगह थैलियाँ मिलीं। रतलाम की रियासत ने एक शामियाना भेंट किया। बड़ौदा ने एक मोटर दी कि सेवकों को पैदल चलने का कष्ट न उठाना पड़े, यहाँ तक कि मद्रास पहुँचते-पहुँचते सेवा-दल के पास एक माकूल रकम के अतिरिक्त जरूरत की कितनी चीजें जमा हो गयीं। वहाँ आबादी से दूर खुले हुए मैदान में हिंदू-सभा का पड़ाव पड़ा। शामियाने पर राष्ट्रीय-झंडा लहराने लगा। सेवकों ने अपनी-अपनी वर्दियाँ

निकालीं, स्थानीय धन-कुबेरों ने दावत के सामान भेजे, रावटियाँ पड़ गयीं। चारों ओर ऐसी चहल-पहल हो गयी, मानो किसी राजा का कैम्प है।

3

रात के आठ बजे थे। अछूतों की एक बस्ती के समीप, सेवक-दल का कैम्प गैस के प्रकाश से जगमगा रहा था। कई हजार आदमियों का जमाव था, जिनमें अधिकांश अछूत ही थे। उनके लिए अलग टाट बिछा दिये गये थे। ऊँचे वर्ण के हिंदू कालीनों पर बैठे हुए थे। पंडित लीलाधर का धुआँधार व्याख्यान हो रहा था—तुम उन्हीं ऋषियों की संतान हो, जो आकाश के नीचे एक नयी सृष्टि की रचना कर सकते थे ! जिनके न्याय, बुद्धि और विचार-शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है।

सहसा एक बूढ़े अछूत ने उठ कर पूछा—हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की संतान हैं ?

लीलाधर—निस्संदेह ! तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है और यद्यपि आज का निर्दयी, कठोर, विचार-हीन और संकुचित हिंदू-समाज तुम्हें अवहेलना की दृष्टि से देख रहा है; तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो।

बूढ़ा—तुम्हारी सभा हम लोगों की सुधि क्यों नहीं लेती ?

लीलाधर—हिंदू-सभा का जन्म अभी थोड़े ही दिन हुए हुआ है, और इस अल्पकाल में उसने जितने काम किये हैं, उस पर उसे अभिमान हो सकता है। हिंदू-जाति शताब्दियों के बाद गहरी नींद से चौंकी है, और अब वह समय निकट है, जब भारतवर्ष में कोई हिंदू किसी हिंदू को नीच न समझेगा, जब वह सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचन्द्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूठे बेर खाये थे...

बूढ़ा—आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं, तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं ?

लीलाधर—इसलिए कि हम पतित हो गये हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गये हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे ?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा ?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते, मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च-वर्ण के हिंदुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा—हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते; और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-सम्बन्ध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं ? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइए, अभी कुछ दिन और

अपनी आत्मा का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किये न होगा। हिंदू-समाज में रह कर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो जायँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। हिंदुओं की आत्मा मर गयी है, और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है ! हम अब देवता की शरण जा रहे हैं, जिनके माननेवाले हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदल कर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे, वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं। आप अगर ऊँचे हैं, तो ऊँचे बने रहिए। हमें उड़ना न पड़ेगा।

लीलाधर—एक ऋषि-संतान के मुँह से ऐसी बातें सुन कर मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो ?

बूढ़ा--ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं—तुम मदिरा पीते हो; लेकिन आप मदिरा पीने वालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं; लेकिन आप गो-मांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसलिए न कि वे आप से बलवान् हैं ! हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँध खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है, जो बलवान् है; वही नीच है, जो निर्बल है। यही आपका धर्म है ?

यह कह कर बूढ़ा वहाँ से चला गया और उसके साथ ही और लोग भी उठ खड़े हुए। केवल चौबे जी और उनके दलवाले मंच पर रह गये, मानो मंचगान समाप्त हो जाने के बाद उसकी प्रतिध्वनि वायु में गूँज रही हो।

4

तबलीगवालों ने जब से चौबे जी की आने की खबर सुनी थी, इस फिक्र में थे कि किसी उपाय से इन सबको यहाँ से दूर करना चाहिए। चौबे जी का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। जानते थे, यह यहाँ जम गया, तो हमारी सारी की-करायी मेहनत व्यर्थ हो जायगी। इसके कदम यहाँ जमने न पायें। मुल्लाओं ने उपाय सोचना शुरू किया। बहुत वाद-विवाद, हुज्जत और दलील के बाद निश्चय हुआ कि इस काफिर को कत्ल कर दिया जाय। ऐसा सवाब लूटने के लिए आदमियों की क्या कमी ? उनके लिए तो जन्नत का दरवाजा खुल जायगा, हूरें उसकी बलाएँ लेंगी, फरिश्ते उसके कदमों की खाक का सुरमा बनायेंगे, रसूल उसके सर पर बरकत का हाथ रखेंगे, खुदाबन्द-करीम उसे सीने से लगायेंगे और कहेंगे—तू मेरा प्यारा दोस्त है। दो हट्टे-कट्टे जवानों ने तुरन्त बीड़ा उठा लिया।

रात के दस बज गये थे। हिन्दू-सभा के कैंप में सन्नाटा था। केवल चौबे जी अपनी रावटी में बैठे हिन्दू-सभा के मंत्री को पत्र लिख रहे थे—यहाँ सबसे बड़ी आवश्यकता धन की है। रुपया, रुपया, रुपया ! जितना भेज सकें, भेजिए। डेपुटेशन भेज कर वसूल कीजिए, मोटे महाजनों की जेब टटोलिए, भिक्षा माँगिए। बिना धन के इन अभागों का उद्धार न होगा। जब तक कोई पाठशाला न खुले, कोई चिकित्सालय न स्थापित हो, कोई वाचनालय न हो, इन्हें कैसे विश्वास आयेगा कि हिन्दू-सभा उनकी हितचिंतक है। तबलीगवाले जितना खर्च कर रहे हैं, उसका आधा भी मुझे मिल जाय, तो हिंदू-धर्म की पताका फहरने लगे। केवल व्याख्यानों से काम न चलेगा। असीसों से कोई जिंदा नहीं रहता।

सहसा किसी की आहट पा कर वह चौंक पड़े। आँखें ऊपर उठायीं तो देखा, दो आदमी सामने खड़े हैं। पंडित जी ने शंकित हो कर पूछा—तुम कौन हो ? क्या काम है ?

उत्तर मिला—हम इजराईल के फरिश्ते हैं। तुम्हारी रूह कब्ज करने आये हैं। इजराईल ने तुम्हें याद किया है।

पंडित जी यों बहुत ही बलिष्ठ पुरुष थे, उन दोनों को एक धक्के में गिरा सकते थे। प्रातःकाल तीन पाव मोहनभोग और दो सेर दूध का नाश्ता करते थे। दोपहर के समय पाव भर घी दाल में खाते, तीसरे पहर दूधिया भंग छानते, जिसमें सेर भर मलाई और आधा सेर बादाम मिली रहती। रात को डट कर ब्यालू करते; क्योंकि प्रातःकाल तक फिर कुछ न खाते थे। इस पर तुर्रा यह कि पैदल पग भर भी न चलते थे ! पालकी मिले, तो पूछना ही क्या, जैसे घर का पलंग उड़ा जा रहा हो। कुछ न हो, तो इक्का तो था ही; यद्यपि काशी में ही दो ही चार इक्केवाले ऐसे थे जो उन्हें देख कर कह न दें कि 'इक्का खाली नहीं है।' ऐसा मनुष्य नर्म अखाड़े में पट पड़ कर ऊपरवाले पहलवान को थका सकता था, चुस्ती और फुर्ती के अवसर पर तो वह रेत पर निकला हुआ कछुआ था।

पंडित जी ने एक बार कनखियों से दरवाजे की तरफ देखा। भागने का कोई मौका न था। तब उनमें साहस का संचार हुआ। भय की पराकाष्ठा ही साहस है। अपने सोंटे की तरफ हाथ बढ़ाया और गरज कर बोले—निकल जाओ यहाँ से !

बात मुँह से पूरी न निकली थी कि लाठियों का वार पड़ा। पंडित जी मूर्च्छित हो कर गिर पड़े। शत्रुओं ने समीप में आ कर देखा, जीवन का कोई लक्षण न था। समझ गये, काम तमाम हो गया। लूटने का विचार न था; पर जब कोई पूछनेवाला न हो, तो हाथ बढ़ाने में क्या हर्ज ? जो कुछ हाथ लगा, ले-दे कर चलते बने।

5

प्रातःकाल बूढ़ा भी उधर से निकला, तो सन्नाटा छाया हुआ था, न आदमी, न आदमजाद। छौलदारियाँ भी गायब ! चकराया, यह माजरा क्या है ? रात ही भर में अलादीन के महल की तरह सब कुछ गायब हो गया। उन महात्माओं में से एक भी नजर नहीं आता, जो प्रातःकाल मोहनभोग उड़ाते और संध्या समय भंग घोटते दिखायी देते थे। जरा और समीप जा कर पंडित लीलाधर की रावटी में झाँका, तो कलेजा सन्न से हो गया ! पंडित जी जमीन पर मुर्दे की तरह पड़े हुए थे। मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। सिर के बालों में रक्त ऐसा जम गया था, जैसे किसी चित्रकार के ब्रश में रंग। सारे कपड़े लहूलुहान हो रहे थे। समझ गया, पंडित जी के साथियों ने उन्हें मार कर अपनी राह ली। सहसा पंडित जी के मुँह से कराहने की आवाज निकली। अभी जान बाकी थी। बूढ़ा तुरन्त दौड़ा हुआ गाँव में आ गया और कई आदमियों को लाकर पंडित जी को अपने घर उठवा ले गया।

मरहम-पट्टी होने लगी। बूढ़ा दिन के दिन और रात की रात पंडित जी के पास बैठा रहता। उसके घरवाले उनकी शुश्रूषा में लगे रहते। गाँव वाले भी यथाशक्ति सहायता करते। इस बेचारे का यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है ? अपने हैं तो हम, बेगाने हैं तो हम। हमारे ही उद्धार के लिए तो बेचारा यहाँ आया था, नहीं तो यहाँ उसे क्यों आना था ? कई बार पंडित जी अपने घर पर बीमार पड़ चुके थे, पर उनके घरवालों ने इतनी तन्मयता से उनकी

तीमारदारी न की थी। सारा घर, और घर ही नहीं; सारा गाँव उनका गुलाम बना हुआ था। अतिथि-सेवा उनके धर्म का एक अंग था। सभ्य-स्वार्थ ने अभी उस भाव का गला नहीं घोंटा था। साँप का मंत्र जाननेवाला देहाती अब भी माघ-पूस की अँधेरी मेघाच्छन्न रात्रि में मंत्र झाड़ने के लिए दस-पाँच कोस पैदल दौड़ता हुआ चला जाता है। उसे डबल फीस और सवारी की जरूरत नहीं होती। बूढ़ा मल-मूत्र तक अपने हाथों उठा कर फेंकता, पंडित जी की घुड़कियाँ सुनता, सारे गाँव से दूध माँग कर उन्हें पिलाता। पर उसकी त्योरियाँ कभी मैली न होतीं। अगर उसके कहीं चले जाने पर घरवाले लापरवाही करते तो आ कर सबको डाँटता।

महीने भर के बाद पंडित जी चलने-फिरने लगे और अब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने मेरे साथ कितना उपकार किया है। इन्हीं लोगों का काम था कि मुझे मौत के मुँह से निकाला, नहीं तो मरने में क्या कसर रह गयी थी ? उन्हें अनुभव हुआ कि मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठा कर आया था वे मुझसे कहीं ऊँचे हैं। मैं इस परिस्थिति में कदाचित् रोगी को किसी अस्पताल में भेज कर ही अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा पर गर्व करता; समझता मैंने दधीचि और हरिश्चन्द्र का मुख उज्ज्वल कर दिया। उनके रोएँ-रोएँ से इन देव-तुल्य प्राणियों के प्रति आशीर्वाद निकलने लगा।

6

तीन महीने गुजर गये। न तो हिन्दू-सभा ने पंडित जी की खबर ली और न घरवालों ने। सभा के मुख-पत्र में उनकी मृत्यु पर आँसू बहाये गये, उनके कामों की प्रशंसा की गयी, और उनका स्मारक बनाने के लिए चन्दा खोल दिया गया। घरवाले भी रो-पीट कर बैठ रहे।

उधर पंडित जी दूध और घी खा कर चौक-चौबंद हो गये। चेहरे पर खून की सुर्खी दौड़ गयी, देह भर आयी। देहात के जलवायु ने वह काम कर दिखाया जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ था। पहले की तरह तैयार तो वह न हुए; पर फुर्ती और चुस्ती दुगुनी हो गयी। मोटाई का आलस्य अब नाम को भी न था। उनमें एक नये जीवन का प्रचार हो गया।

जाड़ा शुरू हो गया था। पंडित जी घर लौटने की तैयारियाँ कर रहे थे। इतने में प्लेग का आक्रमण हुआ, और गाँव के तीन आदमी बीमार हो गये। बूढ़ा चौधरी भी उन्हीं में था। घरवाले इन रोगियों को छोड़कर भाग खड़े हुए। वहाँ का दस्तूर था कि जिन बीमारियों को वे लोग देवी का कोप समझते थे, उनके रोगियों को छोड़ कर चले जाते थे। उन्हें बचाना देवताओं से वैर मोल लेना था, और देवताओं से वैर कर के कहाँ जाते ? जिस प्राणी को देवता ने चुन लिया, उसे भला वे उसके हाथों से छीनने का साहस कैसे करते ? पंडित जी को भी लोगों ने साथ ले जाना चाहा; किंतु पंडित जी न गये। उन्होंने गाँव में रह कर रोगियों की रक्षा करने का निश्चय किया। जिस प्राणी ने उन्हें मौत के पंजे से छुड़ाया था; उसे इस दशा में छोड़कर वह कैसे जाते ? उपकार ने उनकी आत्मा को जगा दिया था। बूढ़े चौधरी ने तीसरे दिन होश आने पर जब उन्हें अपने पास खड़े देखा, तो बोला—महाराज, तुम यहाँ क्यों आ गये ? मेरे लिए देवताओं का हुक्म आ गया है। अब मैं किसी तरह नहीं रुक

सकता। तुम क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हो ? मुझ पर दया करो, चले जाओ।

लेकिन पंडित जी पर कोई असर न हुआ। वह बारी-बारी से तीनों रोगियों के पास जाते और कभी उनकी गिल्टियाँ सेंकते, कभी उन्हें पुराणों की कथाएँ सुनाते। घरों में नाज, बरतन आदि सब ज्यों के त्यों रखे हुए थे। पंडित जी पथ्य बना कर रोगियों को खिलाते। रात को जब रोगी सो जाते और सारा गाँव भाँय-भाँय करने लगता तो पंडित जी को भयंकर जंतु दिखायी देते। उनके कलेजे में धड़कन होने लगती; लेकिन वहाँ से टलने का नाम न लेते। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि या तो इन लोगों को बचा ही लूँगा या इन पर अपने को बलिदान ही कर दूँगा।

जब तीन दिन सेंक-बाँध करने पर भी रोगियों की हालत न सँभली, तो पंडित जी को बड़ी चिंता हुई। शहर वहाँ से बीस मील पर था। रेल का कहीं पता नहीं, रास्ता बीहड़ और सवारी कोई नहीं। इधर यह भय कि अकेले रोगियों की न जाने क्या दशा हो। बेचारे बड़े संकट में पड़े। अंत को चौथे दिन, पहर रात रहे, वह अकेले शहर को चल दिये और दस बजते-बजते वहाँ जा पहुँचे। अस्पताल से दवा लेने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। गँवारों से अस्पतालवाले दवाओं का मनमाना दाम वसूल करते थे। पंडित जी को मुफ्त क्यों देने लगे ? डाक्टर ने मुंशी से कहा—दवा तैयार नहीं है।

पंडित जी ने गिड़गिड़ा कर कहा—सरकार, बड़ी दूर से आया हूँ। कई आदमी बीमार पड़े हैं। दवा न मिलेगी, तो सब मर जायँगे।

मुंशी ने बिगड़ कर कहा—क्यों सिर खाये जाते हो ? कह तो दिया, दवा तैयार नहीं है, न तो इतनी जल्दी हो ही सकती है।

पंडित जी अत्यंत दीनभाव से बोले—सरकार, ब्राह्मण हूँ; आपके बाल-बच्चों को भगवान चिरंजीवी करें, दया कीजिए। आपका अकबाल चमकता रहे।

रिश्वती कर्मचारी में दया कहाँ ? वे तो रुपये के गुलाम हैं। ज्यों-ज्यों पंडित जी उसकी खुशामद करते थे, वह और भी झल्लाता था। अपने जीवन में पंडित जी ने कभी इतनी दीनता न प्रकट की थी। उनके पास इस वक्त एक धेला भी न था; अगर वह जानते कि दवा मिलने में इतनी दिक्कत होगी, तो गाँववालों से ही कुछ माँग-जाँच कर लाये होते। बेचारे हतबुद्धि-से खड़े सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए ? सहसा डाक्टर साहब स्वयं बँगले से निकल आये। पंडित जी लपक कर उनके पैरों पर गिर पड़े और करुण-स्वर में बोले—दीनबंधु, मेरे घर के तीन आदमी ताऊन में पड़े हुए हैं। बड़ा गरीब हूँ, सरकार, कोई दवा मिले।

डाक्टर साहब के पास ऐसे गरीब लोग नित्य आया करते थे। उनके चरण पर किसी का गिर पड़ना, उनके सामने पड़े हुए आर्त्तनाद करना, उनके लिए कुछ नयी बातें न थीं। अगर इस तरह वह दया करने लगते तो दवा ही भर को होते; यह ठाट-बाठ कहाँ से निभता ? मगर दिल के चाहे कितने ही बुरे हों, बातें मीठी-मीठी करते थे। पैर हटा कर बोले—रोगी कहाँ है ?

पंडित जी—सरकार, वे तो घर पर हैं। इतनी दूर कैसे लाता ?

डाक्टर—रोगी घर, और तुम दवा लेने आया हो ? कितने मजे की बात है ! रोगी को देख बिना कैसे दवा दे सकता हूँ ?

पंडित जी को अपनी भूल मालूम हुई। वास्तव में बिना रोगी को देखे रोग की पहचान कैसे हो सकती है; लेकिन तीन-तीन रोगियों को इतनी दूर लाना आसान न था। अगर गाँववाले उनकी सहायता करते तो डोलियों का प्रबंध हो सकता था; पर वहाँ तो सब कुछ अपने ही बूते पर करना था, गाँववालों से इसमें सहायता मिलने की कोई आशा न थी। सहायता की कौन कहे, वे तो उनके शत्रु हो रहे थे। उन्हें भय होता था कि यह दुष्ट देवताओं से वैर बढ़ा कर हम लोगों पर न-जाने क्या विपत्ति लायेगा। अगर कोई दूसरा आदमी होता, तो वह उसे कब का मार चुके होते। पंडित जी से उन्हें प्रेम हो गया था, इसलिए छोड़ दिया था।

यह जवाब सुन कर पंडित जी को कुछ बोलने का साहस तो न था; पर कलेजा मजबूत करके बोले—सरकार, अब कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—अस्पताल से दवा नहीं मिल सकती। हम अपने पास से, दाम लेकर दवा दे सकते हैं।

पंडित जी—यह दवा कितने की होगी, सरकार।

डाक्टर साहब ने दवा का दाम 10 रु. बतलाया, और यह भी कहा कि इस दवा से जितना लाभ होगा, उतना अस्पताल की दवा से नहीं हो सकता। बोले—वहाँ पुरानी दवाई रखा रहता है। गरीब लोग आता है; दवाई ले जाता है; जिसको जीना होता है; जीता है, जिसे मरना होता है, मरता है; हमसे कुछ मतलब नहीं। हम तुमको जो दवा देगा, वह सच्चा दवा होगा।

दस रुपये !—इस समय पंडित जी को दस रुपये दस लाख जान पड़े। इतने रुपये वह एक दिन में भंग बूटी में उड़ा दिया करते थे; पर इस समय तो धेले-धेले को मुहताज थे। किसी से उधार मिलने की आशा कहाँ। हाँ, सम्भव है, भिक्षा माँगने से कुछ मिल जाय; लेकिन इतनी जल्द दस रुपये किसी भी उपाय से न मिल सकते थे। आधे घंटे तक वह इसी उधेड़बुन में खड़े रहे। भिक्षा के सिवा दूसरा कोई उपाय न सूझता था, और भिक्षा उन्होंने कभी माँगी न थी। वह चंदे जमा कर चुके थे, एक-एक बार में हजारों वसूल कर लेते थे; पर वह दूसरी बात थी। धर्म के रक्षक, जाति के सेवक और दलितों के उद्धारक बन कर चंदा लेने में एक गौरव था, चंदा लेकर वह देनेवालों पर एहसान करते थे; पर यहाँ तो भिखारियों की तरह हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना और फटकारें सहनी पड़ेंगी। कोई कहेगा—इतने मोटे-ताजे तो हो, मिहनत क्यों नहीं करते, तुम्हें भीख माँगते शर्म भी नहीं आती ? कोई कहेगा—घास खोद लाओ, मैं तुम्हें अच्छी मजदूरी दूँगा। किसी को उनके ब्राह्मण होने का विश्वास न आयेगा। अगर यहाँ उनका रेशमी अचकन और रेशमी साफा होता, केसरिया रंगवाला दुपट्टा ही मिल जाता, तो वह कोई स्वाँग भर लेते। ज्योतिषी बन कर वह किसी धनी सेठ को फाँस सकते थे, और इस फन में वह उस्ताद भी थ; पर यहाँ वह सामान कहाँ—कपड़े-लत्ते तो सब कुछ लुट चुके थे। विपत्ति में कदाचित् बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। अगर वह मैदान में खड़े होकर कोई मनोहर व्याख्यान दे देते, तो शायद उनके दस-पाँच भक्त पैदा हो जाते, लेकिन इस तरफ उनका ध्यान ही न गया। वह सजे हुए पंडाल में, फूलों से सुसज्जित मेज के सामने, मंच पर खड़े हो कर अपनी वाणी का चमत्कार दिखला सकते थे। इस दुरवस्था में कौन उनका व्याख्यान सुनेगा। लोग समझेंगे, कोई

पागल बक रहा है।

मगर दोपहर ढली जा रही थी, अधिक सोच-विचार का अवकाश न था। यहीं संध्या हो गयी, तो रात को लौटना असम्भव हो जायगा। फिर रोगियों की न जाने क्या दशा हो। वह अब इस अनिश्चित दशा में खड़े न रह सके, चाहे जितना तिरस्कार हो, कितना ही अपमान सहना पड़े, भिक्षा के सिवा और कोई उपाय न था।

वह बाजार में जाकर एक दूकान के सामने खड़े हो गये; पर कुछ माँगने की हिम्मत न पड़ी !

दूकानदार ने पूछा—क्या लोगे ?

पंडित जी बोले—चावल का क्या भाव है ?

मगर दूसरी दूकान पर पहुँच कर वह ज्यादा सावधान हो गये। सेठ जी गद्दी पर बैठे हुए थे। पंडित जी आ कर उनके सामने खड़े हो गये और गीता का एक श्लोक पढ़ सुनाया। उनका शुद्ध उच्चारण और मधुर वाणी सुन कर सेठ जी चकित हो गये, पूछा—कहाँ स्थान है ?

पंडित जी—काशी से आ रहा हूँ।

यह कह कर पंडित जी ने सेठ जी को धर्म के दसों लक्षण बतलाये और श्लोक की ऐसी अच्छी व्याख्या की कि वह मुग्ध हो गये। बोले—महाराज, आज चल कर मेरे स्थान को पवित्र कीजिए।

कोई स्वार्थी आदमी होता, तो इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता; लेकिन पंडित जी को लौटने की पड़ी थी। बोले—नहीं सेठ जी, मुझे अवकाश नहीं है।

सेठ—महाराज, आपको हमारी इतनी खातिरी करनी पड़ेगी।

पंडित जी जब किसी तरह ठहरने पर राजी न हुए, तो सेठ जी ने उदास होकर कहा—फिर हम आपकी क्या सेवा करें ? कुछ आज्ञा दीजिए। आपकी वाणी से तो तृप्ति नहीं हुई। फिर कभी इधर आना हो, तो अवश्य दर्शन दीजिएगा।

पंडित जी—आपकी इतनी श्रद्धा है तो अवश्य आऊँगा।

यह कह कर पंडित जी फिर उठ खड़े हुए। संकोच ने फिर उनकी जबान बंद कर दी। यह आदर-सत्कार इसीलिए तो है कि मैं अपना स्वार्थ-भाव छिपाये हुए हूँ। कोई इच्छा प्रकट की और इनकी आँखें बदलीं। सूखा जवाब चाहे न मिले; पर श्रद्धा न रहेगी। वह नीचे उतर गये और सड़क पर एक क्षण के लिए खड़े हो कर सोचने लगे—अब कहाँ जाऊँ ? उधर जाड़े का दिन किसी विलासी के धन की भाँति भागा चला जाता था। वह अपने ही ऊपर झुँझला रहे थे—जब किसी से माँगूँगा नहीं, तो कोई क्यों देने लगा ? कोई क्या मेरे मन का हाल जानता है ? वे दिन गये, जब धनी लोग ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। यह आशा छोड़ दो कि कोई महाशय आ कर तुम्हारे हाथ में रुपये रख देंगे। वह धीरे-धीरे आगे बढ़े।

सहसा सेठ जी ने पीछे से पुकारा—पंडित जी, जरा ठहरिए।

पंडित जी ठहर गये। फिर घर चलने के लिए आग्रह करने आता होगा। यह तो न हुआ कि एक रुपये का नोट ला कर देता, मुझे घर ले जाकर न जाने क्या करेगा?

मगर जब सेठ जी ने सचमुच एक गिनी निकाल कर उनके पैरों पर रख दी; तो उनकी आँखों में एहसान के आँसू उछल आये। हैं ! अब भी सच्चे धर्मात्मा जीव संसार में हैं, नहीं तो यह पृथ्वी रसातल को न चली जाती ? अगर इस वक्त उन्हें सेठ जी के कल्याण के लिए अपनी देह का सेर-आध सेर रक्त भी देना पड़ता, तो भी शौक से दे देते। गद्‌गद्‌-कंठ से बोले—इसका तो कुछ काम न था, सेठ जी ! मैं भिक्षुक नहीं हूँ, आपका सेवक हूँ।

सेठ जी श्रद्धा-विनयपूर्ण शब्दों में बोले—भगवान्, इसे स्वीकार कीजिए। यह दान नहीं, भेंट है। मैं भी आदमी पहचानता हूँ। बहुतेरे साधु-संत, योगी-यती देश और धर्म के सेवक आते रहते हैं; पर न जाने क्यों किसी के प्रति मेरे मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती उनसे किसी तरह पिंड छुड़ाने की पड़ जाती है। आपका संकोच देख कर मैं समझ गया कि आपका यह पेशा नहीं है। आप विद्वान् हैं, धर्मात्मा हैं; पर किसी संकट में पड़े हुए हैं। इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिए और मुझे आशीर्वाद दीजिए।

7

पंडित जी दवाएँ लेकर घर चले, तो हर्ष, उल्लास और विजय से उनका हृदय उछला पड़ता था। हनुमान जी भी संजीवन-बूटी ला कर इतने प्रसन्न न हुए होंगे। ऐसा सच्चा आनंद उन्हें कभी प्राप्त न हुआ था। उनके हृदय में इतने पवित्र भावों का संचार कभी न हुआ था।

दिन बहुत थोड़ा रह गया था। सूर्यदेव अविरल गति से पश्चिम की ओर दौड़ते चले जाते थे। क्या उन्हें भी किसी रोगी को दवा देनी थी ? वह बड़े वेग से दौड़ते हुए पर्वत की ओट में छिप गये ? पंडित जी और भी फुर्ती से पाँव बढ़ाने लगे, मानो उन्होंने सूर्यदेव को पकड़ लेने की ठानी है।

देखते-देखते अँधेरा छा गया। आकाश में दो-एक तारे दिखायी देने लगे। अभी दस मील की मंजिल बाकी थी। जिस तरह काली घटा को सिर पर मँडराते देख कर गृहिणी दौड़-दौड़ कर सुखावन समेटने लगती है, उसी भाँति लीलाधर ने भी दौड़ना शुरू किया। उन्हें अकेले पड़ जाने का भय न था, भय था अँधेरे में राह भूल जाने का। दायें-बायें बस्तियाँ छूटती जाती थीं। पंडित जी को ये गाँव इस समय बहुत ही सुहावने मालूम होते थे। कितने आनंद से लोग अलाव के सामने बैठे ताप रहे हैं ?

सहसा उन्हें एक कुत्ता दिखायी दिया। न-जाने किधर से आ कर वह उनके सामने पगडंडी पर चलने लगा। पंडित जी चौंक पड़े; पर एक क्षण में उन्होंने कुत्ते को पहचान लिया। वह बूढ़े चौधरी का कुत्ता मोती था। वह गाँव छोड़ कर आज इधर इतनी दूर कैसे आ निकला ? क्या वह जानता है ? पंडित जी दवा ले कर आ रहे होंगे, कहीं रास्ता भूल जायँ? कौन जानता है ? पंडित जी ने एक बार मोती कह कर पुकारा, तो कुत्ते ने दुम हिलायी; पर रुका नहीं। वह इससे अधिक परिचय दे कर समय नष्ट न करना चाहता था। पंडित जी को ज्ञात हुआ कि ईश्वर मेरे साथ है, वही मेरी रक्षा कर रहे हैं ? अब उन्हें कुशल से घर पहुँचने का विश्वास हो गया।

दस बजते-बजते पंडित जी घर पहुँच गये।

रोग घातक न था; पर यश पंडित जी को बदा था। एक सप्ताह के बाद तीनों रोगी चंगे हो गये। पंडित जी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी। उन्होंने यम-देवता से घोर संग्राम करके इन आदमियों को बचा लिया था। उन्होंने देवताओं पर भी विजय पा ली थी—असम्भव को सम्भव कर दिखाया था। वह साक्षात् भगवान् थे। उनके दर्शनों के लिए लोग दूर-दूर से आने लगे; किंतु पंडित जी को अपनी कीर्ति से इतना आनन्द न होता था, जितना रोगियों को चलते-फिरते देख कर।

चौधरी ने कहा—महाराज, तुम साक्षात् भगवान् हो। तुम न आ जाते, तो हम न बचते।

पंडित जी बोले—मैंने कुछ नहीं किया। यह सब ईश्वर की दया है।

चौधरी—अब हम तुम्हें कभी न जाने देंगे। जा कर अपने बाल-बच्चों को भी ले आओ।

पंडित जी—हाँ, मैं भी यही सोच रहा हूँ। तुमको छोड़ कर अब नहीं जा सकता।

8

मुल्लाओं ने मैदान खाली पा कर आस-पास के देहातों में खूब जोर बाँध रखा था। गाँव के गाँव मुसलमान होते जाते थे। उधर हिन्दू-सभा ने सन्नाटा खींच लिया था। किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि इधर आये। लोग दूर बैठे हुए मुसलमानों पर गोला-बारूद चला रहे थे। इस हत्या का बदला कैसे लिया जाय, यही उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी। अधिकारियों के पास बार-बार प्रार्थना-पत्र भेजे जा रहे थे कि इस मामले की छानबीन की जाय और बार-बार यही जवाब मिलता था कि हत्याकारियों का पता नहीं चलता। उधर पंडित जी के स्मारक के लिए चंदा भी जमा किया जा रहा था।

मगर इस नयी ज्योति ने मुल्लाओं का रंग फीका कर दिया। वहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था, जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर सकता था। मुल्लाओं के यहाँ यह सिद्धि कहाँ, यह विभूति कहाँ, यह चमत्कार कहाँ ? इस ज्वलंत उपकार के सामने जन्नत और अखूबत (भातृ-भाव) की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं ? पंडित जी अब वह अपने ब्राह्मणत्व पर घमंड करने वाले पंडित जी न थे। उन्होंने शूद्रों और भीलों का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पंडित जी को घृणा न होती थी। अपना घर अँधेरा पा कर ही ये इसलामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो उन्हें दूसरों के यहाँ जाने की क्या जरूरत थी। सनातन-धर्म की विजय हो गयी। गाँव-गाँव में मंदिर बनने लगे और शाम-सबेरे मन्दिरों से शंख और घंटे की ध्वनि सुनायी देने लगी। लोगों के आचरण आप ही आप सुधरने लगे। पंडित जी ने किसी को शुद्ध नहीं किया। उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी—मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा, पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी निर्मल एवं पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।

यह मंत्र था, जो उन्होंने उन चांडालों से सीखा था और इसी बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे।

पंडित जी अभी जीवित हैं; पर अब सपरिवार उसी प्रांत में, उन्हीं भीलों के साथ रहते हैं।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन हिन्दी। मासिक पत्रिका, 'माधुरी', फरवरी 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप 'तालीफ' शीर्षक से उर्दू कहानी संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित।]

कजाकी

मेरी बाल-स्मृतियों में 'कजाकी' एक न मिटने वाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गये; कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिंदादिल। वह रोज शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात-भर रहता और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता। ज्यों ही चार बजते, व्याकुल हो कर, सड़क पर आ कर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रखे, उसकी झुँझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलायी देता। वह साँवले रंग का गठीला, लम्बा जवान था। शरीर साँचे में ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूँछें, उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देख कर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुँझुनी और तेजी से बजने लगती, और मेरे हृदय में और जोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कंधा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आंदोलित आनंद न मिलता होगा जो मुझे कजाकी के विशाल कंधों पर मिलता था। संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता और जब कजाकी मुझे कंधे पर लिये हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

कजाकी डाकखाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता; लेकिन आराम करने की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को ले कर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गा कर सुनाता और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। मैं ये कहानियाँ सुनकर विस्मय-पूर्ण आनंद में मग्न हो जाता; उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूट कर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।

2

एक दिन कजाकी को डाक का थैला ले कर आने में देर हो गयी। सूर्यास्त हो गया और वह

दिखलायी न दिया। मैं खोया हुआ-सा सड़क पर दूर तक आँखें फाड़-फाड़ कर देखता था; पर वह परिचित रेखा न दिखलायी पडती थी। कान लगा कर सुनता था; 'झुन-झुन' की वह आमोदमय ध्वनि न सुनायी देती थी। प्रकाश के साथ मेरी आशा भी मलिन होती जाती थी। उधर से किसी को आते देखता, तो पूछता—कजाकी आता है ? पर या तो कोई सुनता ही न था, या केवल सिर हिला देता था।

सहसा 'झुन-झुन' की आवाज कानों में आयी। मुझे अँधेरे में चारों ओर भूत ही दिखलायी देते थे—यहाँ तक कि माता जी के कमरे में ताक पर रखी हुई मिठाई भी अँधेरा हो जाने के बाद, मेरे लिए त्याज्य हो जाती थी; लेकिन वह आवाज सुनते ही मैं उसकी तरफ़ जोर से दौड़ा। हाँ, वह कजाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गयी। मैं उसे मारने लगा, फिर रूठ करके अलग खड़ा हो गया।

कजाकी ने हँस कर कहा—मारोगे, तो मैं एक चीज लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा—जाओ, मत देना, मैं लूँगा ही नहीं।

कजाकी—अभी दिखा दूँ, तो दौड़ कर गोद में उठा लोगे।

मैंने पिघल कर कहा—अच्छा, दिखा दो।

कजाकी—तो आ कर मेरे कंधे पर बैठ जाओ भाग चलूँ। आज बहुत देर हो गयी है। बाबू जी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़ कर कहा—पहिले दिखा।

मेरी विजय हुई। अगर कजाकी को देर का डर न होता और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पाँसा पलट जाता। उसने कोई चीज दिखलायी, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाये हुए था; लम्बा मुँह था, और दो आँखें चमक रही थीं।

मैंने उसे दौड़ कर कजाकी की गोद से ले लिया। यह हिरन का बच्चा था। आह ! मेरी उस खुशी का कौन अनुमान करेगा ? तब से कठिन परीक्षाएँ पास कीं, अच्छा पद भी पाया, रायबहादुर भी हुआ; पर वह खुशी फिर न हासिल हुई। मैं उसे गोद में लिये, उसके कोमल स्पर्श का आनंद उठाता घर की ओर दौड़ा। कजाकी को आने में क्यों इतनी देर हुई इसका खयाल ही न रहा।

मैंने पूछा—यह कहाँ मिला, कजाकी ?

कजाकी—भैया, यहाँ से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा जंगल है। उसमें बहुत-से हिरन हैं। मेरा बहुत जी चाहता था कि कोई बच्चा मिल जाय, तो तुम्हें दूँ। आज यह बच्चा हिरनों के झुंड के साथ दिखलायी दिया। मैं झुंड की ओर दौड़ा, तो सब के सब भागे। यह बच्चा भी भागा; लेकिन मैंने पीछा न छोड़ा। और हिरन तो बहुत दूर निकल गये, यही पीछे रह गया। मैंने इसे पकड़ लिया। इसी से इतनी देर हुई।

यों बातें करते हम दोनों डाकखाने पहुँचे। बाबू जी ने मुझे न देखा, हिरन के बच्चे को भी न देखा, कजाकी ही पर उनकी निगाह पड़ी। बिगड़ कर बोले—आज इतनी देर कहाँ लगायी ? अब थैला ले कर आया है, उसे लेकर क्या करूँ ? डाक तो चली गयी। बता, तूने इतनी देर कहाँ लगायी ?

कजाकी के मुँह से आवाज न निकली।

बाबू जी ने कहा—तुझे शायद अब नौकरी नहीं करनी है। नीच है न, पेट भरा तो

मोटा हो गया ! जब भूखों मरने लगेगा, तो आँखें खुलेंगी।

कजाकी चुपचाप खड़ा रहा।

बाबू जी का क्रोध और बढ़ा। बोले—अच्छा, थैला रख दे और अपने घर की राह ले। सूअर, अब डाक ले के आया है। तेरा क्या बिगड़ेगा, जहाँ चाहेगा, मजूरी कर लेगा। माथे तो मेरे जायगी, जवाब तो मुझसे तलब होगा।

कजाकी ने रुआँसे हो कर कहा—सरकार, अब कभी देर न होगी।

बाबू जी—आज क्यों देर की, इसका जवाब दे ?

कजाकी के पास इसका कोई जवाब न था। आश्चर्य तो यह था कि मेरी भी जबान बंद हो गयी। बाबू जी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुंझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी जाता ही न था। वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में केवल दो बार घंटे-घंटे भर के लिए भोजन करने आते थे, बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफसरों से विनय की थी; पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबू जी दफ्तर ही में रहते थे। केवल माता जी उनका क्रोध शांत करना जानती थीं; पर वह दफ्तर में कैसे आतीं। बेचारा कजाकी उसी वक्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफा छीन लिया गया और उसे डाकखाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया। आह ! उस वक्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लंका होती, तो कजाकी को दे देता और बाबू जी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमंड होता है, उतना ही घमंड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसू बह रहे थे। और इस सारे उपद्रव की जड़ वह कोमल वस्तु थी, जो मेरी गोद में मुँह छिपाये ऐसे चैन से बैठी हुई थी, मानो माता की गोद में हो। जब कजाकी चला तो मैं धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे चला। मेरे घर के द्वार पर आ कर कजाकी ने कहा—भैया, अब घर जाओ; साँझ हो गयी।

मैं चुपचाप खड़ा अपने आँसुओं के वेग को सारी शक्ति से दबा रहा था। कजाकी फिर बोला—भैया, मैं कहीं बाहर थोड़े ही चला जाऊँगा। फिर आऊँगा और तुम्हें कंधे पर बैठा कर कुदाऊँगा। बाबू जी ने नौकरी ले ली है, तो क्या इतना भी न करने देंगे ! तुमको छोड़ कर मैं कहीं न जाऊँगा, भैया ! जाकर अम्माँ से कह दो, कजाकी जाता है। उसका कहा-सुना माफ करें।

मैं दौड़ा हुआ घर गया, लेकिन अम्माँ जी के कुछ कहने के बदले बिलख-बिलख कर रोने लगा। अम्माँ जी रसोई के बाहर निकल कर पूछने लगीं—क्या हुआ बेटा ? किसने मारा ! बाबू जी ने कुछ कहा है ? अच्छा; रह तो जाओ, आज घर आते हैं, पूछती हूँ। जब देखो, मेरे लड़के को मारा करते हैं। चुप रहो बेटा, अब तुम उनके पास कभी मत जाना।

मैंने बड़ी मुश्किल से आवाज सँभाल कर कहा—कजाकी···

अम्माँ ने समझा, कजाकी ने मारा है; बोलीं—अच्छा, आने दो कजाकी को देखो, खड़े-खड़े निकलवा देती हूँ। हरकारा हो कर मेरे राजा बेटा को मारे ! आज ही तो साफा, बल्लम, सब छिनवाये लेती हूँ। वाह !

मैंने जल्दी से कहा—नहीं, कजाकी ने नहीं मारा। बाबू जी ने उसे निकाल दिया है; उसका साफा, बल्लम छीन लिया—चपरास भी ले ली।

अम्माँ—यह तुम्हारे बाबू जी ने बहुत बुरा किया। वह बेचारा अपने काम में इतना चौकस रहता है। फिर उसे क्यों निकाला ?

मैंने कहा—आज उसे देर हो गयी थी।

यह कह कर मैंने हिरन के बच्चे को गोद से उतार दिया। घर में उसके भाग जाने का भय न था। अब तक अम्माँ जी की निगाह भी उस पर न पड़ी थी। उसे फुदकते देख कर वह सहसा चौंक पड़ीं और लपक कर मेरा हाथ पकड़ लिया कि कहीं यह भयंकर जीव मुझे काट न खाय ! मैं कहाँ तो फूट-फूट कर रो रहा था और कहाँ अम्माँ की घबराहट देख कर खिलखिला कर हँस पड़ा।

अम्माँ—अरे, यह तो हिरन का बच्चा है ! कहाँ मिला ?

मैंने हिरन के बच्चे का सारा इतिहास और उसका भीषण परिणाम आदि से अंत तक कह सुनाया—अम्माँ, यह इतना तेज भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड़ ही न सकता। सन्-सन्, हवा की तरह उड़ता चला जाता था। कजाकी पाँच-छः घंटे तक इसके पीछे दौड़ता रहा। तब कहीं जा कर बचा मिले। अम्माँ जी, कजाकी की तरह कोई दुनिया भर में नहीं दौड़ सकता, इसी से तो देर हो गयी। इसलिए बाबू जी ने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा ? भूखों मर जायगा।

अम्माँ ने पूछा—कहाँ है कजाकी, जरा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खड़ा है। कहता था, अम्माँ जी से मेरा कहा-सुना माफ करवा देना।

अब तक अम्माँ जी मेरे वृत्तांत को दिल्लगी समझ रही थीं। शायद वह समझती थीं कि बाबू जी ने कजाकी को डाँटा होगा; लेकिन मेरा अंतिम वाक्य सुनकर संशय हुआ कि सचमुच तो कजाकी बरखास्त नहीं कर दिया गया। बाहर आ कर 'कजाकी! कजाकी !' पुकारने लगीं, पर कजाकी का कहीं पता न था। मैंने बार-बार पुकारा; लेकिन कजाकी वहाँ न था।

खाना तो मैंने खा लिया—बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, खास कर जब रबड़ी भी सामने हो; मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपये होते, तो एक लाख रुपये कजाकी को दे देता और कहता—बाबू जी से कभी मत बोलना। बेचारा भूखों मर जायगा ! देखूँ, कल आता है कि नहीं। अब क्या करेगा आ कर ? मगर आने को तो कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊँगा।

यही हवाई किले बनाते-बनाते मुझे नींद आ गयी।

3

दूसरे दिन मैं दिन भर अपने हिरन के बच्चे की सेवा-सत्कार में व्यस्त रहा। पहले उसका नामकरण संस्कार हुआ। 'मुन्नू' नाम रखा गया। फिर मैंने उसका अपने सब हमजोलियों और सहपाठियों से परिचय कराया। दिन ही भर में वह मुझसे इतना हिल गया कि मेरे

पीछे-पीछे दौड़ने लगा। इतनी ही देर में मैंने उसे अपने जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया। अपने भविष्य में बननेवाले विशाल भवन में उसके लिए अलग कमरा बनाने का भी निश्चय कर लिया; चारपाई, सैर करने की फिटन आदि का भी आयोजन कर लिया।

लेकिन संध्या होते ही मैं सब कुछ छोड़-छाड़ कर सड़क पर जा खड़ा हुआ और कजाकी की बाट जोहने लगा। जानता था कि कजाकी निकाल दिया गया है. अब उसे यहाँ आने की कोई जरूरत नहीं रही। फिर न-जाने मुझे क्यों यह आशा हो रही थी कि वह आ रहा है। एकाएक मुझे खयाल आया कि कजाकी भूखों मर रहा होगा। मैं तुरंत घर आया। अम्माँ दिया-बत्ती कर रही थीं। मैंने चुपके से एक टोकरी में आटा निकाला; आटा हाथों में लपेटे, टोकरी से गिरते आटे की एक लकीर बनाता हुआ भागा। जा कर सड़क पर खड़ा हुआ ही था कि कजाकी सामने से आता दिखलायी दिया। उसके पास बल्लम भी था, कमर में चपरास भी थी, सिर पर साफा भी बँधा हुआ था। बल्लम में डाक का थैला भी बँधा हुआ था। मैं दौड़ कर उसकी कमर से चिपट गया और विस्मित हो कर बोला—तुम्हें चपरास और बल्लम कहाँ से मिल गया, कजाकी ?

कजाकी ने मुझे उठा कर कंधे पर बैठालते हुए कहा—वह चपरास किस काम की थी, भैया ? वह तो गुलामी की चपरास थी, यह पुरानी खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रखी थी। बोला—यह आटा कैसा है, भैया ?

मैंने सकुचाते हुए कहा—तुम्हारे ही लिए तो लाया हूँ। तुम भूखे होगे, आज क्या खाया होगा ?

कजाकी—आँखें तो मैं न देख सका, उसके कंधे पर बैठा हुआ था; हाँ, उसकी आवाज से मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है। बोला—भैया, क्या रूखी ही रोटियाँ खाऊँगा? दाल, नमक, घी—और तो कुछ नहीं है। मैं अपनी भूल पर बहुत लज्जित हुआ। सच तो है, बेचारा रूखी रोटियाँ कैसे खायगा ? लेकिन नमक, दाल, घी कैसे लाऊँ ? अब तो अम्माँ चौके में होंगी। आटा ले कर तो किसी तरह भाग आया था (अभी तक मुझे न मालूम था कि मेरी चोरी पकड़ ली गयी; आटे की लकीर ने सुराग दे दिया है)। अब ये तीन-तीन चीजें कैसे लाऊँगा ? अम्माँ से माँगूँगा, तो कभी न देंगी। एक-एक पैसे के लिए तो घण्टों रुलाती हैं, इतनी सारी चीजें क्यों देने लगीं ? एकाएक मुझे एक बात याद आयी। मैंने अपनी किताबों के बस्तों में कई आने पैसे रख छोड़े थे। मुझे पैसे जमा करके रखने में बड़ा आनन्द आता था। मालूम नहीं अब वह आदत क्यों बदल गयी। अब भी वही हालत होती तो शायद इतना फाकेमस्त न रहता। बाबू जी मुझे प्यार तो कभी न करते थे; पर पैसे खूब देते थे, शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिंड छुड़ाने के लिए इसी नुस्खे को सब से आसान समझते थे। इनकार करने में मेरे रोने और मचलने का भय था। इस बाधा को वह दूर ही से टाल देते थे। अम्माँ जी का स्वभाव इससे ठीक प्रतिकूल था। उन्हें मेरे रोने और मचलने से किसी काम में बाधा पड़ने का भय न था। आदमी लेटे-लेटे दिन भर रोना सुन सकता है; हिसाब लगाते हुए जोर की आवाज से ध्यान बँट जाता है। अम्माँ मुझे प्यार तो बहुत करती थीं, पर पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती थीं।

मेरे पास किताबें न थीं। हाँ, एक बस्ता था, जिसमें डाकखाने के दो-चार फार्म तह करके पुस्तक रूप में रखे हुए थे। मैंने सोचा—दाल, नमक और घी के लिए क्या उतने पैसे काफी न होंगे ? मेरी तो मुट्ठी में नहीं आते। यह निश्चय करके मैंने कहा—अच्छा, मुझे उतार दो, तो मैं दाल और नमक ला दूँ, मगर रोज आया करोगे न?

कजाकी—भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा।

मैंने कहा—मैं रोज खाने को दूँगा।

कजाकी बोला—तो मैं रोज आऊँगा।

मैं नीचे उतरा और दौड़ कर सारी पूँजी उठा लाया। कजाकी को रोज बुलाने के लिए उस वक्त मेरे पास कोहनूर हीरा भी होता, तो उसको भेंट करने में मुझे पसोपेश न होता।

कजाकी ने विस्मित हो कर पूछा—ये पैसे कहाँ पाये, भैया ?

मैंने गर्व से कहा—मेरे ही तो हैं।

कजाकी—तुम्हारी अम्माँ जी तुमको मारेंगी, कहेंगी—कजाकी ने फुसला कर मँगवा लिये होंगे। भैया, इन पैसों की मिठाई ले लेना और मटके में रख देना। मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ हैं। मैं भला भूखों मर सकता हूँ ?

मैंने बहुत कहा कि पैसे मेरे हैं, लेकिन कजाकी ने न लिए। उसने बड़ी देर तक इधर-उधर की सैर कराई, गीत सुनाये और मुझे घर पहुँचा कर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में कदम रखा ही था कि अम्माँ जी ने डाँट कर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था ? अब चोरी करना सीखता है ? बता, किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़ कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गयी। अम्माँ क्रोध में सिंहनी हो जाती थीं। सिटपिटा कर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्माँ—तूने आटा नहीं निकाला? देख कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, चुमकारती थीं, पर मेरी जबान न खुलती थी। आनेवाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कि यह भी कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रखा हुआ है, और न उठा कर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गयी हो, मानो पैरों में हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

सहसा कजाकी ने पुकारा—बहू जी, आटा द्वार पर रखा हुआ है। भैया मुझे देने को ले गये थे।

यह सुनते ही अम्माँ द्वार की ओर चली गयीं। कजाकी से वह परदा न करती थीं। उन्होंने कजाकी से कोई बात की या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन अम्माँ जी खाली टोकरी लिये हुए घर में आयीं। फिर कोठरी में जाकर संदूक से कुछ निकाला और द्वार की ओर गयीं। मैंने देखा कि उनकी मुट्ठी बंद थी। अब मुझसे वहाँ खड़े न रहा गया।

अम्माँ जी के पीछे-पीछे मैं भी गया। अम्माँ ने द्वार पर कई बार पुकारा; मगर कजाकी चला गया था।

मैंने बड़ी धीरता से कहा—मैं जा कर खोज लाऊँ, अम्माँ जी ? अम्माँ जी ने किवाड़ें

बंद करते हुए कहा—तुम अँधेरे में कहाँ जाओगे, अभी तो यहीं खड़ा था। मैंने कहा कि यहीं रहना, मैं आती हूँ। तब तक न-जाने कहाँ खिसक गया। बड़ा संकोची है ! आटा तो लेता ही न था। मैंने जबरदस्ती उसके अँगोछे में बाँध दिया। मुझे तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। न-जाने बेचारे के घर में कुछ खाने को है कि नहीं। रुपये लायी थी कि दे दूँगी; पर न-जाने कहाँ चला गया। अब तो मुझे भी साहस हुआ। मैंने अपनी चोरी की पूरी कथा कह डाली। बच्चों के साथ समझदार बच्चे बन कर माँ-बाप उन पर जितना असर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं, उतने बूढ़े बन कर नहीं।

अम्माँ जी ने कहा—तुमने मुझसे पूछ क्यों न लिया ? क्या मैं कजाकी को थोड़ा-सा आटा न देती ?

मैंने इसका उत्तर न दिया। दिल में कहा—इस वक्त तुम्हें कजाकी पर दया आ गया है, जो चाहे दे डालो; लेकिन मैं माँगता, तो मारने दौड़तीं। हाँ, यह सोच कर चित्त प्रसन्न हुआ कि अब कजाकी भूखों न मरेगा। अम्माँ जी उसे रोज खाने को देंगी और वह रोज मुझे कंधे पर बिठा कर सैर करायेगा।

दूसरे दिन मैं दिन भर मुन्नू के साथ खेलता रहा। शाम को सड़क पर जा कर खड़ा हो गया। मगर अँधेरा हो गया और कजाकी का कहीं पता नहीं। दिये जल गये, रास्ते में सन्नाटा छा गया; पर कजाकी न आया !

मैं रोता हुआ घर आया। अम्माँ जी ने पूछा—क्यों रोते हो, बेटा ? क्या कजाकी नहीं आया ?

मैं और जोर से रोने लगा। अम्माँ जी ने मुझे छाती से लगा लिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उनका भी कंठ गद्‌गद हो गया है।

उन्होंने कहा—बेटा, चुप हो जाओ, मैं कल किसी हरकारे को भेज कर कजाकी को बुलवाऊँगी।

मैं रोते ही रोते सो-गया। सबेरे ज्यों ही आँखें खुलीं, मैंने अम्माँ जी से कहा—कजाकी को बुलवा दो।

अम्माँ ने कहा—आदमी गया है, बेटा ! कजाकी आता होगा। खुश होकर खेलने लगा। मुझे मालूम था कि अम्माँ जी जो बात कहती हैं, उसे पूरा जरूर करती हैं। उन्होंने सबेरे ही एक हरकारे को भेज दिया था। दस बजे जब मैं मुन्नू को लिये घर आया, तो मालूम हुआ कि कजाकी अपने घर पर नहीं मिला। वह रात को भी घर न गया था। उसकी स्त्री रो रही थी कि न-जाने कहाँ चले गये। उसे भय था कि वह कहीं भाग गया है।

बालकों का हृदय कितना कोमल होता है, इसका अनुमान दूसरा नहीं कर सकता। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी बात उन्हें विकल कर रही है, कौन-सा काँटा उनके हृदय में खटक रहा है, क्यों बार-बार उन्हें रोना आता है, क्यों वे मन मारे बैठे रहते हैं, क्यों खेलने में जी नहीं लगता ? मेरी भी यही दशा थी। कभी घर में आता, कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर जा पहुँचता। आँखें कजाकी को ढूँढ रही थीं। वह कहाँ चला गया ? कहीं भाग तो नहीं गया ?

तीसरे पहर को मैं खोया हुआ-सा सड़क पर खड़ा था। सहसा मैंने कजाकी को एक गली में देखा। हाँ, वह कजाकी ही था। मैं उसकी ओर चिल्लाता हुआ दौड़ा; पर गली में

उसका पता न था, न-जाने किधर गायब हो गया। मैंने गली के इस सिरे से उस सिरे तक देखा; मगर कहीं कजाकी की गंध तक न मिली।

घर जा कर मैंने अम्माँ जी से यह बात कही। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह यह बात सुन कर बहुत चिंतित हो गयीं।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कजाकी न दिखलायी दिया। मैं भी अब उसे कुछ-कुछ भूलने लगा। बच्चे पहले जितना प्रेम करते हैं, बाद को उतने ही निष्ठुर भी हो जाते हैं। जिस खिलौने पर प्राण देते हैं, उसी को दो-चार दिन के बाद पटक कर फोड़ भी डालते हैं।

दस-बारह दिन और बीत गये। दोपहर का समय था। बाबू जी खाना खा रहे थे। मैं मुन्नू के पैरों में पीनस की पैजनियाँ बाँध रहा था। एक औरत घूँघट निकाले हुए आयी और आँगन में खड़ी हो गयी। उसके कपड़े फटे हुए और मैले थे, पर गोरी, सुन्दर स्त्री थी। उसने मुझसे पूछा—भैया, बहू जी कहाँ हैं ?

मैंने उसके पास जा कर उसका मुँह देखते हुए कहा—तुम कौन हो, क्या बेचती हो ?

औरत—कुछ बेचती नहीं हूँ, तुम्हारे लिए ये कमलगट्टे लायी हूँ। भैया, तुम्हें तो कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं न ?

मैंने उसके हाथों से लटकती हुई पोटली को उत्सुक नेत्रों से देख कर पूछा—कहाँ से लायी हो ? देखें।

औरत—तुम्हारे हरकारे ने भेजा है, भैया !

मैंने उछल कर पूछा—कजाकी ने ?

औरत ने सिर हिला कर 'हाँ' कहा और पोटली खोलने लगी। इतने में अम्माँ जी भी रसोई से निकल आयीं। उसने अम्माँ के पैरों का स्पर्श किया। अम्माँ ने पूछा—तू कजाकी की घरवाली है ?

औरत ने सिर झुका लिया।

अम्माँ—आजकल कजाकी क्या करता है ?

औरत ने रो कर कहा—बहू जी, जिस दिन से आपके पास से आटा ले कर गये हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस, भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंक कर 'भैया ! भैया !' कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न जाने उन्हें क्या हो गया है, बहू जी ! एक दिन मुझसे कुछ कहा न सुना, घर से चल दिये और एक गली में छिप कर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें देख लिया, तो भागे। तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

मैंने कहा—हाँ-हाँ, मैंने उस दिन तुमसे जो कहा था अम्माँ जी !

अम्माँ—घर में कुछ खाने-पीने को है ?

औरत—हाँ बहू जी, तुम्हारे आसिरवाद से खाने-पीने का दुःख नहीं है। आज सबेरे उठे और तालाब की ओर चले गये। बहुत कहती रही, बाहर मत जाओ, हवा लग जायगी। मगर न माना ! मारे कमजोरी के पैर काँपने लगते हैं, मगर तालाब में घुस कर ये कमलगट्टे तोड़ लाये। तब मुझसे कहा—ले जा, भैया को दे आ। उन्हें कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं। कुशल-क्षेम पूछती आना।

मैंने पोटली से कमलगट्टे निकाल लिये थे और मजे से चख रहा था। अम्माँ ने बहुत

आँखें दिखायीं, मगर यहाँ इतनी सब्र कहाँ !

अम्माँ ने कहा—कह देना सब कुशल है।

मैंने कहा—यह भी कह देना कि भैया ने बुलाया है। न जाओगे तो फिर तुमसे कभी न बोलेंगे, हाँ !

बाबू जी खाना खा कर निकल आये थे। तौलिये से हाथ-मुँह पोंछते हुए बोले—और यह भी कह देना कि साहब ने तुमको बहाल कर दिया है। जल्दी जाओ, नहीं तो कोई दूसरा आदमी रख लिया जायगा।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया और चली गयी। अम्माँ ने बहुत पुकारा, पर वह न रुकी। शायद अम्माँ जी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्माँ ने पूछा—सचमुच बहाल हो गया ?

बाबू जी—और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्माँ—यह तुमने अच्छा किया।

बाबू जी—उसकी बीमारी की यही दवा है।

4

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ कि कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था, मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूख कर ठूँठा हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा और उसकी कमर से चिमट गया। कजाकी ने मेरे गाल चूमे और मुझे उठा कर कन्धे पर बैठालने की चेष्टा करने लगा; पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया और मैं उसकी पीठ पर सवार हो कर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक्त फूला न समाता था और शायद कजाकी मुझसे भी ज्यादा खुश था।

बाबू जी ने कहा—कजाकी, तुम बहाल हो गये। अब कभी देर न करना।

कजाकी रोता हुआ पिता जी के पैरों पर गिर पड़ा; मगर शायद मेरे भाग्य में दोनो सुख भोगना न लिखा था—मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा; कजाकी आया तो मुन्नू हाथ से गया और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुःख है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत ही रुचि थी; लेकिन जब तक खूब घी न पड़ा हो, उसे संतोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता था और मेरे ही साथ उठता भी था। सफाई तो उसे इतनी पसंद थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिए घर से बाहर मैदान में निकल जाता था। कुत्तों से उसे चिढ़ थी, कुत्तों को घर में न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ कर घर से बाहर निकाल देता था।

कजाकी को डाकखाने में छोड़ कर जब मैं खाना खाने गया, तो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो-चार ही कौर खाये थे कि एक बड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखायी दिया। मुन्नू उसे देखते ही दौड़ा। दूसरे घर में जा कर कुत्ता चूहा हो जाता है। झबरा कुत्ता उसे आते देख कर भागा। मुन्नू को अब लौट आना चाहिए था; मगर वह कुत्ता उसके लिए यमराज का

दूत था। मुन्नू को उसे घर से निकाल कर भी संतोष न हुआ। वह उसे घर के बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद खयाल न रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था, जितना मुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते-भगाते कदाचित् अपने बाहुबल पर घमंड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर में उसकी पीठ पर घर के स्वामी का भय काम किया करता है। झबरे ने इस मैदान में आते ही उलट कर मुन्नू की गरदन दबा दी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज तक न निकली। जब पड़ोसियों ने शोर मचाया, तो मैं दौड़ा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है और झबरे का कहीं पता नहीं।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। मासिक पत्रिका 'माधुरी', अप्रैल, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप 'कजाकी' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम-चालीसी' में संकलित।]

प्रेम-सूत्र

संसार में कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिन्हें दूसरों के मुख से अपनी स्त्री की सौंदर्य-प्रशंसा सुनकर उतना ही आनंद होता है जितना अपनी कीर्ति की चर्चा सुनकर। पश्चिमी सभ्यता के प्रसार के साथ ऐसे प्राणियों की संख्या बढ़ती जा रही है। पशुपतिनाथ वर्मा इन्हीं लोगों में थे। जब लोग उनकी परम सुंदरी स्त्री की तारीफ करते हुए कहते—ओहो ! कितनी अनुपम रूपराशि है, कितना अलौकिक सौंदर्य है, तब वर्माजी मारे खुशी और गर्व के फूल उठते थे।

संध्या का समय था। मोटर तैयार खड़ी थी। वर्माजी सैर करने जा रहे थे, किंतु प्रभा जाने को उत्सुक नहीं मालूम होती थी। वह एक कुर्सी पर बैठी हुई कोई उपन्यास पढ़ रही थी।

वर्माजी ने कहा—तुम तो अभी तक बैठी पढ़ रही हो ?

"मेरा तो इस समय जाने को जी नहीं चाहता।"

"नहीं प्रिये, इस समय तुम्हारा न चलना सितम हो जाएगा। मैं चाहता हूं कि तुम्हारी इस मधुर छवि को घर से बाहर भी तो लोग देखें।"

"जी नहीं, मुझे यह लालसा नहीं है। मेरे रूप की शोभा केवल तुम्हारे लिए है, और तुम्हीं को दिखाना चाहती हूं।"

"नहीं, मैं इतना स्वार्थांध नहीं हूं। जब तुम सैर करने निकलो, मैं लोगों से यह सुनना चाहता हूं कि कितनी मनोहर छवि है ! पशुपति कितना भाग्यशाली पुरुष है!"

"तुम चाहो, मैं नहीं चाहती। तो इसी बात पर आज मैं कहीं नहीं जाऊंगी। तुम भी मत जाओ। हम दोनों अपने ही बाग में टहलेंगे। तुम हौज क किनारे हरी घास पर लेट जाना, मैं तुम्हें वीणा बजाकर सुनाऊंगी। तुम्हारे लिए फूलों का हार बनाऊंगी, चांदनी में तुम्हारे साथ आंख-मिचौनी खेलूंगी।"

"नहीं-नहीं प्रभा, आज हमें अवश्य चलना पड़ेगा। तुम कृष्णा से आज मिलने का

वादा कर आई हो। वह बैठी हमारा रास्ता देख रही होगी। हमारे न जाने से उसे कितना दुःख होगा !"

हाय ! वही कृष्णा ! बार-बार वही कृष्णा ! पति के मुख से नित्य यह नाम चिनगारी की भांति उड़कर प्रभा को जलाकर भस्म कर देता था।

प्रभा को अब मालूम हुआ कि आज ये बाहर जाने के लिए क्यों इतने उत्सुक हैं ! इसीलिए आज इन्होंने मुझसे केशों को संवारने के लिए इतना आग्रह किया था। वह सारी तैयारी उसी कुलटा कृष्णा से मिलने के लिए थी !

उसने दृढ़ स्वर में कहा—तुम्हें जाना हो जाओ, मैं न जाऊंगी।

वर्माजी ने कहा—अच्छी बात है, मैं ही चला जाऊंगा।

2

पशुपति के जाने के बाद प्रभा को ऐसा जान पड़ा कि वह वाटिका उसे काटने दौड़ रही है। ईर्ष्या की ज्वाला से उसका कोमल हृदय भस्म होने लगा। वे वहां कृष्णा के साथ बैठे विहार कर रहे होंगे—उसी नागिन के-से केश वाली कृष्णा के साथ, जिसकी आंखों में घातक विष भरा हुआ है ! मर्दों की बुद्धि क्यों इतनी स्थूल होती है ? इन्हें कृष्णा की चटक-मटक ने क्यों इतना मोहित कर लिया है ? उसके मुख से मेरे पैर का तलवा कहीं सुंदर है। हां, मैं एक बच्चे की मां हूं और वह नवयौवना है। जरा देखना चाहिए, उनमें क्या बातें हो रही हैं।

यह सोचकर वह अपनी सास के पास आकर बोली—अम्मां, इस समय अकेले जी घबराता है, चलिए कहीं घूम आवें।

सास बहू पर प्राण देती थीं चलने पर राजी हो गई। गाड़ी तैयार करा के दोनों घूमने चलीं। प्रभा का शृंगार देखकर भ्रम हो सकता था कि वह बहुत प्रसन्न है, किंतु उसके अंतस्तल में एक भीषण ज्वाला दहक रही थी, उसे छिपाने के लिए वह मीठे स्वर में एक गीत गाती जा रही थी।

गाड़ी एक सुरम्य उपवन में उड़ी जा रही थी। सड़क के दोनों ओर विशाल वृक्षों की सुखद छाया पड़ रही थी। गाड़ी के कीमती घोड़े गर्व से पूंछ और सिर उठाए टप-टप करते जा रहे थे। अहा ! वह सामने कृष्णा का बंगला आ गया, जिसके चारों ओर गुलाब की बेल लगी हुई थी। उसके फूल इस समय निर्दय कांटों की भांति प्रभा के हृदय में चुभने लगे। उसने उड़ती हुई निगाह से बंगले की ओर ताका। पशुपति का पता न था, हां, कृष्णा और उसकी बहन माया बगीचे में विचर रही थीं। गाड़ी बंगले के सामने से निकल ही चुकी थी कि दोनों बहनों ने प्रभा को पुकारा और एक क्षण में दोनों बालिकाएं हिरनियों की भांति उछलती-कूदती फाटक की ओर दौड़ीं। गाड़ी रुक गई।

कृष्णा ने हंसकर सास से कहा—अम्मांजी, आज आप प्रभा को एकाध घंटे के लिए हमारे पास छोड़ जाइए। आप उधर से लौटें तब इन्हें लेती जाइएगा, यह कहकर दोनों ने प्रभा को गाड़ी से बाहर खींच लिया। सास कैसे इंकार करती। जब गाड़ी चली गई तब दोनों बहनों ने प्रभा को बगीचे में एक बेंच पर ला बिठाया। प्रभा को इन दोनों के साथ बातें करते हुए बड़ी झिझक हो रही थी। वह उनसे हंसकर बोलना चाहती थी, अपनी किसी बात से मन का भाव प्रकट नहीं करना चाहती थी, किंतु हृदय उनसे खिंचा ही रहा।

कृष्णा ने प्रभा की साड़ी पर एक तीव्र दृष्टि डालकर कहा—बहन, क्या यह साड़ी अभी ली है ? इसका गुलाबी रंग तो तुम पर नहीं खिलता। कोई और रंग क्यों न लिया ?

प्रभा—उनकी पसंद है, मैं क्या करती।

दोनों बहनें ठट्ठा मारकर हंस पड़ीं। फिर माया ने कहा—उन महाशय की रुचि का क्या कहना, सारी दुनिया से निराली है। अभी इधर से गए हैं। सिर पर इससे भी अधिक लाल पगड़ी थी।

सहसा पशुपति भी सैर से लौटता हुआ सामने से निकला। प्रभा को दोनों बहनों के साथ देखकर उसके जी में आया कि मोटर रोक ले। वह अकेले इन दोनों से मिलना शिष्टाचार के विरुद्ध समझता था। इसीलिए वह प्रभा को अपने साथ लाना चाहता था। जाते समय वह बहुत साहस करने पर भी मोटर से न उतर सका था। प्रभा को वहां देखकर इस सुअवसर से लाभ उठाने की उसकी बड़ी इच्छा हुई। लेकिन दोनों बहनों की हास्या-ध्वनि सुनकर वह संकोचवश न उतरा।

थोड़ी देर तक तीनों रमणियां चुपचाप बैठी रहीं। तब कृष्णा बोली--पशुपति बाबू यहां आना चाहते हैं पर शर्म के मारे नहीं आए। मेरा विचार है कि संबंधियों को आपस में इतना संकोच न करना चाहिए। समाज का यह नियम कम-से-कम मुझे तो बुरा मालूम होता है। तुम्हारा क्या विचार है, प्रभा ?

प्रभा ने व्यंग्य भाव से कहा—यह समाज का अन्याय है।

प्रभा इस समय भूमि की ओर ताक रही थी। पर उसकी आंखों से ऐसा तिरस्कार निकल रहा था जिसने दोनों बहनों के परिहास को लज्जासूचक मौन में परिणत कर दिया। उसकी आंखों से एक चिनगारी-सी निकली, जिसने दोनों युवतियों के आमोद-प्रमोद और उस कुवृत्ति को जला डाला जो प्रभा के पति-परायण हृदय को बाणों से बेध रही थी, उस हृदय को जिसमें अपने पति के सिवा और किसी को जगह न थी।

माया ने जब देखा कि प्रभा इस वक्त क्रोध से भरी बैठी है, तब बेंच से उठ खड़ी हुई और बोली—आओ बहन, जरा टहलें, यहां बैठे रहने से तो टहलना ही अच्छा है।

प्रभा ज्यों की त्यों बैठी रही। पर वे दोनों बहनें बाग में टहलने लगीं। उस वक्त प्रभा का ध्यान उन दोनों के वस्त्राभूषण की ओर गया। माया बंगाल की गुलाबी रेशम की एक महीन साड़ी पहने हुए थी जिसमें न जाने कितनी चुन्नटें पड़ी हुई थीं। उसके हाथ में एक रेशमी छतरी थी जिसे उसने सूर्य की अंतिम किरणों से बचने के लिए खोल लिया था। कृष्णा के वस्त्र भी वैसे ही थे, हां, उसकी साड़ी पीले रंग की थी और उसके घुंघर वाले बाल साड़ी के नीचे से निकलकर माथे और गालों पर लहरा रहे थे।

प्रभा ने एक ही निगाह से ताड़ लिया कि इन दोनों युवतियों में किसी को उसके पति से प्रेम नहीं है। केवल आमोदलिप्सा के वशीभूत होकर यह स्वयं बदनाम होंगी और उसके सरल हृदय पति को भी बदनाम कर देंगी। उसने ठान लिया कि मैं अपने भ्रमर को इन विषाक्त पुष्पों से बचाऊंगी और चाहे जो कुछ हो उसे इनके ऊपर मंडराने न दूंगी, क्योंकि यहां केवल रूप और बास है रस का नाम नहीं।

प्रभा अपने घर लौटते ही उस कमरे में गई, जहां उसकी लड़की शांति अपनी दाई की गोद में खेल रही थी। अपनी नन्हीं जीती-जागती गुड़िया की सूरत देखते ही प्रभा की आंखें

सजल हो गईं। उसने मातृस्नेह से विभोर होकर बालिका को गोद में उठा लिया, मानो किसी भयंकर पशु से उसकी रक्षा कर रही है। उस दुस्सह वेदना की दशा में उसके मुंह से यह शब्द निकल गए—बच्ची, तेरे बाप को लोग तुझसे छीनना चाहते हैं ! हाय, तू क्या अनाथ हो जाएगी ? नहीं-नहीं, अगर मेरा बस चलेगा तो मैं इन निर्बल हाथों से उन्हें बचाऊंगी।

आज से प्रभा विषादमय भावनाओं में मग्न रहने लगी। आने वाली विपत्ति की कल्पना करके कभी-कभी भयातुर होकर चिल्ला पड़ती, उसकी आंखों में उस विपत्ति की तस्वीर खिंच जाती जो उसकी ओर कदम बढ़ाए चली आती थी, पर उस बालिका की तोतली बातें और उसकी आंखों की निःशंक ज्योति प्रभा के विकल हृदय को शांत कर देती। वह लड़की को गोद में उठा लेती और वह मधुर हास्य-छवि जो बालिका के पतले-पतले गुलाबी ओठों पर खेलती होती, प्रभा की सारी शंकाओं और बाधाओं को छिन्न-भिन्न कर देती। उन विश्वासमय नेत्रों में आशा का प्रकाश उसे आश्वस्त कर देता।

हा ! अभागिनी प्रभा, तू क्या जानती है क्या होने वाला है ?

3

ग्रीष्मकाल की चांदनी रात थी। सप्तमी का चांद प्रकृति पर अपना मंद शीतल प्रकाश डाल रहा था। पशुपति मौलसिरी की एक डाली हाथ से पकड़े और तने से चिपटा हुआ माया के कमरे की ओर टकटकी लगाए ताक रहा था। कमरे का द्वार खुला हुआ था और शान्त निशा में रेशमी साड़ियों की सरसराहट के साथ दो रमणियों की मधुर हास्य-ध्वनि मिलकर पशुपति के कानों तक पहुंचते-पहुंचते आकाश में विलीन हो जाती थी। एकाएक दोनों बहनें कमरे से निकलीं और उसी ओर चलीं जहां पशुपति खड़ा था। जब दोनों उस वृक्ष के पास पहुंचीं तब पशुपति की परछाई देखकर कृष्णा चौंक पड़ी और बोली—हैं बहन ! यह क्या है ?

पशुपति वृक्ष के नीचे से आकर सामने खड़ा हो गया। कृष्णा उसे पहचान गई और कठोर स्वर में बोली—आप यहां क्या करते हैं ? बतलाइए, यहां आपका क्या काम है ? बोलिए जल्दी।

पशुपति की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। इस अवसर के लिए उसने जो प्रेम-वाक्य रटे थे वे सब विस्मृत हो गए। सशंक होकर बोला—कुछ नहीं प्रिये, आज संध्या समय जब मैं आपके मकान के सामने से आ रहा था तब मैंने आपको अपनी बहन से कहते सुना कि आज रात को आप इस वृक्ष के नीचे बैठकर चांदनी का आनंद उठाएंगी। मैं भी आपसे कुछ कहने के लिए...आपके...चरणों पर अपना...समर्पित करने के लिए...

यह सुनते ही कृष्णा की आंखों से चंचल ज्वाला-सी निकली और उसके ओठों पर व्यंग्यपूर्ण हास्य की झलक दिखाई दी। बोली—महाशय, आप तो आज एक विचित्र अभिनय करने लगे, कृपा करके पैरों पर से तो उठिए और जो कुछ कहना चाहते हों, जल्द कह डालिए और जितने आंसू गिराने हों एक सैकेंड में गिरा दीजिए, मैं रुक-रुककर और घिघिया-घिघियाकर बातें करने वालों को पसंद नहीं करती। हां, और जरा बातें और रोना साथ-साथ न हों। कहिए, क्या कहना चाहते हैं...आप न कहेंगे ? लीजिए, समय बीत गया,

मैं जाती हूं।

कृष्णा वहां से चल दी। माया भी उसके साथ ही चली गई। पशुपति एक क्षण तक वहां खड़ा रहा फिर वह भी उनके पीछे-पीछे चला। मानो वह सुई है जो चुंबक के आकर्षण से आप-ही-आप खिंचा चला जाता है।

सहसा कृष्णा रुक गई और बोली—सुनिए पशुपति बाबू, आज संध्या समय प्रभा की बातों से मालूम हो गया कि उन्हें आपका और मेरा मिलना-जुलना बिलकुल नहीं भाता....

पशुपति—प्रभा की तो आप चर्चा ही छोड़ दीजिए।

कृष्णा—क्यों छोड़ दूं ? क्या वह आपकी स्त्री नहीं है ? आप इस समय उसे घर में अकेली छोड़कर मुझसे क्या कहने आए हैं ? यही कि उसकी चर्चा न करूं ?

पशुपति—जी नहीं, यह कहने के लिए कि अब यह विरहाग्नि नहीं सही जाती।

कृष्णा ने ठट्ठा मारकर कहा—आप तो इस कला में बहुत निपुण जान पड़ते हैं। प्रेम! समर्पण ! विरहाग्नि ! यह शब्द आपने कहां सीखे ?

पशुपति—कृष्णा, मुझे तुमसे इतना प्रेम है कि मैं पागल हो गया हूं।

कृष्णा—तुम्हें प्रभा से क्यों प्रेम नहीं है ?

पशुपति—मैं तो तुम्हारा उपासक हूं।

कृष्णा—लेकिन यह क्यों भूल जाते हो कि तुम प्रभा के स्वामी हो ?

पशुपति—तुम्हारा तो दास हूं।

कृष्णा—मैं ऐसी बातें नहीं सुनना चाहती।

पशुपति—तुम्हें मेरी एक-एक बात सुननी पड़ेगी। तुम जो चाहो वह करने को मैं तैयार हूं।

कृष्णा—अगर यह बातें कहीं वह सुन लें तो ?

पशुपति—सुन ले तो सुन ले। मैं हर बात के लिए तैयार हूं। मैं फिर कहता हूं कि अगर तुम्हारी मुझ पर कृपा दृष्टि न हुई तो मैं मर जाऊंगा।

कृष्णा—तुम्हें यह बातें करते समय अपनी पत्नी का ध्यान नहीं आता ?

पशुपति—मैं उसका पति नहीं होना चाहता। मैं तो तुम्हारा दास होने के लिए बनाया गया हूं। वह सुगंध जो इस समय तुम्हारी गुलाबी साड़ी से निकल रही है, मेरी जान है। तुम्हारे ये छोटे-छोटे सुंदर पांव मेरे प्राण हैं। तुम्हारी हंसी, तुम्हारी छवि, तुम्हारा एक-एक अंग मेरा प्राण है। मैं केवल तुम्हारे लिए पैदा हुआ हूं।

कृष्णा—भई, अब तो सुनते-सुनते कान भर गए। यह व्याख्यान और यह गद्य-काव्य सुनने के लिए मेरे पास समय नहीं है। आओ माया, मुझे तो सर्दी लग रही है। चलकर अंदर बैठें।

यह निष्ठुर शब्द सुनकर पशुपति की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। मगर अब भी उसका मन यही चाहता था कि कृष्णा के पैरों पर गिर पड़े और इससे भी करुण शब्दों में अपनी प्रेम-कथा सुनाए। किंतु दोनों बहनें इतनी देर में अपने कमरे में पहुंच चुकी थीं और द्वार बंद कर लिया था। पशुपति के लिए निराश घर लौट आने के सिवा कोई चारा न रह गया।

कृष्णा अपने कमरे में जाकर थकी हुई-सी एक कुर्सी पर बैठ गई और सोचने

लगी—कहीं प्रभा सुन ले तो बात का बतंगड़ हो जाय, सारे शहर में इसकी चर्चा होने लगे और हमें कहीं मुंह दिखाने को जगह न रहे। और यह सब एक जरा-सी दिल्लगी के कारण! पर पशुपति का प्रेम सच्चा है, इसमें संदेह नहीं। वह जो कुछ कहता है, अंतःकरण से कहता है। अगर मैं इस वक्त जरा-सा संकेत कर दूं तो वह प्रभा को भी छोड़ देगा। अपने आपे में नहीं है। जो कुछ कहूं वह करने को तैयार है। लेकिन नहीं, प्रभा, डरो मत, मैं तुम्हारा सर्वनाश न करूंगी। तुम मुझसे बहुत नीचे हो। यह मेरे अनुपम सौंदर्य के लिए गौरव की बात नहीं कि तुम जैसी रूप-विहीना से बाजी मार ले जाऊं। अभागे पशुपति, तुम्हारे भाग्य में जो कुछ लिखा था वह हो चुका। तुम्हारे ऊपर मुझे दया आती है, पर क्या किया जाय !

4

एक खत पहले हाथ पड़ चुका था। यह दूसरा पत्र था, जो प्रभा को पतिदेव के कोट की जेब में मिला। कैसा पत्र था ? आह ! इसे पढ़ते ही प्रभा की देह में एक ज्वाला-सी उठने लगी। तो यों कहिए कि ये अब कृष्णा के हो चुके, अब इसमें कोई संदेह नहीं रहा। अब मेरे जीने को धिक्कार है ! जब जीवन में कोई सुख ही नहीं रहा, तो क्यों न इस बोझ को उतारकर फेंक दूं। वही पशुपति, जिसे कविता से लेशमात्र भी रुचि न थी, अब कवि हो गया था और कृष्णा को छंदों में पत्र लिखता था। प्रभा ने अपने स्वामी को उधर से हटाने के लिए वह सब कुछ किया जो उससे हो सकता था, पर प्रेम का प्रवाह उसके रोके न रुका और आज उस प्रवाह में उसके जीवन की नौका निराधार बही चली जा रही है।

इसमें संदेह नहीं कि प्रभा को अपने पति से सच्चा प्रेम था, लेकिन आत्मसमर्पण की तुष्टि आत्मसमर्पण से ही होती है। वह उपेक्षा और निष्ठुरता को सहन नहीं कर सकती। प्रभा के मन में विद्रोह का भाव जाग्रत् होने लगा। उसका आत्माभिमान जाता रहा। उसके मन में न जाने कितने भीषण संकल्प होते, किंतु अपनी असमर्थता और दीनता पर आप ही आप रोने लगती। आह ! उसका सर्वस्व उससे छीन लिया गया और अब संसार में उसका कोई मित्र नहीं, कोई साथी नहीं !

पशुपति आजकल नित्य बनाव-संवार में मग्न रहता, नित्य नए सूट बदलता। उसे आइने के सामने अपने बालों को संवारते देखकर प्रभा की आंखों से आंसू बहने लगते। यह सारी तैयारी उसी दुष्टा के लिए हो रही है। यह चिंता जहरीले सांप की भांति उसे डस लेती थी; वह अब अपने पति की प्रत्येक बात, प्रत्येक गति को सूक्ष्म दृष्टि से देखती। कितनी ही बातें जिन पर पहले ध्यान भी न देती थी, अब उसे रहस्य से भरी हुई जान पड़तीं। वह रात को न सोती, कभी पशुपति की जेब टटोलती, कभी उसकी मेज पर रखे हुए पत्रों को पढ़ती। इसी टोह में वह रात-दिन पड़ी रहती।

वह सोचने लगी—मैं क्या प्रेम-वंचित बनी बैठी रहूं ? क्या मैं प्राणेश्वरी नहीं बन सकती ? जीवन अमर नहीं है और यौवन भी थोड़े ही दिनों का मेहमान होता है। क्या इसे परित्यक्ता बनकर ही काटना होगा ? आह निर्दयी, तूने मुझे धोखा दिया। मुझसे आंखें फेर लीं। पर सबसे बड़ा अनर्थ यह किया कि मुझे जीवन का कलुषित मार्ग दिखा दिया। मैं भी विश्वासघात करके तुझे धोखा देकर क्या कलुषित प्रेम का आनंद नहीं उठा सकती ?

अश्रुधारा से सींचकर ही सही, पर क्या अपने लिए कोई वाटिका नहीं लगा सकती ? वह सामने के मकान में घुंघराले बाल वाला युवक रहता है और जब मौका पाता है, मेरी ओर सचेष्ट नेत्रों से देखता है। क्या केवल एक प्रेम-कटाक्ष से मैं उसके हृदय पर अधिकार नहीं प्राप्त कर सकती ? अगर मैं इस भांति इस निष्ठुरता का बदला लूं तो क्या अनुचित होगा? आखिर मैंने अपना जीवन अपने पति को किसलिए सौंपा था? इसीलिए तो कि सुख से जीवन व्यतीत करूं। चाहूं और चाही जाऊं और इस प्रेम-साम्राज्य की अधीश्वरी बनी रहूं। मगर आह ! वे सारी अभिलाषाएं धूल में मिल गईं ! अब मेरे लिए क्या रह गया है ? आज यदि मैं मर जाऊं तो कौन रोएगा ? नहीं, घी के चिराग जलाए जाएंगे। कृष्णा हंसकर कहेगी—अब बस हम हैं और तुम। हमारे बीच में कोई बाधा, कोई कंटक नहीं है।

आखिर प्रभा इन कलुषित भावनाओं के प्रवाह में बह चली। उसके हृदय में रातों की निद्रा और आशाविहीन रातों को बड़े प्रबल वेग से यह तूफान उठने लगा। प्रेम तो अब किसी अन्य पुरुष के साथ कर ही न सकती थी, यह व्यापार तो जीवन में केवल एक ही बार होता है। लेकिन वह प्राणेश्वरी अवश्य बन सकती थी और इसके लिए एक मधुर मुस्कान, एक बांकी निगाह काफी थी। और जब वह किसी की प्रेमिका हो जाएगी तो यह विचार कि मैंने पति से उसकी बेवफाई का बदला ले लिया कितना आनंदप्रद होगा ! तब वह उसके मुख की ओर कितने गर्व, कितने सन्तोष, कितने उल्लास से देखेगी।

संध्या का समय था। पशुपति सैर करने गया था। प्रभा कोठे पर चढ़ गई और सामने वाले मकान की ओर देखा। घुंघराले बाल वाला युवक उसके कोठे की ओर ताक रहा था। प्रभा ने आज पहली बार उस युवक की ओर मुस्कराकर देखा। युवक भी मुस्कराया और अपनी गर्दन झुकाकर मानो यह संकेत किया कि आपकी प्रेमदृष्टि का भिखारी हूं। प्रभा ने गर्व से भरी हुई दृष्टि इधर-उधर दौड़ाई, मानो वह पशुपति से कहना चाहती थी—तुम उस कुलटा के पैरों पड़ते हो और समझते हो कि मेरे हृदय को चोट नहीं लगती। लो, तुम भी देखो और अपने हृदय पर चोट न लगने दो, तुम उसे प्यार करो, मैं भी इससे हंसूं-बोलूं। क्यों ? यह अच्छा नहीं लगता ? इस दृश्य को शांत चित्त स नहीं देख सकते ? क्यों रक्त खौलने लगता है ? मैं वही तो कर रही हूं जो तुम कर रहे हो !

आह ! यदि पशुपति को ज्ञात हो जाता कि मेरी निष्ठुरता ने इस सती के हृदय की कितनी कायापलट कर दी है तो क्या उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप न होता, क्या वह अपने किए पर लज्जित न होता ?

प्रभा ने उस युवक से इशारे में कहा—आज हम और तुम पूर्व वाले मैदान में मिलेंगे और कोठे के नीचे उत्तर आई।

प्रभा के हृदय में इस समय वही उत्सुकता थी जिसमें प्रतिकार का आनन्द मिश्रित था। वह अपने कमरे में जाकर अपने चुने हुए आभूषण पहनने लगी। एक क्षण में वह एक फालसई रंग की रेशमी साड़ी पहने कमरे से निकली और बाहर जाना ही चाहती थी कि शान्ता ने पुकारा—अम्मांजी, आप कहां जा रही हैं, मैं भी आपके साथ चलूंगी।

प्रभा ने झट बालिका को गोद में उठा लिया और उसे छाती से लगाते ही उसके विचारों ने पलटा खाया। उन बालनेत्रों में उसके प्रति कितना असीम विश्वास, कितना सरल स्नेह, कितना पवित्र प्रेम झलक रहा था। उसे उस समय माता का कर्तव्य याद

आया। क्या उसकी प्रेम-कांक्षा उसके वात्सल्य भाव को कुचल देगी ? क्या वह प्रतिकार की प्रबल इच्छा पर अपने मातृ-कर्तव्य को बलिदान कर देगी ? क्या वह अपने क्षणिक सुख के लिए उस बालिका का भविष्य, उसका जीवन धूल में मिला देगी ? प्रभा की आंखों से आंसू की दो बूंदें गिर पड़ीं। उसने कहा—नहीं। कदापि नहीं मैं अपनी प्यारी बच्ची के लिए सब कुछ सह सकती हूं।

5

एक महीना गुजर गया। प्रभा अपनी चिंताओं को भूल जाने की चेष्टा करती रहती थी, पर पशुपति नित्य किसी-न-किसी बहाने से कृष्णा की चर्चा किया करता। कभी-कभी हंसकर कहता—प्रभा, अगर तुम्हारी अनुमति हो तो मैं कृष्णा से विवाह कर लूं। प्रभा इसके जवाब में रोने के सिवा और क्या कर सकती थी ?

आखिर एक दिन पशुपति ने उससे विनयपूर्ण शब्दों में कहा—क्या कहूं प्रभा, उस रमणी की छवि मेरी आंखों से नहीं उतरती। उसने मुझे कहीं का नहीं रखा। यह कहकर उसने कई बार अपना माथा ठोंका। प्रभा का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। उसकी दशा उस रोगी की-सी थी जो यह जानता हो कि मौत उसके सिर पर खेल रही है, फिर भी उसकी जीवन-लालसा दिन-दिन बढ़ती जाती हो। प्रभा इन सारी बातों पर भी अपने पति से प्रेम करती थी और स्त्री-सुलभ स्वभाव के अनुसार कोई बहाना खोजती थी कि उसके अपराधों को भूल जाए और उसे क्षमा कर दे।

एक दिन पशुपति बड़ी रात गए घर आया और रात-भर नींद में कृष्णा ! कृष्णा !! कहकर बर्राता रहा। प्रभा ने अपने प्रियतम का यह आर्त्तनाद सुना और सारी रात चुपके-चुपके रोया की, रोया की...बस रोया की !

प्रातःकाल वह पशुपति के लिए दूध का प्याला लिए खड़ी थी कि वह उसके पैरों पर गिर पड़ा और बोला—प्रभा, मेरी तुमसे एक विनय है, तुम्हीं मेरी रक्षा कर सकती हो, नहीं, मैं मर जाऊंगा। मैं जानता हूं कि यह सुनकर तुम्हें बहुत कष्ट होगा, लेकिन मुझ पर दया करो। मैं तुम्हारी इस कृपा को कभी न भूलूंगा। मझ पर दया करो।

प्रभा कांपने लगी। पशुपति क्या कहना चाहता है, यह उसका दिल साफ बता रहा था फिर भी वह भयभीत होकर पीछे हट गई और दूध का प्याला मेज पर रखकर अपने पीले मुख को कांपते हुए हाथों से छिपा लिया। पशुपति ने फिर भी सब कुछ कह ही डाला। लालसाग्नि अब अंदर न रह सकती थी, उसकी ज्वाला बाहर निकल ही पड़ी। तात्पर्य यह था कि पशुपति ने कृष्णा के साथ विवाह करना निश्चय कर लिया था। वह उसे दूसरे घर में रखेगा और प्रभा के यहां दो रात और एक रात उसके यहां रहेगा।

ये बातें सुनकर प्रभा रोई नहीं, वरन् स्तंभित होकर खड़ी रह गई। उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसके गले में कोई चीज अटकी हुई है और वह सांस नहीं ले सकती।

पशुपति ने फिर कहा—प्रभा, तुम नहीं जानतीं कि जितना प्रेम तुमसे मुझे आज है उतना पहले कभी नहीं था। मैं तुमसे अलग नहीं हो सकता। मैं जीवनपर्यंत तुम्हें इसी भांति प्यार करता रहूंगा। पर कृष्णा मुझे मार डालेगी। केवल तुम्हीं मेरी रक्षा कर सकती हो। मुझे उसके हाथ मत छोड़ो, प्रिये !

अभागिनी प्रभा ! तुझसे पूछ-ताछ कर तेरी गर्दन पर छुरी चलाई जा रही है ! तू गर्दन झुका देगी या आत्मगौरव से सिर उठाकर कहेगी—मैं यह नीच प्रस्ताव नहीं सुन सकती !

प्रभा ने इन दो बातों में एक भी न की। वह अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ी। जब होश आया, कहने लगी—बहुत अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा ! लेकिन मुझे छोड़ दो, मैं अपनी मां के घर जाऊंगी, मेरी शान्ता मुझे दे दो।

यह कहकर वह रोती हुई वहां से शान्ता को लेने चली गई और उसे गोद में लेकर कमरे से बाहर निकली। पशुपति लज्जा और ग्लानि से सिर झुकाए उसके पीछे-पीछे आता रहा और कहता रहा—जैसी तुम्हारी इच्छा हो प्रभा, वह करो, और मैं क्या कहूं, किंतु मेरी प्यारी प्रभा, वादा करो कि तुम मुझे क्षमा कर दोगी। किंतु प्रभा ने उसको कुछ जवाब न दिया और बराबर द्वार की ओर चलती रही। तब पशुपति ने आगे बढ़कर उसे पकड़ लिया और उसके मुरझाए हुए पर अश्रुसिंचित कपोलों को चूम-चूमकर कहने लगा—प्रिये, मुझे भूल न जाना, तुम्हारी याद मेरे हृदय में सदैव बनी रहेगी। अपनी अंगूठी मुझे देती जाओ, मैं उसे तुम्हारी निशानी समझ कर रक्खूंगा और उसे हृदय से लगाकर इस दाह को शीतल करूंगा। ईश्वर के लिए प्रभा, मुझे छोड़ना मत, मुझसे नाराज न होना...एक सप्ताह के लिए अपनी माता के पास जाकर रहो। फिर मैं तुम्हें जाकर लाऊंगा।

प्रभा ने पशुपति के कर-पाश से अपने को छुड़ा लिया और अपनी लड़की का हाथ पकड़े हुए गाड़ी की ओर चली। उसने पशुपति को न कोई उत्तर दिया और न यह सुना कि वह क्या कह रहा है।

6

"अम्मा, आप क्यों हंस रही हैं ?"

"कुछ तो नहीं बेटी !"

"वह पीले-पीले पुराने कागज तुम्हारे हाथ में क्या हैं ?"

"ये उस ऋण के पुर्जे हैं जो वापस नहीं मिला।"

"ये तो पुराने खत मालूम होते हैं ?"

"नहीं बेटी।"

बात यह थी कि प्रभा अपनी चौदह वर्ष की युवती पुत्री के सामने सत्य का पर्दा नहीं खोलना चाहती थी। हां, वे कागज वास्तव में एक ऐसे कर्ज के पुर्जे थे जो वापस नहीं मिला। ये वही पुराने पत्र थे जो आज एक किताब में रखे हुए मिले थे और ऐसे फूल की पंखुड़ियों की भांति दिखायी देते थे जिनका रंग और गन्ध किताब में रखे-रखे उड़ गयी हो, तथापि वे सुख के दिनों की याद दिला रहे थे और इस कारण प्रभा की दृष्टि में वे बहुमूल्य थे।

शान्ता समझ गयी कि अम्मां कोई ऐसा काम कर रही हैं जिसकी खबर मुझे नहीं करना चाहतीं और इस बात से प्रसन्न होकर कि मेरी दुखी माता आज अपना शोक भूल गयी है और जितनी देर वह इस आनन्द में मग्न रहे उतना ही अच्छा है, एक बहाने से बाहर चली गयी। प्रभा जब कमरे में अकेले रह गयी तब उसने उन पत्रों को फिर पढ़ना शुरू किया।

आह ! इन चौदह वर्षों में क्या कुछ नहीं हो गया ! इस समय उस विरहिणी के हृदय

में कितनी ही पूर्व स्मृतियां जाग्रत हो गयीं, जिन्होंने हर्ष और शोक के स्रोत एक साथ ही खोल दिये।

प्रभा के चले आने के बाद पशुपति ने बहुत चाहा कि कृष्णा से उसका विवाह हो जाये पर वह राजी न हुई। इसी नैराश्य और क्रोध की दशा में पशुपति एक कम्पनी का एजेण्ट होकर योरोप चला गया। तब फिर उसे प्रभा की याद आयी। कुछ दिनों तक उसके पास से क्षमा प्रार्थना-पूर्ण पत्र आते रहे, जिनमें वह बहुत जल्द घर आकर प्रभा से मिलने के वादे करता रहा और प्रेम के इस नये प्रवाह में पुरानी कटुताओं को जलमग्न कर देने के आशामय स्वप्न देखता रहा। पति-परायणा प्रभा के संतप्त हृदय में फिर आशा की हरियाली लहराने लगी, मुरझायी हुई आशा-लताएं फिर पल्लवित होने लगीं ! किन्तु यह भी भाग्य की एक क्रीड़ा ही थी। थोड़े ही दिनों में रसिक पशुपति एक नये प्रेम-जाल में फंस गया और तब से उसके पत्र आने बन्द हो गये। इस वक्त प्रभा के हाथ में वही पत्र थे जो उसके पति ने योरोप से उस समय भेजे थे जब नैराश्य का घाव हरा था। कितनी चिकनी-चुपड़ी बातें थीं। कैसे-कैसे दिल खुश करने वाले वादे थे ! इसके बाद ही मालूम हुआ कि पशुपति ने एक अंग्रेज लड़की से विवाह कर लिया है। प्रभा पर वज्र-सा गिर पड़ा—उसके हृदय के टुकड़े हो गये—सारी आशाओं पर पानी फिर गया। उसका निर्बल शरीर इस आघात को सहन न कर सका। उसे ज्वर आने लगा और किसी को उसके जीवन की आशा न रही। वह स्वयं मृत्यु की अभिलाषिणी थी और मालूम भी होता था कि मौत किसी सर्प की भांति उसकी देह से लिपट गयी है। लेकिन बुलाने से मौत भी नहीं आती। ज्वर शान्त हो गया और प्रभा फिर वही आशाविहीन जीवन व्यतीत करने लगी।

7

एक दिन प्रभा ने सुना कि पशुपति योरोप से लौट आया है और वह योरोपीय स्त्री उसके साथ नहीं है। बल्कि उसके लौटने का कारण वही स्त्री हुई है। वह औरत बारह साल तक उसकी सहयोगिनी रही पर एक दिन एक अंग्रेज युवक के साथ भाग गयी। इस भीषण और अत्यन्त कठोर आघात ने पशुपति की कमर तोड़ दी। वह नौकरी छोड़कर घर चला आया। अब उसकी सूरत इतनी बदल गयी थी कि उसके मित्र लोग उससे बाजार में मिलते तो उसे पहचान न सकते थे—मालूम होता था, कोई बूढ़ा कमर झुकाये चला जाता है। उसके बाल तक सफेद हो गये।

घर आकर पशुपति ने एक दिन शान्ता को बुला भेजा। इस तरह शान्ता उसके घर आने-जाने लगी। वह अपने पिता की दशा देखकर मन-ही-मन कुढ़ती थी।

इसी बीच में शान्ता के विवाह के सन्देश आने लगे, लेकिन प्रभा को अपने वैवाहिक जीवन में जो अनुभव हुआ था वह उसे इन संदेशों को लौटाने पर मजबूर करता था। वह सोचती, कहीं इस लड़की की भी वह गति न हो जो मेरी हुई है। उसे ऐसा मालूम होता था कि यदि शान्ता का विवाह हो गया तो इस अन्तिम अवस्था में भी मुझे चैन न मिलेगा। और मरने के बाद भी मैं पुत्री का शोक लेकर जाऊंगी। लेकिन अन्त में एक ऐसे अच्छे घराने से संदेश आया कि प्रभा उसे 'नाहीं' न कर सकी। घर बहुत ही सम्पन्न था, वह भी बहुत ही सुयोग्य। प्रभा को स्वीकार ही करना पड़ा। लेकिन पिता की अनुमति भी

आवश्यक थी। प्रभा ने इस विषय में पशुपति को एक पत्र लिखा और शान्ता के ही हाथ भेज दिया। जब शान्ता पत्र लेकर चली गयी तब प्रभा भोजन बनाने चली गयी। भांति-भांति की अमंगल कल्पनाएं उसके मन में आने लगीं और चूल्हे से निकलते हुए धुएं में उसे एक चित्र-सा दिखायी दिया कि शान्ता के पतले-पतले होंठ सूखे हुए हैं और वह कांप रही है और जिस तरह प्रभा पतिगृह से आकर माता की गोद में गिर गयी थी उसी तरह शान्ता भी आकर माता की गोद में गिर पड़ी है।

8

पशुपति ने प्रभा का पत्र पढ़ा तो उसे चुप-सी लग गयी। उसने अपना सिगरेट जलाया और जोर-जोर से खींचने लगा।

फिर वह उठ खड़ा हुआ और कमरे में टहलने लगा। कभी मूंछों को दांतों से काटता, कभी खिचड़ी दाढ़ी को नीचे की ओर खींचता।

सहसा वह शान्ता के पास आकर खड़ा हो गया और कांपते हुए स्वर में बोला—बेटी, जिस घर को तेरी मां स्वीकार करती है उसे मैं कैसे 'नाहीं' कर सकता हूं। उन्होंने बहुत सोच-समझकर हामीं भरी होगी। ईश्वर करे तुम सदा सौभाग्यवती रहो। मुझे दुःख है तो इतना ही कि जब तू अपने घर चली जायेगी तब तेरी माता अकेली रह जायेगी। कोई उसके आंसू पोंछने वाला न रहेगा। कोई ऐसा उपाय सोच कि तेरी माता का क्लेश दूर हो और मैं भी इस तरह मारा-मारा न फिरूं। ऐसा उपाय तू ही निकाल सकती है। सम्भव है लज्जा और संकोच के कारण मैं अपने हृदय की बात तुझसे कभी न कह सकता, लेकिन अब तू जा रही है और मुझे संकोच का त्याग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। तेरी मां तुझे प्यार करती है और तेरा अनुरोध कभी न टालेगी। मेरी दशा जो तू अपनी आंखों से देख रही है यही उससे कह देना। जा, तेरा सौभाग्य अमर हो।

शान्ता रोती हुई पिता की छाती से लिपट गयी और वह समय से पहले बूढ़ा हो जाने वाला मनुष्य अपनी दुर्वासनाओं का दण्ड भोगने के बाद पश्चात्ताप और ग्लानि के आंसू बहा-बहाकर शान्ता की केशराशि को भिगोने लगा।

पतिपरायणा प्रभा क्या शान्ता का अनुरोध टाल सकती थी ? इस प्रेम-सूत्र ने दोनों भग्न-हृदयों को सदैव के लिए मिला दिया।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'सरस्वती', अप्रैल, 1926 में प्रकाशित। यह कहानी केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई। 'गुप्तधन'-2 में संकलित।]

लांछन-1

अगर संसार में ऐसा प्राणी होता, जिसकी आँखें लोगों के हृदयों के भीतर घुस सकतीं, तो ऐसे बहुत कम स्त्री-पुरुष होंगे, जो उसके सामने सीधी आँखें करके ताक सकते! महिला-आश्रम की जुगनूबाई के विषय में लोगों की धारणा कुछ ऐसी ही हो गयी थी। वह बेपढ़ी-लिखी,

गरीब, बूढ़ी औरत थी, देखने में बड़ी सरल, बड़ी हँसमुख, लेकिन जैसे किसी चतुर प्रूफरीडर की निगाह गलतियों ही पर जा पड़ती है; उसी तरह उसकी आँखें भी बुराइयों ही पर पहुँच जाती थीं। शहर में ऐसी कोई महिला न थी; जिसके विषय में दो-चार लुकी-छिपी बातें उसे न मालूम हों। उसका ठिगना स्थूल शरीर, सिर के खिचड़ी बाल, गोल मुँह, फूले-फूले गाल, छोटी-छोटी आँखें उसके स्वभाव की प्रखरता और तेजी पर परदा-सा डाले रहती थीं; लेकिन जब वह किसी की कुत्सा करने लगती, तो उसकी आकृति कठोर हो जाती, आँखें फैल जातीं और कंठ-स्वर कर्कश हो जाता। उसकी चाल में बिल्लियों का-सा संयम था; दबे पाँव धीरे-धीरे चलती, पर शिकार की आहट पाते ही, जस्त मारने को तैयार हो जाती थी। उसका काम था, महिला-आश्रम में महिलाओं की सेवा-टहल करना; पर महिलाएँ उसकी सूरत से काँपती थीं। उसका आतंक था, कि ज्योंही वह कमरे में कदम रखती, ओठों पर खेलती हुई हँसी, जैसे रो पड़ती थी। चहकने वाली आवाजें जैसे बुझ जाती थीं, मानो उनके मुख पर लोगों को अपने पिछले रहस्य अंकित नजर आते हों। पिछले रहस्य ! कौन है, जो अपने अतीत को किसी भयंकर जन्तु के समान कटघरों में बन्द करके न रखना चाहता हो। धनियों को चोरों के भय से निद्रा नहीं आती, मानियों को उसी भाँति मान की रक्षा करनी पड़ती है। वह जन्तु, जो पहले कीट के समान अल्पाकार रहा होगा, दिनों के साथ दीर्घ और सबल होता जाता है, यहाँ तक हम उसकी याद ही से काँप उठते हैं; और अपने ही कारनामों की बात होती, तो अधिकांश देवियाँ जुगनू को दुत्कारतीं; पर यहाँ तो मैके और ससुराल, ननियाल, ददियाल, फुफियाल और मौसियाल, चारों ओर की रक्षा करनी थी और जिस किले में इतने द्वार हों, उसकी रक्षा कौन कर सकता है। वहाँ तो हमला करने वाले के सामने मस्तक झुकाने में ही कुशल है। जुगनू के दिल में हजारों मुर्दे गड़े पड़े थे और वह जरूरत पड़ने पर उन्हें उखाड़ दिया करती थी। जहाँ किसी महिला ने दून की ली, या शान दिखायी, वहाँ जुगनू की त्योरियाँ बदलीं। उसकी एक कड़ी निगाह अच्छे-अच्छे को दहला देती थी; मगर यह बात न थी कि स्त्रियाँ उससे घृणा करती हों। नहीं, सभी बड़े चाव से उससे मिलतीं और उसका आदर-सत्कार करतीं। अपने पड़ोसियों की निन्दा सनातन से मनुष्य के लिए मनोरंजन का विषय रही है और जुगनू के पास इसका काफी सामान था।

2

नगर में इंदुमती-महिला-पाठशाला नाम का एक लड़कियों का हाईस्कूल था। हाल में मिस खुरशेद उसकी हेड मिस्ट्रेस होकर आयी थीं। शहर में महिलाओं का दूसरा क्लब न था। मिस खुरशेद एक दिन आश्रम में आयीं। ऐसी ऊँचे दर्जे की शिक्षा पायी हुई आश्रम में कोई देवी न थी। उनकी बड़ी आवभगत हुई। पहले ही दिन मालूम हो गया, मिस खुरशेद के आने से आश्रम में एक नये जीवन का संचार होगा। कुछ इस तरह दिल खोलकर हरेक से मिलीं, कुछ ऐसी दिलचस्प बातें कीं, कि सभी देवियाँ मुग्ध हो गयीं। गाने में चतुर थीं। व्याख्यान भी खूब देती थीं और अभिनय-कला में तो उन्होंने लंदन में नाम कमा लिया था। ऐसी सर्वगुण-सम्पन्न देवी का आना आश्रम का सौभाग्य था। गुलाबी गोरा रंग, कोमल गाल, मदभरी आँखें, नये फैशन के कटे हुए केश, एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ;

मादकता की इससे अच्छी प्रतिमा न बन सकती थी।

चलते समय मिस खुरशेद ने मिसेज़ टंडन को, जो आश्रम की प्रधान थी, एकान्त में बुलाकर पूछा—वह बुढ़िया कौन है ?

जुगनू कई बार कमरे में आकर मिस खुरशेद को अन्वेषण की आँखों से देख चुकी थी, मानो कोई शहसवार किसी नयी घोड़ी को देख रहा हो।

मिसेज टंडन ने मुस्करकर कहा—यहाँ ऊपर का काम करने के लिए नौकर है। कोई काम हो, तो बुलाऊँ ? मिस खुरशेद ने धन्यवाद देकर कहा—जी नहीं, कोई विशेष काम नहीं है। मुझे चालबाज मालूम होती है। यह भी देख रही हूँ, कि वह सेविका नहीं स्वामिनी है। मिसेज टंडन तो जुगनू से जली बैठी ही थीं, इनके वैधव्य को लांछित करने के लिए, वह उन्हें सदा-सोहागिन कहा करती थी। मिस खुरशेद से उसकी जितनी बुराई हो सकी, वह की और उससे सचेत रहने का आदेश दिया।

मिस खुरशेद ने गम्भीर होकर कहा—तब तो भयंकर स्त्री है। तभी सब देवियाँ इससे कांपती हैं। आप इसे निकाल क्यों नहीं देतीं ? ऐसी चुड़ैल को एक दिन न रखना चाहिए।

मिसेज टंडन ने अपनी मजबूरी बताई—निकाल कैसे दूँ; जिन्दा रहना मुश्किल हो जाय। हमारा भाग्य उसकी मुट्ठी में है। आपको दो-चार दिन में उसके जौहर खुलेंगे। मैं तो डरती हूँ, कहीं आप भी उसके पंजे में न फँस जायँ ! उसके सामने भूलकर भी किसी पुरुष से बातें न कीजिएगा। इसके गोयन्दे न जाने कहाँ-कहाँ लगे हुए हैं। नौकर से मिलकर भेद यह ले, डाकिये से मिलकर चिट्ठियाँ यह देखे, लड़कों को फुसलाकर घर का हाल यह पूछे। इस राँड को खुफिया पुलिस में जाना चाहिए था। यहाँ न जाने क्यों आ मरी।

मिस खुरशेद चिन्तित हो गयीं, मानो इस समस्या को हल करने की फिक्र में हों। एक क्षण बाद बोलीं—अच्छा मैं इसे ठीक करूँगी; अगर न निकाल दूँ, तो कहना।

मिसेज टंडन—निकाल देने ही से क्या होगा। उसकी जबान तो न बन्द होगी। तब तो वह और भी निडर होकर कीचड़ फेंकेगी।

मिस खुरशेद ने निश्चिन्त स्वर में कहा—मैं उसकी जबान भी बन्द कर दूंगी, बहन। आप देख लीजिएगा। टके की औरत, यहाँ बादशाहत कर रही है। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकती।

वह चली गयी, तो मिसेज टंडन ने जुगनू को बुलाकर कहा—इस नयी मिस साहब को देख। यहाँ प्रिन्सिपल हैं।

जुगनू ने द्वेष भरे हुए स्वर में कहा—आप देखें। मैं ऐसी सैकड़ों छोकरियाँ देख चुकी हूँ। आँखों का पानी जैसे मर गया हो।

मिसेज टंडन धीरे से बोलीं—तुम्हें कच्चा ही खा जायँगी। उनसे डरती रहना। कह गयी हैं, मैं इसे ठीक करके छोड़ूँगी। मैंने सोचा, तुम्हें चेता दूँ। ऐसा न हो, उसके सामने कुछ ऐसी-वैसी बातें कह बैठो।

जुगनू ने मानो तलवार खींचकर कहा—मुझे चेताने का काम नहीं; उन्हें चेता दीजिएगा। यहाँ का आना न बन्द कर दूँ, तो अपने बाप की नहीं। वह घूमकर दुनिया देख आयी हैं, तो यहाँ घर बैठे दुनिया देख चुकी हूँ।

मिसेज टंडन ने पीठ ठोंकी—मैंने समझा दिया भाई, आगे तुम जानो तुम्हारा काम जाने।

जुगनू—आप चुपचाप देखती जाइए। कैसा तिगनी का नाच नचाती हूँ। इसने अब तक ब्याह क्यों नहीं किया ? उमिर तो तीस के लगभग होगी ?

मिसेज टंडन ने रद्दा जमाया—कहती है, मैं शादी करना ही नहीं चाहती। किसी पुरुष के हाथ क्यों अपनी आजादी बेचूँ ?

जुगनू ने आँखें नचाकर कहा—कोई पूछता ही न होगा। ऐसी बहुत-सी क्वाँरियाँ देख चुकी हूँ। सत्तर चूहे खाकर, बिल्ली चली हज्ज को !

और कई लौडियाँ आ गयीं और बात का सिलसिला बन्द हो गया।

3

दूसरे दिन सबेरे जुगनू मिस खुरशेद के बँगले पर पहुँची। मिस खुरशेद हवा खाने गयी हुई थीं। खानसामा ने पूछा—कहाँ से आती हो ?

जुगनू—यहीं रहती हूँ बेटा। मेम साहब कहाँ से आयी हैं, तुम तो इनके पुराने नौकर होंगे ?

खानसामा—नागपुर से आयी हैं ! मेरा घर भी वहीं है। दस साल से इनके साथ हूँ।

जुगनू—किसी ऊँचे खानदान की होंगी ? वह तो रंग-ढंग से ही मालूम होता है।

खानसामा—खानदान तो कुछ ऐसा ऊँचा नहीं, हाँ तकदीर की अच्छी हैं। इनकी माँ अभी तक मिशन में तीस रुपये पाती हैं। यह पढ़ने में तेज थीं वजीफा मिल गया, विलायत चली गयीं, बस तकदीर खुल गयी। अब तो अपनी माँ को बुलानेवाली हैं, लेकिन वह बुढ़िया शायद ही आये। यह गिरजे-विरजे नहीं जातीं, इससे दोनों में पटती नहीं।

जुगनू—मिजाज की तेज मालूम होती है।

खानसामा—नहीं; यों तो बहुत नेक हैं, गिरजे नहीं जातीं। तुम क्या नौकरी की तलाश में हो ? करना चाहो, तो कर लो, एक आया रखना चाहती हैं।

जुगनू—नहीं बेटा, मैं अब क्या नौकरी करूँगी। इस बँगले में पहले जो मेम साहब रहती थीं, वह मुझ पर बड़ी निगाह रखती थीं। मैंने समझा, चलूँ नयी मेम साहब को आसीरबाद दे आऊँ।

खानसामा—यह आसीरबाद लेनेवाली मेम साहब नहीं हैं। ऐसों से बहुत चिढ़ती हैं। कोई मँगता आया और उसे डाँट बताई। कहती हैं, बिना काम किये किसी को जिन्दा रहने का हक नहीं है। भला चाहती हो, तो चुपके से राह लो।

जुगनू—तो यह कहो, इनका कोई धरम-करम नहीं। फिर भला गरीबों पर क्यों दया करने लगीं।

जुगनू को अपनी दीवार खड़ी करने के लिए काफी सामान मिल गया—नीच खानदान की है, माँ से नहीं पटती; धर्म से विमुख है। पहले धावे में इतनी सफलता कुछ कम न थी। चलते-चलते खानसामा से इतना और पूछा—इनके साहब क्या करते हैं ? खानसामा ने मुस्कराकर कहा—इनकी तो अभी शादी ही नहीं हुई। साहब कहाँ से होंगे।

जुगनू ने बनावटी आश्चर्य से कहा—अरे, अब तक ब्याह ही नहीं हुआ। हमारे यहाँ

तो दुनिया हँसने लगे।

खानसामा—अपना-अपना रिवाज है। इनके यहाँ तो कितनी ही औरतें उम्र भर ब्याह नहीं करतीं !

जुगनू ने मार्मिक-भाव से कहा—ऐसी क्वारियों को मैं बहुत देख चुकी। हमारी बिरादरी में कोई इस तनो रहे, तो थुड़ी-थुड़ी हो जाय। मुदा इनके यहाँ जो जी में आवे करो, कोई नहीं पूछता।

इतने में मिस खुरशेद आ पहुँची। गुलाबी जाड़ा पड़ने लगा था। मिस साहब साड़ी के ऊपर ओवरकोट पहने हुए थीं। एक हाथ में छतरी थी, दूसरे में छोटे कुत्ते की जंजीर। प्रभात की शीतल वायु में व्यायाम ने कपोलों को ताजा और सुर्ख कर दिया था। जुगनू ने झुककर सलाम किया, पर उन्होंने उसे देखकर भी न देखा। अन्दर जाते ही खानसामा को बुलाकर पूछा—यह औरत क्या करने आयी है।

खानसामा ने जूते का फीता खोलते हुए कहा—भिखारिन है हुजूर ! पर औरत समझदार है। मैंने कहा, यहाँ नौकरी करेगी, तो राजी नहीं हुई। पूछने लगी, इनके साहब क्या करते हैं। जब मैंने बता दिया, तो इसे बड़ा ताज्जुब हुआ और होना ही चाहे। हिन्दुओं में तो दुधमुँहे बालकों तक का विवाह हो जाता है।

खुरशेद ने जाँच की—और क्या कहती थी ?

'और तो कोई बात नहीं हुजूर !'

'अच्छा, उसे मेरे पास भेज दो !'

4

जुगनू ने ज्योंही कमरे में कदम रक्खा, मिस खुरशेद ने कुरसी से उठकर स्वागत किया आइए माँजी ! मैं जरा सैर करने चली गई थी। आपके आश्रम में तो सब कुशल है ?

जुगनू एक कुरसी का तकिया पकड़कर खड़ी-खड़ी बोली—कुशल है मिस साहब! मैंने कहा, आपको आसीरबाद दे आऊँ। मैं आपकी चेरी हूँ। जब कोई काम पड़े मुझे याद कीजिएगा। यहाँ अकेले तो हुजूर को अच्छा न लगता होगा।

मिस खुरशेद—मुझे अपने स्कूल की लड़कियों के साथ बड़ा आनन्द मिलता है, वह सब मेरी ही लड़कियाँ हैं।

जुगनू ने मातृ-भाव से सिर हिलाकर कहा—यह ठीक है मिस साहब, पर अपना, अपना ही है। दूसरा अपना हो जाय, तो अपनों के लिए कोई क्यों रोये !

सहसा एक सुंदर सजीला युवक रेशमी सूट धारण किये जूते चरमर करता हुआ अन्दर आया। मिस खुरशेद ने इस तरह दौड़कर प्रेम से उनका अभिवादन किया, मानो जामे में फूली न समाती हों। जुगनू उसे देखकर कोने में दुबक गयी !

खुरशेद ने युवक से गले मिलकर कहा—प्यारे ! मैं कब से तुम्हारी राह देख रही हूँ। (जुगनू से) माँजी, आप जायें फिर कभी आना। यह हमारे परम मित्र विलियम किंग हैं। हम और यह बहुत दिनों तक साथ-साथ पढ़े हैं।

जुगनू चुपके से निकलकर बाहर आई। खानसामा खड़ा था। पूछा—यह लौंडा कौन है ?

खानसामा ने सिर हिलाया—मैंने इसे आज ही देखा है। शायद अब क्वाँरपन से जी ऊबा ! अच्छा तरहदार जवान है।

जुगनू—दोनों इस तरह टूटकर गले मिले हैं कि मैं तो लाज के मारे गड़ गयी। ऐसा चूमा-चाटी तो जोरू-खसम में नहीं होती। दोनों लिपट गये। लौंडा तो मुझे देखकर कुछ झिझकता था; पर तुम्हारी मिस साहब तो जैसे मतवाली हो गई थीं।

खानसामा ने मानो अमंगल के आभास से कहा—मुझे तो कुछ बेढब मुआमला नजर आता है।

जुगनू तो यहाँ से सीधे मिसेज टंडन के घर पहुँची। इधर मिस खुरशेद और युवक में बातें होने लगीं।

मिस खुरशेद ने कहकहा मारकर कहा—तुमने अपना पार्ट खूब खेला लीला, बुढ़िया सचमुच चौंधिया गयी !

लीला—मैं तो डर रही थी, कि कहीं बुढ़िया भाँप न जाय।

मिस खुरशेद—मुझे विश्वास था, वह आज जरूर आयेगी। मैंने दूर ही से उसे बरामदे में देखा और तुम्हें सूचना दी। आज आश्रम में बड़े मजे रहेंगे। जी चाहता है, महिलाओं की कनफुसकियाँ सुनती ! देख लेना, सभी उसकी बातों पर विश्वास करेंगी।

लीला—तुम भी तो जान-बूझकर दलदल में पाँव रख रही हो।

मिस खुरशेद—मुझे अभिनय में मजा आता है। दिल्लगी रहेगी। बुढ़िया ने बड़ा जुल्म कर रखा है। जरा उसे सबक देना चाहती हूँ। कल तुम इसी वक्त इसी ठाट से फिर आ जाना। बुढ़िया कल फिर आयेगी। उसके पेट में पानी न हजम होगा। नहीं, ऐसा क्यों ? जिस वक्त वह आयेगी, मैं तुम्हें खबर दूँगी। बस, तुम छैला बनी हुई पहुँच जाना।

5

आश्रम में उस दिन जुगनू को दम मारने की फुर्सत न मिली। उसने सारा वृत्तान्त मिसेज टंडन से कहा। मिसेज टंडन दौड़ी हुई आश्रम पहुँची और अन्य महिलाओं को खबर सुनायी। जुगनू उसकी तसदीक करने के लिए बुलायी गयी। जो महिला आती, वह जुगनू के मुँह से यह कथा सुनती। हर एक रिहर्सल में कुछ-कुछ रंग और चढ़ जाता। यहाँ तक कि दोपहर होते-होते सारे शहर के सभ्य-समाज में वह खबर गूँज उठी।

एक देवी ने पूछा—यह युवक है कौन !

मिसेज टंडन—सुना तो, उनके साथ का पढ़ा हुआ है। दोनों में पहले से कुछ बातचीत रही होगी। वही तो मैं कहती थी कि इतनी उम्र हो गयी, यह क्वाँरी कैसे बैठी है ? अब कलई खुली।

जुगनू—और कुछ हो या न हो, जवान तो बाँका है।

टंडन—यह हमारी विद्वान बहनों का हाल है।

जुगनू—मैं तो उसकी सूरत देखते ही ताड़ गयी थी। धूप में बाल नहीं सुफेद किये हैं।

टंडन—कल फिर जाना।

जुगनू—कल नहीं, मैं आज रात ही को जाऊँगी। लेकिन रात को जाने के लिए कोई

बहाना जरूरी था। मिसेज टंडन ने आश्रम के लिए एक किताब मँगवा भेजी। रात को नौ बजे जुगनू मिस खुरशेद के बँगले पर जा पहुँची। संयोग से लीलावती उस वक्त मौजूद थी; बोली—बुढ़िया तो बेहतर पीछे पड़ गयी।

मिस खुरशेद—मैंने तुमसे कहा था, उसके पेट में पानी न पचेगा। तुम जाकर रूप भर जाओ। तब तक मैं बातों में लगाती हूँ। शराबियों की तरह अंट-संट बकना शुरू करना। मुझे भगा ले जाने के प्रस्ताव भी करना, बस यों बन जाना जैसे अपने होश में नहीं हो।

लीला मिशन में डाक्टर थी। उसका बँगला भी पास ही था। वह चली गयी, तो मिस खुरशेद ने जुगनू को बुलाया।

जुगनू ने एक पुरजा उसको देकर कहा—मिसेज टंडन ने यह किताब माँगी है। मुझे आने में देर हो गयी। मैं इस वक्त आपको कष्ट न देती; पर सबेरे ही वह मुझसे माँगेंगी। हजारों रुपये महीने की आमदनी है मिस साहब, मगर एक-एक कौड़ी दाँत से पकड़ती हैं। इनके द्वारे पर भिखारी को भीख तक नहीं मिलती।

मिस खुरशेद ने पुरजा देखकर कहा—इस वक्त तो यह किताब नहीं मिल सकती, सुबह ले जाना। तुमसे कुछ बातें करनी हैं। बैठो, मैं अभी आती हूँ।

वह परदा उठाकर पीछे के कमरे में चली गयी और वहाँ से कोई पन्द्रह मिनट में एक सुन्दर रेशमी साड़ी पहने, इत्र में बसी हुई, मुँह पर पाउडर लगाये निकली। जुगनू ने उसे आखें फाड़कर देखा। ओ हो ! यह शृंगार ! शायद इस समय वह लौंडा आनेवाला होगा। तभी यह तैयारियाँ हैं। नहीं, सोने के समय क्वारियों को बनाव-सँवार की क्या जरूरत ? जुगनू की नीति में स्त्रियों के शृंगार का केवल एक उद्देश्य था, पति को लुभाना। इसलिए सोहागिनों के सिवा शृंगार और सभी के लिए वर्जित था ! अभी खुरशेद कुरसी पर बैठने भी न पायी थी कि जूतों का चरमर सुनाई दिया और एक क्षण में विलियम किंग ने कमरे में कदम रक्खा। उसकी आँखें चढ़ी हुई मालूम होती थीं, और कपड़ों से शराब की गन्ध आ रही थी। उसने बेधड़क मिस खुरशेद को छाती से लगा लिया और बार-बार उसके कपोलों के चुम्बन लेने लगा।

मिस खुरशेद ने अपने को उसके कर-पाश से छुड़ाने की चेष्टा करके कहा—चलो हटो, शराब पीकर आये हो।

किंग ने उसे और चिमटाकर कहा—आज तुम्हें भी पिलाऊँगा प्रिये ! तुमको पीना होगा। फिर हम दोनों लिपटकर सोवेंगे। नशे में प्रेम कितना सजीव हो जाता है, इसकी परीक्षा कर लो।

मिस खुरशेद ने इस तरह जुगनू की उपस्थिति का उसे संकेत किया कि जुगनू पर नजर पड़ जाय। पर किंग नशे में मस्त था, जुगनू की तरफ देखा ही नहीं।

मिस खुरशेद ने रोष के साथ अपने को अलग करके कहा—तुम इस वक्त आपे में नहीं हो। इतने उतावले क्यों हुए जाते हो ? क्या मैं कहीं भागी जा रही हूँ ?

किंग—इतने दिनों से चोरों की तरह आया हूँ, आज से मैं खुले खजाने आऊँगा।

खुरशेद—तुम तो पागल हो रहे हो। देखते नहीं हो, कमरे में कौन बैठा हुआ है?

किंग ने हकबकाकर जुगनू की तरफ देखा और झिझककर बोला—यह बुढ़िया यहाँ कब आयी ? तू यहाँ क्यों आयी बुड्ढी ! शैतान की बच्ची ! यहाँ भेद लेने आती है ?

हमको बदनाम करना चाहती है ? मैं तेरा गला घोंट दूँगा। ठहर भागती कहाँ है? मैं तुझे जिन्दा न छोड़ूँगा !

जुगनू बिल्ली की तरह कमरे से निकली और सिर पर पाँव रखकर भागी। उधर क़मरे से कहकहे उठ-उठकर छत को हिलाने लगे।

जुगनू उसी वक्त मिसेज टंडन के घर पहुँची, उसके पेट में बुलबुले उठ रहे थे; पर मिसेज टंडन सो गयी थीं। वहाँ से निराश होकर उसने कई दूसरे घरों की कुण्डी खटखटाई; पर कोई द्वार न खुला और दुखिया को सारी रात इसी तरह काटनी पड़ी, मानो कोई रोता हुआ बच्चा गोद में हो। प्रातःकाल वह आश्रम में जा कूदी।

कोई आध घण्टे में मिसेज टंडन भी आयीं। उन्हें देखकर उसने मुँह फेर लिया।

मिसेज टंडन ने पूछा—रात क्या तुम मेरे घर आयी थीं ? इस वक्त मुझसे महाराज ने कहा।

जुगनू ने विरक्त भाव से कहा—प्यासा ही तो कुएँ के पास जाता है। कुआँ थोड़े ही प्यासे के पास आता है। मुझे आग में झोंककर आप दूर हट गयीं। भगवान् ने मेरी रक्षा की, नहीं कल जान ही गयी थी।

मिसेज टंडन ने उत्सुकता से कहा—क्या, हुआ क्या, कुछ कहो तो ? मुझे तुमने जगा क्यों न लिया। तुम तो जानती हो, मेरी आदत सबेरे सो जाने की है।

'महाराज ने घर में घुसने ही न दिया। जगा कैसे लेती। आपको इतना तो सोचना चाहिये था, कि वह वहाँ गयी है, तो आती होगी ? घड़ी भर बाद ही सोतीं, तो क्या बिगड़ जाता; पर आपको किसी की क्या परवाह !'

'तो क्या हुआ, मिस खुरशेद मारने दौड़ीं ?'

'वह नहीं मारने दौड़ीं, उनका वह खसम है, वह मारने दौड़ा। लाल आँखें निकाले आया और मुझसे कहा—निकल जा। जब तक मैं निकलूँ, तब तक हंटर खींचकर दौड़ ही तो पड़ा। मैं सिर पर पाँव रखकर न भागती तो चमड़ा उधेड़ डालता। और वह राँड बैठी तमाशा देखती रही। दोनों में पहले से सधी-बदी थी। ऐसी कुलटाओं का मुँह देखना पाप है। बेसवा भी इतनी निर्लज्ज न होगी।

जरा देर में और देवियाँ आ पहुँचीं। यह वृत्तांत सुनने के लिए सभी उत्सुक हो रही थीं। जुगनू की कैंची अविश्रांत रूप से चलती रही। महिलाओं को इस वृत्तांत में इतना आनन्द आ रहा था कि कुछ न पूछो। एक-एक बात को खोद-खोदकर पूछती थीं। घर के काम-धंधे भूल गये, खाने-पीने की सुधि भी न रही; और एक बार सुनकर उनकी तृप्ति न होती थी, बार-बार वही कथा नये आनन्द से सुनती थीं।

मिसेज टंडन ने अन्त में कहा—हमें आश्रम में ऐसी महिलाओं को लाना अनुचित है। आप लोग इस प्रश्न पर विचार करें।

मिसेज पाण्डया ने समर्थन किया—हम आश्रम को आदर्श से गिराना नहीं चाहते। मैं तो कहती हूँ, ऐसी औरत किसी संस्था की प्रिन्सिपल बनने के योग्य नहीं।

मिसेज बाँगड़ा ने फरमाया—जुगनूबाई ने ठीक कहा था, ऐसी औरत का मुँह देखना भी पाप है। उससे साफ कह देना चाहिये, आप यहाँ तशरीफ न लावें।

अभी यह खिचड़ी पक रही थी कि आश्रम के सामने एक मोटर आकर रुकी।

महिलाओं ने सिर उठा-उठाकर देखा, गाड़ी में मिस खुरशेद और विलियम किंग बैठे हुए थे।

जुगनू ने मुँह फैलाकर हाथ से इशारा किया, वही लौंडा है। महिलाओं का सम्पूर्ण समूह चिक के सामने आने के लिए विकल हो गया।

मिस खुरशेद ने मोटर से उतरकर हुड बन्द कर दिया और आश्रम के द्वार की ओर चलीं। महिलाएँ भाग-भागकर अपनी-अपनी जगह आ बैठीं।

मिस खुरशेद ने कमरे में कदम रक्खा। किसी ने स्वागत न किया। मिस खुरशेद ने जुगनू की ओर निःसंकोच आँखों से देखकर मुस्कराते हुए कहा—कहिए बाईजी, रात आपको चोट तो नहीं आयी ?

जुगनू ने बहुतेरी दीदा-दिलेर स्त्रियाँ देखी थीं; पर इस ढिठाई ने उसे चकित कर दिया। चोर हाथ में चोरी का माल लिये, साह को ललकार रहा था।

जुगनू ने ऐंठकर कहा—जी न भरा हो, तो अब पिटवा दो। सामने ही तो है।

खुरशेद—वह इस वक्त तुमसे अपना अपराध क्षमा कराने आये हैं। रात वह नशे में थे।

जुगनू ने मिसेज टंडन की ओर देखकर कहा—और आप भी तो कुछ कम नशे में नहीं थीं।

खुरशेद ने व्यंग्य समझकर कहा—मैंने आज तक कभी नहीं पी, मुझ पर झूठा इलजाम मत लगाओ।

जुगनू ने लाठी मारी—शराब से भी बड़ी नशे की चीज है कोई; वह उसी का नशा होगा। उन महाशय को परदे में क्यों ढंक दिया। देवियाँ भी तो उनकी सूरत देखतीं।

मिस खुरशेद ने शरारत की—सूरत तो उनकी लाख-दो-लाख में एक है।

मिसेज टंडन ने आशंकित होकर कहा—नहीं, उन्हें यहाँ लाने की जरूरत नहीं! आश्रम को हम बदनाम नहीं करना चाहते।

मिस खुरशेद ने आग्रह किया—मुआमले को साफ करने के लिए उनका आप लोगों के सामने आना जरूरी है। एकतरफा फैसला आप क्यों करती हैं ?

मिसेज टंडन ने टालने के लिए कहा—यहाँ कोई मुकदमा थोड़े ही पेश है !

मिस खुरशेद—वाह ! मेरी इज्जत में बट्टा लगा जा रहा है, और आप कहती हैं, कोई मुकदमा नहीं है ? मिस्टर किंग आयेंगे और आपको उनका बयान सुनना होगा।

मिसेज टंडन को छोड़कर और सभी महिलाएँ किंग को देखने के लिए उत्सुक थीं। किसी ने विरोध न किया।

खुरशेद ने द्वार पर आकर ऊँची आवाज से कहा—तुम जरा यहाँ चले आओ !

हुड खुला और मिस लीलावती रेशमी साड़ी पहने मुस्कराती हुई निकल आई।

आश्रम में सन्नाटा छा गया। देवियाँ विस्मित आँखों से लीलावती को देखने लगीं।

जुगनू ने आँखें चमकाकर कहा—उन्हें कहाँ छिपा दिया आपने ?

खुरशेद—छूमन्तर से उड़ गये। जाकर गाड़ी देख लो।

जुगनू लपककर गाड़ी के पास गयी और खूब देख-भालकर मुँह लटकाये हुए लौटी।

मिस खुरशेद ने पूछा—क्या हुआ, मिला कोई ?

जुगनू—मैं यह तिरिया-चरित्तर क्या जानूँ। (लीलावती को गौर से देखकर) और

मरदों को साड़ी पहनाकर आँखों में धूल झोंक रही हो। यही तो हैं, वह रात वाले साहब!

खुरशेद–खूब पहचानती हो ?

जुगनू–हाँ-हाँ, क्या अन्धी हूँ ?

मिसेज टंडन–क्या पागलों-सी बातें करती हो जुगनू, यह तो डाक्टर लीलावती हैं।

जुगनू–(उंगली चमकाकर) चलिए-चलिए, लीलावती हैं। साड़ी पहनकर औरत बनते लाज भी नहीं आती ! तुम रात को इनके घर नहीं थे ?

लीलावती ने विनोद-भाव से कहा–मैं कब इनकार कर रही हूँ। इस वक्त लीलावती हूँ। रात को विलियम किंग बन जाती हूँ। इसमें बात ही क्या है !

देवियों को अब यथार्थ की लालिमा दिखाई दी। चारों तरफ कहकहे पड़ने लगे। कोई तालियाँ बजाती थीं, कोई डाक्टर लीलावती की गरदन से लिपट जाती थीं; कोई मिस खुरशेद की पीठ पर थपकियाँ देती थीं। कई मिनट तक हू-हक मचता रहा। जुगनू का मुँह उस लालिम में बिलकुल जरा-सा निकल आया। जबान बन्द हो गयी। ऐसा चरका उसने कभी न खाया था। इतनी जलील कभी न हुई थी।

मिसेज मेहरा ने डाँट बताई–अब बोलो दाई, लगी मुँह में कालिख कि नहीं ?

मिसेज बाँगड़ा–इसी तरह सब को बदनाम करती है।

लीलावती–आप लोग भी तो जो यह कहती हैं, उस पर विश्वास कर लेती हैं।

इस हरबोंग में जुगनू को किसी ने जाते न देखा। अपने सिर पर यह तूफान उठते देखकर उसे चुपके से सरक जाने में ही अपनी कुशल मालूम हुई। पीछे के द्वार से निकली और गलियों-गलियों भागी।

मिस खुरशेद ने कहा–जरा उससे पूछो; मेरे पीछे क्यों पड़ गयी थी ?

मिसेज टंडन ने पुकारा, पर जुगनू कहाँ ! तलाश होने लगी। जुगनू गायब !

उस दिन से शहर में फिर किसी ने जुगनू की सूरत नहीं देखी। आश्रम के इतिहास में यह मुआमला आज भी उल्लेख और मनोरंजन का विषय बना हुआ है।

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'माधुरी', अगस्त, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर'-1 में संकलित। उर्दू रूप 'इल्ज़ाम' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम-चालीसी' में संकलित।]

तांगेवाले की बड़

लेखक को इलाहाबाद में एक बार तांगे में लम्बा सफर करने का संयोग हुआ। तांगेवाले मियां जुम्मन बड़े बातूनी थे। उनकी उम्र पचास के करीब थी, उनकी बड़ से रास्ता इस आसानी से तय हुआ कि कुछ मालूम ही न हुआ। मैं पाठकों के मनोरंजन के लिए उनकी जीवनी और बड़ पेश करता हूं।

1

जुम्मन–कहिए बाबूजी, तांगा...वह तो इस तरफ देखते ही नहीं शायद इक्का लेंगे।

मुबारक। कम खर्च बालानशीन, मगर कमर रह जायेगी बाबूजी, सड़क खराब है, इक्के में तकलीफ होगी। अखबार में पढ़ा होगा कल चार इक्के इसी सड़क पर उलट गये। चुंगी (म्युनिस्पिल्टी) सलामत रहे, इक्के बिल्कुल बन्द हो जायेंगे। मोटर, लारी तो सड़क खराब करे और नुकसान हो हम गरीब इक्के वालों का। कुछ दिनों में हवाई जहाज में सवारियां चलेंगी, तब हम इक्के वालों को सड़क मिल जायेगी। देखेंगे उस वक्त इन लारियों को कौन पूछता है, अजायबघरों में देखने को मिले तो मिले। अभी तो उनके दिमाग ही नहीं मिलते। अरे साहब, रास्ता निकलना दुश्वार कर दिया है, गोया कुल सड़क उन्हीं के वास्ते है और हमारे वास्ते पटरी और धूल ! अभी ऐंठते हैं, हवाई जहाजों को आने दीजिए। क्यों हुजूर, इन मोटर वालों की आधी आमदानी लेकर सरकार सड़क की मरम्मत में क्यों नहीं खर्च करती? या पेट्रोल पर चौगुना टैक्स लगा दे। यह अपने को टैक्सी कहते हैं, इसके माने तो टैक्स देने वाले के हैं। ऐ हुजूर, मेरी बुढ़िया कहती है कि इक्का छोड़ तांगा लिया, मगर अब तांगे में भी कुछ नहीं रहा, मोटर लो। मैंने जवाब दिया कि अपने हाथ-पैर की सवारी रखोगी या दूसरे के। बस हुजूर, वह चुप हो गयी। और सुनिए, कल की बात है, कल्लन ने मोटर चलाया, मियां एक दरख्त से टकरा गये, वहीं शहीद हो गये। एक बेवा और दस बच्चे यतीम छोड़े। हुजूर, मैं गरीब आदमी हूं, अपने बच्चों को पाल लेता हूं, और क्या चाहिए। आज कुछ कम चालीस साल से इक्केवानी करता हूं, थोड़े दिन और रहे वह भी इसी तरह चाबुक लिए कट जायेंगे। फिर हुजूर देखें, तो इक्का-तांगा और घोड़ा गिरे पर फिर भी कुछ-न-कुछ दे ही जायेगा। बरअक्स इसके मोटर बन्द हो जाय तो हुजूर, उसका लोहा दो रुपये में भी कोई न लेगा। हुजूर, घोड़ा घोड़ा ही है, हर हालत में आपको मंजिल तक पहुंचा ही देगा, मोटर जब देखिए रास्ते में धरा है, सवारियां पैदल जा रही हैं, या हाथी की लाश खींच रही हैं। हुजूर, घोड़े पर हर तरह का काबू और हर सूरत में नफा। मोटर में कोई आराम थोड़े ही है। तांगे में सवारी भी सो रही है, हम भी सो रहे हैं और घोड़ा भी सो रहा है मगर मंजिल तय हो रही है। मोटर के शोर से तो कान के पर्दे फटते हैं और हांकने वाले को तो जैसे चक्की पीसना पड़ता है।

2

ऐ हुजूर, औरतें भी इक्के-तांगे को बड़ी बेदर्दी से इस्तेमाल करती हैं। कल की बात है, सात-आठ औरतें आयीं और पूछने लगीं कि तिरबेनी का क्या लोगे। हुजूर, हमारे निर्ख तो तय हैं, कोई ह्वाइटवे की दुकान तो है नहीं कि साल में चार बार सेल हों। निर्ख से हमारी मजदूरी चुका दो और दुआएं लो। यों तो हुजूर मालिक हैं, चाहे एक बार कुछ न दें मगर सरकार, यह औरतें एक रुपये का काम हो तो आठ ही आना देती हैं। हुजूर, हम तो साहब लोगों का काम करते हैं। शरीफ हमेशा शरीफ रहते हैं और हुजूर, औरत हर जगह औरत ही रहेगी। एक तो पर्दे के बहाने से हम लोग हटा दिये जाते हैं। इक्के-तांगे में दर्जनों सवारियां और बच्चे बैठ जाते हैं। एक बाद इक्के की कमानी टूटी तो उससे एक न दो पूरी तेरह औरतें निकल आयीं। मैं गरीब आदमी मर गया। हुजूर, सबको हैरत होती है कि किस तरह ऊपर-नीचे बैठ लेती हैं कि कैंची मारकर बैठती हैं। तांगे में भी जान नहीं बचती। दोनों घुटनों पर एक-एक बच्चा बैठा लेती हैं और उनके ऊपर एक-एक और, और उन्हीं में से

एक नन्हे बच्चे को भी ले लेती हैं। इस तरह हुजूर, तांगे के अन्दर सर्कस का-सा नक्शा हो जाता है। इस पर भी पूरी-पूरी मजदूरी यह देना जानती नहीं। पहले तो पर्दे का जोर था। मर्दों से बातचीत हुई और मजदूरी मिल गयी। जब से नुमाइश हुई, पर्दा उखड़ गया और औरतें बाहर आने-जाने लगीं। हम गरीबों का सरासर नुकसान होता है। हुजूर, हमारा भी अल्लाह मालिक है। साल में मैं भी बराबर ही रहता हूं। सौ सुनार की तो एक लोहार की भी हो जाती है। पिछले महीने दो घंटे सवारी के बाद आठ आने पैसे देकर बी अन्दर भागीं। मेरी निगाह जो तांगे पर पड़ी तो क्या देखता हूं कि एक सोने का झुमका गिरकर रह गया। मैं चिल्लाया, माई यह क्या, तो उन्होंने कहा अब एक हब्बा और न मिलेगा और दरवाजा बन्द। मैं दो-चार मिनट तक तो तकता रह गया मगर फिर वापस चला आया। मेरी मजदूरी माई के पास रह गयी और उनका झुमका मेरे पास।

3

कल की बात है, चार स्वराजियों ने मेरा तांगा किया, कटरे से स्टेशन चले, हुकुम मिला कि तेज चलो। रास्ते-भर गांधीजी की जय ! गांधीजी की जय ! पुकारते गये। कोई साहब बाहर से आ रहे थे और बड़ी भीड़ें और जुलूस थे। कठपुतली की तरह रास्ते भर उछलते-कूदते गये। स्टेशन पहुंचकर मुश्किल से चार आने दिये। मैंने पूरा किराया मांगा, मगर वहां गांधीजी की जय ! गांधीजी की जय के सिवाय क्या था ! मैं चिल्लाया मेरा पेट ! मेरा तांगा थिएटर का स्टेज था, आप नाचे-कूदे और अब मजदूरी नहीं देते! मगर मैं चिल्लाता ही रहा, वह भीड़ में गायब हो गये। मैं तो समझता हूं कि लोग पागल हो गये हैं, स्वराज मांगते हैं, इन्हीं हरकतों पर स्वराज मिलेगा ! ऐ हुजूर, अजब हवा चल रही है। सुधार तो करते नहीं, स्वराज मांगते हैं। अपने करम तो पहले दुरुस्त हो लें। मेरे लड़के को बरगलाया, उसने सब कपड़े इकट्ठे किये और लगा जिद करने कि आग लगा दूंगा। पहले तो समझाया कि मैं गरीब आदमी हूं, कहां से और कपड़े लाऊंगा, मगर जब वह न माना तो मैंने गिराकर उसको खूब मारा। फिर क्या था होश ठिकाने हो गये। हुजूर, जब वक्त आयेगा तो हमीं इक्के-तांगे वाले स्वराज हांककर लायेंगे, मोटर पर स्वराज हर्गिज न आयेगा। पहले हमको पूरी मजदूरी दो फिर स्वराज मांगो। हुजूर, औरतें तो औरतें, हम उनसे न जुबान खोल सकते हैं न कुछ कह सकते हैं, वह जो कुछ दे देती हैं, लेना पड़ता है। मगर कोई-कोई नकली शरीफ लोग औरतों के भी कान काटते हैं। सवार होने से पहले हमारे नम्बर देखते हैं, अगर कोई चीज रास्ते में उनकी लापरवाही से गिर जाये तो वह भी हमारे सिर ठोंकते हैं और मजा यह कि किराया कम दें तो हम उफ् तक न करें। एक बार का जिक्र सुनिए, एक नकली साहब 'वेल-वेल' करके लाट साहब के दफ्तर गये, मुझको बाहर छोड़ा और कहा कि एक मिनट में आते हैं, वह दिन है कि आज तक इन्तजार ही कर रहा हूं। अगर यह हजरत कहीं दिखायी दिये तो एक बार तो दिल खोलकर बदला ले लूंगा फिर चाहे जो कुछ हो।

4

अब न पहले के-से मेहरबान रहे न पहले की-सी हालत। खुदा जाने शराफत कहां गायब

हो गयी। मोटर के साथ हवा हुई जाती है। ऐ हुजूर, आप ही जैसे साहब लोग हम इक्के वाले की कद्र करते थे, हमसे भी इज्जत से पेश आते थे। अब वह वक्त है कि हम लोग छोटे आदमी हैं, हर बात पर गाली मिलती है, गुस्सा सहना पड़ता है। कल दो बाबू लोग जा रहे थे, मैंने पूछा तांगा...तो एक ने कहा नहीं, हमको जल्दी है। शायद यह मजाक होगा। आगे चलकर एक साहब पूछते हैं कि टैक्सी कहां मिलेगा? अब कहिए, यह छोटा शहर है, हर जगह जल्द-से-जल्द हम लोग पहुंचा देते हैं। इस पर भी हमीं बतलाएं कि टैक्सी कहां मिलेगी। अंधेर है अंधेर ! ख्याल तो कीजिए, यह नन्ही-सी जान घोड़ों की, हम और हमारे बाल-बच्चे और चौदह आने घंटा। हुजूर, चौदह आने में तो घोड़ी को एक कमची भी लगाने को जी नहीं चाहता। हुजूर, हमें तो कोई चौबीस घंटे के वास्ते मोल ले ले।

कोई-कोई साहब हमीं से नियारियापन करते हैं। चालीस साल से हुजूर, यही काम कर रहा हूं। सवारी को देखा और भांप गये कि क्या चाहते हैं। पैसा मिला और हमारी घोड़ी के पर निकल आये। एक साहब ने बड़े तूम-तड़ाक के बाद घंटों के हिसाब से तांगा तय किया और और वह भी सरकारी रेट से कम। आप देखें कि चुंगी ही ने रेट मुकर्रर करते वक्त जान निकाल ली है लेकिन कुछ लोग बगैर तिलों के तेल निकालना चाहते हैं। खैर, मैंने भी बेकारी में [illegible] रेट ही मान लिया। फिर जनाब, थोड़ी दूर चलकर हमारा तांगा भी जनाजे की चाल चलने लगा। वह कह रहे हैं कि भाई जरा तेज चलो, मैं कहता हूं कि रोजे का दिन है, घोड़ी का दम न टूटे। तब वह फरमाते हैं, हमें क्या, तुम्हारा ही घंटा देर में होगा। सरकार, मुझे तो इसमें खुशी है कि आप ही सवार रहें और गुलाम आपको फिराता रहे।

5

लाट साहब के दफ्पर में एक बड़े बाबू थे। कटरे में रहते थे। खुदा झूठ न बुलवाये उनकी कमर तीन गज से कम न होगी। उसको देखकर इक्के-तांगे वाले आगे से हट जाते थे। कितने ही इक्के वह तोड़ चुके थे। इतने भारी होने पर भी इस सफाई से कूदते थे कि खुद कभी चोट न खायी। यह गुलाम ही की हिम्मत थी कि उनको ले जाता था। खुदा उनको खुश रखे, मजदूरी भी अच्छी देते थे। एक बार मैं ईदू का इक्का लिये जा रहा था, बाबू मिल गये और कहा कि दफ्तर तक पहुंचा दोगे ? आज देर हो गई है, तुम्हारे घोड़े में सिर्फ ढांचा ही रह गया है। मैंने जवाब दिया यह मेरा घोड़ा नहीं है, हुजूर तो डबल मजदूरी देते हैं।

दें तो दो इक्के एक साथ बांध लूं और फिर चलूं।

6

और सुनिए, एक सेठजी ने इक्का भाड़ा किया। सब्जी मंडी में सब्जी वगैरह ली और भागते हुए स्टेशन आये। इनाम की लालच में मैं घोड़ी पीटता लाया। खुदा जानता है उस रोज जानवर पर बड़ी मार पड़ी। मेरे हाथ दर्द करने लगे। रेल का वक्त सचमुच बहुत ही तंग था। स्टेशन पर पंहुचे तो मेरे लिए वही चवन्नी। मैं बोला, यह क्या ? सेठजी कहते हैं, तुम्हारा भाड़ा, तख्ती दिखाओ। मैंने कहा, देर करें आप और मेरा घोड़ा मुफ्त पीटा जाये।

सेठजी जवाब देते हैं कि भई, तुम भी तो जल्दी फरागत पा गये और चोट तुम्हारे तो लगी नहीं। मैंने कहा कि महाराज, इस जानवर पर तो दया कीजिए। तब सेठजी ढीले पड़े और कहा, हां, इस गरीब का जरूर लिहाज होना चाहिए और अपनी टोकरी से चार पत्ते गोभी के निकाले और घोड़ी को खिलाकर चल दिये। यह भी शायद मजाक होगा। मगर मैं गरीब मुफ्त मरा। उस वक्त से घोड़ी का हाजमा बदल गया।

अब वक्त आ गया है, पब्लिक अब दूसरों का तो लिहाज ही नहीं करती। रंग ढंग, तौर-तरीका, सभी कुछ बदल गये हैं। जब हम अपनी मजदूरी मांगते हैं तो जवाब मिलता है कि तुम्हारी अमलदारी है, खुली सड़क पर लूट लो ! अपने जानवरों को सेठजी हलुआ-जलेबी खिलायेंगे, मगर हमारी गर्दन मारेंगे। कोई दिन थे हमको किराया के अलावा मालपूए भी मिलते थे।

7

अब भी, इस गिरे जमाने में भी, कभी-कभी शरीफ रईस नजर आ ही आते हैं। एक बार का जिक्र सुनिए, मेरे तांगे में सवारियां बैठीं। कश्मीरी होटल से निकलकर कुछ थोड़ी-सी चढ़ी थी। कीटगंज पहुंचकर सामने वाले ने चौरस्ता आने से पहले ही चौदह आने दिये और उतर गये। फिर पिछली एक सवारी ने उतरकर चौदह आने दिये। अब तीसरी उतरती नहीं। मैंने कहा कि हजरत चौराहा आ गया। जवाब नदारद। मैंने कहा कि बाबू इन्हें भी उतार लो। बाबू ने देखा-भाला, मगर नशे में चूर हैं, उतरे कौन ! बाबू बोले, अब क्या करें। मैंने कहा—क्या करोगे। मामला तो बिल्कुल साफ है। थाने ले जाइए और अगर दस मिनट में कोई वारिस न पैदा हो तो माल आपका।

बस हुजूर, इस पेशे में भी नित नये तमाशे देखने में आते हैं। इन आंखों सब कुछ देखा है हुजूर। पर्दे पड़ते थे, जाजिमें बांधी जाती थीं, घटाटोप लगाये जाते थे, तब जनानी सवारियां बैठती थीं। अब हुजूर, अजब हालत है, पर्दा गया हवा के बहाने से। इक्का कुछ सुखों थोड़े ही छोड़ा है। जिसको देखो यही कहता था कि इक्का नहीं तांगा लाओ, आराम को न देखा। अब जान को नहीं देखते और मोटर-मोटर, टैक्सी-टैक्सी पुकारते हैं हुजूर, हमें क्या, हम तो दो दिन के मेहमान रह गए हैं, खुदा जो दिखायेगा देख लेंगे।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', सितम्बर, 1926 में प्रकाशित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित।]

रामलीला

इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बंदरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पाजामा और काले रंग का ऊँचा कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हू-हू करते देख कर अब हँसी आती है; मजा नहीं आता। काशी की लीला जगद्विख्यात है। सुना है, लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक से गया; पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात

की लीला में कोई अंतर न दिखायी दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज-सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बंदरों के चेहरे पीतल के हैं, गदाएँ भी पीतल की हैं; कदाचित् वनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों; लेकिन साज-सामान के सिवा वहाँ भी वही हू-हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती।

लेकिन एक जमाना वह था, जब मुझे भी रामलीला में आनंद-आता था। आनंद तो बहुत हलका-सा शब्द है। वह आनंद उन्माद से कम न था। संयोगवश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला का मैदान था; और जिस घर में लीला-पात्रों का रूप-रंग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर ही से वहाँ जा बैठता, और जिस उत्साह से दौड़-दौड़ कर छोटे-मोटे काम करता, उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नहीं जाता। एक कोठरी में राजकुमारी का शृंगार होता था। उनकी देह में रामरज पीस कर पोती जाती; मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रंग की बुँदकियाँ लगायी जाती थीं। सारा माथा, भौंहें, गाल, ठोड़ी, बुँदकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचन्द्र जी के पीछे बैठ कर मुझे जो उल्लास, जो गर्व जो रोमांच होता था। वह अब लाट साहब के दरबार में कुरसी पर बैठ कर भी नहीं होता। एक बार जब होम-मेम्बर साहब ने व्यवस्थापक-सभा में मेरे लिए एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमांच हुआ था। हाँ, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब-तहसीदारी में नामजद हुआ, तब भी ऐसी ही तरंगें मन में उठी थीं; पर इनमें और उस बाल-विह्लता में बड़ा अंतर है। तब ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग में बैठा हूँ।

निषाद-नौका-लीला का दिन था। मैं दो-चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था। आज शृंगार देखने न गया। विमान भी निकला; पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दाँव लेना था। अपना दाँव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की जरूरत थी, जितना मैं कर सकता था। अगर दाँव देना होता तो मैं कब का भाग खड़ा होता; लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है। खैर, दाँव पूरा हुआ। अगर मैं चाहता, तो धाँधली करके दस-पाँच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफी गुंजाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था। मैं सीधे नाले की तरफ दौड़ा। विमान जलतट पर पहुँच चुका था। मैंने दूर से देखा—मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है। दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आखिर जब मैं भीड़ हटाता, प्राण-पण से आगे बढ़ता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी ! अपने पाठ की चिंता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वह फेल न हो जाय। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे। लेकिन वही रामचंद्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे, मानो मुझसे जान-पहचान ही नहीं। नकल में भी असल की कुछ न कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है, वह मुझे क्यों उबारते ? मैं विकल हो कर उस बछड़े की भाँति कूदने लगा, जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रखा गया हो।

कभी लपक कर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज में पीछे की तरफ दौड़ता, पर सब के सब अपनी धुन में मस्त थे; मेरी चीख-पुकार किसी के कानों तक न पहुँची। तब से बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं; पर उस समय जितना दुःख हुआ, उतना फिर कभी न हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचंद्र से न कभी बोलूँगा, न कभी खाने की कोई चीज ही दूँगा; लेकिन ज्यों ही नाले को पार करके वह पुल की ओर लौटे, मैं दौड़ कर विमान पर चढ़ गया, और ऐसा खुश हुआ, मानो कोई बात ही न हुई थी।

2

रामलीला समाप्त हो गयी थी। राजगद्दी होनेवाली थी; पर न जाने क्यों देर हो रही थी। शायद चंदा कम वसूल हुआ था। रामचंद्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न घर ही जाने की छुट्टी मिलती थी, न भोजन का ही प्रबंध होता था। चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाकी सारे दिन कोई पानी को नहीं पूछता। लेकिन मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों की त्यों थी। मेरी दृष्टि में अब भी रामचंद्र ही थे। घर पर मुझे खाने को कोई चीज मिलती, वह ले कर रामचंद्र को दे आता। उन्हें खिलाने में मुझे जितना आनंद मिलता था, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही मैं बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचंद्र वहाँ न मिलते तो उन्हें चारों ओर तलाश करता, और जब तक वह चीज उन्हें न खिला लेता, मुझे चैन न आता था।

खैर, राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान में एक बड़ा-सा शामियाना ताना गया। उसकी खूब सजावट की गयी। वेश्याओं के दल भी आ पहुँचे। शाम को रामचंद्र की सवारी निकली, और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गयी। श्रद्धानुसार किसी ने रुपये दिये, किसी ने पैसे। मेरे पिता पुलिस के आदमी थे; इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी। उस वक्त मुझे जितनी लज्जा आयी, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त संयोग से एक रुपया था। मेरे मामा जी दशहरे के पहले आये थे और मुझे एक रुपया दे गये थे। उस रुपये को मैंने रख छोड़ा था। दशहरे के दिन भी उसे खर्च न कर सका। मैंने तुरंत वह रुपया ला कर आरती की थाली में डाल दिया। पिता जी मेरी ओर कुपित-नेत्रों से देख कर रह गये। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं; लेकिन मुँह ऐसा बना लिया, जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब में बट्टा लग गया। रात के दस बजते-बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता; मगर अब ऐसा अनुमान होता है कि चार-पाँच सौ रुपयों से कम न थे। चौधरी साहब इनसे कुछ ज्यादा ही खर्च कर चुके थे। उन्हें इसकी बड़ी फिक्र हुई कि किसी तरह कम से कम दो सौ रुपये और वसूल हो जायँ और इसकी सब से अच्छी तरकीब उन्हें यही मालूम हुई कि वेश्याओं द्वारा महफिल में वसूली हो। जब लोग आ कर बैठ जायँ, और महफिल का रंग जम जाय, तो आबादीजान रसिकजनों की कलाइयाँ पकड़-पकड़ कर ऐसे हाव-भाव दिखायें कि लोग शरमाते-शरमाते भी कुछ न कुछ दे ही मरें। आबादीजान और चौधरी साहब में सलाह होने लगी। मैं संयोग से उन दोनों प्राणियों की बातें सुन रहा था। चौधरी साहब ने समझा होगा यह लौंडा क्या मतलब समझेगा। पर यहाँ ईश्वर की दया

से अक्ल के पुतले थे। सारी दास्तान समझ में आती जाती थी।

चौधरी—सुनो आबादीजान, यह तुम्हारी ज्यादती है। हमारा और तुम्हारा कोई पहला साबिका तो है नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो यहाँ हमेशा तुम्हारा आना-जाना लगा रहेगा। अब की चन्दा बहुत कम आया, नहीं तो मैं तुमसे इतना इसरार न करता।

आबादी.—आप मुझ से भी जमींदारी चालें चलते हैं, क्यों ? मगर यहाँ हुजूर की दाल न गलेगी। वाह ! रुपये तो मैं वसूल करूँ, और मूँछों पर ताव आप दें। कमाई का अच्छा ढंग निकाला है। इस कमाई से तो वाकई आप थोड़े दिनों में राजा हो जायेंगे। उसके सामने जमींदारी झक मारेगी ! बस, कल ही से एक चकला खोल दीजिए ! खुदा की कसम, माला-माल हो जाइएगा।

चौधरी—तुम दिल्लगी करती हो, और यहाँ काफिया तंग हो रहा है।

आबादी.—तो आप भी तो मुझी से उस्तादी करते हैं। यहाँ आप-जैसे काँइयों को रोज उँगलियों पर नचाती हूँ।

चौधरी—आखिर तुम्हारी मंशा क्या है ?

आबादी.—जो कुछ वसूल करूँ, उसमें आधा मेरा, आधा आपका। लाइए, हाथ मारिए।

चौधरी—यही सही।

आबादी.—अच्छा, तो पहले मेरे सौ रुपये गिन दीजिए। पीछे से आप अलसेट करने लगेंगे।

चौधरी—वाह ! वह भी लोगी और यह भी।

आबादी.—अच्छा ! तो क्या आप समझते थे कि अपनी उजरत छोड़ दूँगी ? वाहारी आपकी समझ ! खूब; क्यों न हो। दीवाना बकारे दरवेश हुशियार !

चौधरी—तो क्या तुमने दोहरी फीस लेने की ठानी है ?

आबादी.—अगर आप को सौ दफे गरज हो, तो। वरना मेरे सौ रुपये तो कहीं गये ही नहीं। मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो लोगों की जेब में हाथ डालती फिरूँ ?

चौधरी की एक न चली। आबादी के सामने दबना पड़ा। नाच शुरू हुआ। आबादीजान बला की शोख औरत थी। एक तो कमसिन, उस पर हसीन। और उसकी अदाएँ तो इस गज़ब की थीं कि मेरी तबीयत भी मस्त हुई जाती थी। आदमियों के पहचानने का गुण भी उसमें कुछ कम न था। जिसके सामने बैठ गयी, उससे कुछ न कुछ ले ही लिया। पाँच रुपये से कम तो शायद ही किसी ने दिये हों। पिता जी के सामने भी वह बैठी। मैं मारे शर्म के गड़ गया। जब उसने उनकी कलाई पकड़ी, तब तो मैं सहम उठा। मुझे यकीन था कि पिता जी उसका हाथ झटक देंगे और शायद दुत्कार भी दें, किंतु यह क्या हो रहा है ! ईश्वर ! मेरी आँखें धोखा तो नहीं खा रही हैं ! पिता जी मूँछों में हँस रहे हैं। ऐसी मृदु-हँसी उनके चेहरे पर मैंने कभी नहीं देखी थी। उनकी आँखों से अनुराग टपका पड़ता था। उनका एक-एक रोम पुलकित हो रहा था; मगर ईश्वर ने मेरी लाज रख ली। वह देखो, उन्होंने धीरे से आबादी के कोमल हाथों से अपनी कलाई छुड़ा ली। अरे ! यह फिर क्या हुआ ? आबादी तो उनके गले में बाहें डाले देती है। अब पिता जी उसे जरूर पीटेंगे। चुड़ैल को जरा भी शर्म नहीं।

एक महाशय ने मुस्करा कर कहा—यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी, आबादीजान ! और दरवाजा देखो।

बात तो इन महाशय ने मेरे मन की कही, और बहुत ही उचित कही; लेकिन न-जाने क्यों पिता जी ने उसकी ओर कुपित-नेत्रों से देखा, और मूँछों पर ताव दिया। मुँह से तो वह कुछ न बोले; पर उनके मुख की आकृति चिल्ला कर सरोष शब्दों में कह रही थी—तू बनिया, मुझे समझता क्या है ? यहाँ ऐसे अवसर पर जान तक निसार करने को तैयार हैं। रुपये की हकीकत ही क्या ! तेरा जी चाहे, आजमा ले। तुझसे दूनी रकम न दे डालूँ, तो मुँह न दिखाऊँ ! महान् आश्चर्य ! घोर अनर्थ ! अरे, जमीन तू फट क्यों नहीं जाती ? आकाश, तू फट क्यों नहीं पड़ता ? अरे, मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती ! पिता जी जेब में हाथ डाल रहे हैं। वह कोई चीज निकाली, और सेठ जी को दिखा कर आबादीजान को दे डाली। आह ! यह तो अशर्फी है। चारों ओर तालियाँ बजने लगीं। सेठ जी उल्लू बन गये। पिता जी ने मुँह की खायी, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मैंने केवल इतना देखा कि पिता जी ने एक अशर्फी निकाल कर आबादीजान को दी। उनकी आँखों में इस समय इतना गर्वयुक्त उल्लास था मानो उन्होंने हातिम की कब्र पर लात मारी हो। यही पिता जी हैं, जिन्होंने मुझे आरती में एक रुपया डालते देख कर मेरी ओर इस तरह से देखा था, मानो मुझे फाड़ ही खायेंगे। मेरे उस परमोचित व्यवहार से उनके जेब में फर्क आता था, और इस समय इस घृणित, कुत्सित और निंदित व्यापार पर गर्व और आनन्द से फूले न समाते थे।

आबादीजान ने एक मनोहर मुस्कान के साथ पिता जी को सलाम किया और आगे बढ़ी; मगर मुझसे वहाँ न बैठा गया। मारे शर्म के मेरा मस्तक झुका जाता था; अगर मेरी आँखों-देखी बात न होती, तो मुझे इस पर कभी एतबार न होता। मैं बाहर जो कुछ देखता-सुनता था, उसकी रिपोर्ट अम्माँ से जरूर करता था। पर इस मामले को मैंने उनसे छिपा रखा। मैं जानता था, उन्हें यह बात सुन कर बड़ा दुःख होगा।

रात भर गाना होता रहा। तबले की धमक मेरे कानों में आ रही थी। जी चाहता था, चल कर देखूँ; पर साहस न होता था। मैं किसी को मुँह कैसे दिखाऊँगा ? कहीं किसी ने पिता जी का जिक्र छेड़ दिया, तो मैं क्या करूँगा ?

प्रातःकाल रामचन्द्र की बिदाई होनेवाली थी। मैं चारपाई से उठते ही आँखें मलता हुआ चौपाल की ओर भागा ? डर रहा था कि कहीं रामचन्द्र, चले न गये हों। पहुँचा, तो देखा—तबायफों की सवारियाँ जाने को तैयार हैं। बीसों आदमी हसरतनाक मुँह बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। मैंने उनकी ओर आँख तक न उठायी। सीधा रामचन्द्र के पास पहुँचा। लक्ष्मण और सीता बैठे रो रहे थे; और रामचन्द्र खड़े काँधे पर लुटिया-डोर डाले उन्हें समझा रहे थे। मेरे सिवा वहाँ और कोई न था। मैंने कुंठित-स्वर से रामचन्द्र से पूछा—क्या तुम्हारी बिदाई हो गयी ?

रामचन्द्र—हाँ, हो तो गयी। हमारी बिदाई ही क्या ? चौधरी साहब ने कह दिया—जाओ, चले जाते हैं।

'क्या रुपया और कपड़े नहीं मिले ?'

'अभी नहीं मिले। चौधरी साहब कहते हैं—इस वक्त बचत में रुपये नहीं हैं। फिर

आ कर ले जाना।

'कुछ नहीं मिला ?'

'एक पैसा भी नहीं। कहते हैं, कुछ बचत नहीं हुई। मैंने सोचा था, कुछ रुपये मिल जायँगे तो पढ़ने की किताबें ले लूँगा ! सो कुछ न मिला। राह-खर्च भी नहीं दिया। कहते हैं--कौन दूर है, पैदल चले जाओ !'

मुझे ऐसा क्रोध आया कि चल कर चौधरी को खूब आड़े हाथों लूँ। वेश्याओं के लिए रुपये, सवारियाँ सब कुछ; पर बेचारे रामचन्द्र और उनके साथियों के लिए कुछ भी नहीं ! जिन लोगों ने रात को आबादीजान पर दस-दस, बीस-बीस रुपये न्योछावर किये थे, उनके पास क्या इनके लिए दो-दो, चार-चार आने पैसे भी नहीं। पिता जी ने भी तो आबादीजान को एक अशर्फी दी थी। देखूँ इनके नाम पर क्या देते हैं ! मैं दौड़ा हुआ पिता जी के पास गया। वह कहीं तफतीश पर जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देख कर बोले—कहाँ घूम रहे हो? पढ़ने के वक्त तुम्हें घूमने की सूझती है ?

मैंने कहा—गया था चौपाल। रामचन्द्र बिदा हो रहे थे। उन्हें चौधरी साहब ने कुछ नहीं दिया।

'तो तुम्हें इसकी क्या फिक्र पड़ी है ?'

'वह जायेंगे कैसे ? पास राह-खर्च भी तो नहीं है।'

'क्या कुछ खर्च भी नहीं दिया ?' यह चौधरी साहब की बेइंसाफी है।'

'आप अगर दो रुपया दे दें, तो मैं उन्हें दे आऊँ। इतने में शायद वह घर पहुँच जायँ।'

पिता जी ने तीव्र दृष्टि से देख कर कहा—जाओ, अपनी किताव देखो, मेरे पास रुपये नहीं हैं।

यह कह कर वह घोड़े पर सवार हो गये। उसी दिन से पिता जी पर से मेरी श्रद्धा उठ गयी। मैंने फिर कभी उनकी डाँट-डपट की परवा नहीं की। मेरा दिल कहता—आपको मुझको उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे उनकी सूरत से चिढ़ हो गयी। वह जो कहते, मैं ठीक उसका उल्टा करता। यद्यपि इसमें मेरी हानि हुई; लेकिन मेरा अंतःकरण उस समय विप्लवकारी विचारों से भरा हुआ था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिये और जा कर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये। उन पैसों को देख कर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिये आशातीत था। टूट पड़े, मानो प्यासे को पानी मिल गया।

यही दो आने पैसे ले कर तीनों मूर्तियाँ विदा हुई ! केवल मैं ही उनके साथ कस्बे के बाहर तक पहुँचाने आया।

उन्हें बिदा करके लौटा, तो मेरी आँखें सजल थीं; पर हृदय आनंद से उमड़ा हुआ था।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', अक्टूबर, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप का भी यही शीर्षक। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

निमंत्रण

पंडित मोटेराम शास्त्री ने अंदर जा कर अपने विशाल उदर पर हाथ फेरते हुए यह पद पंचम स्वर में गाया–

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम !

सोना ने प्रफुल्लित हो कर पूछा–कोई मीठी ताजी खबर है क्या ?

शास्त्री जी ने पैंतरे बदल कर कहा–मार लिया आज। ऐसा ताक कर मारा कि चारों खाने चित्त। सारे घर का नेवता ! सारे घर का। वह बढ़-बढ़कर हाथ मारूँगा कि देखने वाले दंग रह जायेंगे। उदर महाराज अभी से अधीर हो रहे हैं।

सोना–कहीं पहले की भाँति अब की भी धोखा न हो। पक्का-पोढ़ा कर लिया है न?

मोटेराम ने मूँछें ऐंठते हुए कहा–ऐसा असगुन मुँह से न निकालो। बड़े जप-तप के बाद यह शुभ दिन आया है। जो तैयारियाँ करनी हों, कर लो।

सोना–वह तो करूँगी ही। क्या इतना भी नहीं जानती ? जन्म भर घास थोड़े ही खोदती रही हूँ; मगर है घर भर का न ?

मोटेराम–अब और कैसे कहूँ; पूरे घर भर का है। इसका अर्थ समझ में न आया हो, तो मुझसे पूछो। विद्वानों की बात समझना सब का काम नहीं। मगर उनकी बात सभी समझ लें, तो उनकी विद्वता का महत्त्व ही क्या रहे; बताओ, क्या समझीं ? मैं इस समय बहुत ही सरल भाषा में बोल रहा हूँ; मगर तुम नहीं समझ सकीं। बताओ, विद्वत किसे कहते हैं ? महत्त्व ही का अर्थ बताओ। घर भर का निमंत्रण देना क्या दिल्लगी है ? हाँ, ऐसे अवसर पर विद्वान लोग राजनीति से काम लेते हैं और उसका वहीं आशय निकालते हैं, जो अपने अनुकूल हो। मुरादपुर की रानी साहब सात ब्राह्मणों को इच्छापूर्ण भोजन कराना चाहती हैं। कौन-कौन महाशय मेरे साथ जायेंगे, यह निर्णय करना मेरा काम है। अलगूराम शास्त्री, बेनीराम शास्त्री, छेदीराम शास्त्री, भवानीराम शास्त्री, फेकूराम शास्त्री, मोटेराम शास्त्री आदि जब इतने आदमी अपने घर ही में हैं, तब बाहर कौन ब्राह्मणों को खोजने जाये।

सोना–और सातवाँ कौन है ?

मोटे.–बुद्धि दौड़ाओ।

सोना–एक पत्तल घर लेते आना।

मोटे.–फिर वही बात कही, जिसमें बदनामी हो। छिः छिः ! पत्तल घर लाऊँ। उस पत्तल में वह स्वाद कहाँ जो जजमान के घर पर बैठ कर भोजन करने में है। सुनो, सातवें महाशय हैं–पंडित सोनाराम शास्त्री।

सोना–चलो, दिल्लगी करते हो। भला, कैसे जाऊँगी ?

मोटे.–ऐसे ही कठिन अवसरों पर तो विद्या की आवश्यकता पड़ती है। विद्वान आदमी अवसर को अपना सेवक बना लेता है, मूर्ख अपने भाग्य को रोता है। सोनादेवी और सोनाराम शास्त्री में क्या अंतर है, जानती हो ? केवल परिधान का। परिधान का अर्थ समझती हो ? परिधान 'पहनाव' को कहते हैं। इसी साड़ी को मेरी तरह बाँध लो, मेरी मिरजई पहन लो, ऊपर से चादर ओढ़ लो। पगड़ी मैं बाँध दूँगा। फिर कौन पहचान सकता है ?

सोना ने हँसकर कहा—मुझे तो लाज लगेगी।

मोटे.—तुम्हें करना ही क्या है ? बातें तो हम करेंगे।

सोना ने मन ही मन आनेवाले पदार्थों का आनंद ले कर कहा—बड़ा मजा होगा !

मोटे.—बस, अब विलम्ब न करो। तैयारी करो, चलो।

सोना—कितनी फंकी बना लूँ ?

मोटे.—यह मैं नहीं जानता। बस, यही आदर्श सामने रखो कि अधिक से अधिक लाभ हो।

सहसा सोनादेवी को एक बात याद आ गयी। बोली—अच्छा, इन बिछुओं को क्या करूँगी ?

मोटेराम ने त्योरी चढ़ा कर कहा—इन्हें उठाकर रख देना, और क्या करोगी ?

सोना—हाँ जी, क्यों नहीं। उतार कर रख क्यों न दूँगी ?

मोटे.—तो क्या तुम्हारे बिछुए पहने ही से मैं जी रहा हूँ ? जीता हूँ पौष्टिक पदार्थों के सेवन से। तुम्हारे बिछुओं के पुण्य से नहीं जीता।

सोना—नहीं भाई, मैं बिछुए न उतारूँगी।

मोटेराम ने सोच कर कहा—अच्छा, पहने चलो, कोई हानि नहीं। गोवर्द्धनधारी यह बाधा भी हर लेंगे। बस, पाँव में बहुत-से कपड़े लपेट लेना। मैं कह दूँगा, इन पंडित जी को फीलपाँव हो गया। क्यों, कैसी सूझी ?

पंडिताइन ने पतिदेव को प्रशंसा-सूचक नेत्रों से देख कर कहा—जन्म भर पढ़ा नहीं है ?

2

संध्या-समय पंडित जी ने पाँचों पुत्रों को बुलाया और उपदेश देने लगे—पुत्रो, कोई काम करने के पहले खूब सोच-समझ लेना चाहिए कि कैसा क्या होगा। मान लो, रानी साहब ने तुम लोगों का पता-ठिकाना पूछना-आरम्भ किया, तो तुम लोग क्या उत्तर दोगे? यह तो महान् मूर्खता होगी कि तुम सब मेरा नाम लो। सोचो, कितने कलंक और लज्जा की बात होगी कि मुझ-जैसी विद्वान् केवल भोजन के लिए इतना बड़ा कुचक्र रचे। इसलिए तुम सब थोड़ा देर के लिए भूल जाओ कि मेरे पुत्र हो। कोई मेरा नाम न बतलाये। संसार में नामों की कमी नहीं, कोई अच्छा-सा नाम चुन कर बता देना। पिता का नाम बदल देने से कोई गाली नहीं लगती। यह कोई अपराध नहीं।

अलगू—आप ही बता दीजिए।

मोटे.—अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है। हाँ, इतने महत्त्व का काम मुझे स्वयं करना चाहिए। अच्छा सुनो—अलगूराम के पिता का नाम है पंडित केशव पाँड़े, खूब याद कर लो। बेनीराम के पिता का नाम पंडित मंगरू ओझा, खूब याद रखना। छेदीराम के पिता हैं पंडित दमड़ी तिवारी, भूलना नहीं। भवानी, तुम गंगू पाँड़े बतलाना, खूब याद कर लो। अब रहे फेकूराम, तुम बेटा बतलाना सेतूराम पाठक। हो गये सब ! हो गया सब का नामकरण ! अच्छा अब मैं परीक्षा लूँगा। होशियार रहना। बोलो अलगू, तुम्हारे पिता का क्या नाम है ?

अलगू—पंडित केशव पाँड़े।

'बेनीराम, तुम बताओ।'

'दमड़ी तिवारी।'

छेदी.—यह तो मेरे पिता का नाम है।

बेनी.—मैं तो भूल गया।

मोटे.—भूल गये ! पंडित के पुत्र हो कर तुम एक नाम भी नहीं याद कर सकते। बड़े दुःख की बात है। मुझे पाँचों नाम याद हैं, तुम्हें एक नाम भी याद नहीं ? सुनो, तुम्हारे पिता का नाम है पंडित मँगरू ओझा।

पंडित जी लड़कों की परीक्षा ले ही रहे थे कि उनके परम मित्र पंडित चिंतामणि ने द्वार पर आवाज दी। पंडित मोटेराम ऐसे घबराये कि सिर-पैर की सुधि न रही। लड़कों को भगाना ही चाहते थे कि पंडित चिंतामणि अंदर चले आये। दोनों सज्जनों में बचपन से गाढ़ी मैत्री थी। दोनों बहुधा साथ-साथ भोजन करने जाया करते थे, और यदि पंडित मोटेराम अव्वल रहते, तो पंडित चिंतामणि के द्वितीय पद में कोई बाधक न हो सकता था, पर आज मोटेराम जी अपने मित्र को साथ नहीं ले जाना चाहते थे। उनको साथ ले जाना, अपने घरवालों में से किसी एक को छोड़ देना था और इतना महान् आत्मत्याग करने के लिए वे तैयार न थे।

चिंतामणि ने यह समारोह देखा, तो प्रसन्न हो कर बोले—क्यों भाई, अकेले ही अकेले ! मालूम होता है, आज कहीं गहरा हाथ मारा है।

मोटेराम ने मुँह लटका कर कहा—कैसी बातें करते हो, मित्र ! ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि मुझे कोई अवसर मिला हो और मैंने तुम्हें सूचना न दी हो। कदाचित् कुछ समय ही बदल गया, या किसी ग्रह का फेर है। कोई झूठ को भी नहीं बुलाता।

पंडित चिंतामणि ने अविश्वास के भाव से कहा—कोई न कोई बात तो मित्र अवश्य है, नहीं तो ये बालक क्यों जमा हैं ?

मोटे.—तुम्हारी इन्हीं बातों पर मुझे क्रोध आता है। लड़कों की परीक्षा ले रहा हूँ। ब्राह्मण के लड़के हैं, चार अक्षर पढ़े बिना इनको कौन पूछेगा ?

चिंतामणि को अब भी विश्वास न आया। उन्होंने सोचा—लड़कों से ही इस बात का पता लग सकता है। फेकूराम सबसे छोटा था। उसी से पूछा—क्या पढ़ रहे हो बेटा ! हमें भी सुनाओ। मोटेराम ने फेकूराम को बोलने का अवसर न दिया। डरे कि यह तो सारा भंडा फोड़ देगा। बोले—अभी यह क्या पढ़ेगा। दिन भर खेलता है। फेकूराम इतना बड़ा अपराध अपने नन्हें-से सिर पर क्यों लेता। बाल-सुलभ गर्व से बोला—हमको तो याद है, पंडित सेतूराम पाठक। हम याद भी कर लें, तिसपर भी कहते हैं, हरदम खेलता है !

यह कहते हुए रोना शुरू किया।

चिंतामणि ने बालक को गले लगा लिया और बोले—नहीं बेटा, तुमने अपना पाठ सुना दिया है। तुम खूब पढ़ते हो। यह सेतूराम पाठक कौन हैं, बेटा ?

मोटेराम ने बिगड़ कर कहा—तुम भी लड़कों की बातों में आते हो। सुन लिया होगा किसी का नाम। (फेंकू से) जा, बाहर खेल।

चिंतामणि अपने मित्र की घबराहट देख कर समझ गये कि कोई न कोई रहस्य

अवश्य है। बहुत दिमाग लड़ाने पर भी सेतूराम पाठक का आशय उनकी समझ में न आया। अपने परम मित्र की इस कुटिलता पर मन में दुखित होकर बोले—अच्छा, आप पाठ पढ़ाइये और परीक्षा लीजिए। मैं जाता हूँ। तुम इतने स्वार्थी हो, इसका मुझे गुमान तक न था। आज तुम्हारी मित्रता की परीक्षा हो गयी।

पंडित चिंतामणि बाहर चले गये। मोटेराम जी के पास उन्हें मनाने के लिए समय न था। फिर परीक्षा लेने लगे।

सोना ने कहा—मना लो, मना लो। रूठे जाते हैं। फिर परीक्षा लेना।

मोटे.—जब कोई काम पड़ेगा, मना लूँगा। निमंत्रण की सूचना पाते ही इनका सारा क्रोध शान्त हो जायगा ! हाँ भवानी, तुम्हारे पिता का क्या नाम है, बोलो।

भवानी—गंगू पाँड़े।

मोटे.—और तुम्हारे पिता का नाम, फेकू ?

फेकू—बता तो दिया, उस पर कहते हैं, पढ़ता नहीं !

मोटे.—हमें भी बता दो।

फेकू—सेतूराम पाठक तो है।

मोटे.—बहुत ठीक, हमारा लड़का बड़ा राजा है। आज तुम्हें अपने साथ बैठायेंगे और सबसे अच्छा माल तुम्हीं को खिलायेंगे।

सोना—हमें भी कोई नाम बता दो।

मोटेराम ने रसिकता से मुसकरा कर कहा—तुम्हारा नाम है पंडित मोहनसरूप सुकुल।

सोनादेवी ने लजा कर सिर झुका दिया।

3

सोनादेवी तो लड़कों को कपड़े पहनाने लगीं। उधर फेकू आनंद की उमंग में घर से बाहर निकला। पंडित चिंतामणि रूठ कर तो चले थे; पर कुतूहलवश अभी तक द्वार पर दुबके खड़े थे। इन बातों की भनक इतनी देर में उनके कानों में पड़ी, उससे यह तो ज्ञात हो गया कि कहीं निमंत्रण है; पर कहाँ है, कौन-कौन से लोग निमंत्रित हैं, यह ज्ञात न हुआ था। इतने में फेकू बाहर निकला, तो उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और बोले—कहाँ नेवता है, बेटा ?

अपनी जान में तो उन्होंने बहुत धीरे से पूछा था; पर न-जाने कैसे पंडित मोटेराम के कान में भनक पड़ गयी। तुरन्त बाहर निकल आये। देखा, तो चिंतामणि जी फेकू को गोद में लिये कुछ पूछ रहे हैं। लपक कर लड़के का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि उसे अपने मित्र की गोद से छीन लें; मगर चिंतामणि जी को अभी अपने प्रश्न का उत्तर न मिला था। अतएव वे लड़के का हाथ छुड़ा कर उसे लिये हुए अपने घर की ओर भागे। मोटेराम भी यह कहते हुए उनके पीछे दौड़े—उसे क्यों लिये जाते हो? धूर्त कहीं का, दुष्ट ! चिंतामणि, मैं कहे देता हूँ, इसका नतीजा अच्छा न होगा; फिर कभी किसी निमंत्रण में न ले जाऊँगा। भला चाहते हो, तो उसे उतार दो... । मगर चिंतामणि ने एक न सुनी। भागते ही चले गये। उनकी देह अभी सँभाल के बाहर न हुई थी; दौड़ सकते थे; मगर मोटेराम जी को एक-एक

पग आगे बढ़ना दुस्तर हो रहा था। भैंसे की भाँति हाँफते थे और नाना प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते दुलकी चाल से चले जाते थे। और यद्यपि प्रतिक्षण अंतर बढ़ता जाता था; और पीछा न छोड़ते थे। अच्छी घुड़दौड़ थी। नगर के दो महात्मा दौड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो गैंडे चिड़िया-घर से भाग आये हों। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने लगे। कितने ही बालक उनके पीछे तालियाँ बजाते हुए दौड़े। कदाचित् यह दौड़ पंडित चिंतामणि के घर पर ही समाप्त होती; पर पंडित मोटेराम धोती के ढीली हो जाने के कारण उलझ कर गिर पड़े। चिंतामणि ने पीछे फिर कर यह दृश्य देखा, तो रुक गये और फेकूराम से पूछा—क्यों बेटा, कहाँ नेवता है ?

फेकू—बता दें, तो हमें मिठाई दोगे न ?

चिंता.—हाँ, दूँगा; बताओ।

फेकू—रानी के यहाँ।

चिंता.—कहाँ की रानी।

फेकू—यह मैं नहीं जानता। कोई बड़ी रानी है।

नगर में कई बड़ी-बड़ी रानियाँ थीं। पंडित जी ने सोचा, सभी रानियों के द्वार पर चक्कर लगाऊँगा। जहाँ भोज होगा, वहाँ कुछ भीड़-भाड़ होगी ही, पता चल जायगा। यह निश्चय करके वे लौट पड़े। सहानुभूति प्रकट करने में अब कोई बाधा न थी। मोटेराम जी के पास आये, तो देखा कि वे पड़े कराह रहे हैं। उठने का नाम नहीं लेते। घबरा कर पूछा—गिर कैसे पड़े मित्र, यहाँ कहीं गढ़ा भी तो नहीं है !

मोटे.—तुमसे क्या मतलब ! तुम लड़के को ले जाओ, जो कुछ पूछना चाहो, पूछो।

चिंता.—मैं यह कपट-व्यवहार नहीं करता। दिल्लगी की थी, तुम बुरा मान गये। ले उठ तो बैठ राम का नाम लेके। मैं सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं पूछा।

मोटे.—चल झूठा।

चिंता.—जनेऊ हाथ में ले कर कहता हूँ।

मोटे.—तुम्हारी शपथ का विश्वास नहीं।

चिंता.—तुम मुझे इतना धूर्त समझते हो ?

मोटे.—इससे कहीं अधिक। तुम गंगा में डूब कर शपथ खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आये।

चिंता.—दूसरा यह बात कहता, तो मूँछ उखाड़ लेता।

मोटे.—तो फिर आ जाओ !

चिंता.—पहले पंडिताइन से पूछ आओ।

मोटेराम यह भस्मक व्यंग्य न सह सके। चट उठ बैठे और पंडित चिंतामणि का हाथ पकड़ लिया। दोनों मित्रों में मल्ल-युद्ध होने लगा। दोनों हनुमान जी की स्तुति कर रहे थे और इतने जोर से गरज-गरज कर मानो सिंह दहाड़ रहे हों। बस ऐसा जान पड़ता था, मानो दो पीपे आपस में टकरा रहे हों।

मोटे.—महाबली विक्रम बजरंगी।

चिंता.—भूत-पिशाच निकट नहिं आवे।

मोटे.—जय-जय-जय हनुमान गोसाईं।

चिंता.—प्रभु, रखिए लाज हमारी।

मोटे.—(बिगडकर) यह हनुमान-चालीसा में नहीं है।

चिंता.—यह हमने स्वयं रचा है। क्या तुम्हारी तरह की यह रटंत विद्या है ! जितना कहो, उतना रच दें।

मोटे.—अबे, हम रचने पर आ जायं तो एक दिन में एक लाख स्तुतियाँ रच डालें; किन्तु इतना अवकाश किसे है।

दोनों महात्मा अलग खड़े होकर अपने-अपने रचना-कौशल की डींगें मार रहे थे। मल्ल-युद्ध शास्त्रार्थ का रूप धारण करने लगा, जो विद्वानों के लिए उचित है ! इतने में किसी ने चिंतामणि के घर जा कर कह दिया कि पंडित मोटेराम और चिंतामणि जी में बड़ी लड़ाई हो रही है। चिंतामणि जी तीन महिलाओं के स्वामी थे। कुलीन ब्राह्मण थे, पूरे बीस बिस्वे। उस पर विद्वान् भी उच्चकोटि के, दूर-दूर तक यजमानी थी। ऐसे पुरुषो को सब अधिकार है। कन्या के साथ-साथ जब प्रचुर दक्षिणा भी मिलती हो, तब कैसे इनकार किया जाय। इन तीनों महिलाओं का सारे मुहल्ले में आतंक छाया हुआ था। पंडित जी ने उनके नाम बहुत ही रसीले रखे थे। बड़ी स्त्री को 'अमिरती', मँझली को 'गुलाबजामुन' और छोटी को 'मोहनभोग' कहते थे; पर मुहल्ले वालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप से कम न थीं। घर में नित्य आसुओं की नदी बहती रहती—खून की नदी तो पंडित जी ने भी कभी नहीं बहायी, अधिक से अधिक शब्दों की ही नदी बहायी थी; पर मजाल न थी कि बाहर का आदमी किसी को कुछ कह जाय। संकट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह पंडित जी के नीति-चातुर्य का सुफल था। ज्यों ही खबर मिली कि पंडित चिंतामणि पर संकट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोष की भाँति कुपित हो कर घर से निकलीं और उनमें जो अन्य दोनों-जैसी मोटी नहीं थी, सबसे पहले समरभूमि में जा पहुँची। पंडित मोटाराम जी ने उसे आते देखा, तो समझ गये कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ा कर बगटुट भागे, पीछे फिर कर भी न देखा। चिंतामणि जी ने बहुत ललकारा; पर मोटेराम के कदम न रुके।

चिंता.—अजी, भागे क्यों ? ठहरो, कुछ मजा तो चखते जाओ।

मोटे.—मैं हार गया, भाई, हार गया।

चिंता.—अभी, कुछ दक्षिणा तो लेते जाओ।

मोटेराम ने भागते हुए कहा—दया करो, भाई, दया करो।

4

आठ बजते-बजते पंडित मोटेराम ने स्नान और पूजा करके कहा—अब विलम्ब नहीं करना चाहिए, फंकी तैयार है न ?

सोना—फंकी लिये तो कब से बैठी हूँ, तुम्हें तो जैसे किसी बात की सुधि ही नहीं रहती। रात को कौन देखता है कि कितनी देर तक पूजा करते हो।

मोटे.—मैं तुमसे एक नहीं, हजार बार कह चुका कि मेरे कामों में मत बोला करो। तुम नहीं समझ सकतीं कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हें ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है, लोभी है, भुक्खड़ है। इसलिए चतुर लोग विलम्ब किया करते हैं, जिसमें यजमान समझे कि पंडित जी को

इसकी सुधि ही नहीं है, भूल गये होंगे। बुलाने को आदमी भेजें। इस प्रकार जाने में जो मान-महत्त्व है, वह मरभुखों की तरह जाने में क्या कभी हो सकता है ? मैं बुलाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कोई न कोई आता ही होगा। लाओ थोड़ी फंकी। बालकों को खिला दी है न?

सोना—उन्हें तो मैंने साँझ ही को खिला दी थी।

मोटे.—कोई सोया तो नहीं ?

सोना—आज भला कौन सोयेगा ? सब भूख-भूख चिल्ला रहे थे, तो मैंने एक पैसे का चबेना मँगवा दिया। सब के सब ऊपर बैठे खा रहे हैं। सुनते नहीं हो, मार-पीट हो रही है।

मोटेराम ने दाँत पीस कर कहा—जी चाहता है कि तुम्हारी गरदन पकड़ कर ऐंठ दूं। भला, इस बेला चबेना मँगाने का क्या काम था ? चबेना खा लेंगे, तो वहाँ क्या तुम्हारा सिर खायेंगे ? छिः छिः ! जरा भी बुद्धि नहीं !

सोना ने अपराध स्वीकार करते हुए कहा—हाँ, भूल तो हुई; पर सब के सब इतना कोलाहल मचाये हुए थे कि सुना नहीं जाता था।

मोटे.—रोते ही थे न, रोने देती। रोने से उनका पेट न भरता; बल्कि और भूख खुल जाती।

सहसा एक आदमी ने बाहर से आवाज दी—पंडित जी, महारानी बुला रही हैं और लोगों को ले कर जल्दी चलो।

पंडित जी ने पत्नी की ओर गर्व से देख कर कहा—देखा, इसे निमंत्रण कहते हैं। अब तैयारी करनी चाहिए।

बाहर आ कर पंडित जी ने उस आदमी से कहा—तुम एक क्षण और न आते, तो मैं कथा सुनाने चला गया होता। मुझे बिलकुल याद न थी। चलो, हम बहुत शीघ्र आते हैं।

5

नौ बजते-बजते पंडित मोटेराम बाल-गोपाल सहित रानी साहब के द्वार पर जा पहुँचे। रानी बड़ी विशालकाय एवं तेजस्विनी महिला थीं। इस समय वे कारचोबीदार तकिया लगाये तख्त पर बैठी हुई थीं। दो आदमी हाथ बाँधे पीछे खड़े थे। बिजली का पंखा चल रहा था। पंडित जी को देखते ही रानी ने तख्त से उठ कर चरण-स्पर्श किया और इस बालक-मंडल को देख कर मुस्कराती हुई बोलीं—इन बच्चों को आप कहाँ से पकड़ लाये ?

मोटे.—करता क्या ? सारा नगर छान मारा; किसी पंडित ने आना स्वीकार न किया। कोई किसी के यहाँ निमंत्रित हैं, कोई किसी के यहाँ। तब तो मैं बहुत चकराया। अंत में मैंने उनसे कहा—अच्छा, आप नहीं चलते तो हरि इच्छा; लेकिन ऐसा कीजिए कि मुझे लज्जित न होना पड़े। तब जबरदस्ती प्रत्येक के घर से जो बालक मिला, उसे पकड़ लाना पड़ा। क्यों फेकूराम, तुम्हारे पिता जी का क्या नाम है ?

फेकूराम ने गर्व से कहा—पंडित सेतूराम पाठक।

रानी—बालक तो बड़ा होनहार है।

और बालकों को भी उत्कंठा हो रही थी कि हमारी भी परीक्षा ली जाय; लेकिन जब पंडित जी ने उनसे कोई प्रश्न न किया और उधर रानी ने फेकूराम की प्रशंसा कर दी, तब तो वे अधीर हो उठे। भवानी बोला—मेरे पिता का नाम है पंडित गंगू पाँड़े।

छेदी बोला—मेरे पिता का नाम है दमड़ी तिवारी !

बेनीराम ने कहा—मेरे पिता का नाम है पंडित मँगरू ओझा।

अलगूराम समझदार था। चुपचाप खड़ा रहा। रानी ने उससे पूछा—तुम्हारे पिता का क्या नाम है, जी ?

अलगूराम को इस वक्त पिता का निर्दिष्ट नाम याद न आया। न यही सूझा कि कोई और नाम ले ले। हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। पंडित मोटेराम ने जब उसकी ओर दाँत पीस कर देखा, तब रहा-सहा हवास भी गायब हो गया।

फेकूराम ने कहा—हम बता दें। भैया भूल गये।

रानी ने आश्चर्य से पूछा—क्या अपने पिता का नाम भूल गया ? यह तो विचित्र बात देखी।

मोटेराम ने अलगू के पास जाकर कहा—क से है। अलगू राम बोल उठा—केशव पाँड़े।

रानी—तो अब तक क्यों चुप था ?

मोटे.—कुछ ऊँचा सुनता है, सरकार।

रानी—मैंने सामान तो बहुत-सा मँगवाया है। सब खराब होगा। लड़के क्या खायेंगे !

मोटे.—सरकार इन्हें बालक न समझें। इनमें जो सबसे छोटा है, यह दो पत्तल खा कर उठेगा।

6

जब सामने पत्तलें पड़ गयीं और भंडारी चाँदी की थालों में एक से एक उत्तम पदार्थ ला-ला कर परसने लगा, तब पंडित मोटेराम जी की आँखें खुल गयीं। उन्हें आये-दिन निमंत्रण मिलते रहते थे। पर ऐसे अनुपम पदार्थ कभी सामने न आये थे। घी की ऐसी सोंधी सुगन्ध उन्हें कभी न मिली थी। प्रत्येक वस्तु से केवड़े और गुलाब की लपटें उड़ रही थीं। घी टपक रहा था। पंडित जी ने सोचा—ऐसे पदार्थों से कभी पेट भर सकता है ! मनों खा जाऊँ, फिर भी और खाने को जी चाहे। देवतागण इनसे उत्तम और कौन-से पदार्थ खाते होंगे ? इनसे उत्तम पदार्थों की तो कल्पना भी नहीं हो सकती।

पंडित जी को इस वक्त अपने परममित्र पंडित चिंतामणि की याद आयी। अगर वे होते, तो रंग जम जाता। उनके बिना रंग फीका रहेगा। यहाँ दूसरा कौन है जिससे लाग-डॉग करूँ। लड़के दो-दो पत्तलों में चें बोल जायँगे। सोना कुछ साथ देगी; मगर कब तब ! चिंतामणि के बिना रंग न गठेगा। वे मुझे ललकारेंगे, मैं उन्हें ललकारूँगा। उस उमंग में पत्तलों की कौन गिनती। हमारी देखा-देखी लड़के भी डट जायँगे। ओह, बड़ी भूल हो गयी। यह खयाल मुझे पहले न आया। रानी साहब से कहूँ, बुरा तो न मानेंगी। ऊँह ! जो कुछ हो, एक बार जोर तो लगाना ही चाहिए। तुरंत खड़े हो कर रानी साहब से बोले—सरकार ! आज्ञा हो, तो कुछ कहूँ।

रानी—कहिए, कहिए महाराज, क्या किसी वस्तु की कमी है ?

मोटे.—नहीं सरकार, किसी बात की नहीं। ऐसे उत्तम पदार्थ तो मैंने कभी देखे भी न थे। सारे नगर में आपकी कीर्ति फैल जायगी। मेरे एक परममित्र पंडित चिंतामणि जी हैं,

आज्ञा हो तो उन्हें भी बुला लूँ। बड़े विद्वान् कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। उनके जोड़ का इस नगर में दूसरा नहीं है। मैं उन्हें निमंत्रण देना भूल गया। अभी सुधि आयी।

रानी—आपकी इच्छा हो, तो बुला लीजिए, मगर आने-जाने में देर होगी और भोजन परोस दिया गया है।

मोटे.—मैं अभी जाता हूँ, सरकार दौड़ता हुआ जाऊँगा।

रानी—मेरी मोटर ले लीजिए।

जब पंडित जी चलने को तैयार हुए, तब सोना ने कहा—तुम्हें आज क्या हो गया है, जी ! उसे क्यों बुला रहे हो ?

मोटे.—कोई साथ देनेवाला भी तो चाहिए ?

सोना—मैं क्या तुमसे दब जाती ?

पंडित जी ने मुस्करा कर कहा—तुम जानती नहीं, घर की बात और है; दंगल की बात और है। पुराना खिलाड़ी मैदान में जा कर जितना नाम करेगा, उतना नया पट्ठा नहीं कर सकता। वहाँ बल का काम नहीं, साहस का काम है। बस, यहाँ भी वही हाल समझो। झंडे गाड़ दूँगा। समझ लेना।

सोना—कहीं लड़के सो जायँ तो ?

मोटे.—और भूख खुल जायगी। जगा तो मैं लूँगा।

सोना—देख लेना, आज वह तुम्हें पछाड़ देगा। उसके पेट में तो शनीचर है।

मोटे.—बुद्धि की सर्वत्र प्रधानता रहती है। यह न समझो कि भोजन करने की कोई विद्या ही नहीं। इसका भी एक शास्त्र है, जिसे मथुरा के शनिचरानंद महाराज ने रचा है। चतुर आदमी थोड़ी-सी जगह में गृहस्थी का सब सामान रख देता है। अनाड़ी बहुत-सी जगह में भी यही सोचता है कि कौन वस्तु कहाँ रखूँ। गँवार आदमी पहले से ही हबक-हबक कर खाने लगता है और चट एक लोटा पानी पी कर अफर जाता है। चतुर आदमी बड़ी सावधानी से खाता है, उसको कौर नीचे उतारने के लिए पानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। देर तक भोजन करते रहने से वह सुपाच्य भी हो जाता है। चिंतामणि मेरे सामने क्या ठहरेगा।

7

चिंतामणि जी अपने आँगन में उदास बैठे हुए थे। जिस प्राणी को वह अपना परमहितैषी समझते थे, जिसके लिए वे अपने प्राण तक देने को तैयार रहते थे, उसी ने आज उनके साथ बेवफाई की। बेवफाई ही नहीं की, उन्हें उठा कर दे मारा। पंडित मोटेराम के घर से तो कुछ जाता न था। अगर वे चिंतामणि जी को साथ ले जाते, तो क्या रानी साहब उन्हें दुत्कार देतीं ? स्वार्थ के आगे कौन किसको पूछता है ? उन अमूल्य पदार्थों की कल्पना करके चिंतामणि के मुँह से लार टपकी पड़ती थी। अब सामने पत्तल आ गयी होगी ! अब थालों में अमिरतियाँ लिये भंडारी जी आये होंगे ! ओहो। कितनी सुन्दर, कोमल, कुरकुरी, रसीली अमिरतियाँ होंगी ! अब बेसन के लड्डू आये होंगे। ओहो, कितने सुडौल, मेवों से भरे हुए, घी से तरातर लड्डू होंगे, मुँह में रखते ही घुल जाते होंगे, जीभ भी न डुलानी पडती होगी। अहा ! अब मोहन-भोग आया होगा ! हाय रे दुर्भाग्य ! मैं यहाँ पड़ा सड़ रहा हूँ और

वहाँ यह बहार ! बड़े निर्दयी हो मोटेराम, तुमसे इस निष्ठुरता की आशा न थी।

अमिरतीदेवी बोलीं—तुम इतना दिल छोटा क्यों करते हो ? पितृपक्ष तो आ ही रहा है, ऐसे-ऐसे न जाने कितने आयेंगे।

चिंतामणि—आज किसी अभागे का मुँह देखकर उठा था। लाओ तो पत्रा, देखूँ, कैसा मुहूर्त है। अब नहीं रहा जाता। सारा नगर छान डालूँगा, कहीं तो पता चलेगा, नासिका तो दाहिनी चल रही है।

एकाएक मोटर की आवाज आयी। उसके प्रकाश से पंडित जी का सारा घर जगमगा उठा। वे खिड़की से झाँकने लगे, तो मोटेराम को मोटर से उतरते देखा। एक लम्बी साँस लेकर चारपाई पर गिर पड़े। मन में कहा कि दुष्ट भोजन करके अब यहाँ मुझसे बखान करने आया है।

अमिरतीदेवी ने पूछा—कौन है डाढ़ीजार, इतनी रात को जगावत है ?

मोटे.—हम हैं हम ! गाली न दो !

अमिरती—अरे दुर मुँहझौंसे, तैं कौन है ! कहते हैं, हम हैं हम ! को जाने तैं कौन हस ?

मोटे.—अरे हमारी बोली नहीं पहचानती हो ? खूब पहचान लो। हम हैं, तुम्हारे देवर।

अमिरती—ऐ दुर, तोरे मुँह में का लागे। तोर लहास उठे। हमार देवर बनत है, डाढ़ीजार।

मोटे.—अरे हम हैं मोटेराम शास्त्री। क्या इतनी भी नहीं पहचानती ? चिंतामणि घर में हैं ?

अमिरती ने किवाड़ खोल दिया और तिरस्कार-भाव से बोली—अरे तुम थे। तो नाम क्यों नहीं बताते थे ? जब इतनी गालियाँ खा लीं, तो बोल निकला। क्या है, क्या?

मोटे.—कुछ नहीं; चिंतामणि जी को शुभ-संवाद देने आया हूँ। रानी साहब ने उन्हें याद किया है।

अमिरती—भोजन के बाद बुला कर क्या करेंगी ?

मोटे.—अभी भोजन कहाँ हुआ है ! मैंने जब इनकी विद्या, कर्मनिष्ठा, सद्विचार की प्रशंसा की, तब मुग्ध हो गयीं। मुझसे कहा कि उन्हें मोटर पर लाओ ! क्या सो गये ?

चिंतामणि चारपाई पर पड़े-पड़े सुन रहे थे। जी में आता था, चल कर मोटेराम के चरणों पर गिर पड़ूँ। उनके विषय में अब तक जितने कुत्सित विचार उठे थे, सब लुप्त हो गये। ग्लानि का आविर्भाव हुआ। रोने लगे।

'अरे भाई, आते हो या सोते ही रहोगे !'—यह कहते हुए मोटेराम उनके सामने जा कर खड़े हो गये।

चिंता.—तब क्यों न ले गये ? जब इतनी दुर्दशा कर लिये; तब आये। अभी तक पीठ में दर्द हो रहा है।

मोटे.—अजी, वह तर-माल खिलाऊँगा कि सारा दर्द-वर्द भाग जायगा, तुम्हारे यजमानों को भी ऐसे पदार्थ मयस्सर न हुए होंगे ! आज तुम्हें बद कर पछाड़ूँगा ?

चिंता.–तुम बेचारे मुझे क्या पछाड़ोगे। सारे शहर में तो कोई ऐसा माई का लाल दिखायी नहीं देता। हमें शनीचर का इष्ट है।

मोटे.–अजी, यहाँ बरसों तपस्या की है। भंडारे का भंडारा साफ कर दें और इच्छा ज्यों की त्यों बनी रहे। बस, यही समझ लो कि भोजन करके हम खड़े नहीं रह सकते। चलना तो दूसरी बात है। गाड़ी पर लद कर आते हैं।

चिंता.–तो यह कौन बड़ी बात है। यहाँ तो टिकटी पर उठा कर लाये जाते हैं। ऐसी-ऐसी डकारें लेते हैं कि जान पड़ता है, बम-गोला छूट रहा है। एक बार खोपिया पुलिस ने बम-गोले के संदेह में घर की तलाशी तक ली थी।

मोटे.–झूठ बोलते हो। कोई इस तरह नहीं डकार सकता।

चिंता.–अच्छा, तो आ कर सुन लेना। डर कर भाग न जाओ, तो सही।

एक क्षण में दोनों मित्र मोटर पर बैठे और मोटर चली।

8

रास्ते में पंडित चिंतामणि को शंका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि मैं पंडित मोटेराम का पिछलग्गू समझा जाऊँ और मेरा यथेष्ट सम्मान न हो। उधर पंडित मोटेराम को भी भय हुआ कि कहीं ये महाशय मेरे प्रतिद्वंद्वी न बन जायँ और रानी साहब पर अपना रंग जमा लें।

दोनों अपने-अपने मंसूबे बाँधने लगे। ज्यों ही मोटर रानी के भवन में पहुँची दोनों महाशय उतरे। अब मोटेराम चाहते थे कि पहले मैं रानी के पास पहुँच जाऊँ और कह दूं कि पंडित को ले आया, और चिंतामणि चाहते थे कि पहले मैं रानी के पास पहुँचूँ और अपना रंग जमा दूँ। दोनों कदम बढ़ाने लगे। चिंतामणि हल्के होने के कारण जरा आगे बढ़ गये, तो पंडित मोटेराम दौड़ने लगे। चिंतामणि भी दौड़ पड़े। घुड़दौड़-सी होने लगी। मालूम होता था कि दो गैंडे भागे जा रहे हैं। अंत में मोटेराम ने हाँफते हुए कहा–राजसभा में दौड़ते हुए जाना उचित नहीं।

चिंता.–तो तुम धीरे-धीरे आओ न, दौड़ने को कौन कहता है।

मोटे.–जरा रुक जाओ, मेरे पैर में काँटा गड़ गया है।

चिंता.–तो निकाल लो, तब तक मैं चलता हूँ।

मोटे.–मैं न कहता, तो रानी तुम्हें पूछती भी न !

मोटेराम ने बहुत बहाने किये, पर चिंतामणि ने एक न सुना। भवन में पहुँचे। रानी साहब बैठी कुछ लिख रही थीं और रह-रह-कर द्वार की ओर ताक लेती थीं कि सहसा पंडित चिंतामणि उनके सामने आ खड़े हुए और यों स्तुति करने लगे–

'हे हे यशोदे, तू बालकेशव, मुरारनामा...'

रानी–क्या मतलब ? अपना मतलब कहो ?

चिंता.--सरकार को आशीर्वाद देता हूँ सरकार ने इस दास चिंतामणि को निमंत्रित करके कितना अनुग्रसित (अनुगृहीत) किया है, उसका बखान शेषनाग अपनी सहस्र जिह्वा द्वारा भी नहीं कर सकते।

रानी–तुम्हारा ही नाम चिंतामणि है ? वे कहाँ रह गये–पंडित मोटेराम शास्त्री?

चिंता.—पीछे आ रहा है, सरकार। मेरे बराबर आ सकता है, भला ! मेरा तो शिष्यहै।

रानी—अच्छा, तो वे आपके शिष्य हैं !

चिंता.—मैं अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करना चाहता सरकार ! विद्वानों को नम्र होना चाहिए; पर जो यथार्थ है, वह तो संसार जानता है। सरकार, मैं किसी से वाद-विवाद नहीं करता; यह मेरा अनुशीलन (अभीष्ट) नहीं। मेरे शिष्य भी बहुधा मेरे गुरु बन जाते हैं; पर मैं किसी से कुछ नहीं कहता। जो सत्य है, वह सभी जानते हैं।

इतने में पंडित मोटेराम भी गिरते-पड़ते हाँफते हुए आ पहुँचे और यह देख कर कि चिंतामणि भद्रता और सभ्यता की मूर्ति बने खड़े हैं, वे देवोपम शान्ति के साथ खड़े हो गये।

रानी—पंडित चिंतामणि बड़े साधु प्रकृति एवं विद्वान् हैं। आप उनके शिष्य हैं, फिर भी वे आपको अपना शिष्य नहीं कहते हैं।

मोटे.—सरकार, मैं इनका दासानुदास हूँ।

चिंता.—जगतारिणी, मैं इनका चरण-रज हूँ।

मोटे.—रिपुदलसंहारिणी, मैं इनके द्वार का कूकर हूँ।

रानी—आप दोनों सज्जन पूज्य हैं। एक से एक बढ़े हुए। चलिए, भोजन कीजिए।

9

सोनारानी बैठी पंडित मोटेराम की राह देख रही थीं। पति की इस मित्र-भक्ति पर उन्हें बड़ा क्रोध आ रहा था। बड़े लड़कों के विषय में तो कोई चिंता न थी, लेकिन छोटे बच्चों के सो जाने का भय था। उन्हें किस्से-कहानियाँ सुना-सुना कर बहला रही थी कि भंडारी ने आकर कहा--महाराज चलो। दोनों पंडित जी आसन पर बैठ गये। फिर क्या था, बच्चे कूद-कूद कर भोजनशाला में जा पहुँचे। देखा, तो दोनों पंडित दो वीरों की भाँति आमने-सामने डटे बैठे हैं। दोनों अपना-अपना पुरुषार्थ दिखाने के लिए अधीर हो रहे थे।

चिंता.—भंडारी जी, तुम परोसने में बड़ा विलम्ब करते हो ! क्या भीतर जा कर सोने लगते हो ?

भंडारी—चुपाई मारे बैठे रहो, जौन कुछ होई, सब आय जाई। घबड़ाने का नहीं होत। तुम्हारे सिवाय और कोई जिवैया नहीं बैठा है।

मोटे.—भैया, भोजन करने के पहले कुछ देर सुगंध का स्वाद तो लो।

चिंता.—अजी, सुगंध गया चूल्हे में, सुगंध देवता लोग लेते हैं। अपने लोग तो भोजन करते हैं।

मोटे.—अच्छा बताओ, पहले किस चीज पर हाथ फेरोगे ?

चिंता.—मैं जाता हूँ भीतर से सब चीजें एक साथ लिये आता हूँ।

मोटे.—धीरज धरो भैया, सब पदार्थों को आ जाने दो। ठाकुर जी का भोग तो लग जाय।

चिंता.—तो बैठे क्यों हो, तब तक भोग ही लगाओ। एक बाधा तो मिटे। नहीं तो लाओ, मैं चटपट भोग लगा दूँ। व्यर्थ देर करोगे।

इतने में रानी आ गयीं। चिंतामणि सावधान हो गये। रामायण की चौपाइयों का पाठ करने लगे—

रहा एक दिन अवध अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा।
कौशलेश दशरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये।।
उलटि पलटि लंका कपि जारी। कूद पड़ा तब सिंधु मझारी।
जेहि पर जा कर सत्य सनेहू। सो तेहि मिले न कछु संदेहू।
जामवंत के वचन सुहाये। सुनि हनुमान हृदय अति भाये।

पंडित मोटेराम ने देखा कि चिंतामणि का रंग जमता जाता है तो वे भी अपनी विद्वत्ता प्रकट करने को व्याकुल हो गये। बहुत दिमाग लड़ाया, पर कोई श्लोक, कोई मंत्र, कोई कविता याद न आयी तब उन्होंने सीधे-सीधे राम-नाम का पाठ आरंभ कर दिया—

'राम भज, राम भज, राम भज रे मन'—इन्होंने इतने ऊँचे स्वर से जाप करना शुरू किया कि चिंतामणि को भी अपना स्वर ऊँचा करना पड़ा। मोटेराम और जोर से गरजने लगे। इतने में भंडारी ने कहा—महाराज, अब भोग लगाइये। यह सुन कर उस प्रतिस्पर्द्धा का अंत हुआ। भोग की तैयारी हुई। बाल-वृंद सजग हो गया। किसी ने घंटा लिया, किसी ने घड़ियाल, किसी ने शंख, किसी ने करताल और चिंतामणि ने आरती उठा ली। मोटेराम मन में ऐंठ कर रह गये। रानी के समीप जाने का यह अवसर उनके हाथ से निकल गया।

पर यह किसे मालूम था कि विधि-वाम उधर कुछ और ही कुटिल-क्रीड़ा कर रहा है। आरती समाप्त हो गयी थी, भोजन शुरू होने को ही था कि एक कुत्ता न-जाने किधर से आ निकला। पंडित चिंतामणि के हाथ से लड्डू थाल में गिर पड़ा। पंडित मोटेराम अचकचा कर रह गये। सर्वनाश !

चिंतामणि ने मोटेराम से इशारे में कहा—अब क्या कहते हो, मित्र ? कोई उपाय निकालो, यहाँ तो कमर टूट गयी।

मोटेराम ने लम्बी साँस खींचकर कहा—अब क्या हो सकता है ? यह ससुर आया किधर से ?

रानी पास ही खड़ी थीं, उन्होंने कहा—अरे, कुत्ता किधर से आ गया ? यह रोज बँधा रहता था, आज कैसे छूट गया ? अब तो रसोई भ्रष्ट हो गयी।

चिंता.—सरकार, आचार्यों ने इस विषय में...

मोटे.—कोई हर्ज नहीं है, सरकार, कोई हर्ज नहीं है !

सोना—भाग्य फूट गया। जोहत-जोहत आधी रात बीत गयी, तब ई विपत्त फाट परी।

चिंता.—सरकार स्वान के मुख में अमृत...

मोटे.—तो अब आज्ञा हो तो चलें।

रानी—हाँ और क्या। मुझे बड़ा दुःख है कि इस कुत्ते ने आज इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। तुम बड़े गुस्ताख हो गये, टामी। भंडारी, ये पत्तर उठा कर मेहतर को दे दो।

चिंता.—(सोना से) छाती फटी जाती है।

सोना को बालकों पर दया आयी। बेचारे इतनी देर देवोपम धैर्य के साथ बैठे थे। बस चलता, तो कुत्ते का गला घोंट देती। बोली—लरकन का तो दोष नहीं परत है। इन्हें काहे नहीं खवाय देत कोऊ।

चिंता.—मोटेराम महादुष्ट है। इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है।

सोना—ऐसे तो बड़े विद्वान बने रहैं। अब काहे नाहीं बोलत बनत। मुँह में दही जम

गया, जीभै नहीं खुलत है।

चिंता.—सत्य कहता हूँ, रानी को चकमा दे देता। उस दुष्ट के मारे सब खेल बिगड़ गया। सारी अभिलाषाएँ मन में रह गयीं। ऐसे पदार्थ अब कहाँ मिल सकते हैं?

सोना—सारी मनुसई निकल गयी। घर ही में गरजै के सेर हैं।

रानी ने भंडारी को बुला कर कहा—इन छोटे-छोटे तीनों बच्चों को खिला दो। ये बेचारे क्यों भूखों मरें। क्यों फेकूराम, मिठाई खाओगे !

फेकू—इसीलिए तो आये हैं।

रानी—कितनी मिठाई खाओगे ?

फेकू—बहुत-सी (हाथों से बता कर) इतनी !

रानी—अच्छी बात है। जितनी खाओगे उतनी मिलेगी; पर जो बात मैं पूछूँ, वह बतानी पड़ेगी। बताओगे न ?

फेकू—हाँ बताऊँगा, पूछिए !

रानी—झूठ बोले, तो एक मिठाई न मिलेगी। समझ गये।

फेकू—मत दीजिएगा। मैं झूठ बोलूँगा ही नहीं।

रानी—अपने पिता का नाम बताओ।

मोटे.—बालकों को हरदम सब बातें स्मरण नहीं रहती। उसने तो आते ही आते बता दिया था।

रानी—मैं फिर पूछती हूँ, इसमें आपकी क्या हानि है ?

चिंता.—नाम पूछने में कोई हर्ज नहीं।

मोटे.—तुम चुप रहो चिंतामणि, नहीं तो ठीक न होगा। मेरे क्रोध को अभी तुम नहीं जानते। दबा बैठूँगा, तो रोते भागोगे।

रानी—आप तो व्यर्थ इतना क्रोध कर रहे हैं। बोलो फेकूराम, चुप क्यों हो ? फिर मिठाई न पाओगे।

चिंता.—महारानी की इतनी दया-दृष्टि तुम्हारे ऊपर है, बता दो बेटा !

मोटे.—चिंतामणि जी, मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे अदिन आये हैं। वह नहीं बताता, तुम्हारा साझा—आये वहाँ से बड़े खैरख्वाह बन के।

सोना—अरे हाँ, लरकन से ई सब पँवारा से का मतलब। तुमका धरम परे मिठाई देव, न धरम परे न देव। ई का कि बाप का नाम बताओ तब मिठाई देब।

फेकूराम ने धीरे से कोई नाम लिया। इस पर पंडित जी ने उसे इतने जोर से डाँटा कि उसकी आधी बात मुँह में ही रह गयी।

रानी—क्यों डाँटते हो, उसे बोलने क्यों नहीं देते ? बोलो बेटा !

मोटे.—आप हमें अपने द्वार पर बुला कर हमारा अपमान कर रही हैं।

चिंता.—इसमें अपमान की तो कोई बात नहीं है, भाइ !

मोटे.—अब हम इस द्वार पर कभी न आयेंगे। यहाँ सत्पुरुषों का अपमान किया जाता है।

अलगू—कहिए तो मैं चिंतामणि को एक पटकन दूँ।

मोटे.—नहीं बेटा, दुष्टों को परमात्मा स्वयं दंड देता है। चलो, यहाँ से चलें। अब भूल

कर यहाँ न आयेंगे। खिलाना न पिलाना, द्वार पर बुला कर ब्राह्मणों का अपमान करना। तभी तो देश में आग लगी हुई है।

चिंता.—मोटेराम, महारानी के सामने तुम्हें इतनी कटु बातें न करनी चाहिए।

मोटे.—बस चुप ही रहना, नहीं तो सारा क्रोध तुम्हारे ही सिर जायगा। माता-पिता का पता नहीं, ब्राह्मण बनने चले हैं। तुम्हें कौन कहता है ब्राह्मण ?

चिंता.—जो कुछ मन चाहे, कह लो। चन्द्रमा पर थूकने से थूक अपने ही मुँह पर पड़ता है। जब तुम धर्म का एक लक्षण नहीं जानते, तब तुमसे क्या बातें करूँ ? ब्राह्मण को धैर्य रखना चाहिए।

मोटे.—पेट के गुलाम हो। ठकुरसोहाती कर रहे हो कि एकाध पत्तल मिल जाय। यहाँ मर्यादा का पालन करते हैं !

चिंता—कह तो दिया भाई कि तुम बड़े, मैं छोटा, अब और क्या कहूँ। तुम सत्य कहते होगे, मैं ब्राह्मण नहीं शूद्र हूँ।

रानी—ऐसा न कहिए चिंतामणि जी।

इसका बदला न लिया तो कहना ! यह कहते हुए पंडित मोटेराम बालक-वृंद के साथ बाहर चले आये और भाग्य को कोसते हुए घर को चले। बार-बार पछता रहे थे कि दुष्ट चिंतामणि को क्यों बुला लाया।

सोना ने कहा—भंडा फूटत-फूटत बच गया। फेकुआ नाँव बताय देता। काहे रे, अपने बाप केर नाँव बताय देते !

फेकू—और क्या। वे तो सच-सच पूछती थीं !

मोटे.—चिंतामणि ने रंग जमा लिया, अब आनंद से भोजन करेगा।

सोना—तुम्हार एको विद्या काम न आयी। ऊँ तौन बाजी मार लैगा।

मोटे.—मैं तो जानता हूँ, रानी ने जान-बूझ कर कुत्ते को बुला लिया।

सोना—मैं तो ओकरा मुँह देखत ताड़ गयी कि हमका पहचान गयी।

इधर तो ये लोग पछताते चले जाते थे, उधर चितामणि की पाँचों अँगुली घी में थीं। आसन मारे भोजन कर रहे थे। रानी अपने हाथों से मिठाइयाँ परोस रही थीं; वार्त्तालाप भी होता जाता था।

रानी—बड़ा धूर्त्त है ? मैं बालकों को देखते ही समझ गयी। अपनी स्त्री को भेष बदल कर लाते उसे लज्जा न आयी।

चिंता.—मुझे कोस रहे होंगे !

रानी—मुझसे उड़ने चला था। मैंने भी कहा था—बचा, तुमको ऐसी शिक्षा दूँगी कि उम्र भर याद करोगे। टामी को बुला लिया।

चिंता.—सरकार की वुद्धि धन्य है !

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'सरस्वती' नवम्बर, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। यह कहानी 'प्रेमतीर्थ' कहानी-संग्रह में भी संकलित है। कहानी-संग्रह 'निमंत्रण और अन्य कहानियां' (प्रथम संस्करण 1945) में भी इसे संकलित किया गया था। उर्दू रूप 'दावत' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित।]

बहिष्कार

पण्डित ज्ञानचंद्र ने गोविंदी की ओर सतृष्ण नेत्रों से देख कर कहा—मुझे ऐसे निर्दयी प्राणियों से जरा भी सहानुभूति नहीं है। इस बर्बरता की भी कोई हद है कि जिसके साथ तीन वर्ष तक जीवन के सुख भोगे, उसे एक जरा-सी बात पर घर से निकाल दिया।

गोविंदी ने आँखें नीची करके पूछा—आखिर क्या बात हुई थी ?

ज्ञान.—कुछ भी नहीं। ऐसी बातों में कोई बात होती है। शिकायत है कि कालिंदी जबान की तेज है। तीन साल तक जबान तेज न थी, आज जबान की तेज हो गयी। कुछ नहीं, कोई दूसरी चिड़िया नजर आयी होगी। उसके लिए पिंजरे को खाली करना आवश्यक था। बस यह शिकायत निकल आयी। मेरा बस चले, तो ऐसे दुष्टों को गोली मार दूँ। मुझे कई बार कालिंदी से बातचीत करने का अवसर मिला है। मैंने ऐसी हँसमुख दूसरी ही नहीं देखी।

गोविंदी—तुमने सोमदत्त को समझाया नहीं।

ज्ञान.—ऐसे लोग समझाने से नहीं मानते। यह लात का आदमी है, बातों की उसे क्या परवा ? मेरा तो यह विचार है कि जिससे एक बार सम्बन्ध हो गया, फिर चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उसके साथ जीवन भर निर्वाह करना चाहिए ! मैं तो कहता हूँ, अगर स्त्री के कुल में कोई दोष भी निकल आये, तो क्षमा से काम लेना चाहिए।

गोविंदी ने कातर नेत्रों से देखकर कहा—ऐसे आदमी तो बहुत कम होते हैं।

ज्ञान.—समझ ही में नहीं आता कि जिसके साथ इतने दिन हँसे-बोले, जिसके प्रेम की स्मृतियाँ हृदय के एक-एक अणु में समायी हुई हैं, उसे दर-दर ठोकरें खाने को कैसे छोड़ दिया। कम से कम इतना तो करना चाहिए था कि उसे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देते और उसके निर्वाह का कोई प्रबंध कर देते। निर्दयी ने इस तरह घर से निकाला, जैसे कोई कुत्ते को निकाले। बेचारी गाँव के बाहर बैठी रो रही है। कौन कह सकता है कहाँ जायगी। शायद मायके भी कोई नहीं रहा। सोमदत्त के डर के मारे गाँव का कोई आदमी उसके पास भी नहीं आता। ऐसे बग्गड़ का क्या ठिकाना ! जो आदमी स्त्री का न हुआ, वह दूसरे का क्या होगा। उसकी दशा देख कर मेरी आँखों में तो आँसू भर आये। जी में तो आया, कहूँ—बहन, तुम मेरे घर चलो; मगर तब तो सोमदत्त मेरे प्राणों का गाहक हो जाता।

गोविंदी—तुम जरा जा कर एक बार फिर समझाओ। अगर वह किसी तरह न माने, तो कालिंदी को लेते आना।

ज्ञान.—जाऊँ ?

गोविंदी—हाँ, अवश्य जाओ; मगर सोमदत्त कुछ खरी-खोटी भी कहे, तो सुन लेना।

ज्ञानचंद्र ने गोविंदी को गले लगा कर कहा—तुम्हारे हृदय में बड़ी दया है, गोविंदी ! लो जाता हूँ, अगर सोमदत्त ने न माना तो कालिंदी ही को लेता आऊँगा। अभी बहुत दूर न गयी होगी।

2

तीन वर्ष बीत गये। गोविंदी एक बच्चे की माँ हो गयी। कालिंदी अभी तक इसी घर में है।

उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है। गोविंदी और कालिंदी में बहनों का-सा प्रेम है। गोविंदी सदैव उसकी दिलजोई करती रहती है। वह इसकी कल्पना भी नहीं करती कि यह कोई गैर है और मेरी रोटियों पर पड़ी हुई है; लेकिन सोमदत्त को कालिंदी का यहाँ रहना एक आँख नहीं भाता। वह कोई कानूनी कार्रवाई करने की तो हिम्मत नहीं रखता। और इस परिस्थिति में कर ही क्या सकता है, लेकिन ज्ञानचंद्र का सिर नीचा करने के लिए अवसर खोजता रहता है।

संध्या का समय था। ग्रीष्म की उष्ण वायु अभी तक बिल्कुल शांत नहीं हुई थी। गोविंदी गंगा-जल भरने गयी थी। और जल-तट की शीतल निर्जनता का आनंद उठा रही थी। सहसा उसे सोमदत्त आता हुआ दिखायी दिया। गोविंदी ने आँचल से मुँह छिपा लिया और कलसा ले कर चलने ही को थी कि सोमदत्त ने सामने आ कर कहा—जरा ठहरो, गोविंदी, तुमसे एक बात कहना है। तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि तुमसे कहूँ या ज्ञानू से?

गोविंदी ने धीरे से कहा—उन्हीं से कह दीजिए।

सोम.—जी तो मेरा भी यही चाहता है; लेकिन तुम्हारी दीनता पर दया आती है। जिस दिन मैं ज्ञानचंद से यह बात कह दूँगा, तुम्हें इस घर से निकलना पड़ेगा। मैंने सारी बातों का पता लगा लिया है। तुम्हारा बाप कौन था; तुम्हारी माँ की क्या दशा हुई, यह सारी कथा जानता हूँ। क्या तुम समझती हो कि ज्ञानचंद्र यह कथा सुन कर तुम्हें अपने घर में रखेगा ? उसके विचार कितने ही स्वाधीन हों; पर जीती मक्खी नहीं निगल सकता।

गोविंदी ने थर-थर काँपते हुए कहा—जब आप सारी बातें जानते हैं, तो मैं क्या कहूँ ? आप जैसा उचित समझें करें; लेकिन मैंने तो आपके साथ कभी कोई बुराई नहीं की।

सोम.—तुम लोगों ने गाँव में मुझे कहीं मुँह दिखाने के योग्य नहीं रखा। तिस पर कहती हो, मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई नहीं की ! तीन साल से कालिंदी को आश्रय दे कर मेरी आत्मा को जो कष्ट पहुँचाया है, वह मैं ही जानता हूँ। तीन साल से मैं इस फिक्र में था कि कैसे इस अपमान का दंड दूँ। अब वह अवसर पा कर उसे किसी तरह नहीं छोड़ सकता।

गोविंदी—अगर आपकी यही इच्छा है कि मैं यहाँ न रहूँ, तो मैं चली जाऊँगी, आज ही चली जाऊँगी; लेकिन उनसे आप कुछ न कहिए। आपके पैरों पड़ती हूँ।

सोम.—कहाँ चली जाओगी ?

गोविंदी—और कहीं ठिकाना नहीं है, तो गंगा जी तो हैं।

सोम.—नहीं गोविंदी, मैं इतना निर्दयी नहीं हूँ। मैं केवल इतना चाहता हूँ कि तुम कालिंदी को अपने घर से निकाल दो और मैं कुछ नहीं चाहता। तीन दिन का समय देता हूँ, खूब सोच-विचार लो। अगर कालिंदी तीसरे दिन तुम्हारे घर से न निकली, तो तुम जानोगी।

सोमदत्त वहाँ से चला गया। गोविंदी कलसा लिये मूर्ति की भाँति खड़ी रह गयी। उसके सम्मुख कठिन समस्या आ खड़ी हुई थी, वह थी कालिंदी ! घर में एक ही रह सकती थी। दोनों के लिए उस घर में स्थान न था। क्या कालिंदी के लिए वह अपना घर, अपना स्वर्ग त्याग देगी ? कालिंदी अकेली है, पति ने उसे पहले ही छोड़ दिया है, वह जहाँ चाहे जा

सकती है, पर वह अपने प्राणाधार और प्यारे बच्चे को छोड़ कर कहाँ जायगी ?

लेकिन कालिंदी से वह क्या कहेगी ? जिसके साथ इतने दिनों तक बहनों की तरह रही, उसे क्या वह अपने घर से निकाल देगी ? उसका बच्चा कालिंदी से कितना हिला हुआ था, कालिंदी उसे कितना चाहती थी ? क्या उस परित्यक्ता दीना को वह अपने घर से निकाल देगी ? इसके सिवा और उपाय ही क्या था ? उसका जीवन अब एक स्वार्थी, दम्भी व्यक्ति की दया पर अवलम्बित था। क्या अपने पति के प्रेम पर वह भरोसा कर सकती थी! ज्ञानचंद्र सहृदय थे, उदार थे, विचारशील थे, दृढ़ थे, पर क्या उनका प्रेम अपमान, व्यंग्य और बहिष्कार जैसे आघातों को सहन कर सकता था !

3

उसी दिन से गोविंदी और कालिंदी में कुछ पार्थक्य-सा दिखायी देने लगा। दोनों अब बहुत कम साथ बैठतीं। कालिंदी पुकारती—बहन, आ कर खाना खा लो। गोविंदी कहती—तुम खा लो, मैं फिर खा लूँगी। पहले कालिंदी बालक को सारे दिन खिलाया करती थी, माँ के पास केवल दूध पीने जाता था। मगर अब गोविंदी हर दम उसे अपने ही पास रखती है। दोनों के बीच में कोई दीवार खड़ी हो गयी है। कालिंदी बार-बार सोचती है, आजकल मुझसे यह क्यों रूठी हुइ है ? पर उसे कोई कारण नहीं दिखायी देता। उसे भय हो रहा है कि कदाचित् यह अब मुझे यहाँ नहीं रखना चाहती। इसी चिंता में वह गोते खाया करती है; किन्तु गोविंदी भी उससे कम चिंतित नहीं है। कालिंदी से वह स्नेह तोड़ना चाहती है; पर उसकी म्लान मूर्ति देख कर उसके हृदय के टुकड़े हो जाते हैं। उससे कुछ कह नहीं सकती। अवहेलना के शब्द मुँह से नहीं निकलते। कदाचित् उसे घर से जाते देख कर वह रो पड़ेगी। और जबरदस्ती रोक लेगी। इसी हैस-बैस में तीन दिन गुजर गये। कालिंदी घर से न निकली। तीसरे दिन संध्या-समय सोमदत्त नदी के तट पर बड़ी देर तक खड़ा रहा। अंत में चारों ओर अँधेरा छा गया। फिर भी पीछे फिर-फिर कर जल-तट की ओर देखता जाता था !

रात के दस बज गये हैं। अभी ज्ञानचंद्र घर नहीं आये। गोविंदी घबरा रही है। उन्हें इतनी देर तो कभी नहीं होती थी। आज इतनी देर कहाँ लगा रहे हैं ? शंका से उसका हृदय काँप रहा है।

सहसा मरदाने कमरे का द्वार खुलने की आवाज आयी ! गोविंदी दौड़ी हुई बैठक में आयी; लेकिन पति का मुख देखते ही उसकी सारी देह शिथिल पड़ गयी, उस मुख पर हास्य था, पर उस हास्य में भाग्य-तिरस्कार झलक रहा था। विधि-वाम ने ऐसे सीधे-सादे मनुष्य को भी अपनी क्रीड़ा-कौशल के लिए चुन लिया। क्या वह रहस्य रोने के योग्य था ? रहस्य रोने की वस्तु नहीं, हँसने की वस्तु है।

ज्ञानचंद्र ने गोविंदी की ओर नहीं देखा। कपड़े उतार कर सावधानी से अलगनी पर रखे, जूता उतारा और फर्श पर बैठ कर एक पुस्तक के पन्ने उलटने लगा।

गोविंदी ने डरते-डरते कहा—आज इतनी देर कहाँ की ? भोजन ठंडा हो रहा है।

ज्ञानचंद्र ने फर्श की ओर ताकते हुए कहा—तुम लोग भोजन कर लो, मैं एक मित्र के घर खा कर आया हूँ।

गोविंदी इसका आशय समझ गयी। एक क्षण के बाद फिर बोली—चलो, थोड़ा-सा ही खा लो।

ज्ञान.—अब बिलकुल भूख नहीं है।

गोविंदी—तो मैं भी जाकर सो रहती हूँ।

ज्ञानचंद्र ने अब गोविंदी की ओर देख कर कहा—क्यों ? तुम क्यों न खाओगी?

वह और कुछ न कह सकी। गला भर आया।

ज्ञानचंद्र ने समीप आ कर कहा—मैं सच कहता हूँ, गोविंदी, एक मित्र के घर भोजन कर आया हूँ। तुम जा कर खा लो।

4

गोविंदी पलँग पर पड़ी हुई चिंता, नैराश्य और विषाद के अपार सागर में गोते खा रही थी। यदि कालिंदी का उसने बहिष्कार कर दिया होता, तो आज उसे इस विपत्ति का सामना न करना पड़ता; किन्तु यह अमानुषिक व्यवहार उसके लिए असाध्य था और इस दशा में भी उसे इसका दुःख न था। ज्ञानचंद्र की ओर से यों तिरस्कृत होने का भी उसे दुःख न था। जो ज्ञानचन्द्र नित्य धर्म और सज्जनता की डींगे मारा करता था, वही आज इसका इतनी निर्दयता से बहिष्कार करता हुआ जान पड़ता था, उस पर उसे लेशमात्र भी दुःख, क्रोध या द्वेष न था। उसके मन को केवल एक ही भावना आंदोलित कर रही थी। वह अब इस घर में कैसे रह सकती है। अब तक वह इस घर की स्वामिनी थी ! इसलिए न कि वह अपने पति के प्रेम की स्वामिनी थी; पर अब वह प्रेम से वंचित हो गई थी। अब इस घर पर उसका क्या अधिकार था ? वह अब अपने पति को मुँह ही कैसे दिखा सकती थी। वह जानती थी, ज्ञानचन्द्र अपने मुँह से उसके विरुद्ध एक शब्द भी न निकालेंगे; पर उसके विषय में ऐसी बातें जान कर क्या वह उससे प्रेम कर सकते थे ? कदापि नहीं ! इस वक्त न-जाने क्या समझ कर चुप रहे। सबेरे तूफान उठेगा। कितने ही विचारशील हों, पर अपने समाज से निकल जाना कौन पसन्द करेगा ? स्त्रियों की संसार में कमी नहीं। मेरी जगह हजारों मिल जायँगी। मेरी किसी को क्या परवा ? अब यहाँ रहना बेहयाई है। आखिर कोई लाठी मार कर थोड़े ही निकाल देगा। हयादार के लिए आँख का इशारा बहुत है। मुँह से न कहें, मन की बात और भाव छिपे नहीं रहते; लेकिन मीठी निंद्रा की गोद में सोये हुए शिशु को देख कर ममता ने उसके अशक्त हृदय को और भी कातर कर दिया। इस अपने प्राणों के आधार को वह कैसे छोड़ेगी ?

शिशु को उसने गोद में उठा लिया और खड़ी रोती रही। तीन साल कितने आनंद में गुजरे। उसने समझा था कि इसी भाँति सारा जीवन कट जायगा; लेकिन उसके भाग्य में इससे अधिक सुख भोगना लिखा ही न था। करुण वेदना में डूबे हुए ये शब्द उसके मुख से निकल आये—भगवान् ! अगर तुम्हें इस भाँति मेरी दुर्गति करनी थी, तो तीन साल पहले क्यों न की ? उस वक्त यदि तुमने मेरे जीवन का अंत कर दिया होता, तो मैं तुम्हें धन्यवाद देती। तीन साल तक सौभाग्य के सुरम्य उद्यान में सौरभ, समीर और माधुर्य का आनन्द उठाने के बाद इस उद्यान ही को उजाड़ दिया। हा ! जिस पौधे को उसने अपने प्रेम-जल से सींचा था, वे अब निर्मम दुर्भाग्य के पैरों-तले कितनी निष्ठुरता से कुचले जा रहे थे।

ज्ञानचन्द्र के शील और स्नेह का स्मरण आया, तो वह रो पड़ी। मृदु स्मृतियाँ आ-आकर हृदय को मसोसने लगीं।

सहसा ज्ञानचन्द्र के आने से वह सँभल बैठी। कठोर से कठोर बातें सुनने के लिए उसने अपने हृदय को कड़ा कर लिया; किन्तु ज्ञानचन्द्र के मुख पर रोष का चिह्न भी न था। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—क्या तुम अभी तक सोयी नहीं ? जानती हो, के बजे हैं ? बारह से ऊपर हैं।

गोविंदी ने सहमते हुए कहा—तुम भी तो अभी नहीं सोये।

ज्ञान.—मैं न सोऊँ, तो तुम भी न सोओ ? मैं न खाऊँ, तो तुम भी न खाओ? मैं बीमार पड़ूँ, तो तुम भी बीमार पड़ो ? यह क्यों ? मैं तो एक जन्मपत्री बना रहा था। कल देनी होगी। तुम क्या करती रहीं, बोलो ?

इन शब्दों में कितना सरल स्नेह था ! क्या तिरस्कार के भाव इतने ललित शब्दों में प्रकट हो सकते हैं ? प्रवंचकता क्या इतनी निर्मल हो सकती है ? शायद सोमदत्त ने अभी वज्र का प्रहार नहीं किया। अवकाश न मिला होगा; लेकिन ऐसा है, तो आज घर इतनी देर में क्यों आये ? भोजन क्यों न किया, मुझसे बोले तक नहीं, आँखें लाल हो रही थीं। मेरी ओर आँख उठा कर देखा तक नहीं। क्या यह सम्भव है कि इनका क्रोध शांत हो गया हो? यह सम्भावना की चरम सीमा से भी बाहर है। तो क्या सोमदत्त को मुझ पर दया आ गयी? पत्थर पर दूब जमी ? गोविंदी कुछ निश्चय न कर सकी, और जिस भाँति गृह-सुख विहीन पथिक वृक्ष की छाँह में भी आनन्द से पाँव फैला कर सोता है, उसकी अव्यवस्था ही उसे निश्चिंत बना देती है, उसी भाँति गोविंदी मानसिक व्यग्रता में भी स्वस्थ हो गयी। मुस्करा कर स्नेह-मृदुल स्वर में बोली—तुम्हारी ही राह तो देख रही थी।

यह कहते-कहते गोविंदी का गला भर आया। व्याध के जाल में फड़फड़ाती हुई चिड़िया क्या मीठे राग गा सकती है ? ज्ञानचन्द्र ने चारपाई पर बैठ कर कहा—झूठी बात, रोज तो तुम अब तक सो जाया करती थीं।

5

एक सप्ताह बीत गया; पर ज्ञानचन्द्र ने गोविंदी से कुछ न पूछा, और न उनके बर्ताव ही से उनके मनोगत भावों का कुछ परिचय मिला। अगर उनके व्यवहारों में कोई नवीनता थी, तो यह कि वह पहले से भी ज्यादा स्नेहशील, निर्द्वन्द्व और प्रफुल्लवदन हो गये। गोविंदी का इतना आदर और मान उन्होंने कभी नहीं किया था। उनके प्रयत्नशील रहने पर भी गोविंदी उनके मनोभावों को ताड़ रही थी और उसका चित्त प्रतिक्षण शंका से चंचल और क्षुब्ध रहता था। अब उसे इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं था कि सोमदत्त ने आग लगा दी है। गीली लकड़ी में पड़ कर वह चिनगारी बुझ जायगी, या जंगल की सूखी पत्तियाँ हाहाकार करके जल उठेंगी, यह कौन जान सकता है। लेकिन इस सप्ताह के गुजरते ही अग्नि का प्रकोप होने लगा। ज्ञानचंद्र एक महाजन के मुनीम थे। उस महाजन ने कह दिया—मेरे यहाँ अब आपका काम नहीं। जीविका का दूसरा साधन यजमानी है। यजमान भी एक-एक करके उन्हें जवाब देने लगे। यहाँ तक कि उनके द्वार पर आना-जाना बन्द हो गया। आग सूखी पत्तियों में लगा कर अब हरे वृक्ष के चारों ओर मँडराने लगी। पर ज्ञानचंद्र के मुख में गोविंदी के प्रति एक भी कटु, अमृदु शब्द न था। वह इस सामाजिक दंड की शायद कुछ परवा न

करते, यदि दुर्भाग्यवश इसने उसकी जीविका के द्वार न बंद कर दिये होते। गोविंदी सब कुछ समझती थी; पर संकोच के मारे कुछ न कह सकती थी। उसी के कारण उसके प्राणप्रिय पति की यह दशा हो रही है, यह उसके लिए डूब मरने की बात थी। पर, कैसे प्राणों का उत्सर्ग करे। कैसे जीवन-मोह से मुक्त हो। इस विपत्ति में स्वामी के प्रति उसके रोम-रोम से शुभ-कामनाओं की सरिता-सी बहती थी; पर मुँह से एक शब्द भी न निकलता था। भाग्य की सबसे निष्ठुर लीला उस दिन हुई, जब कालिंदी भी बिना कुछ कहे-सुने सोमदत्त के घर जा पहुँची। जिसके लिए यह सारी यातनाएँ झेलनी पड़ीं, उसी ने अन्त में बेवफाई की। ज्ञानचंद्र ने सुना, तो केवल मुस्करा दिये; पर गोविंदी इस कुटिल आघात को इतनी शांति से सहन न कर सकी। कालिंदी के प्रति उसके मुख से अप्रिय शब्द निकल ही आये। ज्ञानचन्द्र ने कहा—उसे व्यर्थ ही कोसती हो प्रिये, उसका कोई दोष नहीं। भगवान् हमारी परीक्षा ले रहे हैं। इस वक्त धैर्य के सिवा हमें किसी से कोई आशा न रखनी चाहिए।

जिन भावों को गोविंदी कई दिनों से अंतस्तल में दबाती चली आती थी, वे धैर्य का बाँध टूटते ही बड़े वेग से बाहर निकल पड़े। पति के सम्मुख अपराधियों की भाँति हाथ बाँध कर उसने कहा—स्वामी, मेरे ही कारण आपको यह सारे पापड़ बेलने पड़ रहे हैं। मैं ही आपके कुल की कलंकिनी हूँ। क्यों न मुझे किसी ऐसी जगह भेज दीजिए, जहाँ कोई मेरी सूरत तक न देखे। मैं आपसे सत्य कहती हूँ...।

ज्ञानचन्द्र ने गोविंदी को और कुछ न कहने दिया। उसे हृदय से लगा कर बोले—प्रिय, ऐसी बातों से मुझे दुखी न करो। तुम आज भी उतनी ही पवित्र हो, जितनी उस समय थीं, जब देवताओं के समक्ष मैंने आजीवन पत्नीव्रत लिया था, तब मुझसे तुम्हारा परिचय न था। अब तो मेरी देह और आत्मा का एक-एक परमाणु तुम्हारे अक्षय प्रेम से आलोकित हो रहा है। उपहास और निंदा की तो बात ही क्या है, दुर्दैव का कठोरतम आघात भी मेरे व्रत को भंग नहीं कर सकता। अगर डूबेंगे तो साथ-साथ डूबेंगे; तरेंगे तो साथ-साथ तरेंगे। मेरे जीवन का मुख्य कर्त्तव्य तुम्हारे प्रति है। संसार इसके पीछे—बहुत पीछे है।

गोविंदी को जान पड़ा, उसके सम्मुख कोई देव-मूर्ति खड़ी है। स्वामी में इतनी श्रद्धा, इतनी भक्ति, उसे आज तक कभी न हुई थी। गर्व से उसका मस्तक ऊँचा हो गया और मुख पर स्वर्गीय आभा झलक पड़ी। उसने फिर कहने का साहस न किया।

6

सम्पन्नता अपमान और बहिष्कार को तुच्छ समझती है। उनके अभाव में ये बाधाएँ प्राणांतक हो जाती हैं। ज्ञानचन्द्र दिन के दिन घर में पड़े रहते। घर से बाहर निकलने का उन्हें साहस न होता था। जब तक गोविंदी के पास गहने थे, तब तक भोजन की चिंता न थी। किन्तु जब यह आधार भी न रह गया, तो हालत और भी खराब हो गयी। कभी-कभी निराहार रह जाना पड़ता। अपनी व्यथा किससे कहें, कौन मित्र था ? कौन अपना था ?

गोविंदी पहले भी हृष्ट-पुष्ट न थी; पर अब तो अनाहार और अंतर्वेदना के कारण उसकी देह और भी जीर्ण हो गयी थी। पहले शिशु के लिए दूध मोल लिया करती थी। अब इसकी सामर्थ्य न थी। बालक दिन पर दिन दुर्बल होता जाता था। मालूम होता था, उसे

सूखे का रोग हो गया है। दिन के दिन बच्चा खुर्रा खाट पर पड़ा माता को नैराश्य-दृष्टि से देखा करता। कदाचित् उसकी बाल-बुद्धि भी अवस्था को समझती थी। कभी किसी वस्तु के लिए हठ न करता। उसकी बालोचित सरलता, चंचलता और क्रीड़ाशीलता ने अब तक दीर्घ, आशा-विहीन प्रतीक्षा का रूप धारण कर लिया था। माता-पिता उसकी दशा देख कर मन ही मन कुढ़-कुढ़ कर रह जाते थे।

संध्या का समय था। गोविंदी अँधेरे घर में बालक के सिरहाने चिंता में मग्न बैठी थी। आकाश पर बादल छाये हुए थे और हवा के झोंके उसके अर्द्धनग्न शरीर में शर के समान लगते थे। आज दिन भर बच्चे ने कुछ न खाया था। घर में कुछ था ही नहीं। क्षुधाग्नि से बालक छटपटा रहा था; पर या तो रोना न चाहता था, या उसमें रोने की शक्ति ही न थी।

इतने में ज्ञानचंद्र तेली के यहाँ से तेल ले कर आ पहुँचे। दीपक जला। दीपक के क्षीण प्रकाश में माता ने बालक का मुख देखा; तो सहम उठी। बालक का मुख पीला पड़ गया था और पुतलियाँ ऊपर चढ़ गयी थीं। उसने घबराकर बालक को गोद में उठाया। देह ठण्डी थी। चिल्ला कर बोली—हा भगवान् ! मेरे बच्चे को क्या हो गया? ज्ञानचंद्र ने बालक के मुख की ओर देख कर एक ठण्डी साँस ली और बोले—ईश्वर, क्या सारी दया-दृष्टि हमारे ही ऊपर करोगे ?

गोविंदी—हाय ! मेरा लाल मारे भूख के शिथिल हो गया है। कोई ऐसा नहीं, जो इसे दो घूँट दूध पिला दे।

यह कह कर उसने बालक को पति की गोद में दे दिया और एक लुटिया ले कर कालिंदी के घर दूध माँगने चली। जिस कालिंदी ने आज छः महीने से इस घर की ओर ताका न था, उसी के द्वार पर दूध की भिक्षा माँगने जाते हुए उसे कितनी ग्लानि, कितना संकोच हो रहा था, वह भगवान् के सिवा और कौन जान सकता है। यह वही बालक है, जिस पर एक दिन कालिंदी प्राण देती थी; पर उसकी ओर से अब उसने अपना हृदय इतना कठोर कर लिया था कि घर में कई गौएँ लगने पर भी एक चिल्लू दूध न भेजा। उसी की दया-भिक्षा माँगने आज, अँधेरी रात में, भीगती हुई गोविंदी दौड़ी जा रही है। माता ! तेरे वात्सल्य को धन्य है !

कालिंदी दीपक लिये दालान में खड़ी गाय दुहा रही थी। पहले स्वामिनी बनने के लिए वह सौत से लड़ा करती थी। सेविका का पद उसे स्वीकार न था। अब सेविका का पद स्वीकार करके स्वामिनी बनी हुई थी। गोविंदी को देख कर तुरंत निकल आयी और विस्मय से बोली—क्या है बहन, पानी-बूँदी में कैसे चली आयी ?

गोविंदी ने सकुचाते हुए कहा—लाला बहुत भूखा है, कालिंदी ! आज दिन भर कुछ नहीं मिला। थोड़ा-सा दूध लेने आयी हूँ।

कालिंदी भीतर जाकर दूध का मटका लिये बाहर निकल आयी और बोली—जितना चाहो, ले लो गोविंदी ! दूध की कौन कमी है। लाला तो अब चलता होगा ! बहुत जी चाहता है कि जाकर उसे देख आऊँ। लेकिन जाने का हुकुम नहीं है। पेट पालना है, तो हुकुम मानना ही पड़ेगा। तुमने बतलाया ही नहीं, नहीं तो लाला के लिए दूध का तोड़ा थोड़ा है। मैं चली क्या आयी कि तुमने उसका मुँह देखने को तरसा डाला। मुझे कभी पूछता है?

यह कहते हुए कालिंदी ने दूध का मटका गोविंदी के हाथ में रख दिया। गोविंदी की आँखों से आँसू बहने लगे। कालिंदी इतनी दया करेगी, इसकी उसे आशा नहीं थी। अब उसे ज्ञान हुआ कि यह वही दयाशीला, सेवा-परायण रमणी है, जो पहले थी। लेशमात्र भी अन्तर न था। बोली—इतना दूध ले कर क्या करूँगी, बहन। इस लोटिया में डाल दो।

कालिंदी—दूध छोटे-बड़े सभी खाते हैं। ले जाओ, (धीरे) यह मत समझो कि मैं तुम्हारे घर से चली आयी; तो बिरानी हो गयी। भगवान् की दया से अब यहाँ किसी बात की चिंता नहीं है। मुझसे कहने भर की देर है। हाँ, मैं आऊँगी नहीं। इससे लाचार हूं। कल किसी बेला लाला को लेकर नदी किनारे आ जाना। देखने को बहुत जी चाहता है।

गोविंदी दूध की हाँडी लिये घर चली, गर्व-पूर्ण आनन्द के मारे उसके पैर उड़े जाते थे। ड्योढ़ी में पैर रखते ही बोली—जरा दिया दिखा देना, यहाँ कुछ सुझायी नहीं देता। ऐसा न हो कि दूध गिर पड़े।

ज्ञानचंद्र ने दीपक दिखा दिया। गोविंदी ने बालक को अपनी गोद में लिटा कर कटोरी से दूध पिलाना चाहा ! पर एक घूँट से अधिक दूध कंठ में न गया। बालक ने हिचकी ली और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

करुण रोदन से घर गूँज उठा। सारी बस्ती के लोग चौंक पड़े; पर जब मालूम हो गया कि ज्ञानचंद्र के घर से आवाज आ रही है, तो कोई द्वार पर न आया। रात भर भग्न हृदय दम्पत्ति रोते रहे। प्रातःकाल ज्ञानचंद ने शव उठा लिया और श्मशान की ओर चले। सैकड़ों आदमियों ने उन्हें जाते देखा, पर कोई समीप न आया।

7

कुल-मर्यादा संसार की सबसे उत्तम वस्तु है। उस पर प्राण तक न्योछावर कर दिये जाते हैं। ज्ञानचंद्र के हाथ से वह वस्तु निकल गयी, जिस पर उन्हें गौरव था। वह गर्व, वह आत्म-बल, वह तेज, जो परम्परा ने उनके हृदय में कूट-कूट कर भर दिया था, उसका कुछ अंश तो पहले ही मिट चुका था, बचा-खुचा पुत्र-शोक ने मिटा दिया। उन्हें विश्वास हो गया कि उनके अविचार का ईश्वर ने यह दंड दिया है। दुरवस्था, जीर्णता और मानसिक दुर्बलता सभी इस विश्वास को दृढ़ करती थीं। वह गोविंदी को अब भी निर्दोष समझते थे। उसके प्रति एक कटु शब्द उनके मुँह से न निकलता था, न कोई कटु भाव ही उनके दिल में जगह पाता था। विधि की क्रूर-क्रीड़ा ही उनका सर्वनाश कर रही है; इसमें उन्हें लेशमात्र भी संदेह न था।

अब वह घर उन्हें फाड़े खाता था। घर के प्राण-से निकल गये थे। अब माता किसे गोद में ले कर चाँद मामा को बुलायेगी, किसे उबटन मलेगी, किसके लिए प्रातःकाल हलुवा पकायेगी। अब सब कुछ शून्य था, मालूम होता था कि उनके हृदय निकाल लिये गये हैं। अपमान, कष्ट, अनाहार, इन सारी विडंबनाओं के होते हुए भी बालक की बाल-क्रीड़ाओं में वे सब-कुछ भूल जाते थे। उसके स्नेहमय लालन-पालन में ही अपना जीवन सार्थक समझते थे। अब चारों ओर अन्धकार था।

यदि ऐसे मनुष्य हैं, जिन्हें विपत्ति से उत्तेजना और साहस मिलता है, तो ऐसे भी मनुष्य हैं, जो आपत्ति-काल में कर्त्तव्यहीन, पुरुषार्थहीन और उद्यमहीन हो जाते हैं। ज्ञानचंद्र

शिक्षित थे, योग्य थे। यदि शहर में जा कर दौड़-धूप करते, तो उन्हें कहीं न कहीं काम मिल जाता। वेतन कम ही सही, रोटियों को तो मुहताज न रहते; किंतु अविश्वास उन्हें घर से निकलने न देता था। कहाँ जायँ, शहर में कौन जानता है ? अगर दो-चार परिचित प्राणी हैं भी, तो उन्हें मेरी क्यों परवा होने लगी ? फिर इस दशा में जायँ कैसे ? देह पर साबित कपड़े भी नहीं। जाने के पहले गोविंदी के लिए कुछ न कुछ प्रबंध करना आवश्यक था। उसका कोई सुभीता न था। इन्हीं चिंताओं में पड़े-पड़े उनके दिन कटते जाते थे। यहाँ तक कि उन्हें घर से बाहर निकलते भी बड़ा संकोच होता था। गोविंदी ही पर अन्नोपार्जन का भार था। बेचारी दिन को बच्चों के कपड़े सीती, रात को दूसरों के लिए आटा पीसती। ज्ञानचंद्र सब कुछ देखते थे और माथा ठोक कर रह जाते थे।

एक दिन भोजन करते हुए ज्ञानचंद्र ने आत्म-धिक्कार के भाव से मुस्करा कर कहा- मुझ-सा निर्लज्ज पुरुष भी संसार में दूसरा न होगा, जिसे स्त्री की कमाई खाते भी मौत नहीं आती !

गोविंदी ने भौं सिकोड़ कर कहा—तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मेरे सामने ऐसी बातें मत किया करो। है तो यह सब मेरे ही कारन ?

ज्ञान.—तुमने पूर्व जन्म में कोई बड़ा पाप किया था गोविंदी, जो मुझ-जैसे निखट्टू के पाले पड़ी। मेरे जीते ही तुम विधवा हो। धिक्कार है ऐसे जीवन को !

गोविंदी—तुम मेरा ही खून पियो, अगर फिर इस तरह की कोई बात मुँह से निकालो। तुम्हारी दासी बन कर मेरा जन्म सुफल हो गया। मैं इसे पूर्वजन्म की तपस्या का पुनीत फल समझती हूँ। दुःख-सुख किस पर नहीं आता। तुम्हें भगवान् कुशल से रखें, यही मेरी अभिलाषा है।

ज्ञान.—भगवान् तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करें ! खूब चक्की पीसो।

गोविंदी—तुम्हारी बला से चक्की पीसती हूँ।

ज्ञान.—हाँ, हाँ, पीसो। मैं मना थोड़े करता हूँ। तुम न चक्की पीसोगी, तो यहाँ मूँछों पर ताव दे कर खायेगा कौन, अच्छा, आज दाल में घी भी है। ठीक है, अब मेरी चाँदी है, बेड़ा पार लग जायगा। इसी गाँव में बड़े-बड़े उच्च-कुल की कन्याएँ हैं। अपने वस्त्राभूषण के सामने उन्हें और किसी की परवा नहीं। पति महाशय चाहे चोरी करके लायें, चाहे डाका मार कर लायें, उन्हें इसकी परवा नहीं। तुममें यह गुण नहीं है। तुम उच्च-कुल की कन्या नहीं हो। वाह री दुनिया ! ऐसी पवित्र देवियों का तेरे यहाँ अनादर होता है ! उन्हें कुल-कलंकिनी समझा जाता है ! धन्य है तेरा व्यापार ! तुमने कुछ और सुना ? सोमदत्त ने मेरे असामियों को बहका दिया है कि लगान मत देना, देखें क्या करते हैं। बताओ, जमींदार की रकम कैसे चुकाऊँगा ?

गोविंदी—मैं सोमदत्त से जा कर पूछती हूँ न ? मना क्या करेंगे, कोई दिल्लगी है !

ज्ञान.—नहीं गोविंदी, तुम उस दुष्ट के पास मत जाना। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे ऊपर उसकी छाया भी पड़े। उसे खूब अत्याचार करने दो। मैं भी देख रहा हूँ कि भगवान् कितने न्यायी हैं।

गोविंदी—तुम असामियों के पास क्यों नहीं जाते ? हमारे घर न आयें, हमारा छुआ

पानी न पियें, या हमारे रुपये भी मार लेंगे ?

ज्ञान.—वाह, इससे सरल तो कोई काम ही नहीं है। कह देंगे—हम रुपये दे चुके। सारा गाँव उसकी तरफ हो जायगा। मैं तो अब गाँव भर का द्रोही हूँ न। आज खूब डट कर भोजन किया। अब मैं भी रईस हूँ, बिना हाथ-पैर हिलाये गुलछर्रे उड़ाता हूँ। सच कहता हूँ, तुम्हारी ओर से अब मैं निश्चिन्त हो गया। देश-विदेश भी चला जाऊँ, तो तुम अपना निर्वाह कर सकती हो।

गोविंदी—कहीं जाने का काम नहीं है।

ज्ञान.—तो यहाँ जाता ही कौन है। किसे कुत्ते ने काटा है, जो यह सेवा छोड़ कर मेहनत-मजूरी करने जाय। तुम सचमुच देवी हो, गोविंदी !

भोजन करके ज्ञानचंद्र बाहर निकले। गोविंदी भोजन करके कोठरी में आयी, तो ज्ञानचंद्र न थे। समझी—कहीं बाहर चले गये होंगे। आज पति की बातों से उसका चित्त कुछ प्रसन्न था। शायद अब वह नौकरी-चाकरी की खोज में कहीं जानेवाले हैं। यह आशा बँध रही थी। हाँ उनकी व्यंग्योक्तियों का भाव उसकी समझ ही में न आता था। ऐसी बातें वह कभी न करते थे। आज क्या सूझी !

कुछ कपड़े सीने थे। जाड़ों के दिन थे। गोविंदी धूप में बैठ कर सीने लगी। थोड़ी ही देर में शाम हो गयी। अभी तक ज्ञानचंद्र नहीं आये। तेल-बत्ती का समय आया, फिर भोजन की तैयारी करने लगी। कालिंदी थोड़ा-सा दूध दे गयी थी। गोविंदी को तो भूख न थी, अब वह एक ही बेला खाती थी। हाँ, ज्ञानचंद्र के लिए रोटियाँ सेंकनी थीं। सोचा—दूध है ही, दूध-रोटी खा लेंगे।

भोजन बना कर निकली ही थी कि सोमदत्त ने आँगन में आकर पूछा—कहाँ है ज्ञानू ?

गोविंदी—कहीं गये हैं।

सोम.—कपड़े पहन कर गये हैं ?

गोविंदी—हाँ; काली मिर्जई पहने थे।

सोम.—जूता भी पहने थे ?

गोविंदी की छाती धड़-धड़ करने लगी। बोली—हाँ, जूता तो पहने थे। क्यों पूछते हो?

सोमदत्त ने जोर से हाथ मार कर कहा—हाय ज्ञानू ! हाय !

गोविंदी घबरा कर बोली—क्या हुआ, दादा जी ! हाय ! बताते क्यों नहीं ? हाय !

सोम.—अभी थाने से आ रहा हूँ। वहाँ उनकी लाश मिली है। रेल के नीचे दब गये! हाय ज्ञानू ! मुझ हत्यारे को क्यों न मौत आ गयी ?

गोविंदी के मुँह से फिर कोई शब्द न निकला। अंतिम 'हाय' के साथ बहुत दिनों तक तड़पता हुआ प्राण-पक्षी उड़ गया।

एक क्षण में गाँव की कितनी ही स्त्रियाँ जमा हो गयीं। सब कहती थीं—देवी थी, सती थी !

प्रातःकाल दो अर्थियाँ गाँव से निकलीं। एक पर रेशमी चुँदरी का कफन था, दूसरे पर रेशमी शाल का। गाँव के द्विजों में से केवल सोमदत्त साथ था। शेष गाँव के नीच जाति

वाले आदमी थे। सोमदत्त ही ने दाह-क्रिया का प्रबंध किया था। वह रह-रह कर दोनों हाथों से अपनी छाती पीटता था और जोर-जोर से चिल्लाता था—हाय! हाय ज्ञानू !!

[हिन्दी कहानी। मासिक पत्रिका 'चांद' दिसम्बर, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई।]

हिंसा परमो धर्मः

दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए सबके नौकर होते हैं, जिन्हें कुछ अपना खास काम न होने पर भी सिर उठाने की फुरसत नहीं होती। जामिद इसी श्रेणी के मनुष्यों में था। बिलकुल बेफिक्र, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो ज़रा हँस कर बोला, उसका बेदाम का गुलाम हो गया। बे-काम का काम करने में उसे मजा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हाजिर है। कहिए, तो आधी रात को हकीम के घर चला जाय; किसी जड़ी-बूटी की तलाश में मंजिलों की खाक छान आये। मुमकिन न था कि किसी गरीब पर अत्याचार होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज न आता था। ऐसे सैकड़ों ही मौके उसके सामने आ चुके थे। कांस्टेबिल से आये दिन उसकी छेड़छाड़ होती ही रहती थी। इसलिए लोग उसे बौड़म समझते थे। और बात भी यही थी। जो आदमी किसी का बोझ भारी देखकर, उससे छीन कर, अपने सिर पर ले ले, किसी का छप्पर उठाने या आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा। सारांश यह कि उसकी जात से दूसरों को चाहे कितना ही फायदा पहुँचे, अपना कोई उपकार न होता था; यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मुहताज था। दीवाना तो वह था, और उसका गम दूसरे खाते थे।

2

आखिर जब लोगों ने बहुत धिक्कारा—क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो, तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हारा भी पूछनेवाला है ? अगर एक दिन बीमार पड़ जाओ; तो कोई चुल्लू भर पानी न दे; जब तक दूसरों की सेवा करते हो, लोग खैरात समझ कर खाने को दे देते हैं; जिस दिन आ पड़ेगी, कोई सीधे मुँह बात भी न करेगा; तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन-भाड़ा कुछ था ही नहीं। एक दिन उठा, और एक तरफ की राह ली। दो दिन के बाद एक शहर में पहुँचा। शहर बहुत बड़ा था। महल आसमान में बातें करने वाले। सड़कें चौड़ी और साफ। बाजार गुलजार, मसजिदों और मन्दिरों की संख्या अगर मकानों से अधिक न थी, तो कम भी नहीं। देहात में न तो कोई मसजिद थी, न कोई मंदिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ़ लेते थे। हिंदू एक वृक्ष के नीचे पानी चढ़ा दिया करते थे। नगर में धर्म का यह माहात्म्य देख कर जामिद को बड़ा कुतूहल और आनंद हुआ। उसकी दृष्टि में मजहब का जितना सम्मान था उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं। वह सोचने

लगा—ये लोग कितने ईमान के पक्के, कितने सत्यवादी हैं। इनमें कितनी दया, कितना विवेक, कितनी सहानुभूति होगी, तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जानेवाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और उसके सामने विनय से सिर झुकाता था। यहाँ के सभी प्राणी उसे देवता-तुल्य मालूम होते थे।

घूमते-घूमते साँझ हो गयी। वह थककर एक मंदिर के चबूतरे पर जा बैठा। मंदिर बहुत बड़ा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। जगमोहन पर संगमरमर के चौकें जड़े हुए थे; मगर आँगन में जगह-जगह गोबर और कूड़ा पड़ा था। जामिद को गंदगी से चिढ़ थी; देवालय की यह दशा देखकर उससे न रहा गया; इधर-उधर निगाह दौड़ायी कि कहीं झाड़ू मिल जाय, तो साफ कर दे, पर झाड़ू कहीं नजर न आयी। विवश हो कर उसने दामन से चबूतरे को साफ करना शुरू कर दिया।

जरा देर में भक्तों का जमाव होने लगा। उन्होंने जामिद को चबूतरा साफ़ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे—

'है तो मुसलमान !'

'मेहतर होगा।'

'नहीं, मेहतर अपने दामन से सफाई नहीं करता। कोई पागल मालूम होता है।'

'उधर का भेदिया न हो।'

'नहीं, चेहरे से बड़ा गरीब मालूम होता है।'

'हसन निजामी का कोई मुरीद होगा।'

'अजी गोबर के लालच से सफाई कर रहा है। कोई भठियारा होगा। (जामिद से) गोबर न ले जाना बे, समझा ? कहाँ रहता है ?'

'परदेशी मुसाफिर हूँ, साहब, मुझे गोबर ले कर क्या करना है ? ठाकुर जी का मंदिर देखा, तो आ कर बैठ गया। कूड़ा पड़ा हुआ था। मैंने सोचा—धर्मात्मा लोग आते होंगे, सफाई करने लगा।'

'तुम तो मुसलमान हो न ?'

'ठाकुर जी तो सबके ठाकुर जी हैं—क्या हिंदू, क्या मुसलमान !'

'तुम ठाकुर जी को मानते हो ?'

'ठाकुर जी को कौन न मानेगा, साहब ? जिसने पैदा किया, उसे न मानूँगा तो किसे मानूँगा ?'

भक्तों में यह सलाह होने लगी—

'देहाती है।'

'फाँस लेना चाहिए, जाने न पाये !'

3

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनों वक्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। दो-चार आदमी हरदम उसे घेरे रहते। जामिद को भजन खूब याद थे। गला भी अच्छा था। वह रोज मंदिर में जा कर कीर्तन करता। भक्ति के साथ स्वर-लालित्य भी हो, तो फिर क्या पूछना। लोगों पर उसके कीर्तन

का बड़ा असर पड़ता। कितने ही लोग संगीत के लोभ से ही मन्दिर में आने लगे। सब को विश्वास हो गया कि भगवान् ने यह शिकार चुन कर भेजा है।

एक दिन मंदिर में बहुत-से आदमी जमा हुए। आँगन में फर्श बिछाया गया। जामिद का सिर मुड़ा दिया गया। नये कपड़े पहनाये। हवन हुआ। जामिद के हाथों से मिठाई बाँटी गयी। वह अपने आश्रयदाताओं की उदारता और धर्मनिष्ठा का और भी कायल हो गया। ये लोग कितने सज्जन हैं, मुझ जैसे फटेहाल परदेशी की इतनी खातिर। इसी को सच्चा धर्म कहते हैं। जामिद को जीवन में कभी इतना सम्मान न मिला था। यहाँ वही सैलानी युवक जिसे लोग बौड़म कहते थे, भक्तों का सिरमौर बना हुआ था। सैकड़ों ही आदमी केवल उसके दर्शनों को आते थे। उसकी प्रकांड विद्वत्ता की कितनी ही कथाएँ प्रचलित हो गयीं। पत्रों में यह समाचार निकला कि एक बड़े आलिम मौलवी साहब की शुद्धि हुई है। सीधा-सादा जामिद इस सम्मान का रहस्य कुछ न समझता था। ऐसे धर्मपरायण सहृदय प्राणियों के लिए वह क्या कुछ न करता ? वह नित्य पूजा करता, भजन गाता था। उसके लिए यह कोई नयी बात न थी। अपने गाँव में भी वह बराबर सत्यनारायण की कथा में बैठा करता था। भजन-कीर्तन किया करता था। अंतर यही था कि देहात में उसकी कदर न थी। यहाँ सब उसके भक्त थे।

एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ रहा था; तो क्या देखता है कि सामने सड़क पर एक बलिष्ट युवक, माथे पर तिलक लगाये; जनेऊ पहने, एक बूढ़े दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बुड्ढा रोता है, गिड़गिड़ाता है और पैरों पड़-पड़ के कहता है कि महाराज, मेरा कसूर माफ करो; किन्तु तिलकधारी युवक को उस पर जरा भी दया नहीं आती। जामिद का रक्त खौल उठा। ऐसे दृश्य देख कर वह शांत न बैठ सकता था। तुरत कूद कर बाहर निकला, और युवक के सामने आ कर बोला—बुड्ढे को क्यों मारते हो, भाई ? तुम्हें इस पर जरा भी दया नहीं आती ?

युवक—मैं मारते-मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

जामिद—आखिर इसने क्या कुसूर किया है ? कुछ मालूम भी तो हो।

युवक—इसकी मुर्गी हमारे घर में घुस गयी थी, और सारा घर गंदा कर आयी।

जामिद—तो क्या इसने मुर्गी को सिखा दिया था कि तुम्हारा घर गंदा कर आये ?

बुड्ढा—खुदावंद, मैं तो उसे बराबर खाँचे में ढाँके रहता हूँ। आज गफलत हो गयी। कहता हूँ, महाराज, कुसूर माफ करो; मगर नहीं मानते।

हुजूर, मारते-मारते अधमरा कर दिया।

युवक—अभी नहीं मारा है, अब मारूँगा—खोद कर गाड़ दूँगा।

जामिद—खोद कर गाड़ दोगे भाई साहब तो तुम भी यों न खड़े रहोगे। समझ गये ? अगर फिर हाथ उठाया, तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताकत का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चाँटा लगाया; पर चाँटा पड़ने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड़ ली। दोनों में मल्ल-युद्ध होने लगा। जामिद करारा जवान था। युवक को पटकनी दी, तो चारों खाने चित्त गिर गया। उसका गिरना था कि भक्तों का समुदाय, जो अब तक मंदिर में बैठा तमाशा देख रहा था, लपक पड़ा और जामिद पर चारों तरफ से चोटें पड़ने लगीं। जामिद की समझ में न आता था कि लोग मुझे

क्यों मार रहे हैं। कोई कुछ नहीं पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नहीं कहता। बस, जो आता है, मुझी पर हाथ साफ करता है। आखिर वह बेदम हो कर गिर पड़ा। तब लोगों में बातें होने लगीं।

'दगा दे गया !'

'धत् तेरी जात की ! कभी म्लेच्छों से भलाई की आशा न रखनी चाहिए ! कौआ कौओं ही के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। इसे कोई पूछता न था, मंदिर में झाड़ू लगा रहा था। देह पर कपड़े का तार भी न था, हमने इसका सम्मान किया, पशु से आदमी बना दिया, फिर भी अपना न हुआ !

'इनके धर्म का तो मूल ही यही है !'

जामिद रात भर सड़क के किनारे पड़ा दर्द से कराहता रहा, उसे मार खाने का दुःख न था। ऐसी यातनाएँ वह कितनी बार भोग चुका था। उसे दुःख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगों ने क्यों एक दिन मेरा इतना सम्मान किया, और क्यों आज अकारण ही मेरी इतनी दुर्गति की ? इनकी वह सज्जनता आज कहाँ गयी? मैं तो वही हूँ। मैंने कोई कसूर भी नहीं किया। मैंने तो वही किया, जो ऐसी दशा में सभी को करना चाहिए। फिर इन लोगों ने मुझ पर क्यों इतना अत्याचार किया ? देवता क्यों राक्षस बन गये ?

वह रात भर इसी उलझन में पड़ा रहा। प्रातःकाल उठ कर एक तरफ की राह ली।

जामिद अभी थोड़ी ही दूर गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते ही वह बोला—कसम खुदा की, तुमने कल मेरी जान बचा दी। सुना, जालिमों ने तुम्हें बुरी तरह पीटा। मैं तो मौका पाते ही निकल भागा। अब तक कहाँ थे। यहाँ लोग रात ही से तुमसे मिलने के लिए बेकरार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही से तुम्हारी तलाश में निकले थे, मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड़ गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक्त था, जहाँ सब लोग मस्जिद में थे; अगर जरा भी खबर हो जाती, तो एक हजार लठैत पहुँच जाते। तब आटे-दाल का भाव मालूम होता। कसम खुदा की, आज से मैंने तीन कोड़ी मुर्गियाँ पाली हैं ! देखूँ, पंडित जी महाराज अब क्या करते हैं। कसम खुदा की, काजी साहब ने कहा है, अगर वह लौंडा जरा भी आँखें दिखाये, तो तुम आ कर मुझसे कहना। या तो बच्चा घर छोड़ कर भागेंगे, या हड्डी-पसली तोड़ कर रख दी जायगी।

जामिद को लिये वह बुड्ढा काजी जोरावरहुसैन के दरवाजे पर पहुँचा। काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौड़ कर गले लगा लिया और बोले—वल्लाह ! तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिये ! क्यों न हो, मोमिन का खून है ! काफिरों की हकीकत क्या ? सुना सब के सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे, मगर तुमने उनके सारे मनसूबे पलट दिये। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों की जरूरत है। तुम-जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सब्र नहीं किया। शादी हो जाने देते, तब मजा आता। एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। वल्लाह ! तुमने उजलत कर दी।

दिन भर भक्तों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नजर देखने का सबको शौक था। सभी उसकी हिम्मत, जोर और मजहबी जोश की प्रशंसा करते थे।

4

पहर रात बीत चुकी थी। मुसाफिरों की आमदरफ्त कम हो चली थी। जामिद ने काजी साहब से धर्म-ग्रंथ पढ़ना शुरू किया था। उन्होंने उसके लिए अपने बगल का कमरा खाली कर दिया था। वह काजी साहब से सबक ले कर आया, और सोने जा रहा था कि सहसा उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनायी दी। काजी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा, कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया तो देखा,—एक स्त्री ताँगे से उतर कर बरामदे में खड़ी है, और ताँगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

महिला ने मकान को इधर-उधर देख कर कहा—नहीं जी, मुझे अच्छी तरह खयाल है; यह उनका मकान नहीं है। शायद तुम भूल गये हो।

ताँगेवाला—हुजूर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब ने मकान तबदील कर दिया है। ऊपर चलिए।

स्त्री ने कुछ झिझकते हुए कहा—बुलाते क्यों नहीं ? आवाज दो !

ताँगेवाला—ओ साहब, आवाज क्या दूँ, जब जानता हूँ कि साहब का मकान यही है, तो नाहक चिल्लाने से क्या फायदा ? बेचारे आराम कर रहे होंगे। आराम में खलल पड़ेगा! आप निसाखातिर रहिए, चलिए ऊपर चलिए।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे ताँगेवाला असबाब लिये हुए चला। जामिद गुम-सुम नीचे खड़ा रहा। यह रहस्य उसकी समझ में न आया।

ताँगेवाले की आवाज सुनते ही काजी साहब छत पर निकल आये, और एक औरत को आते देख कमरे की खिड़कियाँ चारों तरफ से बंद करके खूँटी पर लटकती तलवार उतार ली, और दरवाजे पर आ कर खड़े हो गये।

औरत ने जीना तय करके ज्योंही छत पर पैर रखा कि काजी साहब को देख कर झिझकी। वह तुरंत पीछे की तरफ मुड़ना चाहती थी कि काजी साहब ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया और अपने कमरे में घसीट लाये। इसी बीच में जामिद और ताँगेवाला, ये दोनों भी ऊपर आ गये थे। जामिद यह दृश्य देख कर विस्मित हो गया था। यह रहस्य और भी रहस्यमय हो गया था। यह विद्या का सागर, यह न्याय का भंडार, यह नीति, धर्म और दर्शन का आगार इस समय एक अपरिचित महिला के ऊपर यह घोर अत्याचार कर रहा है। ताँगेवाले के साथ यह भी काजी साहब के कमरे में चला गया। काजी साहब तो स्त्री के दोनों हाथ पकड़े हुए थे। ताँगेवाले ने दरवाजा बंद कर दिया।

महिला ने ताँगेवाले की ओर खून भरी आँखों से देख कर कहा—तू मुझे यहाँ क्यों लाया ?

काजी साहब ने तलवार चमका कर कहा—पहले आराम से बैठ जाओ, सब कुछ मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो मुझे कोई मौलवी मालूम होते हो ? क्या तुम्हें खुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू-बेटियों को जबरदस्ती घर में बंद करके उनकी आबरू बिगाड़ो?

काजी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफिरों को जिस तरह मुमकिन हो, इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आयें, तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू-बेटी पकड़ कर बे-आबरू करे, तो ?

काजी—हो रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे वैसा ही हम तुम्हारे साथ करेंगे।

फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते, सिर्फ अपने मजहब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू बढ़ती है, घटती नहीं। हिंदू कौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठाया है। वह इस मुल्क से हमारा निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसलमानों को बे-दीन बनाया जा रहा है, तो मुसलमान बैठे मुँह ताकेंगे ?

औरत—हिंदू कभी ऐसा अत्याचार नहीं कर सकता। सम्भव है, तुम लोगों की शरारतों से तंग आ कर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों; मगर अब भी कोई सच्चा हिंदू इसे पसंद नहीं करता।

काजी साहब ने कुछ सोच कर कहा—बेशक, पहले इस तरह की शरारत मुसलमान शोहदे किया करते थे। मगर शरीफ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे, और अपने इमकान भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और तहजीब की तरक्की के साथ कुछ दिनों यह गुंडापन जरूर गायब हो जाता; मगर अब तो सारी हिन्दू कौम हमें निगलने के लिए तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन-सा है। हम कमजोर हैं, इसलिए हमें मजबूर हो कर अपने को कायम रखने के लिए दगा से काम लेना पड़ता है; मगर तुम इतना घबराती क्यों हो ? तुम्हें यहाँ किसी बात की तकलीफ न होगी। इस्लाम औरतों के हक का जितना लिहाज करता है, उतना और कोई मजहब नहीं करता। और मुसलमान मर्द तो अपनी औरतों पर जान देता है। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद) तुम्हारे सामने खड़े हैं, इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस, आराम से जिन्दगी के दिन बसर करना।

औरत—मैं तुम्हें और तुम्हारे धर्म को घृणित समझती हूँ। तुम कुत्ते हो। इसके सिवा तुम्हारे लिए कोई दूसरा काम नहीं। खैरियत इसी में है कि मुझे जाने दो; नहीं तो मैं अभी शोर मचा दूँगी, और तुम्हारा सारा मौलवीपन निकल जायगा।

काजी—अगर तुमने जबान खोली, तो तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। बस, इतना समझ लो।

औरत—आबरू के सामने जान की कोई हकीकत नहीं। तुम मेरी जान ले सकते हो; मगर आबरू नहीं ले सकते।

काजी—क्यों नाहक जिद करती हो ?

औरत ने दरवाजे के पास जा कर कहा—मैं कहती हूँ, दरवाजा खोल दो।

जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्यों ही स्त्री दरवाजे की तरफ चली, और काजी साहब ने उसका हाथ पकड़ कर खींचा, जामिद ने तुरन्त दरवाजा खोल दिया और काजी साहब से बोला—इन्हें छोड़ दीजिए।

काजी—क्या बकता है ?

जामिद—कुछ नहीं। खैरियत इसी में है कि इन्हें छोड़ दीजिए।

लेकिन जब काजी साहब ने उस महिला का हाथ न छोड़ा, और ताँगेवाला भी उसे पकड़ने के लिए बढ़ा, तो जामिद ने एक धक्का दे कर काजी साहब को धकेल दिया, और उस स्त्री का हाथ पकड़े हुए कमरे से बाहर निकल गया। ताँगेवाला पीछे लपका, मगर जामिद ने उसे इतने जोर से धक्का दिया कि वह औंधे मुँह जा गिरा। एक क्षण में जामिद और स्त्री, दोनों सड़क पर थे।

जामिद—आपका घर किस मुहल्ले में है ?

औरत—अहियागंज में।

जामिद—चलिए, मैं आपको पहुँचा आऊँ।

औरत—इससे बड़ी और क्या मेहरबानी होगी। मैं आपकी इस नेकी को कभी न भूलूँगी। आपने आज मेरी आबरू बचा ली, नहीं तो मैं कहीं की न रहती। मुझे अब मालूम हुआ कि अच्छे और बुरे सब जगह होते हैं। मेरे शौहर का नाम पंडित राजकुमार है।

उसी वक्त एक ताँगा सड़क पर आता दिखायी दिया। जामिद ने स्त्री को उस पर बिठा दिया, और खुद बैठना ही चाहता था कि ऊपर से काजी साहब ने जामिद पर लट्ठ चलाया और डंडा ताँगे से टकराया। जामिद ताँगे में आ बैठा और ताँगा चल दिया।

अहियागंज में पंडित राजकुमार का पता लगाने में कठिनाई न पड़ी। जामिद ने ज्यों ही आवाज दी, वह घबराये हुए बाहर निकल आये और स्त्री को देख कर बोले--तुम कहाँ रह गयी थीं, इंदिरा ? मैंने तो तुम्हें स्टेशन पर कहीं न देखा। मुझे पहुँचने में जरा देर हो गयी थी। तुम्हें इतनी देर कहाँ लगी ?

इंदिरा ने घर के अंदर कदम रखते ही कहा—बड़ी लम्बी कथा है; जरा दम लेने दो, तो बता दूँगी। बस, इतना ही समझ लो कि आज अगर इस मुसलमान ने मेरी मदद न की होती तो आबरू चली गयी थी।

पंडित जी पूरी कथा सुनने के लिए और भी व्याकुल हो उठे। इंदिरा के साथ वह भी घर में चले गये; पर एक ही मिनट के बाद बाहर आ कर जामिद से बोले—भाई साहब, शायद आप बनावट समझें; पर मुझे आपके रूप में इस समय अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी जबान में इतनी ताकत नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूँ। आइए, बैठ जाइए।

जामिद--जी नहीं, अब मुझे इजाजत दीजिए।

पंडित—मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ ?

जामिद—इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा, मेरी आप से यही दरख्वास्त है।

यह कह कर जामिद चल खड़ा हुआ, और उस अंधेरी रात के सन्नाटे में शहर के बाहर निकल गया। उस शहर की विषाक्त वायु में साँस लेते हुए उसका दम घुटता था ! वह जल्द से जल्द शहर से भाग कर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ मजहब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गयी थी।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', दिसम्बर, 1926 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप 'दीनदारी' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

आधार

सारे गाँव में मथुरा का-सा गठीला जवान न था। कोई बीस बरस की उमर थी। मसें भीग रही थीं। गउएँ चराता, दूध पीता, कसरत करता, कुश्ती लड़ता था और सारे दिन बाँसुरी

बजाता हाट में विचरता था। ब्याह हो गया था, पर अभी कोई बाल-बच्चा न था। घर में कई हल की खेती थी, कई छोटे-बड़े भाई थे। वे सब मिल-जुल कर खेती-बारी करते थे। मथुरा पर सारे घर को गर्व था, उसे सबसे अच्छा भोजन मिलता और सबसे कम काम करना पड़ता। जब उसे जाँघिये-लँगोटे, नाल या मुग्दर के लिए रुपये-पैसे की जरूरत पड़ती तो तुरत दे दिये जाते थे। सारे घर की यही अभिलाषा थी कि मथुरा पहलवान हो जाय और अखाड़े में अपने सवाये को पछाड़े। इस लाड़-प्यार से मथुरा जरा टर्रा हो गया था। गायें किसी के खेत में पड़ी हैं और आप अखाड़े में दंड लगा रहा है। कोई उलाहना देता तो उसकी त्योरियाँ बदल जातीं। गरज कर कहता, जो मन में आये कर लो, मथुरा तो अखाड़ा छोड़ कर हाँकने न जायेंगे; पर उसका डील-डौल देख कर किसी को उससे उलझने की हिम्मत न पड़ती थी। लोग गम खा जाते थे।

गर्मियां के दिन थे, ताल-तलैया सूखी पड़ी थीं। जोरों की लू चलने लगी थी। गाँव में कहीं से एक साँड़ आ निकला और गउओं के साथ हो लिया। सारे दिन तो गउओं के साथ रहता, रात को बस्ती में घुस आता और खूँटों से बँधे बैलों को सींगों से मारता। कभी किसी की गीली दीवार को सींगों से खोद डालता, कभी घर का कूड़ा सींगों से उड़ाता। कई किसानों ने साग-भाजी लगा रखी थीं, सारे दिन सींचते-सींचते मरते थे। यह साँड रात को उन हरे-भरे खेतों में पहुँच जाता और खेत का खेत तबाह कर देता। लोग उसे डंडों से मारते, गाँव के बाहर भगा आते, लेकिन जरा देर में फिर गायों में पहुँच जाता। किसी की अक्ल काम न करती थी कि इस संकट को कैसे टाला जाय। मथुरा का घर गाँव के बीच में था, इसलिए उसके बैलों को साँड़ से कोई हानि न पहुँचती थी। गाँव में उपद्रव मचा हुआ था और मथुरा को जरा भी चिंता न थी।

आखिर जब धैर्य का अंतिम बंधन टूट गया तो एक दिन लोगों ने जा कर मथुरा को घेरा और बोले—भाई, कहो तो गाँव में रहें, कहो तो निकल जायं। जब खेती ही न बचेगी तो रह कर क्या करेंगे ? तुम्हारी गायों के पीछे हमारा सत्यानाश हुआ जाता है, और तुम अपने रंग में मस्त हो। अगर भगवान ने तुम्हें बल दिया है तो इससे दूसरे की रक्षा करनी चाहिए, यह नहीं कि सबको पीस कर पी जाओ। साँड़ तुम्हारी गायों के कारण आता है और उसे भगाना तुम्हारा काम है; लेकिन तुम कानों में तेल डाले बैठे हो, मानों तुमसे कुछ मतलब ही नहीं।

मथुरा को उनकी दशा पर दया आयी। बलवान मनुष्य प्रायः दयालु होता है। बोला—अच्छा जाओ, हम आज साँड़ को भगा देंगे।

एक आदमी ने कहा—दूर तक भगाना, नहीं तो फिर लौट आयेगा।

मथुरा ने लाठी कंधे पर रखते हुए उत्तर दिया—अब लौट कर न आयेगा।

2

चिलचिलाती दोपहरी थी और मथुरा साँड़ को भगाये लिए जाता था। दोनों पसीने में तर थे। साँड़ बार-बार गाँव की ओर घूमने की चेष्टा करता, लेकिन मथुरा उसका इरादा ताड़ कर दूर ही से उसकी राह छेंक लेता। साँड़ क्रोध से उन्मुक्त हो कर कभी-कभी पीछे मुड़ कर मथुरा पर तोड़ करना चाहता लेकिन उस समय मथुरा सामना बचा कर बगल से तावड़-तोड़

इतनी लाठियाँ जमाता कि साँड़ को फिर भागना पड़ता। कभी दोनों अरहर के खेतों में दौड़ते, कभी झाड़ियों में। अरहर की खूँटियों से मथुरा के पाँव लहू-लुहान हो रहे थे, झाड़ियों में धोती फट गयी थी; पर उसे इस समय साँड़ का पीछा करने के सिवा और कोई सुध न थी। गाँव पर गाँव आते थे और निकल जाते थे। मथुरा ने निश्चय कर लिया कि इसे नदी-पार भगाये बिना दम न लूँगा। उसका कंठ सूख गया था और आँखें लाल हो गयी थीं, रोम-रोम से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं, दम उखड़ गया था; लेकिन वह एक क्षण के लिए भी दम न लेता था। दो-ढाई घंटों की दौड़ के बाद जा कर नदी नजर आयी। यहीं हार-जीत का फैसला होने वाला था, यहीं, दोनों खिलाड़ियों को अपने दाँव-पेंच के जौहर दिखाने थे। साँड़ सोचता था, अगर नदी में उतरा तो यह मार ही डालेगा, एक बार जान लड़ा कर लौटने की कोशिश करनी चाहिए। मथुरा सोचता था, अगर यह लौट पड़ा तो इतनी मेहनत व्यर्थ हो जायगी और गाँव के लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे। दोनों अपने-अपने घात में थे। साँड़ ने बहुत चाहा कि तेज दौड़ कर आगे निकल जाऊँ और वहाँ से पीछे को फिरूँ, पर मथुरा ने उसे मुड़ने का मौका न दिया। उसकी जान इस वक्त सुई की नोक पर थी, एक हाथ भी चूका और प्राण गये, जरा पैर फिसला और फिर उठना नसीब न होगा। आखिर मनुष्य ने पशु पर विजय पायी और साँड को नदी में घुसने के सिवा और कोई उपाय न सूझा। मथुरा भी उसके पीछे नदी में पैठ गया और इतने डंडे लगाये कि उसकी लाठी टूट गयी।

3

अब मथुरा को जोरों की प्यास लगी। उसने नदी में मुँह लगा दिया और इस तरह हाँक-हाँक कर पीने लगा मानो सारी नदी पी जायगा। उसे अपने जीवन में कभी पानी इतना अच्छा न लगा था और न कभी उसने इतना पानी पिया था। मालूम नहीं, पाँच सेर पी गया था या दस सेर, लेकिन पानी गरम था, प्यास न बुझी; जरा देर में फिर नदी में मुँह लगा दिया और इतना पानी पिया कि पेट में साँस लेने की जगह भी न रही। तब गीली धोती कंधे पर डालकर घर की ओर चला।

लेकिन दस ही पाँच पग चला होगा कि पेट में मीठा-मीठा दर्द होने लगा। उसने सोचा, दौड़ कर पानी पीने से ऐसा दर्द अकसर हो जाता है, जरा देर में दूर हो जायगा। लेकिन दर्द बढ़ने लगा और मथुरा का आगे जाना कठिन हो गया। वह एक पेड़ के नीचे बैठ गया और दर्द से बेचैन हो कर जमीन पर लोटने लगा। कभी पेट को दबाता, कभी खड़ा हो जाता, कभी बैठ जाता, पर दर्द बढ़ता ही जाता था। अंत में उसने जोर-जोर से कराहना और रोना शुरू किया; पर वहाँ कौन बैठा था जो उसकी खबर लेता। दूर तक कोई गाँव नहीं, न आदमी न आदमजात, बेचारा दोपहरी के सन्नाटे में तड़प-तड़प कर मर गया। हम कड़े-से-कड़ा घाव सह सकते हैं, लेकिन जरा-सा भी व्यतिक्रम नहीं सह सकते। वही देव का-सा जवान जो कोसों तक साँड़ को भगाता चला आया था, तत्त्वों के विरोध का एक बार भी न सह सका। कौन जानता था कि यह दौड़ उसके लिए मौत की दौड़ होगी ! कौन जानता था कि मौत ही साँड़ का रूप धर कर उसे यों नचा रही है। कौन जानता था कि जल जिसके बिना उसके प्राण ओठों पर आ रहे थे, उसके लिए विष का काम करेगा।

संध्या समय उसके घरवाले उसे ढूँढते हुए आये। देखा तो वह अनंत विश्राम में मग्न था।

4

एक महीना गुजर गया। गाँववाले अपने काम-धंधे में लगे। घरवालों ने रो-धो कर सब्र किया; पर अभागिनी विधवा के आँसू कैसे पुँछते। वह हरदम रोती रहती। आँखें चाहे बंद भी हो जातीं, पर हृदय नित्य रोता रहता था। इस घर में अब कैसे निर्वाह होगा? किस आधार पर जिऊँगी ? अपने लिए जीना या तो महात्माओं को आता है या लम्पटों ही को। अनूपा को यह कला क्या मालूम ? उसके लिए तो जीवन का एक आधार चाहिए था, जिसे वह अपना सर्वस्व समझे, जिसके लिए वह जिये, जिस पर वह घमंड करे। घरवालों को यह गवारा न था कि वह कोई दूसरा घर करे। इसमें बदनामी थी। इसके सिवा ऐसी सुशील, घर के कामों में ऐसी कुशल, लेन-देन के मामले में इतनी चतुर और रंगरूप की ऐसी सराहनीय स्त्री का किसी दूसरे के घर पड़ जाना ही उन्हें असह्य था। उधर अनूपा के मैकेवाले एक जगह बातचीत पक्की कर रहे थे। जब सब बातें तय हो गयीं, तो एक दिन अनूपा का भाई उसे विदा कराने आ पहुँचा।

अब तो घर में खलबली मची। इधर कहा गया, हम विदा न करेंगे। भाई ने कहा, हम बिना विदा कराये मानेंगे नहीं। गाँव के आदमी जमा हो गये, पंचायत होने लगी। यह निश्चय हुआ कि अनूपा पर छोड़ दिया जाय। उसका जी चाहे चली जाय, जी चाहे रहे। यहाँ वालों को विश्वास था कि अनूपा इतनी जल्द दूसरा घर करने पर राजी न होगी, दो-चार बार वह ऐसा कह भी चुकी थी। लेकिन इस वक्त जो पूछा गया तो वह जाने को तैयार थी। आखिर उसकी विदाई का सामान होने लगा। डोली आ गयी। गाँव-भर की स्त्रियाँ उसे देखने आयीं। अनूपा उठ कर अपनी सास के पैरों पर गिर पड़ी और हाथ जोड़ कर बोली—अम्मा, कहा-सुना माफ करना। जी में तो था कि इसी घर में पड़ी रहूँ, पर भगवान् को मंजूर नहीं है।

यह कहते-कहते उसकी जबान बंद हो गयी।

सास करुणा से विह्वल हो उठी। बोली—बेटी, जहाँ जाओ वहाँ सुखी रहो। हमारे भाग्य ही फूट गये नहीं तो क्यों तुम्हें इस घर से जाना पड़ता। भगवान् का दिया और सब-कुछ है, पर उन्होंने जो नहीं दिया उसमें अपना क्या बस ! आज तुम्हारा देवर सयाना होता तो बिगड़ी बात बन जाती। तुम्हारे मन में बैठे तो इसी को अपना समझो; पालो-पोसो, बड़ा हो जायगा तो सगाई कर दूँगी।

यह कह कर उसने अपने सबसे छोटे लड़के वासुदेव से पूछा—क्यों रे ! भौजाई से सगाई करेगा ?

वासुदेव की उम्र पाँच साल से अधिक न थी। अबकी उसका ब्याह होनेवाला था। बातचीत हो चुकी थी। बोला—तब तो दूसरे के घर न जायगी न ?

माँ—नहीं, जब तेरे साथ ब्याह हो जायगा तो क्यों जायगी ?

वासुदेव—तब मैं करूँगा।

माँ—अच्छा, उससे पूछ, तुझसे ब्याह करेगी ?

वासुदेव—अनूपा की गोद में जा बैठा और शरमाता हुआ बोला—हमसे ब्याह करेगी ?

यह कह कर वह हँसने लगा; लेकिन अनूपा की आँखें डबडबा गयीं, वासुदेव को छाती से लगाती हुई बोली—अम्माँ, दिल से कहती हो ?

सास—भगवान् जानते हैं !

अनूपा—आज से यह मेरे हो गये ?

सास—हाँ, सारा गाँव देख रहा है।

अनूपा—तो भैया से कहला भेजो, घर जायें, मैं उनके साथ न जाऊँगी।

अनूपा को जीवन के लिए किसी आधार की जरूरत थी। वह आधार मिल गया। सेवा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। सेवा ही उसके जीवन का आधार है।

अनूपा ने वासुदेव को पालना-पोसना शुरू किया। उबटन और तेल लगाती, दूध-रोटी मल-मल कर खिलाती। आप तालाब नहाने जाती तो उसे भी नहलाती। खेत में जाती तो उसे भी साथ ले जाती। थोड़े ही दिनों में वह उससे इतना हिल-मिल गया कि एक क्षण के लिए भी उसे न छोड़ता। माँ को भूल गया। कुछ खाने को जी चाहता तो अनूपा से माँगता, खेल में मार खाता तो रोता हुआ अनूपा के पास आता। अनूपा ही उसे सुलाती, अनूपा ही जगाती, बीमार हो तो अनूपा ही गोद में लेकर बदलू वैद्य के घर जाती, वही दवायें पिलाती।

गाँव के स्त्री-पुरुष उसकी यह प्रेम-तपस्या देखते और दाँतों उँगली दबाते। पहले बिरले ही किसी को उस पर विश्वास था। लोग समझते थे, साल-दो-साल में इसका जी ऊब जायगा और किसी तरफ का रास्ता लेगी; इस दुधमुँहे बालक के नाम पर कब तक बैठी रहेगी; लेकिन यह सारी आशंकाएँ निर्मूल निकलीं। अनूपा को किसी ने अपने व्रत से विचलित होते न देखा। जिस हृदय में सेवा का स्रोत बह रहा हो—स्वाधीन सेवा का—उसमें वासनाओं के लिए कहाँ स्थान ? वासना का वार निर्मम, आशाहीन, आधारहीन प्राणियों पर ही होता है। चोर की अँधेरे ही में चलती है, उजाले में नहीं।

वासुदेव को भी कसरत का शौक था। उसकी शक्ल-सूरत मथुरा से मिलती-जुलती थी, डील-डौल भी वैसा ही था। उसने फिर अखाड़ा जगाया और उसकी बाँसुरी की तानें फिर खेतों में गूँजने लगीं।

इस भांति तेरह बरस गुजर गये। वासुदेव और अनूपा में सगाई की तैयारी होने लगी।

5

लेकिन अब अनूपा वह अनूपा न थी, जिसने चौदह वर्ष पहले वासुदेव को पतिभाव से देखा था, अब उस भाव का स्थान मातृभाव ने ले लिया था। इधर कुछ दिनों से वह एक गहरे सोच में डूबी हुई रहती थी। सगाई के दिन ज्यों-ज्यों निकट आते थे, उसका दिल बैठा जाता था। अपने जीवन में इतने बड़े परिवर्तन की कल्पना ही से उसका कलेजा दहल उठता था। जिसे बालक की भाँति पाला-पोसा, उसे पति बनाते हुए लज्जा से उसका मुख लाल हो जाता था।

द्वार पर नगाड़ा बज रहा था। बिरादरी के लोग जमा थे। घर में गाना हो रहा था। आज सगाई की तिथि थी।

सहसा अनूपा ने जा कर सास से कहा—अम्माँ, मैं तो लाज के मारे मरी जाती हूँ।

सास ने भौंचक्की हो कर पूछा—क्यों बेटी, क्या है ?

अनूपा—मैं सगाई न करूँगी।

सास—कैसी बात करती है बेटी ? सारी तैयारी हो गयी। लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ?

अनूपा—जो चाहे कहें, जिनके नाम पर चौदह बरस बैठी रही उसी के नाम पर अब भी बैठी रहूँगी। मैंने समझा था मरद के बिना औरत से रहा न जाता होगा। मेरी तो भगवान् ने इज्जत आबरू से निबाह दी। जब नयी उमर के दिन कट गये तो अब कौन चिन्ता है! वासुदेव की सगाई कोई लड़की खोजकर कर दो। जैसे अब तक उसे पाला, उसी तरह अब उसके बाल-बच्चों को पालूँगी।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन अज्ञात। हिन्दी कहानी संग्रह 'प्रेम-प्रमोद' (प्रथम संस्करण : 1926) में प्रथम बार प्रकाशित-संकलित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित की गई है। केवल हिन्दी में छपी।]

गुरु-मंत्र

घर के कलह और निमंत्रणों के अभाव से पंडित चिंतामणि जी के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने संन्यास ले लिया तो उनके परम मित्र पंडित मोटेराम शास्त्रीजी ने उपदेश दिया—मित्र हमारा अच्छे-अच्छे साधु-महात्माओं से सत्संग रहा है। यह जब किसी भलेमानस के द्वार पर जाते हैं, तो गिड़-गिड़ा कर हाथ नहीं फैलाते और झूठ-मूठ आशीर्वाद नहीं देने लगते कि 'नारायण तुम्हारा चोला मस्त रखे, तुम सदा सुखी रहो।' यह तो भिखारियों का दस्तूर है। सन्त लोग द्वार पर जाते ही कड़क कर हाँक लगाते हैं, जिससे घर के लोग चौंक पड़ें और उत्सुक हो कर द्वार की ओर दौड़ें। मुझे दो-चार वाणियाँ मालूम हैं, जो चाहे ग्रहण कर लो। गुदड़ी बाबा कहा करते थे—'मरें तो पाँचों मरें।' यह ललकार सुनते ही लोग उनके पैरों पर गिर पड़ते थे। सिद्ध बाबा की हाँक बहुत उत्तम थी—'खाओ, पीओ, चैन करो, पहनो गहना, पर बाबा जी के सोटे से डरते रहना।' नंगा बाबा कहा करते थे—'दे तो दे, नहीं दिला दे, खिला दे, पिला दे, सुला दे।' यह समझ लो कि तुम्हारा आदर-सत्कार बहुत कुछ तुम्हारी हाँक के ऊपर है। और क्या कहूँ। भूलना मत। हम और तुम बहुत दिनों साथ रहे, सैकड़ों भोज साथ खाये। जिस नेवते में हम और तुम दोनों पहुँचते थे, तो लाग-डाँट से एक-दो पत्तल और उड़ा ले जाते थे। तुम्हारे बिना अब मेरा रंग न जमेगा, ईश्वर तुम्हें सदा सुगंधित वस्तु दिखाये।

चिंतामणि को इन वाणियों में एक भी पसंद न आयी। बोले—मेरे लिए कोई वाणी सोचो।

मोटेराम–अच्छा यह वाणी कैसी है कि, 'न दोगे तो हम चढ़ बैठेंगे।'

चिंतामणि–हाँ, यह मुझे पंसद है। तुम्हारी आज्ञा हो तो इसमें काट-छाँट करूँ।

मोटेराम–हाँ, हाँ, करो।

चिंता.–अच्छा, तो इसे इस भाँति रखो–न देगा तो हम चढ़ बैठेंगे।

मोटेराम–(उछलकर) नारायण जानता है, यह वाणी अपने रंग में निराली है। भक्ति ने तुम्हारी बुद्धि को चमका दिया है। भला एक बार ललकार कर कहो तो देखें कैसे कहते हो।

चिंतामणि ने दोनों कान उँगलियों से बन्द कर लिये और अपनी पूरी शक्ति से चिल्ला कर बोले–न देगा तो चढ़ बैठूँगा। यह नाद ऐसा आकाशभेदी था कि मोटेराम भी सहसा चौंक पड़े। चमगादड़ घबरा कर वृक्षों से उड़ गये, कुत्ते भूँकने लगे।

मोटेराम–मित्र, तुम्हारी वाणी सुन कर मेरा तो कलेजा काँप उठा। ऐसी ललकार कहीं सुनने में न आयी, तुम सिंह की भाँति गरजते हो। वाणी तो निश्चित हो गयी, अब कुछ दूसरी बातें बताता हूँ, कान दे कर सुनो। साधुओं की भाषा हमारी बोलचाल से अलग होती है। हम किसी को आप कहते हैं, किसी को तुम। साधु लोग छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, बूढ़े-जवान, सबको तू कह कर पुकारते हैं। माई और बाबा का सदैव उचित व्यवहार करते रहना। यह भी याद रखो कि सादी हिंदी कभी मत बोलना; नहीं तो मरम खुल जायगा। टेढ़ी हिंदी बोलना; यह कहना कि, 'माई मुझको कुछ खिला दे' साधुजनों की भाषा में ठीक नहीं है। पक्का साधु इसी बात को यों कहेगा–माई मेरे को भोजन करा दे, तेरे को बड़ा धर्म होगा।

चिन्ता.–मित्र, हम तेरे को कहाँ तक जस गावें। तेरे ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।

यों उपदेश दे कर मोटेराम विदा हुए। चिन्तामणि जी आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक गाँजे-भाँग की दुकान के सामने कई जटाधारी महात्मा बैठे हुए गाँजे के दम लगा रहे हैं। चिन्तामणि को देख कर एक महात्मा ने अपनी जयकार सुनायी–चल-चल, जल्दी लेके चल, नहीं तो अभी करता हूँ बेकल।

एक दूसरे साधु ने कड़क कर कहा–अ-रा-रा-रा-धम, आय पहुँचे हम, अब क्या है गम।

अभी यह कड़ाका आकाश में गूँज ही रहा था कि तीसरे महात्मा ने गरज कर अपनी वाणी सुनायी–देस बंगाला, जिसको देखा न भाला, चटपट भर दे प्याला।

चिन्तामणि से अब न रहा गया। उन्होंने भी कड़क कर कहा–न देगा तो चढ़ बैठूँगा।

यह सुनते ही साधुजन ने चिंतामणि का सादर अभिवादन किया। तत्क्षण गाँजे की चिलम भरी गयी और उसे सुलगाने का भार पंडित जी पर पड़ा। बेचारे बड़े असमंजस में पड़े। सोचा, अगर चिलम नहीं लेता तो अभी सारी कलई खुल जायगी। विवश हो कर चिलम ले ली; किन्तु जिसने कभी गाँजा न पिया हो, वह बहुत चेष्टा करने पर भी दम नहीं लगा सकता। उन्होंने आँखें बन्द करके अपनी समझ में तो बड़े जोरों से दम लगाया। चिलम हाथ से छूट कर गिर पड़ी, आँखें निकल आयीं, मुँह से फिचकुर निकल आया, मगर

न तो मुँह से धुएँ के बादल निकले, न चिलम ही सुलगी। उनका यह कच्चापन उन्हें साधु-समाज से च्युत करने के लिए काफी था। दो-तीन साधु झल्ला कर आगे बढ़े और बड़ी निर्दयता से उनका हाथ पकड़ कर उठा दिया।

एक महात्मा—तेरे को धिक्कार है !

दूसरे महात्मा—तेरे को लाज नहीं आती ? साधु बना है, मूर्ख !

पंडितजी लज्जित हो कर समीप के एक हलवाई की दुकान के सामने जा कर बैठे और साधु-समाज ने खँजड़ी बजा-बजा कर यह भजन गाना शुरू किया—

माया है संसार सँवलिया, माया है संसार;
धर्माधर्म सभी कुछ मिथ्या, यही ज्ञान व्यवहार;
सँवलिया, माया है संसार।
गाँजे, भंग को वर्जित करते, हैं उन पर धिक्कार;
सँवलिया, माया है संसार।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन अज्ञात। हिन्दी कहानी-संग्रह 'प्रेम-प्रतिमा' (प्रथम संस्करण, 1926) में प्रथम बार प्रकाशित-संकलित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित। उर्दू रूप 'मुर्गदी' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'फिरदौसे ख्याल' में संकलित।]

परीक्षा-2

जब रियासत देवगढ़ के दीवान सरदार सुजानसिंह बूढ़े हुए तो परमात्मा की याद आयी। जा कर महाराज से विनय की कि दीनबंधु ! दास ने श्रीमान् की सेवा चालीस साल तक की, अब मेरी अवस्था भी ढल गयी, राज-काज सँभालने की शक्ति नहीं रही। कहीं भूल-चूक हो जाय तो बुढ़ापे में दाग लगे। सारी जिंदगी की नेकनामी मिट्टी में मिल जाय।

राजा साहब अपने अनुभवशील नीतिकुशल दीवान का बड़ा आदर करते थे। बहुत समझाया, लेकिन जब दीवान साहब ने न माना, तो हार कर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, पर शर्त यह लगा दी कि रियासत के लिए नया दीवान आप ही को खोजना पड़ेगा।

दूसरे दिन देश के प्रसिद्ध पत्रों में यह विज्ञापन निकला कि देवगढ़ के लिए एक सुयोग्य दीवान की जरूरत है। जो सज्जन अपने को इस पद के योग्य समझें वे वर्तमान सरकार सुजानसिंह की सेवा में उपस्थित हों। यह जरूरी नहीं है कि वे ग्रेजुएट हों, मगर हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है, मंदाग्नि के मरीज को यहाँ तक कष्ट उठाने की कोई जरूरत नहीं। एक महीने तक उम्मीदवारों के रहन-सहन, आचार-विचार की देखभाल की जायगी। विद्या का कम, परन्तु कर्त्तव्य का अधिक विचार किया जायगा। जो महाशय इस परीक्षा में पूरे उतरेंगे, वे इस उच्च पद पर सुशोभित होंगे।

2

इस विज्ञापन ने सारे मुल्क में तहलका मचा दी। ऐसा ऊँचा पद और किसी प्रकार की कैद

नहीं ? केवल नसीब का खेल है। सैकड़ों आदमी अपना-अपना भाग्य परखने के लिए चल खड़े हुए। देवगढ़ में नये-नये और रंग-बिरंगे मनुष्य दिखायी देने लगे। प्रत्येक रेलगाड़ी से उम्मीदवारों का एक मेला-सा उतरता। कोई पंजाब से चला आता था, कोई मद्रास से, कोई नई फैशन का प्रेमी, कोई पुरानी सादगी पर मिटा हुआ। पंडितों और मौलवियों को भी अपने-अपने भाग्य की परीक्षा करने का अवसर मिला। बेचारे सनद के नाम रोया करते थे, यहाँ उसकी कोई जरूरत नहीं थी। रंगीन एमामे, चोगे और नाना प्रकार के अंगरखे और कंटोप देवगढ़ में अपनी सज-धज दिखाने लगे। लेकिन सबसे विशेष संख्या ग्रेजुएटों की थी, क्योंकि सनद की कैद न होने पर भी सनद से परदा तो ढँका रहता है।

सरदार सुजानसिंह ने इन महानुभावों के आदर-सत्कार का बड़ा अच्छा प्रबंध कर दिया था। लोग अपने-अपने कमरों में बैठे हुए रोजेदार मुसलमानों की तरह महीने कि दिन गिना करते थे। हर एक मनुष्य अपने जीवन को अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छे रूप में दिखाने की कोशिश करता था। मिस्टर अ नौ बजे दिन तक सोया करते थे, आजकल वे बगीचे में टहलते हुए ऊषा का दर्शन करते थे। मि. ब को हुक्का पीने की लत थी, आजकल बहुत रात गये किवाड़ बन्द करके अँधेरे में सिगार पीते थे। मि. द, स और ज से उनके घरों पर नौकरों के नाक में दम था, लेकिन ये सज्जन आजकल 'आप' और 'जनाब' के बगैर नौकरों से बातचीत नहीं करते थे। महाशय क नास्तिक थे, हक्सले के उपासक, मगर आजकल उनकी धर्मनिष्ठा देख कर मन्दिर के पुजारी को पदच्युत हो जाने की शंका लगी रहती थी ! मि. ल को किताब से घृणा थी, परन्तु आजकल वे बड़े-बड़े ग्रन्थ देखने-पढ़ने में डूबे रहते थे। जिससे बात कीजिए, वह नम्रता और सदाचार का देवता बना मालूम देता था। शर्मा जी घड़ी रात से ही वेद-मंत्र पढ़ने में लगते थे और मौलवी साहब को नमाज और तलावत के सिवा और कोई काम न था। लोग समझते थे कि एक महीने का झंझट है, किसी तरह काट लें, कहीं कार्य सिद्ध हो गया तो कौन पूछता है।

लेकिन मनुष्यों का वह बूढ़ा जौहरी आड़ में बैठा हुआ देख रहा था कि इन बगुलों में हंस कहाँ छिपा हुआ है।

3

एक दिन नये फैशनवालों को सूझी कि आपस में हाकी का खेल हो जाय। यह प्रस्ताव हाकी के मँजे हुए खिलाड़ियों ने पेश किया। यह भी तो आखिर एक विद्या है। इसे क्यों छिपा रखें। संभव है, कुछ हाथों की सफाई ही काम कर जाय। चलिए तय हो गया, फील्ड बन गयी, खेल शुरू हो गया और गेंद किसी दफ्तर के अप्रेंटिस की तरह ठोकरें खाने लगा।

रियासत देवगढ़ में यह खेल बिलकुल निराली बात थी। पढ़े-लिखे भलेमानुस लोग शतरंज और ताश जैसे गंभीर खेल खेलते थे। दौड़-कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे।

खेल बड़े उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को ले कर तेजी से उड़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई लहर बढ़ती चली आती है। लेकिन दूसरी ओर से खिलाड़ी इस बढ़ती हुई लहर को इस तरह रोक लेते थे कि मानो लोहे की दीवार है।

संध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने से तर हो गये। खून की गर्मी आँख और

चेहरे से झलक रही थी। हाँफते-हाँफते बेदम हो गये, लेकिन हार-जीत का निर्णय न हो सका।

अँधेरा हो गया था। इस मैदान से जरा दूर हट कर एक नाला था। उस पर कोई पुल न था। पथिकों को नाले में से चल कर आना पड़ता था। खेल अभी बन्द ही हुआ था और खिलाड़ी लोग बैठे दम ले रहे थे कि एक किसान अनाज से भरी हुई गाड़ी लिये हुए उस नाले में आया। लेकिन कुछ तो नाले में कीचड़ था और कुछ उसकी चढ़ाई इतनी ऊँची थी कि गाड़ी ऊपर न चढ़ सकती थी। वह कभी बैलों को ललकारता, कभी पहियों को हाथ से ढकेलता लेकिन बोझ अधिक था और बैल कमजोर। गाड़ी ऊपर को न चढ़ती और चढ़ती भी तो कुछ दूर चढ़कर फिर खिसक कर नीचे पहुँच जाती। किसान बार-बार जोर लगाता और बार-बार झुँझला कर बैलों को मारता, लेकिन गाड़ी उभरने का नाम न लेती। बेचारा इधर-उधर निराश हो कर ताकता मगर वहाँ कोई सहायक नजर न आता। गाड़ी को अकेले छोड़कर कहीं जा भी नहीं सकता। बड़ी आपत्ति में फँसा हुआ था। इसी बीच में खिलाड़ी हाथों में डंडे लिये घूमते-घामते उधर से निकले। किसान ने उनकी तरफ सहमी हुई आँखों से देखा; परंतु किसी से मदद माँगने का साहस न हुआ। खिलाड़ियों ने भी उसको देखा मगर बन्द आँखों से, जिनमें सहानुभूति न थी। उनमें स्वार्थ था, मद था, मगर उदारता और वात्सल्य का नाम भी न था।

4

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा मनुष्य था जिसके हृदय में दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गयी थी। लँगड़ाता-हुआ धीरे-धीरे चला आता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। उसे किसान की सूरत देखते ही सब बातें ज्ञात हो गयीं। डंडा एक किनारे रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जा कर बोला—मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूँ ?

किसान ने देखा एक गठे हुए बदन का लम्बा आदमी सामने खड़ा है। झुक कर बोला—हुजूर मैं आपसे कैसे कहूँ ? युवक ने कहा—मालूम होता है, तुम यहाँ बड़ी देर से फँसे हो। अच्छा, तुम गाड़ी पर जा कर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूँ अभी गाड़ी ऊपर चढ़ जाती है।

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहिये को जोर लगा कर उकसाया। कीचड़ बहुत ज्यादा था। वह घुटने तक जमीन में गड़ गया, लेकिन हिम्मत न हारी। उसने फिर ज़ोर किया, उधर किसान ने बैलों को ललकारा। बैल को सहारा मिला, हिम्मत बँध गयी, उन्होंने कंधे झुका कर एक बार ज़ोर किया तो गाड़ी नाले के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। बोला—महाराज, आपने आज मुझे उबार लिया, नहीं तो सारी रात मुझे यहाँ बैठना पड़ता।

युवक ने हँस कर कहा—अब मुझे कुछ इनाम देते हो ? किसान ने गम्भीर भाव से कहा—नारायण चाहेंगे तो दीवानी आपको ही मिलेगी।

युवक ने किसान की तरफ गौर से देखा। उसके मन में एक संदेह हुआ, क्या यह सुजानसिंह तो नहीं हैं ? आवाज़ मिलती है, चेहरा-मोहरा भी वही। किसान ने भी उसकी

ओर तीव्र दृष्टि से देखा। शायद उसके दिल के संदेह को भाँप गया। मुस्करा कर बोला—गहरे पानी में बैठने से ही मोती मिलता है।

5

निदान महीना पूरा हुआ। चुनाव का दिन आ पहुँचा। उम्मीदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी किस्मतों का फैसला सुनने के लिए उत्सुक थे। दिन काटना पहाड़ हो गया। प्रत्येक के चेहरे पर आशा और निराशा के रंग आते थे। नहीं मालूम, आज किसके नसीब जागेंगे ! न जाने किस पर लक्ष्मी की कृपादृष्टि होगी।

संध्या समय राजा साहब का दरबार सजाया गया। शहर के रईस और धनाढ्य लोग, राज्य के कर्मचारी और दरबारी तथा दीवानी के उम्मीदवारों का समूह, सब रंग-बिरंगी सज-धज बनाये दरबार में आ विराजे ! उम्मीदवारों के कलेजे धड़क रहे थे।

जब सरदार सुजानसिंह ने खड़े हो कर कहा—मेरे दीवानी के उम्मीदवार महाशयो ! मैंने आप लोगों को जो कष्ट दिया है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। इस पद के लिए ऐसे पुरुष की आवश्यकता थी जिसके हृदय में दया हो और साथ-साथ आत्मबल। हृदय वह जो उदार हो, आत्मबल वह जो आपत्ति का वीरता के साथ सामना करे और इस रियासत के सौभाग्य से हमें ऐसा पुरुष मिल गया। ऐसे गुणवाले संसार में कम हैं और जो हैं, वे कीर्ति और मान के शिखर पर बैठे हुए हैं, उन तक हमारी पहुँच नहीं। मैं रियासत के पंडित जानकीनाथ-सा दीवान पाने पर बधाई देता हूँ।

रियासत के कर्मचारियों और रईसों ने जानकीनाथ की तरफ देखा। उम्मीदवार दल की आँखें उधर उठीं, मगर उन आँखों में सत्कार था, इन आँखों में ईर्ष्या।

सरदार साहब ने फिर फरमाया, आप लोगों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी कि जो पुरुष स्वयं जख्मी होकर भी एक गरीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दलदल से निकाल कर नाले के ऊपर चढ़ा दे उसके हृदय में साहस, आत्मबल और उदारता का वास है। ऐसा आदमी गरीबों को कभी न सतावेगा। उसका संकल्प दृढ़ है जो उसके चित्त को स्थिर रखेगा। वह चाहे धोखा खा जाये। परन्तु दया और धर्म से कभी न हटेगा।

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन अज्ञात। हिन्दी कहानी संग्रह 'प्रेम-प्रमोद' (प्रथम संस्करण : 1926) में प्रथम बार प्रकाशित-संकलित। 'मानसरोवर' भाग-8 में संकलित। 'इम्तहान' शीर्षक से उर्दू में प्रकाशित। उर्दू कहानी संग्रह 'प्रेम चालीसी' (प्रथम संस्करण 1930) में संकलित।]

बाबा जी का भोग

रामधन अहीर के द्वार पर एक साधु आ कर बोला—बच्चा तेरा कल्याण हो, कुछ साधु पर श्रद्धा कर।

रामधन ने जा कर स्त्री से कहा—साधु द्वार पर आये हैं, उन्हें कुछ दे दे।

स्त्री—बरतन माँज रही थी, और इस घोर चिंता में मग्न थी कि आज भोजन क्या

बनेगा, घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था। किंतु यहाँ दोपहर ही को अंधकार छा गया था। उपज सारी-की-सारी खलिहान से उठ गयी। आधी महाजन ने ले ली, आधी जमींदार के प्यादों ने वसूल की भूसा, बेचा तो बैल के व्यापारी से गला छूटा, बस थोड़ी-सी गाँठ अपने हिस्से में आयी। उसी को पीट-पीट कर एक मन-भर दाना निकाला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ। अब आगे क्या होगा। क्या बैल खायेंगे, क्या घर के प्राणी खायेंगे, यह ईश्वर ही जाने ! पर द्वार पर साधु आ गया है, उसे निराश कैसे लौटायें, अपने दिल में क्या कहेगा।

स्त्री ने कहा—क्या दे दूँ कुछ तो रहा नहीं ?

रामधन—जा, देख तो मटके में, कुछ आटा-वाटा मिल जाय तो ले आ।

स्त्री ने कहा—मटके झाड़-पोंछ कर तो कल ही चूल्हा जला था। क्या उसमें बरक्कत होगी ?

रामधन—तो मुझसे तो यह न कहा जायगा कि बाबा घर में कुछ नहीं है। किसी के घर से माँग ला।

स्त्री—जिससे लिया उसे देने की नौबत नहीं आयी, अब और किस मुँह से माँगूँ ?

रामधन—देवताओं के लिए कुछ अँगोवा निकाला है न वही ला, दे आऊँ !

स्त्री—देवताओं की पूजा कहाँ से होगी ?

रामधन—देवता माँगने तो नहीं आते ? समाई होगी करना, न समाई हो न करना।

स्त्री—अरे तो कुछ अंगौवा भी पंसेरी दो पंसेरी है ? बहुत होगा तो आध सेर। इसके बाद क्या फिर कोई साधु न आयेगा। उसे तो जवाब देना ही पड़ेगा।

रामधन—यह बला तो टलेगी, फिर देखी जायगी।

स्त्री झुँझला कर उठी और एक छोटी-सी हाँड़ी उठा लायी, जिसमें मुश्किल से आध सेर आटा था। वह गेहूँ का आटा बड़े यत्न से देवताओं के लिए रखा हुआ था। रामधन कुछ देर खड़ा सोचता रहा, तब आटा एक कटोरे में रख कर बाहर आया और साधु की झोली में डाल दिया।

महात्मा ने आटा ले कर कहा—बच्चा अब तो साधु आज यहीं रमेंगे। कुछ थोड़ी-सी दाल दे, तो साधु का भोग लग जाय।

रामधन ने फिर आ कर स्त्री से कहा। संयोग से दाल घर में थी। रामधन ने दाल, नमक, उपले जुटा दिये। फिर कुएँ से पानी खींच लाया। साधु ने बड़ी विधि से बाटियाँ बनायीं, दाल पकायी और आलू झोली में से निकाल कर भुरता बनाया। जब सब सामग्री तैयार हो गयी, तो रामधन से बोले—बच्चा, भगवान के भोग के लिए कौड़ी-भर घी चाहिए। रसोई पवित्र न होगी, तो भोग कैसे लगेगा ?

रामधन—बाबाजी, घी तो घर में न होगा।

साधु—बच्चा, भगवान् का दिया तेरे पास बहुत है। ऐसी बातें न कह।

रामधन—महाराज, मेरे गाय-भैंस कुछ नहीं है, घी कहाँ से होगा ?

साधु—बच्चा, भगवान् के भंडार में सब कुछ है जाकर मालकिन से कहो तो ?

रामधन ने जा कर स्त्री से कहा—घी माँगते हैं, माँगने को भीख, पर घी बिना कौर नहीं धँसता !

स्त्री—तो इसी दाल में से थोड़ी ले कर बनिये के यहाँ से ला दो। जब सब किया है तो इतने के लिए उन्हें क्यों नाराज करते हो ?

घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली, घंटी बजायी और भोग लगाने बैठे। खूब तन कर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गये। थाली, बटली और कलछुली रामधन घर में माँजने के लिए उठा ले गया।

उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला। खाली दाल पका कर ही पी ली।

रामधन लेटा, तो सोच रहा था—मुझसे तो यही अच्छे !

[हिन्दी कहानी। प्रथम प्रकाशन अज्ञात। हिन्दी कहानी संग्रह 'प्रेम प्रतिमा' (प्रथम संस्करण : 1926) में प्रथम बार प्रकाशित-संकलित। 'मानसरोवर' भाग-3 में संकलित।]

बड़े बाबू

तीन सौ पैंसठ दिन, कई घंटे और कई मिनट की लगातार और अनथक दौड़-धूप के बाद आखिर में अपनी मंजिल पर धड़ से पहुंच गया। बड़े बाबू के दर्शन हो गए। मिट्टी के गोले ने आग के गोले का चक्कर पूरा कर लिया। अब तो आप भी मेरी भूगोल की लियाकत के कायल हो गए होंगे। इसे रूपक न समझिएगा। बड़े बाबू में दोपहर के सूरज की गर्मी और रोशनी थी और मैं क्या और मेरी बिसात क्या, एक मुट्ठी खाक। बड़े बाबू मुझे देखकर मुस्कराए। हाय, वह बड़े लोगों की मुस्कराहट ! मेरा अधमरा-सा शरीर कांपने लगा। जी में आया बडे बाबू के कदमों पर बिछ जाऊं। मैं काफिर नहीं, गालिब का मुरीद नहीं, जन्नत के होने पर मुझे पूरा यकीन है, उतना ही पूरा जितना अपने अंधेरे घर पर। लेकिन फरिश्ते मुझे जन्नत ले जाने के लिए आते तो भी यकीनन मुझे वह जबर्दस्त खुशी न होती जो इस चमकती हुई मुस्कराहट से हुई। आंखों में सरसों फूल गई। सारा दिल और दिमाग एक बागीचा बन गया। कल्पना ने मिस्र के ऊंचे-ऊंचे महल बनाने शुरू कर दिए। सामने कुर्सियों पर्दो और खस की टट्टियों से सजा-सजाया कमरा था। दरवाजे पर उम्मीदवारों की भीड़ लगी थी और ईजानिब एक कुर्सी पर शान से बैठे हुए सबको उसका हिस्सा देने वाले खुदा के दुनियावी फर्ज अदा कर रहे थे। नजर-नियाज का तूफान बरपा था और मैं किसी तरफ आंख उठाकर न देखता था कि जैसे मुझे किसी से कुछ लेना-देना नहीं।

अचानक एक शेर जैसी गरज मे मेरे बनते हुए महल में एक भूचाल-सा ला दिया—क्या काम है ? हाय रे, ये भोलापन ! इस पर सारी दुनिया के हसीनों का भोलापन और वेपरवाही निसार हैं। इस ड्योढ़ी पर माथा रगड़ते-रगड़ते तीन सौ पैंसठ दिन, कई घंटे और कई मिनट गुजर गए। चौखट का पत्थर घिसकर ज़मीन से मिल गया। ईदू गोसाती की दुकान के आधे खिलौने और गोवर्द्धन हलवाई की आधी दुकान इसी ड्योढ़ी की भेंट चढ़ गई और मुझसे आज सवाल होता है, क्या काम है !

मगर नहीं, यह मेरी ज्यादती है। सरासर जुल्म। जो दिमाग बड़े-बड़े मुल्की और माली और तमद्दुनी मसलों में दिन-रात लगा रहता हो, जो दिमाग डाकिटों, सरकुलरों,

परवानों, हुक्मनामों, नक्शों वगैरह के बोझ से दबा जा रहा हो, उसके नजदीक मुझ-जैसे खाक के पुतले की हस्ती ही क्या। मच्छर अपने को चाहे हाथी समझ ले पर बैल के सींग को उसकी क्या खबर। मैंने दबी जुबान से कहा—हुजूर की कदमबोसी के लिए हाजिर हुआ।

बड़े बाबू फिर गरजे—क्या काम है ?

अबकी बार मेरे रोएं खड़े हो गए। खुदा के फजल से लहीम-शहीम आदमी हूं। जिन दिनों कॉलेज में था, मेरे डील-डौल और मेरी बहादुरी और दिलेरी की धूम थी। हाकी टीम का कप्तान, फुटबाल टीम का नायब कप्तान और क्रिकेट का जनरल था। कितने ही गोरों के जिस्म पर अब भी मेरी बहादुरी के दाग बाकी होंगे। मुमकिन है, दो-चार अब भी बैसाखिया लिए चलते या रेंगते हों। बम्बई क्रानिकल और टाइम्स में मेरे गेंदों की धूम थी। मगर इस वक्त बाबू साहब की गरज सुनकर मेरा शरीर कांपने लगा। कांपते हुए बोला—हुजूर की कदमबोसी के लिए हाजिर हुआ।

बड़े बाबू ने अपना स्लीपरदार पैर मेरी तरफ बढ़ाकर कहा—शौक से। लीजिए, यह कदम हाजिर है, जितने बोसे चाहे लीजिए, बेहिसाब मामला है, मुझसे कसम ले लीजिए जो मैं गिनूं। जब तक आपका मुंह न थक जाय, लिए जाइए। मेरे लिए इससे बढ़कर खुशनसीबी का क्या मौका होगा ? औरों को जो बात बड़े जप-तप, बड़े संयम-व्रत से मिलती है, वह मुझे बैठे-बिठाए बगैर हरड़-फिटकरी लगाए हासिल हो गई। वल्लाह, हूं मैं भी खुशनसीब। आप अपने दोस्त-अहबाब, आत्मीय-स्वजन जो हों उन सबको लाएं तो और भी अच्छा, मेरे यहां सबको छूट है !

हंसी के पर्दे में यह जो जुल्म बड़े बाबू कर रहे थे उस पर शायद अपने दिल में उनको नाज हो। इस मनहूस तकदीर का बुरा हो, जो इस दरवाजे का भिखारी बनाए हुए है। जी में तो आया कि हजरत के बढ़े पैर को खींच लूं और आपको जिंदगी-भर के लिए सबक दे दूं कि बदनसीबों से दिल्लगी करने का यह मजा है। मगर बदनसीबी अगर दिल पर जब्र न कराए, जिल्लत का एहसास पैदा न करे तो वह बदनसीबी क्यों कहलाए। मैं भी एक जमाने में इस तरह लोगों को तकलीफ पहुंचाकर हंसता था। उस वक्त इन बड़े बाबुओं की मेरी निगाह में कोई हस्ती न थी। कितने ही बड़े बाबुओं को रुलाकर छोड़ दिया। कोई ऐसा प्रोफेसर न था, जिसका चेहरा मेरी सूरत देखते ही पीला न पड़ जाता हो। हजार-हजार रुपया पाने वाले प्रोफेसरों की मुझसे कोर दबती थी। ऐसे क्लर्कों को मैं समझता ही क्या था। लेकिन अब वह जमाना कहां। दिल में पछताया कि नाहक कदमबोसी का लफ्ज जुबान पर लाया। मगर अपनी बात कहना जरूरी था। मैं पक्का इरादा करके आया था कि उस ड्योढ़ी से आज कुछ लेकर ही उठूंगा। मेरे धीरज और बड़े बाबू के इस तरह जान-बूझकर अनजान बनने में रस्साकशी थी। दबी जुबान से बोला—हुजूर, ग्रेजुएट हूं।

शुक्र है, हजार शुक्र है, बड़े बाबू हंसे। जैसे हांड़ी उबल पड़ी हो। वह गरज और वह करख्त आवाज न थी। मेरा माथा रगड़ना आखिर कहां तक असर न करता। शायद असर को मेरी दुआ से दुश्मनी नहीं। मेरे कान बड़ी बेकरारी से वे लफ्ज सुनने के लिए बेचैन हो रहे थे जिनसे मेरी रूह को खुशी होगी। मगर आह, जितनी मायूसी इन कानों को हुई है, उतनी शायद पहाड़ खोदने वाले फरहाद को भी न हुई होगी। वह मुस्कराहट न थी, मेरी

तकदीर की हंसी थी। हुज़ूर ने फर्माया—बड़ी खुशी की बात है, मुल्क और कौम के लिए इससे ज्यादा खुशी की बात और क्या हो सकती है। मेरी दिली तमन्ना है, मुल्क का हर एक नौजवान ग्रेजुएट हो जाए। ग्रेजुएट जिंदगी के जिस मैदान में जाए, उस मैदान को तरक्की ही देगा—मुल्की, माली, तमद्दुनी, मजहबी, गरज कि हर एक किस्म की तहरीक का जन्म और तरक्की ग्रेजुएटों ही पर मनुहसर है। अगर मुल्क में ग्रेजुएटों का यह अफसोसनाक अकाल न होता तो असहयोग की तहरीक क्यों इतनी जल्दी मुर्दा हो जाती ! क्यों बने हुए, रंगे सियार, दगाबाज, जरपरस्त लीडरों को डाकेजनी के ऐसे मौके मिलते ? तब लीग क्यों मुबल्लिगे अलेहुस्सलाम की इल्लत बनती ! ग्रेजुएट में सच और झूठ की परख, निगाह का फैलाव और जांचने-तौलने की काबलियत होना जरूरी बात है। मेरी आंखें तो ग्रेजुएटों को देखकर नशे के दर्जे तक खुशी से भर उठती हैं। आप भी खुदा के फजल से अपनी किस्म की बहुत अच्छी मिसाल हैं, बिल्कुल अप-टू-डेट। यह शेरवानी तो बरकत एंड को, की दुनिया की सिली हुई होगी। जूते भी डासन के हैं। क्यों न हों ? आप लोगों ने कौम की जिंदगी के मयार को बहुत ऊंचा बना दिया है और अब वह बहुत जल्द अपनी मंजिल पर पहुंचेगी। ब्लैकवर्ड भी है, वेस्ट एण्ड की रिस्टवाच भी है। बेशक अब कौमी बेड़े को ख्वाजा खिजर की जरूरत भी नहीं। वह उनकी मिन्नत न करेगा।

हाय तकदीर और वाय तकदीर ! अगर जानता कि यह शेरवानी और फाउंटेनपेन और रिस्टवाच यों मजाक का निशाना बनेगी, तो दोस्तों का एहसान क्यों लेता। नमाज बख्शवाने आया था, रोजे गले पड़े। किताबों में पढ़ा था कि गरीबी की हुलिया ऐलान है अपनी नाकामी का, न्योता देना है अपनी जिल्लत को। तजुर्बा भी यही कहता था। चिथड़े लगाए हुए भिखमंगों को कितनी बेदर्दी से दुतकारता हूं। लेकिन जब कोई हजरत सूफी-साफी बने हुए, लंबे-लंबे बाल कंधों पर बिखेरे, सुनहरा अमामा सर पर बांका-तिरछा शान से बांधे, संदली रंग का नीचा कुर्ता पहने, कमरे में आ पहुंचते हैं तो मजबूर होकर उनकी इज्जत करनी पड़ती है और उनकी पाकीजगी के बारे में हजारों शुबहे पैदा होने पर भी छोटी-से-छोटी रकम जो उनकी नजर की जाती है, वह एक दर्जन भिखारियों को अच्छा खाना खिलाने के सामान इकट्ठा कर देती। पुरानी मिसाल है—भेस से ही भीख मिलती है। पर आज यह बात गलत साबित हो गई। अब बीबी साहिबा की वह तम्बीह याद आई जो उसने चलते वक्त दी थी—क्यों बेकार अपनी बेइज्जती कराने जा रहे हो। वह साफ समझेंगे कि यह मांगे-जांचे का ठाठ है। ऐसे रईस होते तो मेरे दरवाजे पर आते ही क्यों। उस वक्त मैंने इस तम्बीह को बीवी की कम-निगाही और उसका गंवारपन समझा था। पर अब मालूम हुआ कि गंवारिनें भी कभी-कभी सूझ की बातें कहती हैं। मगर अब पछताना बेकार है। मैंने आजिजी से कहा—हुज़ूर कहीं मेरी भी परवरिश फरमाएं।

बड़े बाबू ने मेरी तरफ इस अन्दाज से देखा कि जैसे मैं किसी दूसरी दुनिया का कोई जानवर हूं और बहुत दिलासा देने के लहजे में बोले—आपकी परवरिश खुदा करेगा। वही सबका रज्जाक है। दुनिया जब से शुरू हुई तब से तमाम शायर, हकीम और औलिया यही सिखाते आए हैं कि खुदा पर भरोसा रख और हम हैं कि उनकी हिदायत को भूल जाते हैं। लेकिन खैर, मैं आपको नेक सलाह देने में कंजूसी न करूंगा। आप एक अखबार निकाल लीजिए। यकीन मानिए, इसके लिए बहुत ज्यादा पढ़े-लिखे होने की जरूरत नहीं और आप

तो खुदा के फजल से ग्रेजुएट हैं। स्वादिष्ट तिलाओं और स्तंभन-बटियों के नुस्खे लिखिए। तिब्बे अकबर में आपको हजारों नुस्खे मिलेंगे। लाइब्रेरी जाकर नकल कर लाइए और अखबार में नए नाम से छापिए। कोकशास्त्र तो आपने पढ़ा ही होगा। अगर न पढ़ा हो तो एक बार पढ़ जाइए और अपने अखबार में शादी के मजों के तरीके लिखिए। कामेंद्रिय के नाम जितने ज्यादा आ सकें, बेहतर है। फिर देखिए कैसे डॉक्टर, प्रोफेसर और डिप्टी कलेक्टर आपके भक्त हो जाते हैं। इसका खयाल रहे कि यह काम हकीमाना अंदाज से किया जाए। ब्योपारी और हकीमाना अंदाज में थोड़ा फर्क है। ब्योपारी सिर्फ अपनी दवाओं की तारीफ करता है, हकीम परिभाषाओं और सूक्तियों को खोलकर अपने लेखों को इल्मी रंग देता है। ब्योपारी की तारीफ से लोग चिढ़ते हैं, हकीम की तारीफ भरोसा दिलाने वाली होती है। अगर इस मामले में कुछ समझने-बूझने की जरूरत हो तो रिसाला दरवेश हाजिर है। अगर इस काम में आपको कुछ दिक्कत मालूम होती हो, तो स्वामी श्रद्धानन्द की खिदमत में जाकर शुद्धि पर आमादगी जाहिर कीजिए। फिर देखिए आपकी कितनी खातिर-तवाजो होनी है। इतना समझाए देता हूं कि शुद्धि के लिए फौरन तैयार न हो जाइएगा। पहले दिन तो दो-चार हिन्दू-धर्म की किताबें मांग लाइएगा। एक हफ्ते के बाद जाकर कुछ एतराज कीजिएगा। मगर एतराज ऐसे हों जिनका जवाब आसानी से दिया जा सके। इससे स्वामीजी को आपकी छानबीन और जानने की ख्वाहिश का यकीन हो जाएगा। बस आपकी चांदी है। आप इसके बाद इसलाम की मुखालिफत पर दो-एक मजमून या मजमूनों का सिलसिला किसी हिन्दू रिसाले में लिख देंगे तो आपकी जिंदगी और रोटी का मसला हल हो जाएगा। इससे भी एक सहल नुस्खा है। तबलीगी मिशन में शरीक हो जाइए, किसी हिन्दू औरत, खासकर नौजवान वेवा, पर डोरे डालिए। आपको यह देखकर हैरत होगी कि वह कितनी आसानी से आपसे मुहब्बत करने लग जाती है। आप उसकी अंधेरी जिंदगी के लिए एक मशाल साबित होंगे। वह उज्र नहीं करती, शौक से इसलाम कबूल कर लेगी। बस, अब आप शहीदों में दाखिल हो गए। अगर आप जरा एहतियात से काम करते रहें तो आपकी जिंदगी बड़े चैन से गुजरेगी। एक ही खेवे में दीनो-दुनिया दोनों ही पार हैं। जनाब लीडर बन जाएंगे। वल्लाह, एक हफ्ते में आपका शुमार नामी-गरामी लोगों में होने लगेगा, दीन के सच्चे पैरो। हजारों सीधे-सादे मुसलमान आपको दीन की डूबती हुई किश्ती का मल्लाह समझेंगे। फिर खुदा के सिवा और किसी को खबर न होगी कि आपके हाथ क्या आता है और वह कहां जाता है और खुदा कभी गज नहीं खोला करता, यह आप जानते ही हैं। ताज्जुब है कि इन मौकों पर आपकी निगाह क्यों नहीं जाती। मैं तो बुड्ढा हो गया और अब कोई नया काम नहीं सीख सकता, वर्ना इस वक्त लीडरों का लीडर होता।

इस आग की लपट जैसे मजाक ने जिस्म में शोले पैदा कर दिए। आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं। धीरज हाथ से छूटा जा रहा था। मगर कहरे दरवेश बर जाने दरवेश (भिखारी का गुस्सा अपनी जान पर) के मुताबिक सर झुकाकर खड़ा रहा। जितनी दलीलें दिमाग में कई दिनों से चुन-चुनकर रखी थीं, सब धरी रह गईं। बहुत सोचने पर भी कोई नया पहलू ध्यान में न आया। यों खुदा के फजल से बेवकूफ या कुंदजेहन नहीं हूं, अच्छा दिमाग पाया है। इतने सोच-विचार से कोई अच्छी-सी गजल हो जाती। पर तबीयत

ही तो है, न लड़ी। इत्तफाक से जेब में हाथ डाला तो अचानक याद आ गया कि सिफारिशी खतों का एक पोथा भी साथ लाया हूं। रोब का दिमाग पर क्या असर पड़ता है इसका आज तजुर्बा हो गया। उम्मीद से चेहरा फूल की तरह खिल उठा। खतों का पुलिंदा हाथ में लेकर बोला—हुजूर, यह चंद खत हैं, इन्हें मुलाहिजा फरमा लें।

बड़े बाबू ने बंडल लेकर मेज पर रख दिया और उस पर एक उड़ती हुई नजर डालकर बोले—आपने अब तक इन मोतियों को क्यों छिपा रखा था ?

मेरे दिल में उम्मीद की खुशी का एक हंगामा बरपा हो गया। जुबान जो बंद थी, खुल गई। उमंग से बोला—हुजूर की शान-शौकत ने मुझ पर इतना रोब डाल दिया और कुछ ऐसा जादू कर दिया कि मुझे इन खतों की याद न रही। हुजूर से मैं बिना नमक-मिर्च लगाए सच-सच कहता हूं कि मैंने इनके लिए किसी तरह की कोशिश या सिफारिश नहीं पहुंचाई। किसी तरह की दौड़-भाग नहीं की।

बड़े बाबू ने मुस्कराकर कहा—अगर आप इनके लिए ज्यादा-से-ज्यादा दौड़-भाग करने में भी अपनी ताकत खर्च करते तो भी मैं आपको इसके लिए बुरा-भला न कहता। आप बेशक बड़े खुशनसीब हैं कि यह नायाब चीज आपको बे मांगे मिल गई. इसे जिंदगी के सफर का पासपोर्ट समझिए। वाह, आपको खुदा के फजल से एक-से-एक कद्रदान नसीब हुए। आप जहीन हैं, सीधे-सच्चे हैं, बेलौस हैं, फर्माबरदार हैं। ओफ्फोह, आपके गुणों की तो कोई इंतहा ही नहीं है। कसम खुदा की, आपमें तो तमाम भीतरी और बाहरी कमाल भरे हुए हैं। आपमें सूझ-बूझ, गंभीरता, सच्चाई, चौकसी, कुलीनता, शराफत, बहादुरी सभी गुण मौजूद हैं। आप तो नुमाइश में रखे जाने काबिल मालूम होते हैं कि दुनिया आपको हैरत की निगाह से देखे और दांतों तले उंगली दबाए। आज किसी भले का मुंह देखकर उठा था कि आप जैसे पाकीजा आदमी के दर्शन हुए। यह वे गुण हैं जो जिंदगी के हर एक मैदान में आपको शोहरत की चोटी तक पहुंचा सकते हैं। सरकारी नौकरी आप जैसे गुणियों की शान के काबिल नहीं। आपको यह कब गवारा होगा। इस दायरे में आते ही आदमी बिल्कुल जानवर बन जाता है। बोलिए, आप इसे मंजूर कर सकते हैं ? हरगिज नहीं।

मैंने डरते-डरते कहा—जनाब, जरा इन लफ्जों को खोलकर समझा दीजिए। आदमी के जानवर बन जाने से आपकी क्या मंशा है ?

बड़े बाबू ने त्योरी चढ़ाते हुए कहा—यह तो कोई पेचीदा बात न थी जिसका मतलब खोलकर बतलाने की जरूरत हो। तब तो मुझे बात करने के अपने ढंग में कुछ तरमीम करनी पड़ेगी। इस दायरे के उम्मीदवारों के लिए सबसे जरूरी और लाजिमी सिफत, सूझ-बूझ है। मैं नहीं कह सकता कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूं, वह इस लफ्ज से अदा होता है या नहीं। इसका अंग्रेजी लफ्ज है इनटुइशन—इशारे के असली मतलब को समझना। मसलन अगर सरकार बहादुर यानी हाकिम जिला को शिकायत हो कि आपके इलाके में इनकमटैक्स कम वसूल होता है तो आपका फर्ज है कि उसमें अंधाधुंध इजाफा करें। आदमी की परवाह न करें। आमदनी का बढ़ाना आपकी सूझ-बूझ पर मुनहसर है। एक हल्की-सी धमकी काम कर जाएगी और इनकमटैक्स दुगुना-तिगुना हो जाएगा। यकीनन आपको इस तरह अपना जमीर (अंतःकरण) बेचना गवारा न होगा।

मैंने समझ लिया कि मेरा इम्तहान हो रहा है, आशिकों जैसे जोश और सरगर्मी से बोला—मैं तो इसे जमीर बेचना नहीं समझता, यह तो नमक का हक है। मेरा जमीर इतना नाजुक नहीं है।

बड़े बाबू ने मेरी तरफ कद्रदानी की निगाह से देखकर कहा—शाबाश ! मुझे तुमसे ऐसे ही जवाब की उम्मीद थी। आप मुझे होनहार मालूम होते हैं। लेकिन शायद यह दूसरी शर्त आपको मंजूर न हो। इस दायरे के मुरीदों के लिए दूसरी शर्त यह है कि वह अपने को भूल जाएं। कुछ आया आपकी समझ में ?

मैंने दबी जुबान में कहा—जनाब को तकलीफ तो होगी मगर जरा फिर इसको खोलकर बतला दीजिए।

बड़े बाबू ने त्योरियों पर बल देते हुए कहा—जनाब, यह बार-बार का समझाना मुझे बुरा मालूम होता है। मैं इससे ज्यादा आसान तरीके पर अपने खयालों को जाहिर नहीं कर सकता। अपने को भूल जाना बहुत ही आम मुहावरा है। अपनी खुदी को मिटा देना, अपनी शख्सियत को फना कर देना, अपनी पर्सनालिटी को खत्म कर देना। आपकी वजा-कता से, आपके बोलने-बात करने के ढंग से, आपके तौर-तरीकों से आपकी हिन्दियत मिट जानी चाहिए। आपके मजहबी, अखलाकी और तमद्दुनी असरों का बिल्कुल गायब हो जाना जरूरी है। मुझे आपके चेहरे से मालूम हो रहा है कि इस समझाने पर भी आप मेरा मतलब नहीं समझ सके। सुनिए, आप गालिबन मुसलमान हैं। शायद आप अपने अकीदों में बहुत पक्के भी हों। आप नमाज और रोजे के पाबंद हैं ?

मैंने फख्र से कहा—मैं इन चीजों का उतना ही पाबंद हूं जितना कोई मौलवी हो सकता है। मेरी कोई नमाज कजा नहीं हुई। सिवाय उन वक्तों के जब मैं बीमार था।

बड़े बाबू ने मुस्कराकर कहा—यह तो आपके अच्छे अखलाक ही कहे देते हैं। मगर इस दायरे में आकर आपको अपने अकीदे और अमल में बहुत कुछ काट-छांट करनी पड़ेगी। यहां आपका मजहब मजहबियत का जामा अख्तियार करेगा। आप भूलकर भी अपने पेशानी को किसी के सामने सिजदे में न झुकाएं, कोई बात नहीं। आप भूलकर भी जकात के झगड़े में न फंसें, कोई बात नहीं। लेकिन आपको अपने मजहब के नाम पर फरियाद करने के लिए हमेशा आगे-आगे रहना और दूसरों को आमादा करना होगा। अगर आपके जिले में दो डिप्टी कलक्टर हिन्दू हैं और मुसलमान सिर्फ एक, तो आपका फर्ज होगा कि हिज एक्सेलेंसी गवर्नर की खिदमत में एक डेपुटेशन भेजने के लिए कौम के रईसों को आमादा करें। अगर आपको मालूम हो कि किसी म्युनिसिपैलिटी ने कसाइयों को शहर से बाहर दुकान रखने की तजवीज पास कर दी है तो आपका फर्ज होगा कि कौम के चौधरियों को उस म्युनिसिपैलिटी का सिर तोड़ने के लिए तहरीक करें। आपको सोते-जागते, उठते-बैठते जाति-प्रेम का राग अलापना चाहिए। मसलन इम्तहान के नतीजों में अगर आपको मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या मुनासिब से कम नजर आए तो आपको फौरन चांसलर के पास एक गुमनाम खत लिख भेजना होगा कि इस मामले में जरूर ही सख्ती से काम लिया गया है। यह सारी बातें उसी इनदुइशन वाली शर्त के भीतर आ जाती हैं। आपको साफ-साफ शब्दों में या इशारों से यह काम करने के लिए हिदायत न की जाएगी। सब कुछ आपकी सूझ-बूझ पर मुनहसर होगा। आपमें यह जौहर होगा तो आप एक दिन

जरूर ऊंचे ओहदे पर पहुंचेंगे। आपको जहां तक मुमकिन हो, अंग्रेजी में लिखना और बोलना पड़ेगा। इसके बगैर हुक्काम आपसे खुश न होंगे। लेकिन कौमी जबान की हिमायत और प्रचार की सदा आपकी जुबान से बराबर निकलती रहनी चाहिए। आप शौक से अखबारों का चंदा हजम करें, मंगनी की किताबें पढ़ें, चाहे वापसी के वक्त किताब के फट-चिंथ जाने के कारण आपको माफी ही क्यों न मांगनी पड़े, लेकिन जुबान की हिमायत बराबर जोरदार तरीके से करते रहिए। खुलासा यह कि आपको जिसका खाना उसी का गाना होगा। आपको बातों से, काम से और दिल से अपने मालिक की भलाई में और मजबूती से उसको जमाए रखने में लगे रहना पड़ेगा। अगर आप यह खयाल करते हों कि मालिक की खिदमत के जरिए कौम की खिदमत भी करूंगा तो यह झूट बात है, पागलपन है, हिमाकत है ! आप मेरा मतलब समझ गए होंगे। फरमाइए, आप इस हद तक अपने को भूल सकते हैं ?

मुझे जवाब देने में जरा देर हुई। सच यह है कि मैं भी आदमी हूं और बीसवीं सदी का आदमी हूं। मैं बहुत जागा हुआ न सही, मगर बिल्कुल सोया हुआ भी नहीं हूं। मैं भी अपने मुल्क और कौम को बुलंदी पर देखना चाहता हूं। मैंने तारीख पढ़ी है और उससे इसी नतीजे पर पहुंचा हूं कि मजहब दुनिया में सिर्फ एक है और उसका नाम है, दर्द। मजहब की मौजूदा सूरत गिरोहबंदी के सिवाय और कोई हैसियत नहीं रखती। खतने या चोटी से कोई बदल नहीं जाता। पूजा के लिए कलीमा, मस्जिद, मंदिर की मैं बिल्कुल जरूरत नहीं समझता। हां, यह मानता हूं कि घमंड और खुदगर्जी को दबाए रखने के लिए कुछ करना जरूरी है। इसलिए नहीं कि उससे मुझे उन्नति मिलेगी या मेरी मुक्ति होगी, बल्कि सिर्फ इसलिए कि मुझे दूसरों के हक छीनने से नफरत होगी। मुझमें खुदी का खासा जुज मौजूद है। यों अपनी खुशी से कहिए तो आपकी जूतियां सीधी करूं लेकिन हुकूमत की बर्दाश्त नहीं। महकूम बनना शर्मनाक समझता हूं। किसी गरीब को जुल्म का शिकार होते देखकर मेरे खून में गर्मी पैदा हो जाती है। किसी से दबकर रहने से मर जाना बेहतर समझता हूं। लेकिन खयाल हालतों पर तो फतह नहीं पा सकता। रोजी की फिक्र तो सबसे बड़ी है। इतने दिनों के बाद बड़े बाबू की निगाहे करम को अपनी ओर मुड़ते देखकर मैं इसके सिवा कि अपना सिर झुका दूं, दूसरा कर ही क्या सकता था। बोला—जनाब, मेरी तरफ से भरोसा रखें। मालिक की खिदमत में अपनी तरफ से कुछ उठा न रक्खूंगा।

"गैरत को फना कर देना होगा ?"

"मंजूर।"

"शराफत के जज्बों को उठाकर ताक पर रख देना होगा ?"

"मंजूर।"

"मुखबिरी करनी पड़ेगी।"

"मंजूर।"

"तो बिस्मिल्लाह, कल से आपका नाम उम्मीदवारों की फेहरिस्त में लिख दिया जाएगा।"

मैंने सोचा था कल से कोई जगह मिल जाएगी। इतनी जिल्लत कबूल करने के बाद रोजी की फिक्र से तो आजाद हो जाऊंगा। अब यह हकीकत खुली। बरबस मुंह से

निकला—और जगह कब तक मिलेगी ?

बड़े बाबू हंसे, वही दिल दुखाने वाली हंसी जिसमें तौहीन का पहलू खास था—जनाब, मैं कोई ज्योतिषी नहीं, कोई फकीर-दरवेश नहीं, बेहतर है इस सवाल का जवाब आप किसी औलिया से पूछें। दस्तरखान बिछा देना मेरा काम है। खाना आएगा और वह आपके हलक में जाएगा, यह पेशीनगोई मैं नहीं कर सकता।

मैंने मायूसी के साथ कहा—मैं तो इससे बड़ी इनायत का मुन्तजिर था।

बड़े बाबू कुर्सी से उठकर बोले—कसम खुदा की, आप परले दर्जे के कूढ़मग्ज आदमी हैं। आपके दिमाग में भुस भरा है। दस्तरखान का सामने आ जाना आप कोई छोटी बात समझते हैं ? इंतजार का मजा आपकी निगाह में कोई चीज ही नहीं ? हालांकि इंतजार में इंसान उमरें गुजार सकता है। आप रोजाना कचहरी में आएंगे, गरजमंदों से आपका साबका होगा। अमलों से आपका परिचय हो जाएगा। मामले बिठाने, सौदे पटाने के सुनहरे मौके हाथ आएंगे। हुक्काम के लड़के पढ़ाइए। अगर गंडे-ताबीज का फन सीख लीजिए तो आपके हक में बहुत मुफीद हो। कुछ हकीमी भी सीख लीजिए। अच्छे होशियार सुनारों से दोस्ती पैदा कीजिए, क्योंकि आपको उनसे अक्सर काम पड़ेगा। हुक्काम की औरतें आप ही के मार्फत अपनी जरूरतें पूरी कराएंगी। मगर इन सब लटकों से ज्यादा कारगर एक और लटका है। अगर वह हुनर आपमें है, तो यकीनन आपके इंतजार की मुद्दत बहुत कुछ कम हो सकती है। आप बड़े-बड़े हाकिमों के लिए तफरीह का सामान जुटा सकते हैं।

बड़े बाबू मेरी तरफ कनखियों से देखकर मुस्कराए। तफरीह के सामान से उनका क्या मतलब है, यह मैं न समझ सका। मगर पूछते हुए भी डर लगता था कि कहीं बड़े बाबू बिगड़ न जाएं और फिर मामला खराब हो जाए। एक बेचैनी की-सी हालत में जमीन की तरफ ताकने लगा।

बड़े बाबू ताड़ तो गए कि इसकी समझ में मेरी बात न आई लेकिन अब की उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़े। नहीं, उनके लहजे में हमदर्दी की झलक थी। फरमाया—यह तो गैर-मुमकिन है कि आपने बाजार की सैर न की हो।

मैंने शर्माते हुए कहा—नहीं हुजूर, बंदा इस कूचे को बिल्कुल नहीं जानता।

बड़े बाबू—तो आपको इस कूचे की खाक छाननी पड़ेगी। हाकिम भी आंख-कान रखते हैं। दिन-भर की दिमागी थकन के बाद स्वभावतः रात को उनकी तबीयत तफरीह की तरफ झुकती है। अगर आप उनके लिए आंखों को अच्छा लगने वाले रूप और कानों को भाने वाले संगीत का इंतजाम सस्ते दामों कर सकते हैं या कर सकें तो...

मैंने किसी कदर तेज होकर कहा आपका कहने का मतलब यह है कि मुझे रूप की मंडी की दलाली करनी पड़ेगी ?

बड़े बाबू—तो आप तेज क्यों होते हैं, अगर अब तक इतनी मोटी-सी बात आप नहीं समझे तो यह मेरा कसूर है या आपकी अक्ल का ।

मेरे जिस्म में आग लग गई। जी में आया कि बड़े बाबू को जुजुत्सू के दो-चार हाथ दिखाऊं, मगर घर की बेसरोसामानी का खयाल आ गया। बीबी की इंतजार करती हुई आंखें और बच्चों की भूखी सूरतें याद आ गईं। जिल्लत का एक दरिया हलक से नीचे ढकेलते हुए बोला—जी नहीं, मैं तेज नहीं हुआ था। ऐसी बेअदबी मुझसे नहीं हो सकती। (आंखों

में आंसू भरकर) जरूरत ने मेरी गैरत को मिटा दिया है। आप मेरा नाम उम्मीदवारों में दर्ज कर दें। हालात मुझसे जो कुछ कराएंगे वह सब करूंगा और मरते दम तक आपका एहसानमंद रहूंगा।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'बहारिस्तान', फरवरी, 1927 में प्रकाशित। उर्दू कहानी-संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित। हिन्दी रूप 'बड़े बाबू' शीर्षक से 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित।]

शादी की वजह

यह सवाल टेढ़ा है कि लोग क्यों शादी करते हैं? औरत और मर्द की प्रकृत्य एक-दूसरे की जरूरत होती है लेकिन मौजूदा हालत में आमतौर पर शादी की यह सच्ची वजह नहीं होती बल्कि शादी सभ्य जीवन की एक रस्म-सी हो गयी है। बहरहाल, मैंने अक्सर शादीशुदा लोगों से इस बारे में पूछा तो लोगों ने इतनी तरह के जवाब दिये कि मैं दंग रह गया। उन जवाबों को पाठकों के मनोरंजन के लिए नीचे लिखा जाता है–

एक साहब का तो बयान है कि मेरी शादी बिल्कुल कमसिनी में हुई और उसकी जिम्मेदारी पूरी तरह मेरे मां-बाप पर है। दूसरे साहब को अपनी खूबसूरती पर बड़ा नाज है। उनका ख्याल है कि उनकी शादी उनके सुन्दर रूप की बदौलत हुई। तीसरे साहब फरमाते हैं कि मेरे पड़ोस में एक मुंशी साहब रहते थे जिनके एक ही लड़की थी। मैंने सहानुभूतिवश खुद ही बातचीत करके शादी कर ली। एक साहब को अपने उत्तराधिकारी के रूप में एक लड़के की जरूरत थी। चुनांचे आपने इसी धुन में शादी कर ली। मगर बदकिस्मती से अब तक उनकी सात लड़कियां हो चुकी हैं और लड़के का कहीं पता नहीं। आप कहते हैं कि मेरा ख्याल है कि यह शरारत मेरी बीवी की है जो मुझे इस तरह कुढ़ाना चाहती है। एक साहब बड़े पैसे वाले हैं और उनकी अपनी दौलत खर्च करने का कोई तरीका ही मालूम न था इसलिए उन्होंने अपनी शादी कर ली। एक और साहब कहते हैं कि मेरे आत्मीय और स्वजन हर वक्त मुझे घेरे रहा करते थे इसलिए मैंने शादी कर ली। और इसका नतीजा यह हुआ कि अब मुझे शान्ति है। अब मेरे यहां कोई नहीं आता। एक साहब तमाम उम्र दूसरों की शादी-ब्याह पर व्यवहार और भेंट देते-देते परेशान हो गये तो आपने उनकी वापसी की गरज से आखिरकार खुद अपनी शादी कर ली।

और साहबों से जो मैंने दर्याफ्त किया तो उन्होंने निम्नलिखित कारण बतलाये। यह जवाब उन्हीं के शब्दों में नम्बरवार नीचे दर्ज किये जाते हैं

1–मेरे ससुर एक दौलतमन्द आदमी थे और उनकी इकलौती बेटी था इसलिए मेरे पिता ने शादी की।

2–मेरे बाप-दादा सभी शादी करते चले आये हैं इसलिए मुझे भी शादी करनी पड़ी।

3–मैं हमेशा से खामोश और कम बोलने वाला रहा हूं, इन्कार न कर सका।

4–मेरे ससुर ने शुरू में अपने धन-दौलत का बहुत प्रदर्शन किया इसलिए मेरे

मां-बाप ने फौरन मेरी शादी मंजूर कर ली।

5—नौकर अच्छे नहीं मिलते थे और अगर मिलते भी थे तो ठहरते नहीं थे। खास तौर पर खाना पकाने वाला अच्छा नहीं मिलता। शादी के बाद इस मुसीबत से छुटकारा मिल गया।

6—मैं अपना जीवन-बीमा कराना चाहता था और खानापूरी के वास्ते विधवा का नाम लिखना जरूरी था।

7—मेरी शादी जिद में हुई। मेरे ससुर शादी के लिए रजामन्द न होते थे मगर मेरे पिता को जिद हो गयी। इसलिए मेरी शादी हुई। आखिरकार मेरे ससुर को मेरी शादी करनी ही पड़ी।

8—मेरे ससुराल वाले बड़े ऊंचे खानदान के हैं इसलिए मेरे माता-पिता ने कोशिश करके मेरी शादी की।

9—मेरी शिक्षा की कोई उचित व्यवस्था न थी इसलिए मुझे शादी करनी पड़ी।

10—मेरे और मेरी बीवी के जनम के पहले ही हम दोनों के मां-बाप में शादी की बातचीत पक्की हो गयी थी।

11—लोगों के आग्रह से पिता ने शादी कर दी।

12—नस्ल और खानदान चलाने के लिए शादी की।

13—मेरी मां का देहान्त हो गया था और कोई घर को देखने वाला न था इसलिए मजबूरन शादी करनी पड़ी।

14—मेरी बहनें अकेली थीं, इस वास्ते शादी कर ली।

15—मैं अकेला था, दफ्तर जाते वक्त मकान में ताला लगाना पड़ता था इसलिए शादी कर ली।

16—मेरी मां ने कसम दिलायी थी इसलिए शादी की।

17—मेरी पहली बीवी की औलाद को परवरिश की जरूरत थी, इसलिए शादी की।

18—मेरी मां का ख्याल था कि वह जल्द मरने वाली हैं और मेरी शादी अपने ही सामने कर देना चाहती थीं, इसलिए मेरी शादी हो गयी। लेकिन शादी को दस साल हो रहे हैं और भगवान् की दया से मां के आशीष की छाया अभी तक कायम है।

19—तलाक देने को जी चाहता था इसलिए शादी की।

20—मैं मरीज रहता हूं और कोई तीमारदार नहीं है इसलिए मैंने शादी कर ली।

21—केवल संयोग से मेरा विवाह हो गया।

22—जिस साल मेरी शादी हुई उस साल बहुत बड़ी सहालग थी। सबकी शादी होती थी, मेरी भी हो गयी।

23—बिना शादी के कोई अपना हाल पूछने वाला न था।

24—मैंने शादी नहीं की है, एक आफत मोल ले ली है।

25—पैसे वाले चचा की अवज्ञा न कर सका।

26—मैं बुड्ढा होने लगा था, अगर अब शादी न करता तो कब करता।

27—लोक-हित के ख्याल से शादी की।

28—पड़ोसी बुरा समझते थे इसलिए निकाह कर लिया।

29—डॉक्टरों ने शादी के लिए मजबूर किया।

30—मेरी कविताओं की कोई दाद न देता था।

31—मेरे दांत गिरने लगे थे और बाल सफेद हो गये थे इसलिए शादी कर ली।

32—फौज में शादीशुदा लोगों को तनख्वाह ज्यादा मिलती थी इसलिए मैंने भी शादी कर ली।

33—कोई मेरा गुस्सा बर्दाश्त न करता था इसलिए मैंने शादी कर ली।

34—बीवी से ज्यादा कोई अपना समर्थक नहीं होता इसलिए मैंने शादी कर ली।

35—मैं खुद हैरान हूं कि शादी क्यों की।

36—शादी भाग्य में लिखी थी इसलिए कर ली।

इसी तरह जितने मुंह उतनी बातें सुनने में आयीं।

[प्रथम प्रकाशन उर्दू में। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', मार्च, 1927 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'शादी की वजह' 'गुप्तधन' भाग-2 में संकलित।]

सती-1

दो शताब्दियां से अधिक बीत गये हैं, पर चिंतादेवी का नाम चला आता है। बुंदेलखंड के एक बीहड़-स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिंतादेवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सुहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टोकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मंदिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखायी देती है। मन्दिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एक साथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मन्दिर तक पत्थर का जीना है। भीड़-भाड़ में धक्का खा कर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिए जीने की दीवार दोनों तरफ बनी हुई है। यहीं चिंतादेवी सती हुई थीं; पर लोकरीति के अनुसार वह अपने मृत-पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था; पर वह उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखती थीं। वह पति-शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती हुई। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

2

यमुना तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है। चिंता उसी नगर के एक वीर बुन्देल की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थी। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फुरसत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और जीन ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिंता का बाल्यकाल पिता के साथ समरभूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह में या वृक्ष की आड़ में छिपा कर मैदान में चला जाता। चिंता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के

किले बनाती और बिगाड़ती। उसके घरौंदे थे, उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रण-क्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी-कभी उसका पिता संध्या समय भी न लौटता; पर चिंता को भय छू तक न गया था। निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ, और वह भी योद्धाओं के मुँह से सुन-सुन कर वह आदर्शवादिनी बन गयी थी।

एक बार तीन दिन तक चिंता को अपने पिता की खबर न मिली। वह एक पहाड़ी की खोह में बैठी मन ही मन एक ऐसा किला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जान न सके। दिन भर वह उसी किले का नक्शा सोचती और रात को उसी किले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन संध्या-समय उसके पिता के कई साथियों ने आ कर उसके सामने रोना शुरू किया। चिंता ने विस्मित होकर पूछा—दादा जी कहाँ हैं ? तुम लोग क्यों रोते हो ?

किसी ने इसका उत्तर न दिया। वे जोर से धाड़ें मार-मार कर रोने लगे। चिंता समझ गयी कि उसके पिता ने वीरगति पायी। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख जरा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँस कर बोली—अगर उन्होंने वीरगति पायी, तो तुम लोग रोते क्यों हो ? योद्धाओं के लिए इससे बढ़ कर और कौन मृत्यु हो सकती है ? इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है ? यह रोने का नहीं, आनन्द मनाने का अवसर है।

एक सिपाही ने चिंतित स्वर में कहा—हमें तुम्हारी चिंता है। तुम अब कहाँ रहोगी ?

चिंता ने गम्भीरता से कहा—इसकी तुम कुछ चिंता न करो, दादा ! मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृभूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिये। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जा कर अपने आदमियों को सँभालिए। मेरे लिए एक घोड़ा और हथियारों का प्रबन्ध कर दीजिए। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पायेंगे, लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अंत कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइए अब विलम्ब न कीजिए।

सिपाहियों को चिंता के ये वीर-वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह संदेह अवश्य हुआ कि क्या कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी ?

3

पाँच वर्ष बीत गये। समस्त प्रांत में चिंता देवी की धाक बैठ गयी। शत्रुओं के कदम उखड़ गये। वह विजय की सजीव मूर्ति थी, उसे तीरों और गोलियों के सामने निश्शंक खड़े देख कर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे कदम पीछे हटाते ? कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष पीछे हटेगा ! सुंदरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिये आत्म-समर्पण के गुप्त संदेश हैं। उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिंता की छवि-कीर्ति ने मनचले सूरमाओं को चारों ओर से खींच-खींच कर उसकी सेना को सजा दिया—जान पर खेलनेवाले भौंरे चारों ओर से आ-आ कर इस फूल पर मँडराने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का एक युवक राजपूत भी था।

यों तो चिंता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे; बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदने वाले, उसकी आज्ञा पा कर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते; किन्तु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिंता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमंडी न था। और लोग अपनी-अपनी कीर्ति को खूब बढ़ा-बढ़ा कर बयान करते, आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी जबान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिंता को दिखाने के लिए। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिंता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शांत भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आये, उसकी चर्चा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता, संकोच की सीमा से भिड़ गयी थी। औरों के प्रेम में विलास था; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे; पर रत्नसिंह तारे गिन-गिन कर रात काटता था और सब अपने दिल में समझते थे कि चिंता मेरी होगी—केवल रत्नसिंह निराश था, और इसलिए उसे किसी से न द्वेष था, न राग। औरों को चिंता के सामने चहकते देख कर उसे उनकी वाक्पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशांधकार और भी घना हो जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रखा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं ? उसे कौन पूछेगा ? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है ? पर वह मन में झुँझला कर रह जाता था। दिखावे की उसकी सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिंता अपने खेमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंजिल मारने के बाद कुछ खा-पी कर गाफिल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिंता उसके आने की खबर पा कर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की खबर न होगी; किंतु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की खबरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिंता से निश्चिंत होने के लिए एक षड्यंत्र रचा रखा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिए तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र पशुओं की भाँति दबे-पाँव जंगल को पार करके आये और वृक्षों की आड़ में खड़े हो कर सोचने लगे कि चिंता का खेमा कौन-सा है ? सारी सेना बे-खबर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेशमात्र संदेह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और जमीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिंता के खेमे की ओर चले।

सारी सेना बे-खबर सोती थी, पहरे के सिपाही थक कर चूर हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गये हैं। केवल एक प्राणी खेमे के पीछे मारे ठंड के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यही रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नयी बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिंता के खेमे के पीछे बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पा कर उसने तलवार निकाल ली, और चौंक कर उठ खड़ा हुआ। देखा—तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं। अब क्या करे ? अगर शोर मचाता है, तो सेना में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिडने में प्राणों का भय।

अधिक सोचने का मौका न था। उसमें योद्धाओं की अविलम्ब निश्चय कर लेने की शक्ति थी; तुरन्त तलवार खींच ली, और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा छा गया। उधर वे तीनों आहत हो कर गिर पड़े, इधर यह भी जख्मों से चूर हो कर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिंता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक् से हो गया। समीप जा कर देखा—तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गयी। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पायी। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों में आँसुओं की झड़ी लग गयी। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाल डाल दी।

4

महीने भर न रत्नसिंह की आँखें खुलीं, और न चिंता की आँखें बन्द हुई। चिंता उसके पास से एक क्षण के लिए भी कहीं न जाती। न अपने इलाके की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फिक्र। रत्नसिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों का बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँखें खुलीं। देखा—चारपाई पड़ी हुई है, और चिंता सामने पंखा लिए खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—चिंता, पंखा मुझे दे दो, तुम्हें कष्ट हो रहा है।

चिंता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखंड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस जीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देख कर आह्लाद का पारावार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती। 'प्राणनाथ'—इस सम्बोधन में विलक्षण मंत्र की-सी शक्ति थी। रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्ण मुद्रा प्रदीप्त हो गयी, नसों में एक नये जीवन का संचार हो उठा, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था। उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी। रत्नसिंह के अंग-अंग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे संसार को सर कर सकता है, उड़ कर आकाश पर पहुँच सकता है, पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिए उसे ऐसी तृप्ति हुई, मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गयी हैं, और वह उसे किसी से कुछ नहीं चाहता; शायद शिव को सामने खड़े देख कर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा।

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती।

चिंता अभी अपना वाक्य पूरा भी न कर पायी थी कि उसी प्रसंग में बोली—हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी।

चिंता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—इस सिद्धि के लिए तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो ? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे।

यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राणपण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था; लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है; मेरा हृदय उसी पुरुषसिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाजी खेल सकता हो। रसिकों के हास-विलास, गुंडों के रूप-रंग और फेकैतों से दाव-घात का मेरी दृष्टि में रत्ती भर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गयी—आज से नहीं, बहुत दिनों से।

5

प्रणय की पहली रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनों प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारों ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्यमयी छटा में वर-वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा खबर आयी कि शत्रुओं की एक सेना किले की ओर बढ़ी चली आती है। चिंता चौंक पड़ी; रत्नसिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिंता ने उसकी ओर कातर-स्नेह की दृष्टि से देख कर कहा—कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या जरूरत है ?

रत्नसिंह ने बंदूक कंधे पर रखते हुए कहा—मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।

चिंता—तो मैं भी चलूँगी।

नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे। मैं एक ही धावे में उनके कदम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो !

'न-जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता !'

रत्नसिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल हो कर चिंता को गले लगा लिया और बोले—मैं सबेरे तक लौट जाऊँगा, प्रिये !

चिंता पति के गले में हाथ डाल कर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर रोज खबर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेल कर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देख कर काम करना। जाओ जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।

चिंता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था, अब भोग-लालसा की प्रधानता थी। वही वीर बाला, जो सिंहनी की तरह गरज कर शत्रुओं के कलेजे को कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन ही मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही, फिर वह किले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गयी, और घंटों उसी तरफ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों

ने कभी का रत्नसिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था; पर चिंता को ऐसे जान पड़ा था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छवि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह विस्मृति टूट गयी। मालूम हुआ, चारों तरफ शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँप कर रोने लगी।

6

रत्नसिंह के साथ मुश्किल से सौ आदमी थे; किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझने वाले, अपनी जान के दुश्मन ! वीरोल्लास से भरे हुए, एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए, घोड़ों को बढ़ाये चले जाते थे—

'बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग-तवर कुछ काम न आये, बख्तर-ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग, सिपाही बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।।'

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रही थीं। घोड़ों की टाप ताल दे रही थी। यहाँ तक कि रात बीत गयी, सूर्य ने अपनी आँखें खोल दीं और इन वीरों पर अपनी स्वर्ण-छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नजर आयी।

रत्नसिंह सिर झुकाये, वियोग-व्यथित हृदय को दबाये, मन्द गति से पीछे-पीछे चला जाता था। कदम आगे बढ़ता था; पर मन पीछे हटता। आज जीवन में पहली बार दुश्चिंताओं ने उसे आशंकित कर रखा था। कौन जानता है, लड़ाई का अंत क्या होगा ? जिस स्वर्ग-सुख को छोड़ कर वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रह कर उसके हृदय को मसोस रही थीं; चिंता की सजल आँखें याद आती थीं; और जी चाहता था, घोड़े की रास पीछे मोड़ दें। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था, सहसा एक सरदार ने समीप आ कर कहा—भैया, यह देखो, ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़े हैं। तुम्हारी अब क्या राय है ? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरन्त उन पर धावा कर दें। गाफिल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे। देर करने से वे भी सँभल जायँगे और तब मामला नाजुक हो जायगा। एक हजार से कम न होंगे।

रत्नसिंह ने चिंतित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देख कर कहा—हाँ, मालूम तो होता है।

सिपाही—तो धावा कर दिया जाय न ?

रत्न.—जैसी तुम्हारी इच्छा। संख्या अधिक है, यह सोच लो।

सिपाही—इसकी परवाह नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।

रत्न.—यह सच है; पर आग में कूदना ठीक नहीं।

सिपाही—भैया, तुम कहते क्या हो ? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिए है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवट देखना।

रत्न.—अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। जरा विश्राम कर लेना अच्छा है।

सिपाही—नहीं भैया; उन सबों को हमारी आहट मिल गयी, तो गजब हो जायगा।

रत्न.—तो फिर धावा ही कर दो।

एक क्षण में योद्धाओं ने घोड़ों की बागें उठा दीं, और अस्त्र सँभाले हुए शत्रु सेना पर लपके; किन्तु पहाड़ी पर पहुँचते ही इन लोगों ने उसके विषय में जो अनुमान किया था, वह मिथ्या था। वह सजग ही न थे स्वयं किले पर धावा करने की तैयारियाँ भी कर रहे थे। इन लोगों ने जब उन्हें सामने आते देखा, तो समझ गये कि भूल हुई; लेकिन अब सामना करने के सिवा चारा ही क्या था। फिर भी वे निराश न थे। रत्नसिंह जैसे कुशल योद्धा के साथ इन्हें कोई शंका न थी। वह इससे भी कठिन अवसरों पर अपने रण-कौशल से विजय-लाभ कर चुका था। क्या आज वह अपना जौहर न दिखाएगा ? सारी आँखें रत्नसिंह को खोज रही थीं; पर उसका वहाँ कहीं पता न था। कहाँ चला गया ? यह कोई न जानता था।

पर वह कहीं नहीं जा सकता। अपने साथियों को इस कठिन अवस्था में छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता—सम्भव नहीं। अवश्य ही वह यहीं है, और हारी हुई बाजी को जिताने की कोई युक्ति सोच रहा है।

एक क्षण में शत्रु इनके सामने आ पहुँचे। इतनी बहुसंख्यक सेना के सामने ये मुट्ठी भर आदमी क्या कर सकते थे। चारों ओर से रत्नसिंह की पुकार होने लगी—भैया, तुम कहाँ हो ? हमें क्या हुक्म देते हो ? देखते हो, वे लोग सामने आ पहुँचे; पर तुम अभी मौन खड़े हो। सामने आकर हमें मार्ग दिखाओ, हमारा उत्साह बढ़ाओ !

पर अब भी रत्नसिंह न दिखायी दिया। यहाँ तक कि शत्रु-दल सिर पर आ पहुँचा, और दोनों दलों में तलवारें चलने लगीं। बुन्देलों ने प्राण हथेली पर ले कर लड़ना शुरू किया; पर एक को एक बहुत होता है; एक और दस का मुकाबिला ही क्या ? यह लड़ाई न थी, प्राणों का जुआ था ! बुन्देलों में निराशा का अलौकिक बल था। खूब लड़े; पर क्या मजाल कि कदम पीछे हटे। उनमें अब जरा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे बढ़ते बना, बढ़ा। अंत क्या होगा, इसकी किसी को चिंता न थी। कोई तो शत्रुओं की सफें चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उनके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया। उनका अमानुषिक साहस देख कर शत्रुओं के मुँह से भी वाह-वाह निकलती थी; लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया है, विजय नहीं पायी। एक घंटे में रंगमंच का परदा गिर गया, तमाशा खत्म हो गया। एक आँधी थी; जो आयी और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गयी। संगठित रह कर ये मुट्ठी भर आदमी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देते; पर जिस पर संगठन का भार था, उसका कहीं पता न था। विजयी मराहठों ने एक-एक लाश ध्यान से देखी। रत्नसिंह उनकी आँखों में खटकता था। उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्नसिंह के जीते-जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक-एक चट्टान का मन्थन कर डाला; पर रत्न न हाथ आया। विजय हुई; पर अधूरी।

7

चिंता के हृदय में आज न जाने क्यों भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुन्देलों की हार ही क्यों होगी, इसका कोई कारण तो वह न बता सकती थी; पर यह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। उस अभागिन के भाग्य

में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में माँ मर जाती, पिता के साथ वन-वन घूमना पड़ता, खोहों और कंदराओं में रहना पड़ता ! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन न रहा। पिता भी मुँह मोड़ कर चल दिये। तब से उसे एक दिन भी तो आराम से बैठना नसीब न हुआ। विधाता क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा ? आह ! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई—ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लाये, तो वह उसे ले कर किसी दूर के गाँव में जा बसेगी। पतिदेव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी। इस संग्राम से सदा के लिए मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत हुआ।

संध्या हो गयी थी, सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाते कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर, पाँव, निरस्त्र उसके सामने जा कर खड़ा हो गया। चिंता पर वज्रपात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत सी बैठी रही। फिर उठ कर घबराई हुई सैनिक के पास आयी, और आतुर स्वर में पूछा—कौन-कौन बचा ?

सैनिक ने कहा—कोई नहीं ?

'कोई नहीं ? कोई नहीं ?'

चिंता सिर पकड़ कर भूमि पर बैठ गयी। सैनिक ने फिर कहा—मरहठे समीप आ पहुँचे।

'समीप आ पहुँचे ?'

'बहुत समीप !'

'तो तुरंत चिता तैयार करो। समय नहीं है।'

'अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाजिर ही हैं।'

'तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यही अंत है।'

'किला बंद करके हम महीनों लड़ सकते हैं।'

'तो जाकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।'

एक ओर अंधकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था; दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतो को। और किले में चिता बन रही थी। ज्यों ही दीपक जले, चिता में भी आग लगी। सती चिंता सोलहो शृंगार किये, अनुपम छवि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पतिलोक की यात्रा करने जा रही थी।

8

चिता के चारों ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने किले को घेर लिया है इसकी किसी को फिक्र न थी। शोक और संतोष से सबके चेहरे उदास और सिर झुके हुए थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मंडप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवन-कुण्ड था। कल भी इसी भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं, इसी भाँति लोग जमा थे; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अंतर है ! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिए अंतर हो सकता है; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़े की टापों की आवाजें सुनायी देने लगीं। मालूम होता था, कोई सिपाही घोड़े को सरपट भगाता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज बंद हो गयी, और

एक सैनिक आँगन में दौड़ा हुआ आ पहुँचा। लोगों ने चकित हो कर देखा, यह रत्नसिंह था!

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला–प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला ?

चिता में आग लग चुकी थी ! चिंता की साड़ी से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। रत्नसिंह उन्मत्त की भाँति चिता में घुस गया, और चिंता का हाथ पकड़ कर उठाने लगा। लोगों ने चारों ओर से लपक-लपक कर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं; पर चिंता ने पति की ओर आँख उठा कर भी न देखा, केवल हाथों से उसे हट जाने का संकेत किया।

रत्नसिंह सिर पीट कर बोला–हाय प्रिये, तुम्हें क्या हो गया है। मेरी ओर देखती क्यों नहीं ? मैं तो जीवित हूँ।

चिता से आवाज आयी–तुम्हारा नाम रत्नसिंह है; पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो।

तुम मेरी तरफ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।

'मेरे पति ने वीर-गति पायी।'

'हाय ! कैसे समझाऊँ ! अरे लोगो, किसी भाँति अग्नि शांत करो। मैं रत्नसिंह ही हूँ, प्रिये ? क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो ?'

अग्नि-शिखा चिंता के मुख तक पहुँच गयी। अग्नि में कमल खिल गया। चिंता स्पष्ट स्वर में बोली–खूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्नसिंह नहीं। मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह आत्मरक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्नसिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रणक्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं !

अंतिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिंता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गयी।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा। फिर अचानक एक ठंडी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' मार्च 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। 'नारी जीवन की कहानिया' में भी संकलित। उर्दू रूप इसी शीर्षक से प्रकाशित। उर्दू कहानी-संग्रह 'ख्वाबो ख्याल' में संकलित।]

कामना तरु

राजा इन्द्रनाथ का देहांत हो जाने के बाद कुँवर राजनाथ को शत्रुओं ने चारों ओर से ऐसा दबाया कि उन्हें अपने प्राण ले कर एक पुराने सेवक की शरण जाना पड़ा, जो एक छोटे-से गाँव का जागीरदार था। कुँवर स्वभाव से ही शांति-प्रिय, रसिक, हँस-खेल कर समय

काटनेवाले युवक थे। रणक्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाना उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकजनों के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, काव्य-चर्चा करने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह शिकार या राज-दरबार में नहीं। इस पर्वतमालाओं से घिरे हुए गाँव में आ कर उन्हें जिस शांति और आनन्द का अनुभव हुआ, उसके बदले में वह ऐसे-ऐसे कई राज्य-त्याग कर सकते थे। यह पर्वतमालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्ररंजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँगें, यह बछड़ों की कुलेलें, यह ग्राम-निवासियों की बालोचित सरलता, यह रमणियों की संकोचमय चपलता ! ये सभी बातें उनके लिए नयी थीं, पर इन सबों से बढ़ कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीरदार की युवती कन्या चंदा थी।

चंदा घर का सारा काम-काज आप ही करती थी। उसको माता की गोद में खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही में रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था, कि इसी बीच में कुँवर जी ने आ कर उसके जीवन में नवीन भावनाओं और आशाओं को अंकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन में खींच रखा था, वही मानो रूप धारण करके उसके सम्मुख आ गया। कुँवर की आदर्श रमणी भी चंदा ही के रूप में अवतरित हो गयी; लेकिन कुँवर समझते थे—मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? चंदा भी समझती थी—कहाँ यह और कहाँ मैं !

2

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्ठी की भाँति तपने लगा। खस की टट्टियों और तहखानों में रहने वाले राजकुमार का चित्त गरमी से इतना बेचैन हुआ कि वह बाहर निकल आये और सामने के बाग में जा कर एक घने वृक्ष की छाँव में बैठ गये। सहसा उन्होंने देखा—चंदा नदी से जल की गागर लिये चली आ रही है। नीचे जलती हुई रेत थी, ऊपर जलता हुआ सूर्य। लू से देह झुलसी जाती थी। कदाचित् इस समय प्यास से तड़पते हुए आदमी की भी नदी तक जाने की हिम्मत न पड़ती। चंदा क्यों पानी लेने गयी थी ? घर में पानी भरा हुआ है। फिर इस समय वह क्यों पानी लेने निकली ?

कुँवर दौड़कर उसके पास पहुँचे और उसके हाथ से गागर छीन लेने की चेष्टा करते हुए बोले—मुझे दे दो और भाग कर छाँह में चली जाओ। इस समय पानी का क्या काम था?

चंदा ने गागर न छोड़ी। सिर से खिसका हुआ अंचल सँभालकर बोली—तुम इस समय कैसे आ गये ? शायद मारे गरमी के अंदर न रह सके ?

कुँवर—मुझे दे दो, नहीं तो मैं छीन लूँगा।

चंदा ने मुस्करा कर कहा—राजकुमारों को गागर ले कर चलना शोभा नहीं देता।

कुँवर ने गागर का मुँह पकड़ कर कहा—इस अपराध का बहुत दंड सह चुका हूँ। चंदा, अब तो अपने को राजकुमार कहने में भी लज्जा आती है।

चंदा—देखो, धूप मे खुद हैरान होते हो और मुझे भी हैरान करते हो। गागर छोड़ दो। सच कहती हूँ, पूजा का जल है।

कुँवर—क्या मेरे ले जाने से पूजा का जल अपवित्र हो जायेगा ?

चंदा—अच्छा भाई, नहीं मानते, तो तुम्हीं ले चलो। हाँ, नहीं तो।

कुँवर गागर ले कर आगे-आगे चले। चंदा पीछे हो ली। बगीचे में पहुँचे, तो चंदा एक छोटे-से पौधे के पास रुक कर बोली—इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो। कुँवर ने आश्चर्य से पूछा—यहाँ कौन देवता है, चंदा ? मुझे तो नहीं नजर आता।

चंदा ने पौधे को सींचते हुए कहा—यही तो मेरा देवता है।

पानी पी कर पौधे की मुरझायी हुई पत्तियाँ हरी हो गयीं, मानो उनकी आँखें खुल गयी हों।

कुँवर ने पूछा—यह पौधा क्या तुमने लगाया है, चंदा ?

चंदा ने पौधे को एक सीधी लकड़ी से बाँधते हुए कहा—हाँ, उसी दिन तो, जब तुम यहाँ आये। यहाँ पहले मेरी गुड़ियों का घरौंदा था। मैंने गुड़ियों पर छाँह करने के लिए अमोला लगा दिया था। फिर मुझे इसकी याद नहीं रही। घर के काम-धन्धे में भूल गयी। जिस दिन तुम यहाँ आये, मुझे न-जाने क्यों इस पौधे की याद आ गयी। मैंने आ कर देखा, तो वह सूख गया था। मैंने तुरन्त पानी ला कर इसे सींचा, तो कुछ-कुछ ताजा होने लगा। तब से इसे सींचती हूँ। देखो, कितना हरा-भरा हो गया है।

यह कहते-कहते उसने सिर उठा कर कुँवर की ओर ताकते हुए कहा—और सब काम भूल जाऊँ; पर इस पौधे को पानी देना नहीं भूलती। तुम्हीं इसके प्राण-दाता हो। तुम्हीं ने आ कर इसे जिला दिया, नहीं तो बेचारा सूख गया होता। यह तुम्हारे शुभागमन का स्मृति-चिह्न है। जरा इसे देखो। मालूम होता है, हँस रहा है। मुझे तो जान पड़ता है कि यह मुझसे बोलता है। सच कहती हूँ, कभी यह रोता है, कभी हँसता है, कभी रूठता है; आज तुम्हारा लाया हुआ पानी पा कर यह फूला नहीं समाता। एक-एक पत्ता तुम्हें धन्यवाद दे रहा है।

कुँवर को ऐसा जान पड़ा, मानो वह पौधा कोई नन्हा-सा क्रीड़ाशील बालक है। जैसे चुम्बन से प्रसन्न हो कर बालक गोद में चढ़ने के लिए दोनों हाथ फैला देता है, उसी भाँति यह पौधा भी हाथ फैलाये जान पड़ा। उसके एक-एक अणु में चंदा का प्रेम झलक रहा था।

चंदा के घर में खेती के सभी औजार थे। कुँवर एक फावड़ा उठा लाये और पौधे का एक थाल बना कर चारों ओर ऊँची मेंड़ उठा दी। फिर खुरपी लेकर अंदर की मिट्टी को गोंड़ दिया। पौधा और भी लहलहा उठा।

चंदा बोली—कुछ सुनते हो, क्या कह रहा है ?

कुँवर ने मुस्करा कर कहा—हाँ, कहता है—अम्माँ की गोद में बैठूँगा।

चंदा—नहीं, कह रहा है, इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना।

3

मगर कुँवर को अभी राज-पुत्र होने का दंड भोगना बाकी था। शत्रुओं को न-जाने कैसे उनकी टोह मिल गयी। इधर तो हितचिंतकों के आग्रह से विवश हो कर बूढ़ा कुवेरसिंह चंदा और कुँवर के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था, उधर शत्रुओं का एक दल सिर पर आ पहुँचा। कुँवर ने उस पौधे के आस-पास फूल-पत्ते लगा कर एक फुलवाड़ी-सी बना दी थी! पौधे को सींचना अब उनका काम था। प्रातःकाल वह कंधे पर काँवर रखे नदी से पानी ला

रहे थे, कि दस-बारह आदमियों ने उन्हें रास्ते में घेर लिया। कुवेरसिंह तलवार ले कर दौड़ा; लेकिन शत्रुओं ने उसे मार गिराया। अकेला अस्त्रहीन कुँवर क्या करता ? कंधे पर काँवर रखे हुए बोला—अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो, भाई ? मैंने तो सब-कुछ छोड़ दिया।

सरदार बोला—हमें आपको पकड़ ले जाने का हुक्म है।

'तुम्हारा स्वामी मुझे इस दशा में भी नहीं देख सकता ? खैर, अगर धर्म समझो तो कुवेरसिंह की तलवार मुझे दे दो।' अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ कर प्राण दूं।'

इसका उत्तर यही मिला कि सिपाहियों ने कुँवर को पकड़ कर मुश्कें कस दीं और उन्हें एक घोड़े पर बिठाकर घोड़े को भगा दिया। काँवर वहीं पड़ी रह गयी।

उसी समय चंदा घर से निकली। देखा—काँवर पड़ी हुई है और कुँवर को लोग घोड़े पर बिठाये जा रहे हैं। चोट खाये हुए पक्षी की भाँति वह कई कदम दौड़ी, फिर गिर पड़ी। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया।

सहसा उसकी दृष्टि पिता की लाश पर पड़ी। वह घबरा कर उठी और लाश के पास जा पहुँची ! कुवेर अभी मरा न था। प्राण आँखों में अटके हुए थे।

चंदा को देखते ही क्षीण स्वर में बोला—बेटी...कुँवर ! इसके आगे वह कुछ न कह सका। प्राण निकल गये; पर इस शब्द—'कुँवर'—ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

4

बीस वर्ष बीत गये ! कुँवर कैद से न छूट सके।

यह एक पहाड़ी किला था। जहाँ तक निगाह जाती, पहाड़ियाँ ही नजर आतीं। किले में उन्हें कोई कष्ट न था। नौकर-चाकर, भोजन-वस्त्र, सैर-शिकार, किसी बात की कमी न थी। पर, उस वियोगाग्नि को कौन शांत करता, जो नित्य कुँवर के हृदय में जला करती थी। जीवन में अब उनके लिए कोई आशा न थी, कोई प्रकाश न था। अगर कोई इच्छा थी, तो यही कि एक बार उस प्रेमतीर्थ की यात्रा कर लें, जहाँ उन्हें वह सब कुछ मिला, जो मनुष्य को मिल सकता है। हाँ, उनके मन में एकमात्र यही अभिलाषा थी कि उन पवित्र स्मृतियों से रंजित भूमि के दर्शन करके जीवन का उसी नदी के तट पर अंत कर दें। वही नदी का किनारा, वही वृक्षों का कुंज, वही चंदा का छोटा-सा सुन्दर घर उसकी आँखों में फिरा करता; और वह पौधा जिसे उन दोनों ने मिल कर सींचा था, उसमें तो मानो उसके प्राण ही बसते थे। क्या वह दिन भी आयेगा, जब वह उस पौधे को हरी-हरी पत्तियों से लदा हुआ देखेगा? कौन जाने, वह अब है भी या सूख गया ? कौन अब उसको सींचता होगा ? चंदा इतने दिनों अविवाहित थोड़े ही बैठी होगी ? ऐसा संभव भी तो नहीं। उसे अब मेरी सुध भी न होगी। हाँ, शायद कभी अपने घर की याद खींच लाती हो, तो पौधे को देख कर उसे मेरी याद आ जाती हो। मुझ-जैसे अभागे के लिए इससे अधिक वह और कर ही क्या सकती है ! उस भूमि को एक बार देखने के लिए वह अपना जीवन दे सकता था; पर यह अभिलाषा न पूरी होती थी।

आह ! एक युग बीत गया, शोक और नैराश्य ने उठती जवानी को कुचल दिया। न आँखों में ज्योति रही, न पैरों में शक्ति। जीवन क्या था, एक दुःखदायी स्वप्न था। उस सघन अंधकार में उसे कुछ न सूझता था। बस, जीवन का आधार एक अभिलाषा थी, एक सुखद

स्वप्न, जो जीवन में न जाने कब उसने देखा था। एक बार फिर वही स्वप्न देखना चाहता था। फिर उसकी अभिलाषाओं का अंत हो जायगा, उसे कोई इच्छा न रहेगी ? सारा अनंत भविष्य, सारी अनंत चिंताएँ इसी एक स्वप्न में लीन हो जाती थीं।

उसके रक्षकों को अब उसकी ओर से कोई शंका न थी। उन्हें उस पर दया आती थी। रात को पहरे पर केवल कोई एक आदमी रह जाता था और लोग मीठी नींद सोते थे। कुँवर भाग जा सकता है, इसकी कोई सम्भावना, कोई शंका न थी। यहाँ तक कि एक दिन यह सिपाही भी निश्शंक होकर बंदूक लिये लेट रहा। निद्रा किसी हिंसक पशु की भाँति ताक लगाये बैठी थी। लेटते ही टूट पड़ी। कुँवर ने सिपाही की नाक की आवाज सुनी। उनका हृदय बड़े वेग से उछलने लगा। यह अवसर आज कितने दिनों के बाद मिला था। वह उठे; मगर पाँव थर-थर काँप रहे थे। बरामदे के नीचे उतरने का साहस न हो सका। कहीं इसकी नींद खुल गयी तो ? हिंसा उनकी सहायता कर सकती थी। सिपाही की बगल में उसकी तलवार पड़ी थी; पर प्रेम का हिंसा से बैर है। कुँवर ने सिपाही को जगा दिया। वह चौंक कर उठ बैठा। रहा-सहा संशय भी उसके दिल से निकल गया। दूसरी बार जो सोया, तो खर्राटे लेने लगा।

प्रातःकाल जब उसकी निद्रा टूटी, तो उसने लपक कर कुँवर के कमरे में झाँका।

कुँवर का पता न था।

कुँवर इस समय हवा के घोड़े पर सवार, कल्पना की द्रुतगति से भागा जा रहा था—उस स्थान को, जहाँ उसने सुख-स्वप्न देखा था।

किले में चारों ओर तलाश हुई, नायक ने सवार दौड़ाये; पर कहीं पता न चला।

5

पहाड़ी रास्तों का काटना कठिन, उस पर अज्ञातवास की कैद, मृत्यु के दूत पीछे लगे हुए, जिनसे बचना मुश्किल। कुँवर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गये। जब यात्रा पूरी हुई, तो कुँवर में एक कामना के सिवा और कुछ शेष न था। दिन भर की कठिन यात्रा के बाद जब वह उस स्थान पर पहुँचे, तो संध्या हो गयी थी। वहाँ बस्ती का नाम भी न था। दो-चार टूटे-फूटे झोपड़े उस बस्ती के चिह्न-स्वरूप शेष रह गये थे। वह झोपड़ा, जिसमें कभी प्रेम का प्रकाश था, जिसके नीचे उन्होंने जीवन के सुखमय दिन काटे थे, जो उनकी कामनाओं का आगार और उपासना का मंदिर था, अब उनकी अभिलाषाओं की भाँति भग्न हो गया था। झोपड़े की भग्नावस्था मूक भाषा में अपनी करुण-कथा सुना रही थी ! कुँवर उसे देखते ही 'चंदा-चंदा !' पुकारते हुए दौड़े, उन्होंने उस रज को माथे पर मला, मानो किसी देवता की विभूति हो, और उसकी टूटी हुई दीवारों से चिमट कर बड़ी देर तक रोते रहे। हाय रे अभिलाषा। वह रोने ही के लिए इतनी दूर से आये थे ! रोने की अभिलाषा इतने दिनों से उन्हें विकल कर रही थी। पर इस रुदन में कितना स्वर्गीय आनन्द था ! क्या समस्त संसार का सुख इन आँसुओं की तुलना कर सकता था ?

तब वह झोपड़े से निकले। सामने मैदान में एक वृक्ष हरे-हरे नवीन पल्लवों को गोद में लिये मानो उनका स्वागत करने खड़ा था। यह वह पौधा है, जिसे आज से बीस वर्ष पहले दोनों ने आरोपित किया था। कुँवर उन्मत्त की भाँति दौड़े और जाकर उस वृक्ष से लिपट

गये, मानो कोई पिता अपने मातृहीन पुत्र को छाती लगाये हुए हो। यह उसी प्रेम की निशानी है, उसी अक्षय प्रेम की जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँवर का हृदय ऐसा हो उठा, मानो इस वृक्ष को अपने अन्दर रख लेगा। जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक-एक पल्लव पर चंदा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उन्होंने सुना था ? उनके हाथों में दम न था, सारी देह भूख-प्यास और थकान से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गया, इतनी फुर्ती से चढ़े कि बन्दर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठ कर उन्होंने चारों ओर गर्वपूर्ण दृष्टि डाली। यही उनकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चंदामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत-श्रेणियों पर चंदा बैठी गा रही थी। आकाश में तैरने वाली लालिमामयी नौकाओं पर चंदा ही उड़ी जाती थी। सूर्य की श्वेत-पीत प्रकाश की रेखाओं पर चंदा ही बैठी हँस रही थी। कुँवर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँवर नीचे उतरे और उसी वृक्ष के नीचे थोड़ी-सी भूमि झाड़ कर पत्तियों की शय्या बनायी और लेटे। यही उनके जीवन का स्वर्ण-स्वप्न था, आह ! यही वैराग्य ! अब वह इस वृक्ष की शरण छोड़ कर कहीं न जायँगे, दिल्ली के तख्त के लिए भी वह इस आश्रम को न छोड़ेंगे।

6

उसी स्निग्ध, अमल चाँदनी में सहसा एक पक्षी आ कर उस वृक्ष पर बैठा और दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है ! वह नीरव रात्रि उस वेदनामय संगीत से हिल उठी। कुँवर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा, मानो वह फट जायगा। स्वर में करुणा और वियोग के तीर से भरे हुए थे। आह पक्षी! तेरा भी जोड़ा अवश्य बिछुड़ गया है। नहीं तो तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता ! कुँवर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वह बैठे न रह सके। उठ कर आत्म-विस्मृति की दशा में दौड़े हुए झोपड़े में गये, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आये। उस पक्षी को कैसे पायें। कहीं दिखायी नहीं देता।

पक्षी का गाना बन्द हुआ, तो कुँवर को नींद आ गयी। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँवर ने ध्यान से देखा, तो वह पक्षी न था, चंदा थी; हाँ, प्रत्यक्ष चंदा थी।

कुँवर ने पूछा—चंदा, यह पक्षी यहाँ कहाँ ?

चंदा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँवर—तुम पक्षी हो ! क्या तुम्हीं गा रही थीं ?

चंदा—हाँ प्रियतम, मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते-रोते एक युग बीत गया।

कुँवर—तुम्हारा घोंसला कहाँ है ?

चंदा—उसी झोपड़े में, जहाँ तुम्हारी खाट थी। उसी खाट के बान से मैंने अपना घोंसला बनाया है।

कुँवर—और तुम्हारा जोड़ा कहाँ है ?

चंदा—मैं अकेली हूँ। चंदा को अपने प्रियतम के स्मरण करने में, उसके लिए रोने में जो सुख है, वह जोड़े में नहीं; मैं इसी तरह अकेली रहूँगी और अकेली मरूँगी।

कुँवर—मैं क्या पक्षी नहीं हो सकता ?

चंदा चली गयी। कुँवर की नींद खुल गयी। उषा की लालिमा आकाश पर छायी हुई थी और वह चिड़िया कुँवर की शय्या के समीप एक डाल पर बैठी चहक रही थी। अब उस संगीत में करुणा न थी, विलाप न था; उसमें आनंद था, चापल्य था, सारल्य था; वह वियोग का करुण-क्रन्दन नहीं, मिलन का मधुर संगीत था।

कुँवर सोचने लगे—इस स्वप्न का क्या रहस्य है ?

7

कुँवर ने शय्या से उठते ही एक झाड़ू बनायी और झोपड़े को साफ करने लगे। उनके जीते जी इसकी यह भग्न दशा नहीं रह सकती। वह इसकी दीवारें उठायेंगे, इस पर छप्पर डालेंगे, इसे लीपेंगे। इसमें उनकी चंदा की स्मृति वास करती है। झोपड़े के एक कोने में वह काँवर रखी हुई थी, जिस पर पानी ला-ला कर वह इस वृक्ष को सींचते थे। उन्होंने काँवर उठा ली और पानी लाने चले। दो दिन से कुछ भोजन न किया था। रात को भूख लगी हुई थी; पर इस समय भोजन की बिलकुल इच्छा न थी। देह में एक अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव होता था। उन्होंने नदी से पानी ला-ला कर मिट्टी भिगोना शुरू किया। दौड़े जाते थे और दौड़े आते थे। इतनी शक्ति उनमें कभी न थी।

एक ही दिन में इतनी दीवार उठ गयी, जितनी चार मजदूर भी न उठा सकते थे। और कितनी सीधी, चिकनी दीवार थी कि कारीगर भी देख कर लज्जित हो जाता! प्रेम की शक्ति अपार है !

संध्या हो गयी। चिड़ियों ने बसेरा लिया। वृक्षों ने भी आँखें बंद कीं; मगर कुँवर को आराम कहाँ ? तारों के मलिन प्रकाश में मिट्टी के रद्दे रखे जा रहे थे। हाय रे कामना ! क्या तू इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ेगी ?

वृक्ष पर पक्षी का मधुर स्वर सुनायी दिया। कुँवर के हाथ से घड़ा छूट पड़ा। हाथ और पैरों में मिट्टी लपेट कर वह वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। उस स्वर में कितना लालित्य था, कितना उल्लास, कितनी ज्योति ! मानव-संगीत इसके सामने बेसुरा अलाप था। उसमें यह जागृति, यह अमृत, यह जीवन कहाँ ? संगीत के आनंद में विस्मृति है; पर वह विस्मृति कितनी स्मृतिमय होती है, अतीत को जीवन और प्रकाश से रंजित करके प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति संगीत के सिवा और कहाँ है ? कुँवर के हृदय-नेत्रों के सामने वह दृश्य खड़ा हुआ जब चंदा इसी पौधे को नदी से जल ला-ला कर सींचती थी। हाय; क्या वे दिन फिर आ सकते हैं ?

सहसा एक बटोही आ कर खड़ा हो गया और कुँवर को देख कर वह प्रश्न करने लगा, जो साधारणतः दो अपरिचित प्राणियों में हुआ करते हैं—कौन हो, कहाँ से आते हो, कहाँ जाओगे ? पहले वह भी इसी गाँव में रहता था; पर जब गाँव उजड़ गया, तो समीप के एक दूसरे गाँव में जा बसा था। अब भी उसके खेत यहाँ थे। रात को जंगली पशु से अपने खेतों की रक्षा करने के लिए वह आ कर सोता था।

कुँवर ने पूछा—तुम्हें मालूम है, इस गाँव में एक कुवेरसिंह ठाकुर रहते थे ?

किसान ने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ-हाँ, भाई, जानता क्यों नहीं ! बेचारे यहीं तो मारे गये। तुमसे भी क्या जान-पहचान थी ?

कुँवर—हाँ, उन दिनों कभी-कभी आया करता था। मैं भी राजा की सेवा में नौकर था। उनके घर में और कोई न था ?

किसान—अरे भाई, कुछ न पूछो; बड़ी करुण-कथा है। उनकी स्त्री तो पहले ही मर चुकी थी। केवल लड़की बच रही थी। आह ! कैसी सुशीला, कैसी सुघड़ लड़की थी ! उसे देख कर आँखों में ज्योति आ जाती थी। बिलकुल स्वर्ग की देवी जान पड़ती थी। जब कुवेरसिंह जीता था, तभी कुँवर राजनाथ यहाँ भाग कर आये थे और उसके यहाँ रहे थे, उस लड़की की कुँवर से कहीं बातचीत हो गयी। जब कुँवर को शत्रुओं ने पकड़ लिया, तो चंदा घर में अकेली रह गयी। गाँववालों ने बहुत चाहा कि उसका विवाह हो जाय। उसके लिए वरों का तोड़ा न था भाई ! ऐसा कौन था, जो उसे पा कर अपने को धन्य न मानता; पर वह किसी से विवाह करने पर राजी न हुई। यह पेड़, जो तुम देख रहे हो, तब छोटा-सा पौधा था। इसके आस-पास फूलों की कई और क्यारियाँ थीं। इन्हीं को गोड़ने, निराने, सींचने मे उसका दिन कटता था। बस, यही कहती थी कि हमारे कुँवर साहब आते होंगे।

कुँवर की आँखों से आँसू की वर्षा होने लगी। मुसाफिर ने जरा दम लेकर कहा—दिन-दिन घुलती जाती थी। तुम्हें विश्वास न आयेगा भाई, उसने दस साल इसी तरह काट दिये। इतनी दुर्बल हो गयी थी कि पहचानी न जाती थी; पर अब भी उसे कुँवर साहब के आने की आशा बनी हुई थी। आखिर एक दिन इसी वृक्ष के नीचे उसकी लाश मिली। ऐसा प्रेम कौन करेगा, भाई ! कुँवर न-जाने मरे कि जिये, कभी उन्हें इस विरहिणी की याद भी आती है कि नहीं; पर इसने तो प्रेम को ऐसा निभाया जैसा चाहिए।

कुँवर को ऐसा जान पड़ा, मानो हृदय फटा जा रहा है। वह कलेजा थाम कर बैठ गये।

मुसाफिर के हाथ में एक सुलगता हुआ उपला था। उसने चिलम भरी और दो-चार दम लगा कर बोला—उसके मरने के बाद यह घर गिर गया। गाँव पहले ही उजाड़ था। अब तो और भी सुनसान हो गया। दो-चार आदमी यहाँ आ बैठते थे। अब तो चिड़िया का पूत भी यहाँ नहीं आता। उसके मरने के कई महीने के बाद यही चिड़िया इस पेड़ पर बोलती हुई सुनायी दी। तब से बराबर इसे यहाँ बोलते सुनता हूँ। रात को सभी चिड़ियाँ सो जाती हैं; पर यह रात भर बोलती रहती है। इसका जोड़ा कभी नहीं दिखायी दिया। बस, फुट्टैल है। दिन भर उसी झोपड़े में पड़ी रहती है। रात को इस पेड़ पर आकर बैठती है; मगर इस समय इसके गाने में कुछ और ही बात है, नहीं तो सुनकर रोना आता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई कलेजे को मसोस रहा है। मैं तो कभी-कभी पड़े-पड़े रो दिया करता हूँ। सब लोग कहते हैं कि यह वही चंदा है। अब भी कुँवर के वियोग में विलाप कर रही है। मुझे भी ऐसा जान पड़ता है। आज न जाने क्यों मगन है ?

किसान तम्बाकू पी कर सो गया। कुँवर कुछ देर तक खोये हुए से खड़े रहे। फिर धीरे से बोले—चंदा, क्या सचमुच तुम्हीं हो, मेरे पास क्यों नहीं आतीं ?

एक क्षण में चिड़िया आ कर उनके हाथ पर बैठ गयी। चंद्रमा के प्रकाश में कुँवर ने चिड़िया को देखा। ऐसा जान पड़ा; मानो उनकी आँखें खुल गयी हों, मानो आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चंदा की मुखाकृति अंकित थी।

दूसरे दिन किसान सो कर उठा तो कुँवर की लाश पड़ी हुई थी।

8

कुँवर अब नहीं हैं, किन्तु उनके झोपड़े की दीवारें बन गयी हैं, ऊपर फूस का नया छप्पर पड़ गया है, और झोपड़े के द्वार पर फूलों की कई क्यारियाँ लगी हैं। गाँव के किसान इससे अधिक और क्या कर सकते थे ?

उस झोपड़े में अब पक्षियों के एक जोड़े ने अपना घोंसला बनाया है। दोनों साथ-साथ दाने-चारे की खोज में जाते हैं, साथ-साथ आते हैं, रात को दोनों उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं। उनका सुरम्य संगीत रात की नीरवता में दूर तक सुनायी देता है। वन के जीव-जन्तु वह स्वर्गीय गान सुन कर मुग्ध हो जाते हैं।

यह पक्षियों का जोड़ा कुँवर और चंदा का जोड़ा है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

एक बार एक व्याध ने इन पक्षियों को फँसाना चाहा; पर गाँव वालों ने उसे मार कर भगा दिया।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', अप्रैल, 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप 'नख्ले उम्मीद' शीर्षक से 'ख्वाबोख्याल' में संकलित। प्रथम प्रकाशन हिन्दी में।]

मंदिर

मातृ-प्रेम, तुझे धन्य है ! संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है। तीन दिन से सुखिया के मुँह में न अन्न का एक दाना गया था, न पानी की एक बूँद। सामने पुआल पर माता का नन्हा-सा लाल पड़ा कराह रहा था। आज तीन दिन से उसने आँखें न खोली थीं। कभी उसे गोद में उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती। हँसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नहीं बताता। ऐसी दशा में माता को भूख और प्यास कहाँ ? एक बार पानी का एक घूँट मुँह में लिया था; पर कंठ के नीचे न ले जा सकी। इस दुखिया की विपत्ति का वारपार न था। साल भर के भीतर दो बालक गंगा जी की गोद में सौंप चुकी थी। पतिदेव पहले ही सिधार चुके थे। अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब, जो कुछ था, यही बालक था। हाय ! क्या ईश्वर इसे भी इसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं ?—यह कल्पना करते ही माता की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते थे। इस बालक को वह क्षण भर के लिए भी अकेला न छोड़ती थी। उसे साथ लेकर घास छीलने जाती। घास बेचने बाजार जाती तो बालक गोद में होता। उसके लिए उसने नन्ही-सी खुरपी और नन्ही-सी खाँची बनवा दी थी। जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्माँ, हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे, तुम द्वारे माची पर बैठी रहना, अम्माँ; मैं घास बेच लाऊँगा। माँ पूछती—हमारे लिए क्या-क्या लाओगे, बेटा ? जियावन लाल-लाल साड़ियों का वादा

करता। अपने लिए बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था। वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान बेध रही थीं। जो बालक को देखता, यही कहता कि किसी की डीठ है; पर किसकी डीठ है ? इस विधवा का भी संसार में कोई वैरी है ? अगर उसका नाम मालूम हो जाता, तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद में रख देती। क्या उसका हृदय दया से न पिघल जाता ? पर नाम कोई नहीं बताता। हाय ! किससे पूछे, क्या करे ?

2

तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिंता-व्यथित चंचल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाय, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गयी। क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर बालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेर कर कहता है—रो मत, सुखिया ! तेरा बालक अच्छा हो जायगा। कल ठाकुर जी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होंगे। यह कहकर वह चला गया। सुखिया की आँख खुल गयी। अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे। इसमें सुखिया को ज़रा भी संदेह न हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है, यह सोच कर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आँखें सजग हो गयीं। उसने बालक को गोद में उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई बोली—भगवान ! मेरा बालक अच्छा हो जाय, तो मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। अनाथ विधवा पर दया करो।

उसी समय जियावन की आँखें खुल गयीं। उसने पानी माँगा। माता ने दौड़ कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।

जियावन ने पानी पीकर कहा—अम्माँ रात है कि दिन ?

सुखिया—अभी तो रात है बेटा, तुम्हारा जी कैसा है ?

जियावन—अच्छा है अम्माँ ! अब मैं अच्छा हो गया।

सुखिया—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर, बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ ! कुछ खाने को जी चाहता है ?

जियावन—हाँ अम्माँ, थोड़ा-सा गुड़ दे दो।

सुखिया—गुड़ मत खाओ भैया, अवगुन करेगा। कहो तो खिचड़ी बना दूँ।

जियावन—नहीं मेरी अम्माँ, जरा-सा गुड़ दे दो, तेरे पैरों पड़ूँ।

माता इस आग्रह को न टाल सकी। उसने थोड़ा-सा गुड़ निकाल कर जियावन के हाथ में रख दिया और हाँड़ी का ढक्कन लगाने जा रही थी कि किसी ने बाहर से आवाज दी। हाँड़ी वहीं छोड़ कर वह किवाड़ खोलने चली गयी। जियावन ने गुड़ की दो पिंडियाँ निकाल लीं और जल्दी-जल्दी चट कर गया।

3

दिन भर जियावन की तबीयत अच्छी रही। उसने थोड़ी-सी खिचड़ी खायी, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर भी आया और हमजोलियों के साथ खेल न सकने पर भी उन्हें खेलते

देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया ने समझा, बच्चा अच्छा हो गया। दो-एक दिन में जब पैसे हाथ में आ जायेंगे, तो वह एक दिन ठाकुर जी की पूजा करने चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू-बहारू, नहाने-धोने और खाने-पीने में कट गये; मगर जब संध्या समय फिर जियावन का जी भारी हो गया, तब सुखिया घबरा उठी। तुरंत मन में शंका उत्पन्न हुई कि पूजा में विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटा कर वह पूजा का सामान तैयार करने लगी। फूल तो ज़मींदार के बगीचे में मिल गये। तुलसीदल द्वार ही पर था; पर ठाकुर जी के भोग के लिए कुछ मिष्ठान्न तो चाहिए; नहीं तो गाँव वालों को बाँटेगी क्या ! चढ़ावे के लिए कम से कम एक आना तो चाहिए। सारा गाँव छान आयी, कहीं पैसे उधार न मिले। अब वह हताश हो गयी। हाय रे अदिन ! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिये की दूकान पर गयी, कड़े गिरों रखे, बतासे लिये और दौड़ी हुई घर आयी। पूजा का सामान तैयार हो गया, तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिये मंदिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घंटा बज रहा था। दस-पाँच भक्तजन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर मन्दिर के सामने खड़ी हो गयी।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे ? क्या करने आयी है ?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुर जी की मनौती की थी महाराज, पूजा करने आयी हूँ।

पुजारी जी दिन भर ज़मीदार के असामियों की पूजा किया करते थे और शाम-सबेरे ठाकुर जी की। रात को मन्दिर ही में सोते थे, मन्दिर ही में आपका भोजन भी बनता था, जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तरकारी काली पड़ गयी थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान ऐसे कि चाहे कितनी ही ठंड पड़े, कितनी ही ठंडी हवा चले, बिना स्नान किये मुँह में पानी तक न डालते थे। अगर इस पर भी उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह जमी हुई थी, तो इसमें उनका कोई दोष न था ! बोले—तो क्या भीतर चली आयेगी। हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भरभष्ट करेगी।

एक भक्तजन ने कहा—ठाकुर जी को पवित्र करने आयी है ?

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुर जी के चरन छूने आयी हूँ, सरकार ! पूजा की सब सामग्री लायी हूँ।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नहीं हो गयी है। भला तू ठाकुर जी को कैसे छुएगी ?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे में आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार, वह तो संसार के मालिक हैं। उनके दरसन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी ?

पुजारी—अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे ?

सुखिया—तो क्या भगवान् ने चमारों को नहीं सिरजा है ? चमारों का भगवान् कोई और है ? इस बच्चे की मनौती है, सरकार !

इस पर वही भक्त महोदय, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, डपटकर बोले—मार

के भगा दो चुड़ैल को। भरभष्ट करने आयी है, फेंक दो थाली-वाली। संसार में तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुर जी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी ?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुर जी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है।

ठंड पड़ रही थी; सुखिया खड़ी काँप रही थी और यहाँ धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठंड के उसकी छाती में घुसा जाता था; किन्तु सुखिया वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनों पाँव भूमि में गड़ गये हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्‌गार उठता था कि जाकर ठाकुर जी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुर जी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग होते हैं कौन रोकनेवाले; पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी तो क्या करूँगी ? दिल में ऐंठ कर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जा कर एक वृक्ष के नीचे अँधेरे में छिप कर इन भक्तजनों के जाने की राह देखने लगी।

4

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्‌भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारी जी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ-हूँ' करते जाते थे और बीच-बीच में टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा वार्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

सारे भक्त लोगों ने एक-एक करके घर की राह ली। पुजारी जी अकेले रह गये। अब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गयी; जहाँ पुजारी जी आसन जमाये बटलोई का क्षुधावर्द्धक मधुर संगीत सुनने में मग्न थे। पुजारी जी ने आहट पा कर गरदन उठायी, तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़कर बोले—क्यों रे, तू अभी तक खड़ी है !

सुखिया ने थाली जमीन पर रख दी और एक हाथ फैला कर भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराज जी, मैं अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है, मुझ पर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा, महाराज जी !

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारी जी दयालु तो थे, पर चमारिन को ठाकुर जी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व घोर पातक वह कैसे कर सकते थे ? न जाने ठाकुर जी इसका क्या दंड दें। आखिर उनके भी बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुर जी कुपित हो कर गाँव का सर्वनाश कर दें, तो ? बोले—घर जा कर भगवान् का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसीदल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों में लगा दे। भगवान् चाहेंगे तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुर जी के चरणों पर गिरने न दोगे महाराज जी ? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़ कर पूजा की सामग्री जुटायी है। मैंने कल सपना देखा था, महाराज जी कि ठाकुर जी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आयी हूँ। मेरे पास एक रुपया है। वह मुझसे ले लो; पर मुझे एक छन भर ठाकुर जी के चरनों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पंडित जी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया; किंतु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाक़ी था। सँभाल कर बोले–अरी पगली, ठाकुर जी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है–'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' मन में भक्ति न हो, तो लाख कोई भगवान् के चरणों पर गिरे, कुछ न होगा।

मेरे पास एक जंतर है। दाम तो उसका बहुत है; पर तुझे एक ही रुपये में दे दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना; बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया–ठाकुर जी की पूजा न करने दोगे ?

पुजारी–तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई, वह आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफत-बिपत आ पड़े तो क्या हो, इसे भी तो सोचो ! तू यह जंतर ले जा, भगवान् चाहेंगे तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की दीठ पड़ गयी है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छत्तरी बंस है।

सुखिया–जब से इसे ज्वर है, मेरे प्रान नहों में समाये हुए हैं।

पुजारी–बड़ा होनहार बालक है। भगवान् जिला दें तो तेरे सारे संकट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो-तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया–तो जंतर को कैसे बाँधूँगी, महाराज ?

पुजारी–मैं कपड़े में बाँध कर देता हूँ। बस, गले में पहना देना। अब तू इस बेला नवीन बस्तर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपये पर कड़े गिरों रखे थे। एक पहले ही भँज चुका था। दूसरा पुजारी जी को भेंट किया और जंतर ले कर मन को समझाती हुई घर लौट आयी।

5

सुखिया ने घर पहुँचकर बालक के गले में जंतर बाँध दिया, पर ज्यों-ज्यों रात गुज़रती थी, उसका ज्वर भी बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ-पाँव शीतल होने लगे ! तब वह घबड़ा उठी और सोचने लगी–हाय ! मैं व्यर्थ ही संकोच में पड़ी रही और बिना ठाकुर जी के दर्शन किये चली आयी। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान् के चरणों पर गिर पड़ती, तो कोई मेरा क्या कर लेता ? यही न होता कि लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी, पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुर जी के चरणों को अपने आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों में सुला देती, तो क्या उन्हें दया न आती ? वह तो दयामय भगवान् हैं, दीनों की रक्षा करते हैं, क्या मुझ पर दया न करते ? यह सोच कर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुर जी के चरणों पर गिर कर रोयेगी। उस अबला के आशंकित हृदय का अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आसरा न था। मंदिर के द्वार बंद होंगे, तो वह ताले तोड़ डालेगी। ठाकुर जी क्या किसी के हाथों बिक गये हैं कि कोई उन्हें बंद कर रखे।

रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कम्बल से ढाँप कर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठायी और मंदिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु

के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अंधकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडंडी वृक्षों के नीचे-नीचे गयी थी। कुछ दूर दाहिनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे में एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था। बायीं ओर हरे-भरे खेत थे। चारों ओर सन-सन हो रहा था, अंधकार साँय-साँय कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुआँ-हुआँ करना शुरू किया। हाय ! अगर कोई उसे एक लाख रुपया देता, तो भी इस समय वह यहाँ न आती; पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। 'हे भगवान् ! अब तुम्हारा ही आसरा है !' यह जपती वह मंदिर की ओर चली जा रही थी।

मंदिर के द्वार पर पहुँच कर सुखिया ने जंजीर टटोल कर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारी जी बरामदे से मिली हुई कोठरी में किवाड़ बंद किये सो रहे थे। चारों ओर अँधेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लायी और ज़ोर-ज़ोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गयी थी। दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट दोनों टूट कर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अंदर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोल कर हड़बड़ाये हुए बाहर निकल आये और 'चोर, चोर !' का गुल मचाते गाँव की ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिये हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है ? कहाँ है ? किधर गया ?

पुजारी—मंदिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकल कर चबूतरे पर आयी और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ; ठाकुर जी की पूजा करने आयी थी। अभी तो अंदर गयी भी नहीं, मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया ! सुखिया मंदिर में जा कर ठाकुर जी को भ्रष्ट कर आयी !

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा; मगर वह न रोया, न बोला, न साँस ली, सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभल कर बच्चे को उठाने लगी, तो उसके मुख पर नज़र पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो पानी में परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख निकल गयी। बच्चे का माथा छू कर देखा। सारी देह ठंडी हो गयी थी। एक लम्बी साँस खींच कर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में आँसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बँध गयीं। दाँत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण ले कर दूर क्यों खड़े हो ? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते ? मेरे छू लेने से ठाकुर जी को छूत लग गयी ? पारस को छू कर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो सकता। मेरे छूने से ठाकुर जी अपवित्र हो जायँगे ! मुझे बनाया, तो छूत नहीं लगी ? लो, अब कभी ठाकुर जी को छूने नहीं आऊँगी। ताले में बंद रखो, पहरा बैठा दो। हाय, तुम्हें दया छू भी नहीं गयी! तुम इतने कठोर हो ! बाल-बच्चेवाले हो कर भी तुम्हें एक अभागिन माता पर दया न आयी ! तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो ! तुम सब के सब हत्यारे हो,

निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी। मेरा न्याय भगवान् करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूँगी।

किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियों की भाँति सब के सब सिर झुकाये खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक के मुँह की ओर देखा। मुँह से निकला—हाय मेरे लाल ! फिर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गये। बच्चे के लिए प्राण दे दिये।

माता, तू धन्य है। तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ-जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है !

[प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। हिन्दी मासिक पत्रिका 'चाँद', मई 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। 'सैनिक' (आगरा) में 27 अक्टूबर, 1936 को पुनः प्रकाशित हुई। उर्दू रूप 'मंदिर' शीर्षक से उर्दू कहानी-संग्रह 'प्रेम चालीसी' में संकलित।]

सुजान भगत

सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छींट आता तो कुछ न कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गयी। उधर गुड़ का भाव तेज था। कोई दो-ढाई हजार हाथ में आ गये। बस चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी, कानूनगो इलाके में आते, तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड काँस्टेबल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर, एक न एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग ! उसके द्वार पर अब इतने बड़े-बड़े हाकिम आ कर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उसका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब 'महतो-महतो' करते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आयी, मजीरे मँगाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ तले एक बूँद भी जाने की कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाये रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पा कर इसे घमंड हो गया है। गाँव में कुल तीन कुएँ थे, बहुत से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी। सुजान ने एक पक्का कुआँ बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गये। जो काम गाँव में किसी ने न किया था,

वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आ कर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देख कर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गंभीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा, कौन जानता है। धर्म के काम में मीन-मेष निकालना अच्छा नहीं। जिंदगानी का क्या भरोसा ?

बुलाकी—हाथ खाली हो जायगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी, तो फिर रुपये हो जायँगे। उनके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती ? सत्कार्य में बाधा डाल कर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती ? प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे तो, यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमंत्रित हुई, ग्यारह गाँवों में सुपारी बँटी। इस धूम-धाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गयी। सब यही कहते थे कि भगवान् धन दे, तो दिल भी ऐसा दे। घमंड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था, कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो, तो ऐसा हो। बाप मरा, तो घर में भूनी-भाँग भी नहीं थी। अब लक्ष्मी घुटने तोड़ कर आ बैठी हैं।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। इस पर चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ, तुम्हारे बाप-दादा जो खजाना छोड़ गये थे, वही उसके हाथ लग गया है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़ कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती ? क्यों ऐसी फसल नहीं होती ? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं। जो खर्च करता है, उसी को देते हैं।

2

सुजान महतो सुजान भगत हो गये। भगतों के आचार-विचार कुछ और होते हैं। वह बिना स्नान किये कुछ नहीं खाता। गंगा जी अगर घर से दूर हों और वह रोज स्नान करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वो के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उसके घर अवश्य होना चाहिए। पूजा-अर्चना उसके लिए अनिवार्य है। खान-पान में भी उसे बहुत विचार रखना पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दंड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए क्षमा नहीं है, प्रायश्चित्त नहीं है, यदि है तो बहुत ही कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। उसका कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ, जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था, इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तौलता था। वह अब उन्हें औचित्य के काँटों पर तौलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत् से निकल कर उसने

चेतना-जगत् में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था पर अब उसे ब्याज लेते हुए आत्मग्लानि-सी होती थी। यहाँ तक कि गउओं को दुहाते समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था—कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, नहीं तो उसका रोयाँ दुखी होगा। वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुकदमों में उसने झूठी शहादतें बनवायी थीं, कितनों से डाँड़ ले कर मामले का रफा-दफा करा दिया था। अब इन व्यापारों से उसे घृणा होती थी। झूठ और प्रपंच से कोसों दूर भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके, दो; पर अब उसे मजूर के काम की कम, मजूरी की अधिक चिंता रहती थी—कहीं बेचारे मजूर का रोयाँ न दुखी हो जाय। वह उसका वाक्यांश-सा हो गया था—किसी का रोयाँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उस पर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी अब उसे कोरा भगत समझने लगी थी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन-जगत् में आ कर सुजान भगत कोरे भगत रह गये।

सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत में क्या बोना है, किसको क्या देना है, किसको क्या लेना है, किस भाव क्या चीज बिकी, ऐसी-ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों में भी भगत जी की सलाह न ली जाती थी। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला तय कर लिया करती। गाँव भर में सुजान का मान-सम्मान बढ़ता था, अपने घर में घटता था। लड़के उसका सत्कार अब बहुत करते। हाथ से चारपाई उठाते देख लपक कर खुद उठा लाते, चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती छाँटने के लिए भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मंदिर का देवता था।

3

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी। एक भिखमंगा द्वार पर आ कर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा, दाल छाँट लूँ, तो उसे कुछ दे दूँ। इतने में बड़ा लड़का भोला आकर बोला—अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं ? कुछ दे दो। नहीं तो उनका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा के भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेहंदी लगी है, क्यों कुछ ले जा कर नहीं देते ? क्या मेरे चार हाथ हैं ? किस किसका रोयाँ सुखी करूँ? दिन भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट करने पर लगे हुए हैं, और क्या ? अभी मँहगू बेंग देने आया था। हिसाब से सात मन हुए। तौला तो पौने सात मन ही निकले। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं तो उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाकी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो। दस-पाँच दफे मुँह की खा जायेंगे, तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन भर एक न एक खुचड़ निकालते रहते हैं। सौ दफे कह दिया कि तुम घर-गृहस्थी के मामले में न बोला करो, पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरुमंत्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन-दुनिया दोनों से गये। सारा दिन पूजा-पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गये कि कोई काम ही न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला, यह तुम्हारा कुन्याय है। फावड़ा, कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता, लेकिन कुछ न कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते हैं, गाय दुहाते हैं और भी तो कुछ हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर में से किसी को कुछ लाते न देखा, तो उठ कर अंदर गया और कठोर स्वर से बोला—तुम लोगों को कुछ सुनायी नहीं देता कि द्वार पर कौन घंटे भर से खड़ा भीख माँग रहा है। अपना काम तो दिन भर करना ही है, एक छन भगवान् का काम भी तो किया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर भर भगवान् ही का काम करेगा ?

सुजान—कहाँ आटा रखा है, लाओ, मैं ही निकाल कर दे आऊँ। तुम रानी बन कर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मर कर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़चिरों के लिए पहर रात से उठ कर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडार घर में गये और एक छोटी-सी छबड़ी को जौ से भरे हुए निकले। जौ सेर भर से कम न था। सुजान ने जान-बूझकर, केवल बुलाकी और भोला को चिढ़ाने के लिए, भिक्षा परम्परा का उल्लंघन किया था। तिस पर भी यह दिखाने के लिए कि छबड़ी में बहुत ज्यादा जौ नहीं है, वह उसे चुटकी से पकड़े हुए थे। चुटकी इतना बोझ न सँभाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण विलम्ब होने से छबड़ी के हाथ से छूट कर गिर पड़ने की सम्भावना थी। इसलिए वह जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्यौरियाँ बदल कर बोला—सेंत का माल नहीं है, जो लुटाने चले हो। छाती फाड़-फाड़ कर काम करते हैं, तब दाना घर में आता है।

सुजान ने खिसिया कर कहा—मैं भी तो बैठा नहीं रहता।

भोला—भीख, भीख की ही तरह दी जाती है, लुटायी नहीं जाती। हम तो एक बेला खा कर दिन काटते हैं कि पति-पानी बना रहे, और तुम्हें लुटाने की सूझी है। तुम्हें क्या मालूम कि घर में क्या हो रहा है।

सुजान ने इसका कोई जवाब न दिया। बाहर आ कर भिखारी से कह दिया—बाबा, इस समय जाओ, किसी का हाथ खाली नहीं है, और पेड़ के नीचे बैठ कर विचारों में मग्न हो गया। अपने ही घर में उसका यह अनादर ! अभी वह अपाहिज नहीं है; हाथ-पाँव थके नहीं हैं; घर का कुछ न कुछ काम करता ही रहता है। उस पर यह अनादर ! उसी ने घर बनाया, यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है, पर अब इस घर पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा। अब वह द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और घरवाले जो रूखा दे दें, वह खा कर पेट भर लिया करे। ऐसे जीवन को धिक्कार है। सुजान ऐसे घर में नहीं रह सकता।

संध्या हो गयी थी। भोला का छोटा भाई शंकर नारियल भर कर लाया। सुजान ने नारियल दीवार से टिका कर रख दिया ! धीरे-धीरे तम्बाकू जल गया। जरा देर में भोला ने द्वार पर चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुजरी। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। तब बुलाकी ने आ कर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते ? जी तो अच्छा है ?

सुजान को सबसे अधिक क्रोध बुलाकी ही पर था। यह भी लड़कों के साथ है! यह बैठी देखती रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इसके मुँह से इतना भी न निकला कि ले जाते हैं, तो ले जाने दो। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से यह गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भादों की अँधेरी रात में मड़ैया लगा के जुआर की रखवाली करता था। जेठ-बैसाख की दोपहरी में भी दम न लेता था, और अब मेरा घर पर इतना भी अधिकार नहीं है कि भीख तक दे सकूँ। माना कि भीख इतनी नहीं दी जाती लेकिन इनको तो चुप रहना चाहिए था, चाहे मैं घर में आग ही क्यों न लगा देता। कानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ; इसमें किसी के बाप का क्या साझा ? अब इस वक्त मनाने आयी है ! इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खायी हों, कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये-पैसे, लेना-देना, सब इसी के हाथ में दे रखा था। अब रुपये जमा कर लिये हैं, तो मुझी से घमंड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू; लुटाऊँ, घर-फूँकू, घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवाह। तब लड़के न थे, जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद में उठा कर बैद के घर ले गया था। आज उसके बेटे हैं और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी।

मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला—अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा, फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिला कर दाने को क्यों खराब करेगी ? रख दो, बेटे दूसरी बार खायँगे।

बुलाकी—तुम तो जरा-जरा-सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना कह कर रह गया। तुम्हें तो मजा तब आता, जब वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों ? अगर यही अभिलाषा है, तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं, भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्हीं न जमा दो, दो-चार हाथ। इतनी कसर है, वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ, और क्या, यही तो नारी का धरम ही है। अपने भाग सराहो कि मुझ-जैसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी मुँहजोर होती, तो तुम्हारे घर में एक दिन भी निबाह न होता।

सुजान—हाँ, भाई, वह तो मैं ही कह रहा हूँ कि देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब भी दैत्य हो गया हूँ ! बेटे कमाऊ हैं, उन्हीं-सी न कहोगी, तो क्या मेरी-सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना-देना है ?

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले बैठे हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे। चल कर खाना खा लो सीधे से, नहीं तो मैं जा कर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी ? तुम्हारे बेटों की तो कमाई है। हाँ, मैं बाहरी

आदमी हूँ ?

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं।

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते, तो क्या मेरी दुर्गति होती ?

बुलाकी—गालियाँ दोगे तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी, मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गयी, तुम क्यों नहीं समझ पाते? जो कमाता है, उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है। मैं बिना लड़कों से पूछे कोई काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो ? इतने दिनों तक तो राज कर लिया, अब क्यों इस माया में पड़े हो ? आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो और पड़े रहो। चलो, खाना खा लो।

सुजान—तो अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ ?

बुलाकी—बात जो थी, वह मैंने कह दी। अब अपने को जो चाहो समझो। सुजान न उठे। बुलाकी हार कर चली गयी।

4

सुजान के सामने अब एक नयी समस्या खड़ी हो गयी थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता रहा। परिस्थिति में कितना उलटफेर हो गया था, इसकी उसे खबर न थी। लड़के उसका सेवा-सम्मान करते हैं, यह बात उसे भ्रम में डाले हुए थी। लड़के उसके सामने चिलम नहीं पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृह-स्वामी होने का प्रमाण न था ? पर आज उसे यह ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था ? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया, उसी घर में पराधीन बन कर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मंदिर का पुजारी बन कर वह नहीं रह सकता।

न-जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठ कर गँड़ासे से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करवी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जब से उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिए हाय-हाय पड़ी रहती थी। शंकर भी काटता था, भोला भी काटता था पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देंगे, चारा कैसे काटना चाहिए। उसके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया। और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानो साँचे में ढाले गये हों।

मुँह-अँधेरे बुलाकी उठी तो कटिया का ढेर देख कर दंग रह गयी। बोली—क्या भोला आज रात भर कटिया ही काटता रह गया ? कितना कहा कि बेटा, जी से जहान है, पर मानता ही नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है ? जब देखता हूँ, काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा ?

इतने में भोला आँखे मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देख कर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शंकर आज बड़ी रात को उठा था, अम्माँ ?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने तो समझा, तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन भर चाहे जितना काम कर लूँ, पर रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है ?

भोला—हाँ, मालूम तो होता है। रात भर सोये नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे, वह तो हल ले कर जा रहे हैं ! जान देने पर उतारू हो गये हैं क्या ?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के हैं। अब किसी की सुनेंगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मैं भी जल्दी से मुँह-हाथ धोकर हल ले जाऊँ। जब और किसानों के साथ भोला हल ले कर खेत में पहुँचा, तो सुजान आधा खेत जोत चुके थे। भोला ने चुपके से काम करना शुरू किया। सुजान से कुछ बोलने की उसकी हिम्मत न पड़ी।

दोपहर हुआ। सभी किसानों ने हल छोड़ दिये। पर सुजान भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है। उसकी बार-बार इच्छा होती है कि बैलों को खोल दे। मगर डर के मारे कुछ कह नहीं सकता। सबको आश्चर्य हो रहा है कि दादा कैसे इतनी मिहनत कर रहे हैं।

आखिर डरते-डरते बोला—दादा, अब तो दोपहर हो गया। हल खोल दें न ?

सुजान—हाँ, खोल दो। तुम बैलों को ले कर चलो, मैं डाँड़ फेंक कर आता हूँ।

भोला—मैं संझा को डाँड़ फेंक दूँगा।

सुजान—तुम क्या फेंक दोगे। देखते नहीं हो, खेत कटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीच में पानी जम जाता है। इस गोइँड़ के खेत में बीस मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानाश कर दिया।

बैल खोल दिये गये। भोला बैलों को ले कर घर चला, पर सुजान डाँड़ फेंकते रहे। आध घंटे के बाद डाँड़ फेंक कर वह घर आये। मगर थकान का नाम न था। नहा-खा कर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सहलायी। बैलों की पूँछें खड़ी थीं। सुजान की गोद में सिर रखे उन्हें अकथनीय सुख मिल रहा था। बहत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनंद प्राप्त हुआ था। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी। मानो वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात-दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति भोला अभी कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे, मानों उन्हें स्वयं खेत में पहुँचने की जल्दी थी।

भोला ने मड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल लिये जाते देखा, पर उठ न सका। उसकी हिम्मत छूट गयी। उसने कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी-बनायी गिरस्ती

मिल गयी थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धंधे होते हैं। हँसने-बोलने के लिए, गाने-बजाने के लिए भी तो उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने को वहाँ जाने से रोकेगा ? किसी गाँव में बारात आयी है, नाच-गाना हो रहा है। जवान आदमी क्यों उसके आनंद से वंचित रह सकता है? वृद्धजनों के लिए ये बाधाएँ नहीं। उन्हें न नाच-गाने से मतलब, न खेल-तमाशे से गरज, केवल अपने काम से काम है।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल ले कर गये।

भोला—जाने दो अम्माँ, मुझसे यह नहीं हो सकता।

5

सुजान भगत के इस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं—निकल गयी सारी भगती। बना हुआ था। माया में फँसा हुआ है। आदमी काहे को, भूत है।

मगर भगत जी के द्वार पर अब फिर साधु-संत आसन जमाये देखे जाते हैं। उनका आदर-सम्मान होता है। अब की उसकी खेती ने सोना उगल दिया है। बखारी में अनाज रखने की जगह नहीं मिलती। जिस खेत में पाँच मन मुश्किल से होता था, उसी खेत में अबकी दस मन की उपज हुई है।

चैत का महीना था। खलिहानों में सतयुग का राज था। जगह-जगह अनाज के ढेर लगे हुए थे। यही समय है, जब कृषकों को भी थोड़ी देर के लिए अपना जीवन सफल मालूम होता है, जब गर्व से उनका हृदय उछलने लगता है। सुजान भगत टोकरे में अनाज भर-भर कर देते थे और दोनों लड़के टोकरे ले कर घर में अनाज रख आते थे। कितने ही भाट और भिक्षुक भगत जी को घेरे हुए थे। उनमें वह भिक्षुक भी था, जो आज से आठ महीने पहले भगत के द्वार से निराश हो कर लौट गया था।

सहसा भगत ने उस भिक्षुक से पूछा—क्यों बाबा, आज कहाँ-कहाँ चक्कर लगा आये?

भिक्षुक—अभी तो कहीं नहीं गया भगत जी, पहले तुम्हारे ही पास आया हूँ।

भगत—अच्छा, तुम्हारे सामने यह ढेर है। इसमें से जितना अनाज उठा कर ले जा सको, ले जाओ।

भिक्षुक ने क्षुब्ध नेत्रों से ढेर को देख कर कहा—जितना अपने हाथ से उठा कर दे दोगे, उतना ही लूँगा।

भगत—नहीं, तुमसे जितना उठ सके, उठा लो।

भिक्षुक के पास एक चादर थी ! उसने कोई दस सेर अनाज उसमें भरा और उठाने लगा। संकोच के मारे और अधिक भरने का उसे साहस न हुआ।

भगत उसके मन का भाव समझ कर आश्वासन देते हुए बोले—बस। इतना तो एक बच्चा भी उठा ले जायगा।

भिक्षुक ने भोला की ओर संदिग्ध नेत्रों से देख कर कहा—मेरे लिए इतना ही बहुत है।

भगत—नहीं तुम सकुचाते हो। अभी और भरो।

भिक्षुक ने एक पंसेरी अनाज और भरा, और फिर भोला की ओर सशंक दृष्टि से

देखने लगा।

भगत—उसकी ओर क्या देखते हो, बाबा जी ? मैं जो कहता हूँ, वह करो। तुमसे जितना उठाया जा सके, उठा लो।

भिक्षुक डर रहा था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी न उठाने दी, तो कितनी भद्द होगी। और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायगा। सब यही कहेंगे कि भिक्षुक कितना लोभी है। उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी।

तब सुजान भगत ने चादर ले कर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँध कर बोले—इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक—बाबा, इतना तो मुझसे उठ न सकेगा।

भगत—अरे ! इतना भी न उठ सकेगा ! बहुत होगा तो मन भर। भला जोर तो लगाओ, देखूँ, उठा सकते हो या नहीं।

भिक्षुक ने गठरी को आजमाया। भारी थी। जगह से हिली भी नहीं। बोला—भगत जी, यह मुझ से न उठ सकेगी !

भगत—अच्छा, बताओ किस गाँव में रहते हो ?

भिक्षुक—बड़ी दूर है भगत जी; अमोला का नाम तो सुना होगा !

भगत—अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कहकर भगत ने जोर लगा कर गठरी उठायी और सिर पर रख कर भिक्षुक के पीछे हो लिये। देखने वाले भगत का यह पौरुष देख कर चकित हो गये। उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा था। आठ महीने के निरंतर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार फिर पाया था। वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़ कर लोहे को काट देती है। मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी हो तो जवान है। जिसमें लाग नहीं, गैरत नहीं, वह जवान भी मृतक है। सुजान भगत में लाग थी और उसी ने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई खाली हाथ न लौटने पाये।

भोला सिर झुकाये खड़ा था, उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्ध पिता ने उसे परास्त कर दिया था।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' मई, 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। केवल हिन्दी में प्रकाशित।]

माँगे की घड़ी

मेरी समझ में आज तक यह बात न आयी कि लोग ससुराल जाते हैं, तो इतना ठाट-बाट क्यों बनाते हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या होता है ? हम अगर लखपती हैं तो क्या, और रोटियों को मुहताज हैं तो क्या, विवाह तो हो ही चुका, अब इस ठाट का हमारे ऊपर क्या असर पड़ सकता है। विवाह के पहले तो उससे कुछ काम निकल सकता है। हमारी

सम्पन्नता बातचीत पक्की करने में बहुत-कुछ सहायक हो सकती है। लेकिन जब विवाह हो गया, देवीजी हमारे घर का सारा रहस्य जान गयीं और निःसन्देह अपने माता-पिता से रो-रोकर अपने दुर्भाग्य की कथा भी कह सुनायी, तो हमारा यह ठाट हानि के सिवा लाभ नहीं पहुँचा सकता। फटेहालों देखकर, सम्भव है, हमारी सासजी को कुछ दया आ जाती और विदाई के बहाने कोई माकूल रकम हमारे हाथ लग जाती। यह ठाट देखकर तो वह अवश्य ही समझेंगी कि अब इसका सितारा चमक उठा है, जरूर कहीं-न-कहीं से माल मार लाया है। उधर नाई और कहार इनाम के लिए बड़े-बड़े मुँह फैलायेंगे, वह अलग। देवीजी को भी भ्रम हो सकता है। मगर यह सब जानते और समझते हुए मैंने परसाल होलियों में ससुराल जाने के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कीं। रेशमी अचकन जिन्दगी में कभी न पहनी थी, फ्लैक्स के बूटों का भी स्वप्न देखा करता था। अगर नकद रुपये देने का प्रश्न होता, तो शायद यह स्वप्न, स्वप्न ही रहता, पर एक दोस्त की कृपा से दोनों चीजें उधार मिल गयीं। चमड़े का सूटकेस एक मित्र से माँग लाया। दरी फट गयी थी। और नयी दरी उधार मिल भी सकती थी; लेकिन बिछावन ले जाने की मैंने ज़रूरत न समझी। अब केवल रिस्ट-वाच की और कमी थी। यों तो दोस्तों में कितने ही के पास रिस्ट-वाच थी—मेरे सिवा ऐसे अभागे बहुत कम होंगे, जिनके पास रिस्ट-वाच न हो—लेकिन मैं सोने की घड़ी चाहता था और वह केवल दानू के पास थी। मगर दानू से मेरी बेतकल्लुफी न थी ! दानू रूखा आदमी था। मँगनी की चीजों का लेना और देना दोनों ही पाप समझता था। ईश्वर ने माना है, वह इस सिद्धान्त का पालन कर सकता है। मैं कैसे कर सकता हूँ। जानता था कि वह साफ इनकार करेगा, पर दिल न माना। खुशामद के बल पर मैंने अपने जीवन में बड़े-बड़े काम कर दिखाये हैं, इसी ख़ुशामद की बदौलत आज महीने में 30) फटकारता हूँ। एक हजार ग्रेजुएटों से कम उम्मेदवार न थे; लेकिन सब मुँह ताकते रह गये और बन्दा मूँछों पर ताव देता हुआ घर आया। जब इतना बड़ा पाला मार लिया, तो दो-चार दिन के लिए घड़ी माँग लाना कौन-सा बड़ा मुश्किल काम था। शाम को जाने की तैयारी थी। प्रातःकाल दानू के पास पहुँचा और उनके छोटे बच्चे को, जो बैठक के सामने सहन में खेल रहा था, गोद में उठाकर लगा भींच-भींचकर प्यार करने। दानू ने पहले तो मुझे आते देखकर जरा त्योरियाँ चढ़ायी थीं, लेकिन मेरा यह वात्सल्य देखकर कुछ नरम पड़े, उनके ओठों के किनारे जरा फैल गये। बोले—खेलने दो दुष्ट को, तुम्हारा कुरता मैला हुआ जाता है। मैं तो इसे कभी छूता भी नहीं।

मैंने कृत्रिम तिरस्कार का भाव दिखाकर कहा—मेरा कुरता मैला हो रहा है न, आप इसकी क्यों फिक्र करते हैं। वाह ! ऐसा फूल-सा बालक और उसकी यह कदर। तुम-जैसों को तो ईश्वर नाहक सन्तान देता है। तुम्हें भारी मालूम होता है, तो लाओ मुझे दे दो।

यह कहकर मैंने बालक को कन्धे पर बैठा लिया और सहन में कोई पन्द्रह मिनट तक उचकता फिरा। बालक खिलखिलाता था और मुझे दम न लेने देता था, यहाँ तक कि दानू ने उसे मेरे कन्धे से उतारकर जमीन पर बैठा दिया और बोले—कुछ पान-पत्ता तो लाया नहीं, उल्टे सवारी कर बैठा। जा, अम्माँ से पान बनवा ला।

बालक मचल गया। मैंने उसे शान्त करने के लिए दानू को हल्के हाथों दो-तीन धप जमाये और उनकी रिस्ट-वाच से सुसज्जित कलाई पकड़कर बोला—ले लो बेटा, इनकी घड़ी

ले लो, यह बहुत मारा करते हैं तुम्हें। आप तो घड़ी लगाकर बैठे हैं और हमारे मुन्ने के पास नहीं।

मैंने चुपके से रिस्ट-वाच खोलकर बालक की बाँह में बाँध दी और तब उसे गोद में उठाकर बोला—भैया, अपनी घड़ी हमें दे दो।

सयाने बाप के बेटे भी सयाने होते हैं। बालक ने घड़ी को दूसरे हाथ से छिपा कर कहा—तुमको नईं देंगे !

मगर मैंने अन्त में उसे फुसलाकर घड़ी ले ली। और अपनी कलाई पर बाँध ली। बालक पान लेने चला गया। दानू बाबू अपनी घड़ी के अलौकिक गुणों की प्रशंसा करने लगे—ऐसी सच्ची समय बतानेवाली घड़ी आज तक कम-से-कम मैंने नहीं देखी।

मैंने अनुमोदन किया—है भी तो स्विस !

दानू—अजी, स्विस होने से क्या होता है। लाखों स्विस-घड़ियाँ देख चुका हूँ। किसी को सरदी, किसी को जुकाम, किसी को गठिया, किसी को लकवा। जब देखिए, तब अस्पताल में पड़ी हैं। घड़ी की पहचान चाहिए और यह कोई आसान काम नहीं। कुछ लोग समझते हैं, बहुत दाम खर्च कर देने से अच्छी घड़ी मिल जाती है। मैं कहता हूँ तुम गधे हो। दाम खर्च करने से ईश्वर नहीं मिला करता। ईश्वर मिलता है ज्ञान से और घड़ी भी मिलती है ज्ञान से। फासेट साहब को तो जानते होगे। बस,-बन्दा ऐसों ही की खोज में रहता है। एक दिन आकर बैठ गया। शराब की चाट थी। जेब में रुपये नदारद। मैंने पच्चीस रुपये में यह घड़ी ले ली। इसको तीन साल होते हैं। और आज तक एक मिनट का फर्क नहीं पड़ा। कोई इसके सौ आँकता है, कोई दो सौ, कोई साढ़े तीन सौ, कोई पौने पाँच सौ; मगर मैं कहता हूँ, तुम सब गधे हो, एक हजार के नीचे ऐसी घड़ी नहीं मिल सकती। पत्थर पर पटक दो, क्या मजाल कि बाल भी आये।

मैं—तब तो यार, एक दिन के लिए मँगनी दे दो। बाहर जाना है। औरों को भी इसकी करामात सुनाऊँगा।

दानू—मँगनी तो तुम जानते हो, मैं कोई चीज नहीं देता। क्यों नहीं देता, इसकी कथा सुनाने बैठूँ, तो अलिफलैला की दास्तान हो जाय। उसका सारांश यह है कि मँगनी में चीज देना मित्रता की जड़ खोदना, मुरौवत का गला घोंटना और अपने घर आग लगाना है। आप बहुत उत्सुक मालूम होते हैं, इसलिए दो-एक घटनाएँ सुना ही दूँ। आपको फुरसत है न ? हाँ, आज तो दफ्तर बन्द हैं, तो सुनिए—एक साहब लालटेनें मँगनी ले गये। लौटाने आये, तो चिमनियाँ सब टूटी हुई। पूछा, यह आपने क्या किया, सो बोले—जैसी गयी थीं, वैसी आयीं। यह तो आपने न कहा था कि उनके बदले नयी लालटेनें लूँगा। वाह साहब, वाह ! यह अच्छा रोजगार निकाला। बताइए, क्या करता। एक दूसरे महाशय कालीन ले गये। बदले में एक फटी हुई दरी ले आये। पूछा तो बोले—

'साहब, आपको तो यह दरी मिल भी गयी, मैं किसके सामने जाकर रोऊँ। मेरी पाँच कालीनों का पता नहीं, कोई साहब सब समेट ले गये।' बताइए, उनसे क्या कहता ? तब से मैंने कान पकड़े कि अब किसी के साथ यह व्यवहार ही न करूँगा। सारा शहर मुझे बेमुरावत, मक्खीचूस और जाने क्या-क्या कहता है, पर मैं परवा नहीं करता। लेकिन आप बाहर जा रहे हैं और बहुत-से आदमियों से आपकी मुलाकात होगी, सम्भव है, कोई इस घड़ी

का गाहक निकल जाय, इसलिए आपके साथ इतनी सख्ती न करूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं इसे निकालना चाहता हूँ और आपसे मुझे सहायता मिलने की पूरी उम्मेद है। अगर कोई दाम लगाये, तो मुझसे आकर कहिएगा।

मैं यहाँ से कलाई पर घड़ी बाँधकर चला, तो जमीन पर पाँव न पड़ते थे। घड़ी मिलने की इतनी खुशी न थी, जितनी एक मुड्ढ पर विजय पाने की। कैसा फाँसा है बचा को ! वह समझते थे कि मैं ही बड़ा सयाना हूँ, यह नहीं जानते थे कि यहाँ उनके भी गुरुघंटाल हैं।

2

उसी दिन शाम को मैं ससुराल जा पहुँचा। अब यह गुत्थी खुली कि लोग क्यों ससुराल जाते वक्त इतना ठाट करते हैं। सारे घर में हलचल पड़ गयी। मुझ पर किसी की निगाह न थी। सभी मेरा साज-सामान देख रहे थे। कहार पानी लेकर दौड़ा, एक साला मिठाई की तश्तरी लाया, दूसरा पान की। नाइन झाँककर देख गयी और ससुरजी की आँखों में तो ऐसा गर्व झलक रहा था, मानो संसार को उनके निर्वाचन-कौशल पर सिर झुकाना चाहिए। मैं 30) महीने का नौकर इस वक्त ऐसी शान से बैठा हुआ था, जैसे बड़े बाबू दफ्तर में बैठते हैं। कहार पंखा झल रहा था, नाइन पाँव धो रही थी, एक साला बिछावन बिछा रहा था, दूसरा धोती लिये खड़ा था कि मैं पाजामा उतारूँ। यह सब उसी ठाट की करामात थी।

रात को देवीजी ने पूछा—'सब रुपये उड़ा आये कि कुछ बचा भी है ?'

मेरा सारा प्रेमोत्साह शिथिल पड़ गया। न क्षेम, न कुशल, न प्रेम की कोई बातचीत। बस, हाय रुपये ! हाय रुपये ! ! जी में आया कि इसी वक्त उठकर चल दूँ। लेकिन जब्त कर गया। बोला—'मेरी आमदनी जो कुछ है, वह तो तुम्हें मालूम ही है।'

'मैं क्या जानूँ, तुम्हारी क्या आमदनी है। कमाते होगे अपने लिये, मेरे लिए क्या करते हो ? तुम्हें तो भगवान् ने औरत बनाया होता, तो अच्छा होता। रात-दिन कंघी-चोटी किया करते। तुम नाहक मर्द बने। अपने शौक-सिंगार से बचत ही नहीं, दूसरों की फिक्र तुम क्या करोगे ?'

मैंने झुँझलाकर कहा—'क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि इसी वक्त चला जाऊँ ?' देवीजी ने भी त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—'चले क्यों नहीं जाते, मैं तो तुम्हें बुलाने न गयी थी, या मेरे लिए कोई रोकड़ लाये हो ?'

मैंने चिंतित स्वर में कहा—'तुम्हारी निगाह में प्रेम का कोई मूल्य नहीं। जो कुछ है, वह रोकड़ ही है ?'

देवीजी ने त्योरियाँ चढ़ाये हुए ही कहा—'प्रेम अपने-आपसे करते होगे, मुझसे तो नहीं करते।'

'तुम्हें पहले तो यह शिकायत कभी न थी।'

'इससे यह तो तुमको मालूम ही हो गया कि मैं रोकड़ की परवा नहीं करती; लेकिन देखती हूँ कि ज्यों-ज्यों तुम्हारी दशा सुधर रही है, तुम्हारा हृदय भी बदल रहा है। इससे तो यही अच्छा था कि तुम्हारी वही दशा बनी रहती। तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ, फटे-चीथड़े पहनकर दिन काट सकती हूँ; लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम चैन करो

और मैं मैके में पड़ी भाग्य को रोया करूँ। मेरा प्रेम उतना सहनशील नहीं है।'

सालों और नौकरों ने मेरा जो आदर-सम्मान किया था, उसे देखकर मैं अपने ठाट पर फूला न समाया था। अब यहाँ मेरी जो अवहेलना हो रही थी, उसे देखकर मैं पछता रहा था कि व्यर्थ ही यह स्वाँग भरा। अगर साधारण कपड़े पहने, रोनी सूरत बनाये आता, तो बाहरवाले चाहे अनादर ही करते, लेकिन देवीजी तो प्रसन्न रहतीं; पर अब तो भूल हो गयी थी। देवीजी की बातों पर मैंने गौर किया, तो मुझे उनसे सहानुभूति हो गयी। यदि देवीजी पुरुष होतीं और मैं उनकी स्त्री, तो क्या मुझे यह किसी तरह भी सह्य होता कि वह तो छैला बने घूमें और मैं पिंजरे में बन्द दाने और पानी को तरसूँ। चाहिए यह था कि देवीजी से सारा रहस्य कह सुनाता, पर आत्मगौरव ने इसे किसी तरह स्वीकार न किया। स्वांग भरना सर्वथा अनुचित था, लेकिन परदा खोलना तो भीषण पाप था। आखिर मैंने फिर उसी ख़ुशामद से काम लेने का निश्चय किया, जिसने इतने कठिन अवसरों पर मेरा साथ दिया था। प्रेम पुलकित कण्ठ से बोला—'प्रिये ! सच कहता हूँ, मेरी दशा अब भी वही है लेकिन तुम्हारे दर्शनों की इच्छा इतनी बलवती हो गयी थी कि उधार कपड़े लिये। यहाँ तक कि अभी सिलाई भी नहीं दी। फटेहालों आते संकोच होता था कि सबसे पहले तुमको दुःख होगा और तुम्हारे घरवाले भी दुखी होंगे। अपनी दशा जो कुछ है, वह तो है ही, उसका ढिंढोरा पीटना तो और भी लज्जा की बात है।'

देवीजी ने कुछ शान्त होकर कहा—'तो उधार लिया ?'

'और नकद कहाँ धरा था ?'

'घड़ी भी उधार ली ?'

'हाँ; एक जान-पहचान की दूकान से ले ली।'

'कितने की है ?'

बाहर किसी ने पूछा होता, तो मैंने पांच सौ रुपये से कौड़ी कम न बताया होता, लेकिन यहाँ मैंने पच्चीस रुपये बताया।

'तब तो बड़ी सस्ती मिल गयी।'

'और नहीं तो मैं फँसता ही क्यों ?'

'इसे मुझे देते जाना।'

ऐसा जान पडा मेरे शरीर में रक्त ही नहीं रहा। सारे अवयव निस्पन्द हो गये, इनकार करता हूँ, तो नहीं बचता; स्वीकार करता हूँ, तो भी नहीं बचता। आज प्रातःकाल यह घड़ी मँगनी पाकर मैं फूला न समाया था। इस समय वह ऐसी मालूम हुई, मानो कौड़ियाला कुन्डली मारे बैठा हो, बोला—'तुम्हारे लिए कोई अच्छी घड़ी ले लूँगा।'

'जी नहीं, माफ कीजिए, आप ही अपने लिए दूसरी घड़ी ले लीजिएगा। मुझे तो यही अच्छी लगती है। कलाई पर बाँधे रहूँगी। जब-जब इस पर आँखें पड़ेंगी, तुम्हारी याद आयेगी। देखो, तुमने आज तक मुझे फूटी कौड़ी भी कभी नहीं दी। अब इनकार करोगे, तो फिर कोई चीज न माँगूँगी।'

देवीजी के कोई चीज माँगने से मुझे किसी विशेष हानि का भय न होना चाहिए था, बल्कि उनके इस विराग का स्वागत करना चाहिए था, पर न जाने क्यों मैं डर गया। कोई ऐसी युक्ति सोचने लगा कि यह राजी हो जायँ और घड़ी भी न देनी पड़े। बोला—'घड़ी क्या

चीज है तुम्हारे लिए जान हाजिर है, प्रिये ! लाओ, तुम्हारी कलाई पर बाँध दूँ, लेकिन बात यह है कि वक्त का ठीक-ठीक अन्दाज न होने से कभी-कभी दफ्तर पहुँचने में देर हो जाती है और व्यर्थ की फटकार सुननी पड़ती है। घड़ी तुम्हारी है, किन्तु जब तक दूसरी घड़ी न ले लूँ, इसे मेरे पास रहने दो। मैं बहुत जल्द कोई सस्ते दामों की घड़ी अपने लिए ले लूँगा और तुम्हारी घड़ी तुम्हारे पास भेज दूँगा। इसमें तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी।'

देवीजी ने अपनी कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा—'राम जाने, तुम बड़े चकमेबाज हो, बातें बनाकर काम निकालना चाहते हो। यहाँ ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं, यहाँ से जाकर दो-चार दिन में दूसरी घड़ी ले लेना। दो-चार दिन जरा सबेरे दफ्तर चले जाना।'

अब मुझे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। कलाई से घड़ी के जाते ही हृदय पर चिन्ता का पहाड़-सा बैठ गया। ससुराल में दो दिन रहा, पर उदास और चिंतित। दानू बाबू को क्या जवाब दूँगा, यह प्रश्न किसी गुप्त वेदना की भाँति चित्त को मसोसता रहा।

3

घर पहुँचकर जब मैंने सजल नेत्र होकर दानू बाबू से कहा—'घड़ी तो कहीं खो गयी' तो खेद या सहानुभूति का एक शब्द भी मुँह से निकालने के बदले उन्होंने बड़ी निर्दयता से कहा—इसीलिए मैं तुम्हें घड़ी न देता था। आखिर वही हुआ, जिसकी मुझे शंका थी। मेरे पास वह घड़ी तीन साल रही, एक दिन भी इधर-उधर न हुई। तुमने तीन दिन में वारा-न्यारा कर दिया। आखिर कहाँ गये थे ?'

मैं तो डर रहा था कि दानू बाबू न जाने कितनी घुड़कियाँ सुनायेंगे। उनकी यह क्षमाशीलता देखकर मेरी जान-में-जान आयी। बोला—'जरा ससुराल चला गया था।' 'तो भाभी को लिवा लाये ?' 'जी, भाभी को लिवा लाता ! अपना गुजर होता ही नहीं, भाभी को लिवा लाता ?'

'आखिर तुम इतना कमाते हो, वह क्या करते हो ?'

'कमाता क्या हूँ, अपना सिर ! तीस रुपये महीने का नौकर हूँ।'

'तो तीसों खर्च कर डालते हो ?'

'क्या तीस रुपये मेरे लिये बहुत हैं ?'

'जब तुम्हारी कुल आमदनी तीस रुपये है, तो यह सब अपने ऊपर खर्च करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बीवी कब तक मैके में पड़ी रहेगी !'

'जब तक और तरक्की नहीं होती, तब तक मजबूरी है ! किस बिरते पर बुलाऊं ?'

'और तरक्की दो-चार साल न हो तो ?'

'यह तो ईश्वर ही ने कहा है—इधर तो ऐसी आशा नहीं है।'

'शाबाश ! तब तो तुम्हारी पीठ ठोंकनी चाहिए। और कुछ काम क्यों नहीं करते ? सुबह को क्या करते हो ?'

'सारा वक्त नहाने-धोने, खाने-पीने में निकल जाता है। फिर दोस्तों से मिलना-जुलना भी तो है।'

'तो भाई, तुम्हारा रोग असाध्य है। ऐसे आदमी के साथ मुझे लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं हो सकती। आपको मालूम है ! मेरी घड़ी पांच सौ रुपये की थी। सारे रुपये आपको

देने होंगे। आप अपने लिये पन्द्रह रुपये रखकर बाकी पन्द्रह रुपये महीना मेरे हवाले रखते जाइए। तीस महीने या ढाई साल में मेरे रुपये पट जायें, तो खूब जी खोलकर दोस्तों से मिलियेगा। समझ गये न ? मैंने पचास रुपये छोड़ दिये हैं, इससे अधिक रियायत नहीं कर सकता।'

'पन्द्रह रुपये में मेरा गुजर कैसे होगा ?'

'गुजर तो लोग पांच रुपये में भी करते हैं और पांच सौ रुपये में भी। इसकी न चलाओ, अपनी सामर्थ्य देख लो।'

दानू बाबू ने जिस निष्ठुरता से ये बातें कीं, उससे मुझे विश्वास हो गया कि अब इनके सामने रोना-धोना व्यर्थ है। यह अपनी पूरी रकम लिये बिना न मानेंगे। घड़ी अधिक-से-अधिक दो सौ रुपये की थी। लेकिन इससे क्या होता है। उन्होंने तो पहले ही उसका दाम बता दिया था। अब इस विषय पर मीन-मेष विचारने का मुझे साहस कैसे हो सकता था। किस्मत ठोंककर घर आया। यह विवाह करने का मजा है ! उस वक्त कैसे प्रसन्न थे, मानो चारों पदार्थ मिले जा रहे थे। अब नानी के नाम को रोओ। घड़ी का शौक चर्राया था, उसका फल भोगो ! न घड़ी बाँधकर जाते तो ऐसी कौन-सी किरकिरी हुई जाती थी। मगर तब तुम किसकी सुनते थे। देखें पन्द्रह रुपये में कैसे गुजर करते हो ? तीस रुपये में तो तुम्हारा पूरा ही न पड़ता था, पन्द्रह रुपये में तुम क्या भुना लोगे ?

इन्हीं चिन्ताओं में पड़ा-पड़ा मैं सो गया। भोजन करने की भी रुचि न रही !

4

जरा सुन लीजिए कि तीस रुपये में मैं कैसे गुजर करता था—बीस रुपये तो होटल को देता था। पांच रुपये नाश्ते का खर्च था और बाकी पांच रुपये में पान, सिगरेट, कपड़े, जूते सब कुछ ! मैं कौन राजसी ठाट से रहता था, कौन-सी फिजूलखर्ची करता था कि अब खर्च में कमी करता। मगर दानू बाबू का कर्ज तो चुकाना ही था। रोकर चुकाता या हँसकर। एक बार जी में आया कि ससुराल जाकर घड़ी उठा लाऊँ, लेकिन दानू बाबू से कह चुका था कि घड़ी खो गयी। अब घड़ी लेकर जाऊँगा तो यह मुझे झूठा और लबाडिया समझेंगे। मगर क्या मैं यह नहीं कह सकता कि मैंने समझा था कि घड़ी खो गयी, ससुराल गया तो उसका पता चल गया। मेरी बीवी ने उड़ा दिया था। हाँ; यह चाल अच्छी थी। लेकिन देवीजी से क्या बहाना करूँगा ? उसे कितना दुःख होगा। घड़ी पाकर कितनी खुश हो गयी थीं ! अब जाकर घड़ी छीन लाऊँ, तो शायद फिर मेरी सूरत भी न देखे। हाँ; यह हो सकता था कि दानू बाबू के पास जाकर रोता। मुझे विश्वास था कि आज क्रोध में उन्होंने चाहे कितनी ही निष्ठुरता दिखायी हो, लेकिन दो-चार दिन के बाद जब उनका क्रोध शांत हो जाय और मैं जाकर उनके सामने रोने लगूँ, तो उन्हें अवश्य दया आ जायगी। बचपन की मित्रता हृदय से निकल नहीं सकती। लेकिन मैं इतना आत्मगौरव-शून्य न था और न हो सकता था।

मैं दूसरे ही दिन एक सस्ते होटल में उठ गया। यहाँ बारह रुपये में ही प्रबन्ध हो गया। सुबह को दूध और चाय से नाश्ता करता था। अब छटाँक-भर चनों पर बसर होने लगी। बारह रुपये तो यों बचे। पान-सिगरेट आदि की मद में तीन सौ रुपये और कम किये। और महीने में साफ पन्द्रह रुपये बचा लिये। यह विकट तपस्या थी। इंद्रियों का

निर्दय दमन ही नहीं, पूरा संन्यास था पर जब मैंने ये पन्द्रह रुपये ले जाकर दानू बाबू के हाथ में रक्खे, तो ऐसा जान पड़ा, मानो मेरा मस्तक ऊँचा हो गया है। ऐसे गौरव-पूर्ण आनन्द का अनुभव मुझे जीवन में कभी न हुआ था।

दानू बाबू ने सहृदयता के स्वर में कहा—'बचाये या किसी से माँग लाये ?'

'बचाया है भई, माँगता किससे ?'

'कोई तकलीफ तो नहीं हुई ?'

'कुछ नहीं। अगर कुछ तकलीफ हुई भी, तो इस वक्त भूल गयी।'

'सुबह को तो अब भी खाली रहते हो ? आमदनी कुछ और बढ़ाने की फिक्र क्यों नहीं करते ?'

'चाहता तो हूँ कि कोई काम मिल जाय, तो कर लूँ पर मिलता ही नहीं।'

यहाँ से लौटा, तो मुझे अपने हृदय में एक नवीन बल, एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था। अब तक जिन इच्छाओं को रोकना कष्टप्रद जान पड़ता था, जब उनकी ओर ध्यान भी न जाता था। जिस पान की दूकान को देखकर चित्त अधीर हो जाता था उसके सामने से मैं सिर उठाये निकल जाता था, मानो अब मैं उस सतह से कुछ ऊँचा उठ गया हूँ। सिगरेट, चाय और चाट अब इनमें से किसी पर भी चित्त आकर्षित न होता था। प्रातःकाल भीगे हुए चने, दोनों जून रोटी और दाल। बस, इसके सिवा मेरे लिये और सभी चीजें त्याज्य थीं, सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुझे जीवन से विशेष रुचि हो गयी थी। मैं जिन्दगी से बेजार, मौत के मुँह का शिकार बनने का इच्छुक न था। मुझे ऐसा आभास होता था कि मैं जीवन में कुछ कर सकता हूँ।

एक मित्र ने एक दिन मुझसे पान खाने के लिए बड़ा आग्रह किया, पर मैंने न खाया। तब वह बोले—'तुमने तो यार, पान छोड़कर कमाल कर दिया। मैं अनुमान ही न कर सकता था कि तुम पान छोड़ दोगे। हमें भी कोई तरकीब बताओ।'

मैंने मुस्कराकर कहा—'इसकी तरकीब यही है कि पान न खाओ।'

'जी तो नहीं मानता।'

'आप ही मान जायगा।'

'बिना सिगरेट पिये, तो मेरा पेट फूलने लगता है।'

'फूलने दो, आप पिचक जायगा।'

'अच्छा तो लो, आज से मैंने पान और सिगरेट छोड़ा।'

'तुम क्या छोड़ोगे ? तुम नहीं छोड़ सकते।'

मैंने उनको उत्तेजित करने के लिए यह शंका की थी। इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। वह दृढ़ता से बोले—'तुम यदि छोड़ सकते हो, तो मैं भी छोड़ सकता हूँ! मैं तुमसे किसी बात में कम नहीं हूँ।'

'अच्छी बात है, देखूँगा।'

'देख लेना।'

मैंने इन्हें आज तक पान-या सिगरेट का सेवन करते नहीं देखा।

पाँचवें महीने में जब मैं रुपये लेकर दानू बाबू के पास गया, तो सच मानो, वह टूटकर मेरे गले से लिपट गये। बोले—'हो यार, तुम धुन के पक्के। मगर सच कहना, मुझे

मन में कोसते तो नहीं ?'

मैंने हँसकर कहा—'अब तो नहीं कोसता, मगर पहले जरूर कोसता था।'

'अब क्यों इतनी कृपा करने लगे ?'

'इसलिए कि मुझ-जैसी स्थिति के आदमी को जिस तरह रहना चाहिए, वह तुमने सिखा दिया। मेरी आमदनी में आधा मेरी स्त्री का है। पर अब तक मैं उसका हिस्सा भी हड़प कर जाता था। अब मैं इस योग्य हो रहा हूँ कि उसका हिस्सा उसे दे दूँ, या स्त्री को अपने साथ रक्खूँ। तुमने मुझे बहुत अच्छा पाठ दे दिया।'

'अगर तुम्हारी आमदनी कुछ बढ़ जाय, तो फिर उसी तरह रहने लगोगे ?'

'नहीं, कदापि नहीं। अपनी स्त्री को बुला लूँगा।'

'अच्छा, तो खुश हो जाओ; तुम्हारी तरक्की हो गयी है।'

मैंने अविश्वास के भाव से कहा—'मेरी तरक्की अभी क्या होगी ! अभी मुझसे पहले के लोग पड़े नाक रगड़ रहे हैं।'

'कहता हूँ मान जाव। मुझसे तुम्हारे बड़े बाबू कहते थे।'

मुझे अब भी विश्वास न आया। पर मारे कुतूहल के पेट में चूहे दौड़ रहे थे। उधर दानू बाबू अपने घर गये, इधर मैं बड़े बाबू के घर पहुँचा। बड़े बाबू बैठे अपनी बकरी दुह रहे थे। मुझे देखा, तो झेंपते हुए बोले—'क्या करें भाई, आज ग्वाला नहीं आया, इसलिए यह बला गले पड़ी। चलो, बैठो।'

मैं कमरे में जा बैठा। बाबूजी भी कोई आध घंटे के बाद हाथ में गुड़गुड़ी लिये निकले और इधर-उधर की बातें करते रहे। आखिर मुझसे न रहा गया, बोला—'मैंने सुना है, मेरी कुछ तरक्की हो गयी है।'

बड़े बाबू ने प्रसन्नमुख होकर कहा—'हाँ भई, हुई तो है। तुमसे दानू बाबू ने कहा होगा ?'

'जी हाँ, अभी कहा है। मगर मेरा नम्बर तो अभी नहीं आया, तरक्की कैसे हुई ?'

'यह न पूछो, अफसरों की निगाह चाहिए, नम्बर-सबर कौन देखता है !'

'लेकिन आखिर मुझे किसकी जगह मिली ? अभी कोई तरक्की का मौका भी तो नहीं।'

'कह दिया, भई, अफसर लोग सब कुछ कर सकते हैं। साहब एक दूसरी मद से तुम्हें पन्द्रह रुपये महीना देना चाहते हैं। दानू बाबू ने शायद साहब से कहा-सुना होगा।'

'किसी दूसरे का हक मारकर तो मुझे ये रुपये नहीं दिये जा रहे हैं ?'

'नहीं, यह बात नहीं। मैं खुद इसे न मंजूर करता।' महीना गुजरा, मुझे 45) मिले। मगर रजिस्टर में मेरे नाम के सामने वही तीस रुपये लिखे थे। बड़े बाबू ने अकेले में बुलाकर मुझे रुपये दिये और ताकीद कर दी कि किसी से कहना मत, नहीं दफ्तर में बावेला मच जायगा। साहब का हुक्म है कि यह बात गुप्त रक्खी जाय।

मुझे सन्तोष हो गया कि किसी सहकारी का गला घोंटकर मुझे रुपये नहीं दिये गये। खुश-खुश रुपये लिये हुए सीधा दानू बाबू के पास पहुँचा। वह मेरी बाछें खिली देखकर बोले—'मार लाये तरक्की, क्यों ?'

'हाँ यार, रुपये तो पन्द्रह रुपये मिले; लेकिन तरक्की नहीं हुई, किसी और मद से दिये गये हैं।'

'तुम्हें रुपये से मतलब है, चाहे किसी मद से मिलें। तो अब बीवी को लेने जाओगे?'

'नहीं, अभी नहीं।'

'तुमने तो कहा था, आमदनी बढ़ जायगी, तो बीवी को लाऊँगा, अब क्या हो गया ?'

'मैं सोचता हूँ, पहले आपके रुपये पटा दूँ। अब से तीस रुपये महीने देता जाऊँगा, साल-भर में पूरे रुपये पट जायँगे। तब मुक्त हो जाऊँगा।'

दानू बाबू की आँखें सजल हो गयीं। मुझे आज अनुभव हुआ कि उनकी इस कठोर आकृति के नीचे कितना कोमल हृदय छिपा हुआ था। बोले—'नहीं, अबकी मुझे कुछ मत दो। रेल का खर्च पड़ेगा, वह कहाँ से दोगे ? जाकर अपनी स्त्री को ले आओ।'

मैंने दुविधा में पड़कर कहा—'यार, अभी न मजबूर करो। शायद किश्त न अदा कर सकूँ तो ?'

दान बाबू ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—'तो कोई हरज नहीं। सच्ची बात यह है कि मैं अपनी घड़ी के दाम पा चुका। मैंने तो उसके पच्चीस रुपये ही दिये थे। उस पर तीन साल काम ले चुका था। मुझे तुमसे कुछ न लेना चाहिए था। अपनी स्वार्थपरता पर लज्जित हूँ।'

मेरी आँखें भी भर आयीं। जी में तो आया, घड़ी का सारा रहस्य कह सुनाऊँ, लेकिन जब्त कर गया। गद्‌गद कण्ठ से बोला—'नहीं, दानू बाबू, मुझे रुपये अदा कर लेने दो। आखिर तुम उस घड़ी को चार-पाँच सौ में बेच लेते या नहीं ? मेरे कारण तुम्हें इतना नुकसान क्यों हो ?'

'भई, अब घड़ी की चर्चा न करो। यह बताओ कि कब जाओगे ?'

'अरे, तो पहले रहने का तो ठीक कर लूँ।'

'तुम जाओ, मैं मकान का प्रबन्ध कर रक्खूँगा।'

'मगर मैं पांच रुपये से ज्यादा किराया न दे सकूँगा। शहर से जरा हटकर मकान सस्ता मिल जायगा।'

'अच्छी बात है, मैं सब ठीक कर रक्खूँगा। किस गाड़ी से लौटोगे ?'

'यह अभी क्या मालूम ? विदाई का मामला है, साइत बने या न बने या लोग एकाध दिन रोक ही लें। तुम इस झंझट में क्यों पड़ोगे ? मैं दो-चार दिन में मकान ठीक करके चला जाऊँगा।'

'जी नहीं, आप आज जाइए और कल आइए।'

'तो उतरूँगा कहाँ ?'

'मैं मकान ठीक कर लूँगा। मेरा आदमी तुम्हें स्टेशन पर मिलेगा।'

मैंने बहुत हीले-हवाले किये, पर उस भले आदमी ने एक न सुनी। उसी दिन मुझे ससुराल जाना पड़ा।

5

मुझे ससुराल में तीन दिन लग गये। चौथे दिन पत्नी के साथ चला। जी में डर रहा था कि कहीं दानू ने कोई आदमी न भेजा हो, तो कहाँ उतरूँगा, कहाँ जाऊँगा। आज चौथा दिन है।

उन्हें इतनी क्या गरज पड़ी है कि बार-बार स्टेशन पर अपना आदमी भेजें। गाड़ी में सवार होते समय इरादा हुआ कि दानू को तार से अपने आने की सूचना दे दूँ। लेकिन एक सौ ग्यारह रुपये का खर्च था, इससे हिचक गया।

मगर जब गाड़ी बनारस पहुँची, तो देखता हूँ कि दानू बाबू स्वयं हैट-कैट लगाये, दो कुलियों के साथ खड़े हैं। मुझे देखते ही दौड़े और बोले–'ससुराल की रोटियाँ बड़ी प्यारी लग रही थीं क्या ? तीन दिन से रोज दौड़ रहा हूँ। जुरमाना देना पड़ेगा।'

देवीजी सिर से पाँव तक चादर ओढ़े, गाड़ी से उतरकर प्लेटफार्म पर खड़ी हो गयी थीं। मैं चाहता था; जल्दी से गाड़ी में बैठकर यहाँ से चल दूँ। घड़ी उनकी कलाई पर बँधी हुई थी। मुझे डर लग रहा था कि कहीं उन्होंने हाथ बाहर निकाला और दानू की निगाह घड़ी पर पड़ गयी, तो बड़ी झेंप होगी। मगर तकदीर का लिखा कौन टाल सकता है ? मैं देवीजी से दानू बाबू की सज्जनता का खूब बखान कर चुका था। अब जो दानू उसके समीप आकर संदूक उठवाने लगे, तो देवीजी ने दोनों हाथों से उन्हें नमस्कार किया। दानू ने उनकी कलाई पर घड़ी देख ली। उस वक्त तो क्या बोलते; लेकिन ज्योंही देवीजी को एक ताँगे पर बिठाकर हम दोनों दूसरे ताँगे पर बैठकर चले, दानू ने मुस्कराकर कहा–क्या घड़ी देवीजी ने छिपा दी थी ?

मैंने शर्माते हुए कहा–'नहीं यार, मैं ही दे आया था, दे क्या आया था, उन्होंने मुझसे छीन ली थी।'

दानू ने मेरा तिरस्कार करके कहा–'तो मुझसे झूठ क्यों बोले ?'

'फिर क्या करता ?'

'अगर तुमने साफ कह दिया होता, तो शायद मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि तुमसे उसका तावान वसूल करता; लेकिन खैर, ईश्वर का कोई काम मसलहत से खाली नहीं होता। तुम्हें कुछ दिनों ऐसी तपस्या की जरूरत थी।'

'मकान कहाँ ठीक किया है ?'

'वहीं तो चल रहा हूँ।'

'क्या तुम्हारे घर के पास ही है ? तब तो बड़ा मजा रहेगा।'

'हाँ, मेरे घर से मिला हुआ है मगर बहुत सस्ता।'

दानू बाबू के द्वार पर दोनों ताँगे रुके। आदमियों ने दौड़कर असबाब उतारना शुरू किया। एक क्षण में दानू बाबू की देवीजी घर में से निकलकर ताँगे के पास आयीं और पत्नी जी को साथ ले गयीं। मालूम होता था, यह सारी बातें पहले ही से सधी-बधी थीं।

मैंने कहा–'तो यह कहो कि हम तुम्हारे बिन बुलाये मेहमान हैं।'

'अब तुम अपनी मरजी का कोई मकान ढूँढ़ लेना। दस-पाँच दिन तो यहाँ रहो।'

लेकिन मुझे यह जबरदस्ती की मेहमानी अच्छी न लगी। मैंने तीसरे ही दिन एक मकान तलाश कर लिया। बिदा होते समय दानू ने सौ रुपये लाकर मेरे सामने रख दिये और कहा–'यह तुम्हारी अमानत है। लेते जाओ।'

मैंने विस्मय से पूछा–'मेरी अमानत कैसी ?' दानू ने कहा–'पन्द्रह रुपये के हिसाब से छः महीने के नब्बे रुपये हुए और दस रुपये सूद।'

मुझे दानू की यह सज्जनता बोझ के समान लगी। बोला–'तो तुम घड़ी ले लेना

चाहते हो ?'

'फिर घड़ी का जिक्र किया तुमने। उसका नाम मत लो।'

'तुम मुझे चारों ओर से दबाना चाहते हो।'

'हाँ, दबाना चाहता हूँ। तुम्हें आदमी बना देना चाहता हूँ। नहीं तो उम्रभर तुम यहाँ होटल की रोटियाँ तोड़ते और तुम्हारी देवीजी वहाँ बैठी तुम्हारे नाम को रोतीं। कैसी शिक्षा दी है, इसका एहसान तो न मानोगे ?'

'यों कहो, तो आप मेरे गुरु बने हुए थे ?'

'जी हाँ, ऐसे गुरु की तुम्हें जरूरत थी।'

मुझे विवश होकर घड़ी का जिक्र करना पड़ा। डरते-डरते बोला—'तो भई, घड़ी....'

'फिर तुमने घड़ी का नाम लिया !'

'तुम खुद मुझे मजबूर कर रहे हो।'

'वह मेरी ओर से भावज को उपहार है।'

'और ये सौ रुपये मुझे उपहार मिले हैं।'

'जी हाँ, यह इम्तहान में पास होने का इनाम है।'

'तब तो डबल उपहार मिला।'

'तुम्हारी तकदीर ही अच्छी है, क्या करूँ।'

मैं रुपये तो न लेता था, पर दानू ने मेरी जेब में डाल दिये। लेने पड़े। इन्हें मैंने सेविंग बैंक में जमा कर दिया। दस रुपये महीने पर मकान लिया था। तीस रुपये महीने खर्च करता था। पांच सौ रुपये बचने लगे। अब मुझे मालूम हुआ कि दानू बाबू ने मुझसे छः सौ रुपये महीने तक यह तपस्या न करायी होती, तो सचमुच मैं न-जाने कितने दिनों तक देवीजी को मैके में पड़ा रहने देता। उसी तपस्या की बरकत थी कि आराम से जिंदगी कट रही थी, ऊपर से कुछ-न-कुछ जमा होता जाता था। मगर घड़ी का किस्सा मैंने आज तक देवीजी से नहीं कहा। पाँचवें महीने में मेरी तरक्की का नम्बर आया। तरक्की का परवाना मिला। मैं सोच रहा था कि देखूँ अबकी दूसरी मद वाले पन्द्रह रुपये मिलते हैं या नहीं। पहली तारीख को वेतन मिला, वही पैंतालिस रुपये। मैं एक क्षण खड़ा रहा कि शायद बड़े बाबू दूसरी मद वाले रुपये भी दें। जब और लोग अपने-अपने वेतन लेकर चले गये, तो बड़े बाबू बोले—'क्या अभी लालच घेरे हुए है? अब और कुछ न मिलेगा।'

मैंने लज्जित होकर कहा—'जी नहीं, इस खयाल से नहीं खड़ा हूँ। साहब ने इतने दिनों तक परवरिश की, यह क्या थोड़ा है। मगर कम-से-कम इतना तो बता दीजिए कि किस मद से वह रुपया दिया जाता था ?'

बड़े बाबू—'पूछकर क्या करोगे ?'

'कुछ नहीं, यों ही जानने को जी चाहता है ?'

'जाकर दानू बाबू से पूछो।'

'दफ्तर का हाल दानू बाबू क्या जान सकते हैं ?'

'नहीं, यह हाल वही जानते हैं।'

मैंने बाहर आकर एक ताँगा लिया और दानू के पास पहुँचा। और पूरे दस महीने के बाद मैंने ताँगा किराये पर किया था। इस रहस्य के जानने के लिए मेरा दम घुट रहा था।

दिल में तय कर लिया था कि अगर बचा ने यह षड्यंत्र रचा होगा, तो बुरी तरह खबर लूँगा। आप बगीचे में टहल रहे थे। मुझे देखा तो घबराकर बोले—'कुशल तो है, कहाँ से भागे आते हो ?'

मैंने कृत्रिम क्रोध दिखाकर कहा—'मेरे यहाँ तो कुशल है, लेकिन तुम्हारी कुशल नहीं।'

'क्यों भई, क्या अपराध हुआ है ?'

'आप बतलाइये कि पाँच महीने तक मुझे जो पन्द्रह रुपये वेतन के ऊपर से मिलते थे, वह कहाँ से आते थे ?'

'तुमने बड़े बाबू से नहीं पूछा ? तुम्हारे दफ्तर का हाल मैं क्या जानूँ ?'

मैं आजकल दानू से बेतकल्लुफ हो गया था। बोला—

'देखो दानू, मुझसे उड़ोगे, तो अच्छा न होगा। क्यों नाहक मेरे हाथों पिटोगे ?'

'पीटना चाहो, तो पीट लो भई, सैकड़ों ही बार पीटा है; एक बार और सही। बारजे पर से जो ढकेल दिया था, उसका निशाना बना हुआ है, यह देखो।'

'तुम टाल रहे हो और मेरा दम घुट रहा है। सच बताओ, क्या बात थी ?'

'बात-वात कुछ नहीं थी। मैं जानता था कि कितनी ही किफायत करोगे, तीस रुपये में तुम्हारा गुज़र न होगा। और न सही, दोनों वक्त रोटियाँ तो हों। बस इतनी बात है। अब इसके लिए जो चाहो, दण्ड दो।'

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', जुलाई, 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-4 में संकलित। उर्दू रूप 'मुस्तआर घड़ी' शीर्षक से उर्दू कहानी संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित।]

आत्म-संगीत

आधी रात थी। नदी का किनारा था। आकाश के तारे स्थिर थे और नदी में उनका प्रतिबिम्ब लहरों के साथ चंचल। एक स्वर्गीय संगीत की मनोहर और जीवनदायिनी, प्राण-पोषिणी ध्वनियाँ इस निस्तब्ध और तमोमय दृश्य पर इस प्रकार छा रही थीं, जैसे हृदय पर आशाएँ छायी रहती हैं, या मुखमंडल पर शोक।

रानी मनोरमा ने आज गुरु-दीक्षा ली थी। दिन भर दान और व्रत में व्यस्त रहने के बाद मीठी नींद की गोद में सो रही थी। अकस्मात् उसकी आँखें खुलीं और ये मनोहर ध्वनियाँ कानों में पहुँचीं। वह व्याकुल हो गयी—जैसे दीपक को देख कर पतंग; वह अधीर हो उठी, जैसे खाँड की गंध पा कर चींटी। वह उठी और द्वारपालों एवं चौकीदारों की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल से बाहर निकल आयी—जैसे वेदनापूर्ण क्रन्दन सुन कर आँखों से आँसू निकल आते हैं।

सरिता-तट पर कँटीली झाड़ियाँ थीं। ऊँचे कगारे थे। भयानक जंतु थे। और उनकी डरावनी आवाजें ! शव थे और उनसे भी अधिक भयंकर उनकी कल्पना। मनोरमा कोमलता और सुकुमारता की मूर्ति थी। परंतु उस मधुर संगीत का आकर्षण उसे तन्मयता की

अवस्था में खींचे लिये जाता था। उसे आपदाओं का ध्यान न था।

वह घंटों चलती रही, यहाँ तक कि मार्ग में नदी ने उसका गति-रोध किया।

2

मनोरमा ने विवश हो कर इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी। किनारे पर एक नौका दिखाई दी। निकट जा कर बोली—माँझी, मैं उस पार जाऊँगी, इस मनोहर राग ने मुझे व्याकुल कर दिया है।

माँझी—रात को नाव नहीं खोल सकता। हवा तेज है और लहरें डरावनी। जान-जोखिम है।

मनोरमा—मैं रानी मनोरमा हूँ। नाव खोल दे, मुँह माँगी मजदूरी दूँगी।

माँझी—तब तो नाव किसी तरह नहीं खोल सकता। रानियों का इस नदी में निबाह नहीं।

मनोरमा—चौधरी, तेरे पाँव पड़ती हूँ। शीघ्र नाव खोल दे। मेरे प्राण उस ओर खिंचे चले जाते हैं।

माँझी—क्या इनाम मिलेगा ?

मनोरमा—जो तू माँगे।

माँझी—आप ही कह दें, मैं गँवार क्या जानूँ, कि रानियों से क्या चीज माँगनी चाहिए। कहीं कोई ऐसी चीज न माँग बैठूँ, जो आपकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध हो ?

मनोरमा—मेरा यह हार अत्यन्त मूल्यवान् है। मैं इसे खेवे में देती हूँ। मनोरमा ने गले से हार निकाला, उसकी चमक से माँझी का मुख-मंडल प्रकाशित हो गया—वह कठोर, और काला मुख, जिस पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं।

अचानक मनोरमा को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो संगीत की ध्वनि और निकट हो गयी हो। कदाचित् कोई पूर्ण ज्ञानी पुरुष आत्मानंद के आवेश में उस सरिता-तट पर बैठा हुआ उस निस्तब्ध निशा को संगीत-पूर्ण कर रहा है। रानी का हृदय उछलने लगा। आह ! कितना मनोमुग्धकर राग था ! उसने अधीर हो कर कहा—माँझी, अब देर न कर, नाव खोल, मैं एक क्षण भी धीरज नहीं रख सकती।

माँझी—इस हार को ले कर मैं क्या करूँगा ?

मनोरमा—सच्चे मोती हैं।

माँझी—यह और भी विपत्ति है। माँझिन गले में पहन कर पड़ोसियों को दिखायेगी, वह सब डाह से जलेंगी, उसे गालियाँ देंगी। कोई चोर देखेगा, तो उसकी छाती पर साँप लोटने लगेगा। मेरी सुनसान झोंपड़ी पर दिनदहाड़े डाका पड़ जायगा। लोग चोरी का अपराध लगायेंगे। नहीं, मुझे यह हार न चाहिए।

मनोरमा—तो जो कुछ तू माँग, वहीं दूँगी। लेकिन देर न कर। मुझे अब धैर्य नहीं है। प्रतीक्षा करने की तनिक भी शक्ति नहीं है। इस राग की एक-एक तान मेरी आत्मा को तड़पा देती है।

माँझी—इससे भी अच्छी कोई चीज दीजिए।

मनोरमा—अरे निर्दयी ! तू मुझे बातों में लगाये रखना चाहता है। मैं जो देती हूँ, वह

लेता नहीं, स्वयं कुछ माँगता नहीं। तुझे क्या मालूम मेरे हृदय की इस समय क्या दशा हो रही है। मैं इस आत्मिक पदार्थ पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकती हूँ।

माँझी—और क्या दीजिएगा ?

मनोरमा—मेरे पास इससे बहुमूल्य और कोई वस्तु नहीं है, लेकिन तू अभी नाव खोल दे, तो प्रतिज्ञा करती हूँ कि तुझे अपना महल दे दूँगी, जिसे देखने के लिए कदाचित् तू भी कभी गया हो। विशुद्ध श्वेत पत्थर से बना है, भारत में इसकी तुलना नहीं।

माँझी—(हँस कर) उस महल में रह कर मुझे क्या आनंद मिलेगा ? उलटे मेरे भाई-बंधु शत्रु हो जायँगे। इस नौका पर अँधेरी रात में भी मुझे भय न लगता। आँधी चलती रहती है, और मैं इस पर पड़ा रहता हूँ। किंतु वह महल तो दिन ही में फाड़ खायगा। मेरे घर के आदमी तो उसके एक कोने में समा जायँगे। और आदमी कहाँ से लाऊँगा; मेरे नौकर-चाकर कहाँ ? इतना माल-असबाब कहाँ ? उसकी सफाई और मरम्मत कहाँ से कराऊँगा ? उसकी फुलवारियाँ सूख जायँगी, उसकी क्यारियों में गीदड़ बोलेंगे और अटारियों पर कबूतर और अबाबीलें घोंसले बनायेंगी।

मनोरमा अचानक एक तन्मय अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुन्दरता और आनंद अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह ! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं माँगता ? आह ! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करने वाला ! मैं अब तनिक धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिए जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय संगीत के लिए उतनी व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की-सी मस्ती है, पपीहे की-सी वेदना है, श्यामा की-सी विह्वलता है, इसमें झरनों का-सा जोर है, आँधी का-सा बल ! इसमें वह सब कुछ है, जिससे विवेकाग्नि प्रज्ज्वलित होती, जिससे आत्मा समाहित होती है, और अंतःकरण पवित्र होता है। माँझी, अब एक क्षण का भी विलम्ब मेरे लिए मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंध है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत निकट।

माँझी—आपका महल मेरे काम का नहीं है, मेरी झोंपड़ी उससे कहीं सुहावनी है।

मनोरमा—हाय ! तो अब तुझे क्या दूँ ? यह संगीत नहीं है, यह इस सुविशाल क्षेत्र की पवित्रता है, यह समस्त सुमन-समूह का सौरभ है, समस्त मधुरताओं की माधुरी है, समस्त अवस्थाओं का सार है। नौका खोल। मैं जब तक जीऊँगी, तेरी सेवा करूँगी, तेरे लिए पानी भरूँगी, तेरी झोंपड़ी बहारूँगी। हाँ, मैं तेरे मार्ग के कंकड़ चुनूँगी, तेरे झोंपड़े को फूलों से सजाऊँगी, तेरी माँझिन के पैर मलूँगी। प्यारे माँझी, यदि मेरे पास सौ जानें होतीं, तो मैं इस संगीत के लिए अर्पण करती। ईश्वर के लिए मुझे निराश न कर। मेरे धैर्य का अंतिम बिंदु शुष्क हो गया। अब इस चाह में दाह है, अब यह सिर तेरे चरणों में है।

यह कहते-कहते मनोरमा एक विक्षिप्त की अवस्था में माँझी के निकट जा कर उसके पैरों पर गिर पड़ी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह संगीत आत्मा पर किसी

प्रज्वलित प्रदीप की तरह ज्योति बरसाता हुआ मेरी ओर आ रहा है। उसे रोमांच हो आया। वह मस्त हो कर झूमने लगी। ऐसा ज्ञात हुआ कि मैं हवा में उड़ी जाती हूँ। उसे अपने पार्श्व-देश में तारे झिलमिलाते हुए दिखायी देते थे। उस पर एक आत्मविस्मृत का भावावेश छा गया और अब वही मस्ताना संगीत, वही मनोहर राग उसके मुँह से निकलने लगा। वही अमृत की बूँदें, उसके अधरों से टपकने लगीं। वह स्वयं इस संगीत की स्रोत थी। नदी के पार से आने वाली ध्वनियाँ, प्राणपोषिणी ध्वनियाँ उसी के मुँह से निकल रही थीं।

मनोरमा का मुख-मंडल चंद्रमा की तरह प्रकाशमान हो गया था, और आँखों से प्रेम की किरणें निकल रही थीं।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', अगस्त, 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित। उर्दू रूप 'नगमा-ए-रूह' शीर्षक से उर्दू कहानी संग्रह 'खाके परवाना' में संकलित।]

ऐक्ट्रेस

रंगमंच का परदा गिर गया। तारा देवी ने शकुंतला का पार्ट खेल कर दर्शकों को मुग्ध कर दिया था। जिस वक्त वह शकुंतला के रूप में राजा दुष्यंत के सम्मुख खड़ी ग्लानि, वेदना, और तिरस्कार से उत्तेजित भावों को आग्नेय शब्दों में प्रकट कर रही थी, दर्शक-वृंद शिष्टता के नियमों की उपेक्षा करके मंच की ओर उन्मत्तों की भाँति दौड़ पड़े थे और तारादेवी का यशोगान करने लगे थे। कितने ही तो स्टेज पर चढ़ गये और तारादेवी के चरणों पर गिर पड़े। सारा स्टेज फूलों से पट गया, आभूषणों की वर्षा होने लगी। यदि उसी क्षण मेनका का विमान नीचे आ कर उसे उड़ा न ले जाता, तो कदाचित् उस धक्कम-धक्के में दस-पाँच आदमियों की जान पर बन जाती। मैनेजर ने तुरंत आ कर दर्शकों को गुण-ग्राहकता का धन्यवाद दिया और वादा भी किया कि दूसरे दिन फिर वही तमाशा होगा। तब लोगों का मोहान्माद शांत हुआ। मगर एक युवक उस वक्त भी मंच पर खड़ा रहा। लम्बे कद का था, तेजस्वी मुद्रा, कुंदन का-सा रंग, देवताओं का-सा स्वरूप, गठी हुई देह, मुख से एक ज्योति-सी प्रस्फुटित हो रही थी। कोई राजकुमार मालूम होता था।

जब सारे दर्शकगण बाहर निकल गये, उसने मैनेजर से पूछा—क्या मैं तारादेवी से एक क्षण के लिए मिल सकता हूँ ?

मैनेजर ने उपेक्षा के भाव से कहा—हमारे यहाँ ऐसा नियम नहीं है।

युवक ने फिर कहा—क्या आप मेरा कोई पत्र उसके पास भेज सकते हैं ?

मैनेजर ने उसी उपेक्षा के भाव से कहा—जी नहीं। क्षमा कीजिएगा। यह हमारे नियमों के विरुद्ध है।

युवक ने और कुछ न कहा, निराश हो कर स्टेज के नीचे उतर पड़ा और बाहर जाना ही चाहता था कि मैनेजर ने पूछा—जरा ठहर जाइए, आपका कार्ड ?

युवक ने जेब से कागज का एक टुकड़ा निकाल कर कुछ लिखा और दे दिया।

मैनेजर ने पुर्जे को उड़ती हुई निगाह से देखा—कुँवर निर्मलकांत चौधरी ओ. बी. ई.। मैनेजर की कठोर मुद्रा कोमल हो गयी। कुँवर निर्मलकांत—शहर के सबसे बड़े रईस और ताल्लुकेदार, साहित्य के उज्ज्वल रत्न, संगीत के सिद्धहस्त आचार्य, उच्च-कोटि के विद्वान्, आठ-दस लाख सालाना के नफेदार, जिनके दान से देश की कितनी ही संस्थाएँ चलती थीं—इस समय एक क्षुद्र प्रार्थी के रूप में खड़े थे। मैनेजर अपने उपेक्षा-भाव पर लज्जित हो गया। विनम्र शब्दों में बोला—क्षमा कीजिएगा, मुझसे बड़ा अपराध हुआ। मैं अभी तारादेवी के पास हुजूर का कार्ड लिये जाता हूँ।

कुँवर साहब ने उससे रुकने का इशारा करके कहा—नहीं, अब रहने ही दीजिए, मैं कल पाँच बजे आऊँगा। इस वक्त तारादेवी को कष्ट होगा। यह उनके विश्राम का समय है।

मैनेजर—मुझे विश्वास है कि वह आपकी खातिर इतना कष्ट सहर्ष सह लेंगी, मैं एक मिनट में आता हूँ।

किंतु कुँवर साहब अपना परिचय देने के बाद अब अपनी आतुरता पर संयम का परदा डालने के लिए विवश थे। मैनेजर को सज्जनता का धन्यवाद दिया। और कल आने का वादा करके चले गये।

2

तारा एक साफ-सुथरे और सजे हुए कमरे में मेज के सामने किसी विचार में मग्न बैठी थी। रात का वह दृश्य उसकी आँखों के सामने नाच रहा था। ऐसे दिन जीवन में क्या बार-बार आते हैं ? कितने मनुष्य उसके दर्शनों के लिए विकल हो रहे थे ! बस, एक दूसरे पर फट पड़ते थे। कितनों को उसने पैरों से ठुकरा दिया था—हाँ, ठुकरा दिया था। मगर उस समूह में केवल एक दिव्य-मूर्ति अविचलित रूप से खड़ी थी। उसकी आँखों में कितना गंभीर अनुराग था, कितना दृढ़ संकल्प ! ऐसा जान पड़ता था मानो दोनों नेत्र उसके हृदय में चुभे जा रहे हों। आज फिर उस पुरुष के दर्शन होंगे या नहीं, कौन जानता है। लेकिन यदि आज उनके दर्शन हुए, तो तारा उनसे एक बार बातचीत किये बिना न जाने देगी।

यह सोचते हुए उसने आईने की ओर देखा, कमल का फूल-सा खिला था। कौन कह सकता था कि यह नव-विकसित पुष्प पैंतीस बसंतों की बहार देख चुका है। वह कांति, वह कोमलता, वह चपलता, वह माधुर्य किसी नवयौवना को लज्जित कर सकता था। तारा एक बार फिर हृदय में प्रेम का दीपक जला बैठी। आज से बीस साल पहले एक बार उसको प्रेम का कटु अनुभव हुआ था। तब से वह एक प्रकार का वैधव्य-जीवन व्यतीत करती रही। कितने प्रेमियों ने अपना हृदय उसको भेंट करना चाहा था; पर उसने किसी की ओर आँख उठा कर भी न देखा था। उसे उनके प्रेम में कपट की गंध आती थी। मगर आह! आज उसका संयम उसके हाथ से निकल गया। एक बार फिर आज उसे हृदय में उसी मधुर वेदना का अनुभव हुआ, जो बीस साल पहले हुआ था। एक पुरुष का सौम्य स्वरूप उसकी आँखों में बस गया, हृदय पट पर खिंच गया। उसे वह किसी तरह भूल न सकती थी। उसी पुरुष को उसने मोटर पर जाते देखा होता, तो कदाचित् उधर ध्यान भी न करती। पर उसे अपने सम्मुख प्रेम का उपहार हाथ में लिए देख कर वह स्थिर न रह सकी।

सहसा दाई ने आ कर कहा—बाई जी, रात की सब चीजें रखी हुई हैं, कहिए तो लाऊँ ?

तारा ने कहा—नहीं, मेरे पास चीज लाने की जरूरत नहीं; मगर ठहरो, क्या-क्या चीजें हैं।

'एक ढेर का ढेर तो लगा है बाई जी, कहाँ तक गिनाऊँ—अशर्फियाँ हैं, ब्रूचेज, बाल के पिन, बटन, लाकेट, अँगूठियाँ सभी तो हैं। एक छोटे-से डिब्बे में एक सुन्दर हार है। मैंने आज तक वैसा हार नहीं देखा। सब संदूक में रख दिया है।'

'अच्छा, वह संदूक मेरे पास ला।' दाई ने संदूक ला कर मेज पर रख दिया। उधर एक लड़के ने एक पत्र ला कर तारा को दिया। तारा ने पत्र को उत्सुक नेत्रों से देखा—कुँवर निर्मलकांत ओ. बी. ई.। लड़के से पूछा—यह पत्र किसने दिया। वह तो नहीं, जो रेशमी साफा बाँधे हुए थे ?

लड़के ने केवल इतना कहा—मैनेजर साहब ने दिया है। और लपका हुआ बाहर चला गया।

संदूक में सबसे पहले डिब्बा नजर आया। तारा ने उसे खोला तो सच्चे मोतियों का सुन्दर हार था। डिब्बे में एक तरफ एक कार्ड भी था। तारा ने लपक कर उसे निकाल लिया और पढ़ा—कुँवर निर्मलकांत...। कार्ड उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ा। वह झपट कर कुरसी से उठी और बड़े वेग से कई कमरों और बरामदों को पार करती मैनेजर के सामने आ कर खड़ी हो गयी। मैनेजर ने खड़े हो कर उसका स्वागत किया और बोला—मैं रात की सफलता पर आपको बधाई देता हूँ।

तारा ने खड़े-खड़े पूछा—कुँवर निर्मलकांत क्या बाहर हैं ? लड़का पत्र दे कर भाग गया। मैं उससे कुछ पूछ न सकी।

'कुँवर साहब का रुक्का तो रात ही तुम्हारे चले आने के बाद मिला था।'

'तो आपने उसी वक्त मेरे पास क्यों न भेज दिया ?'

मैनेजर ने दबी जबान से कहा—मैंने समझा, तुम आराम कर रही होगी, कष्ट देना उचित न समझा। और भाई, साफ बात यह है कि मैं डर रहा था, कहीं कुँवर साहब को तुमसे मिला कर तुम्हें खो न बैठूँ। अगर मैं औरत होता, तो उसी वक्त उनके पीछे हो लेता। ऐसा देवरूप पुरुष मैंने आज तक नहीं देखा। वही जो रेशमी साफा बाँधे खड़े थे तुम्हारे सामने। तुमने भी तो देखा था।

तारा ने मानो अर्धनिद्रा की दशा में कहा—हाँ, देखा तो था—क्या यह फिर आयेंगे ?

'हाँ, आज पाँच बजे शाम को। बड़े विद्वान् आदमी हैं, और इस शहर के सबसे बड़े रईस।'

'आज मैं रिहर्सल में न आऊँगी।'

3

कुँवर साहब आ रहे होंगे। तारा आईने के सामने बैठी है और दाई उसका शृंगार कर रही है। शृंगार भी इस जमाने में एक विद्या है। पहले परिपाटी के अनुसार ही शृंगार किया जाता था। कवियों, चित्रकारों और रसिकों ने शृंगार की मर्यादा-सी बाँध दी थी। आँखों के लिए

काजल लाजमी था, हाथों के लिए मेहंदी, पाँव के लिए महावर। एक-एक अंग एक-एक आभूषण के लिए निर्दिष्ट था। आज वह परिपाटी नहीं रही। आज प्रत्येक रमणी अपनी सुरुचि सुबुद्धि और तुलनात्मक भाव से शृंगार करती है। उसका सौंदर्य किस उपाय से आकर्षकता की सीमा पर पहुँच सकता है, यही उसका आदर्श होता है। तारा इस कला में निपुण थी। वह पंद्रह साल से इस कम्पनी में थी और यह समस्त जीवन उसने पुरुषों के हृदय से खेलने ही में व्यतीत किया था। किस चितवन से, किस मुस्कान से, किस अँगड़ाई से, किस तरह केशों के बिखेर देने से दिलों का कत्लेआम हो जाता है; इस कला में कौन उससे बढ़ कर हो सकता था ! आज उसने चुन-चुन कर आजमाये हुए तीर तरकस से निकाले, और जब अपने अस्त्रों से सज कर वह दीवानखाने में आयी, तो जान पड़ा मानो संसार का सारा माधुर्य उसकी बलाएँ ले रहा है। वह मेज के पास खड़ी हो कर कुँवर साहब का कार्ड देख रही थी, उसके कान मोटर की आवाज की ओर लगे हुए थे। वह चाहती थी कि कुँवर साहब इसी वक्त आ जायँ और उसे उसी अंदाज से खड़े देखें। इसी अंदाज से वह इसके अंग-प्रत्यंगों की पूर्ण छवि देख सकते थे। उसने अपनी शृंगार कला से काल पर विजय पा ली थी। कौन कह सकता था कि यह चंचल नवयौवन उस अवस्था को पहुँच चुकी है, जब हृदय को शांति की इच्छा होती है, वह किसी आश्रम के लिए आतुर हो उठता है, और उसका अभिमान नम्रता के आगे सिर झुका देता है ?

तारा देवी को बहुत इंतजार न करना पड़ा। कुँवर साहब शायद मिलने के लिए उससे भी उत्सुक थे। दस ही मिनट के बाद उनकी मोटर की आवाज आयी। तारा सँभल गयी। एक क्षण में कुँवर साहब ने कमरे में प्रवेश किया। तारा शिष्टाचार के लिए हाथ मिलाना भी भूल गयी, प्रौढ़ावस्था में भी प्रेम की उद्विग्नता और असावधानी कुछ कम नहीं होती। वह किसी सलज्जा युवती की भाँति सिर झुकाये खड़ी रही।

कुँवर साहब की निगाह आते ही उसकी गर्दन पर पड़ी। वह मोतियों का हार, जो उन्होंने रात को भेंट किया था, चमक रहा था। कुँवर साहब को इतना आनंद और कभी न हुआ। उन्हें एक क्षण के लिए ऐसा जान पड़ा मानो उनके जीवन की सारी अभिलाषा पूरी हो गयी। बोले—मैंने आपको आज इतने सबेरे कष्ट दिया, क्षमा कीजिएगा। यह तो आपके आराम का समय होगा ? तारा ने सिर से खिसकती हुई साड़ी को सँभाल कर कहा—इससे ज्यादा आराम और क्या हो सकता था कि आपके दर्शन हुए। मैं इस उपहार के लिए और क्या आपको मनों धन्यवाद देती हूँ। अब तो कभी-कभी मुलाकात होती रहेगी ?

निर्मलकांत ने मुस्करा कर कहा—कभी-कभी नहीं, रोज। आप चाहे मुझसे मिलना पसंद न करें, पर एक बार इस ड्योढ़ी पर सिर को झुका ही जाऊँगा।

तारा ने भी मुस्करा कर उत्तर दिया—उसी वक्त तक जब तक कि मनोरंजन की कोई नयी वस्तु नजर न आ जाय ! क्यों ?

'मेरे लिए यह मनोरंजन का विषय नहीं, जिंदगी और मौत का सवाल है। हाँ, तुम इसे विनोद समझ सकती हो, मगर कोई परवा नहीं। तुम्हारे मनोरंजन के लिए यदि मेरे प्राण भी निकल जायें, तो मैं अपना जीवन सफल समझूँगा।'

दोनों तरफ से इस प्रीति को निभाने के वादे हुए, फिर दोनों ने नाश्ता किया और कल भोज का न्योता दे कर कुँवर साहब विदा हुए।

4

एक महीना गुजर गया, कुँवर साहब दिन में कई-कई बार आते। उन्हें एक क्षण का वियोग भी असह्य था। कभी दोनों बजरे पर दरिया की सैर करते, कभी हरी-हरी घास पर पार्कों में बैठे बातें करते, कभी गाना-बजाना होता, नित्य नये प्रोग्राम बनते थे। सारे शहर में मशहूर था कि ताराबाई ने कुँवर साहब को फाँस लिया और दोनों हाथों से सम्पत्ति लूट रही है। पर तारा के लिए कुँवर साहब का प्रेम ही एक ऐसी सम्पत्ति थी, जिसके सामने दुनिया भर की दौलत हेय थी। उन्हें अपने सामने देख कर उसे किसी वस्तु की इच्छा न होती थी।

मगर एक महीने तक इस प्रेम के बाजार में घूमने पर भी तारा को वह वस्तु न मिली, जिसके लिए उसकी आत्मा लोलुप हो रही थी। वह कुँवर साहब से प्रेम की, अपार और अतुल प्रेम की, सच्चे और निष्कपट प्रेम की बातें रोज सुनती थी पर उसमें 'विवाह' शब्द न आने पाता था, मानो प्यासे को बाजार में पानी छोड़ कर और सब कुछ मिलता हो। ऐसे प्यासे को पानी के सिवा और किस चीज से तृप्ति हो सकती है ? प्यास बुझाने के बाद, सम्भव है, और चीजों की तरफ उसकी रुचि हो, पर प्यासे के लिए तो पानी सब से मूल्यवान् पदार्थ है। वह जानती थी कि कुँवर साहब उसके इशारे पर प्राण तक दे देंगे, लेकिन विवाह की बात क्यों उनकी जबान से नहीं निकलती? क्या इस विषय का कोई पत्र लिख कर अपना आशय कह देना सम्भव था? फिर क्या वह उसको केवल विनोद की वस्तु बना कर रखना चाहते हैं ? यह अपमान उससे न सहा जायगा। कुँवर के एक इशारे पर वह आग में कूद सकती थी, पर यह अपमान उसके लिए असह्य था। किसी शौकीन रईस के साथ वह इससे कुछ दिन पहले शायद एक-दो महीने रह जाती और उसे नोच-खसोट कर अपनी राह लेती। किंतु प्रेम का बदला प्रेम है, कुँवर साहब के साथ वह यह निर्लज्ज जीवन न व्यतीत कर सकती थी।

उधर कुँवर साहब के भाई बंद भी गाफिल न थे, वे किसी भाँति उन्हें ताराबाई के पंजे से छुड़ाना चाहते थे। कहीं कुँवर साहब का विवाह ठीक कर देना ही एक ऐसा उपाय था, जिससे सफल होने की आशा थी और यही उन लोगों ने किया। उन्हें यह भय तो न था कि कुँवर साहब इस ऐक्ट्रेस से विवाह करेंगे। हाँ, यह भय अवश्य था कि कहीं रियासत का कोई हिस्सा उसके नाम कर दें, या उसके आने वाले बच्चों को रियासत का मालिक बना दें। कुँवर साहब पर चारों ओर से दबाव पड़ने लगे। यहाँ तक कि योरोपियन अधिकारियों ने भी उन्हें विवाह कर लेने की सलाह दी। उस दिन संध्या समय कुँवर साहब ने ताराबाई के पास जा कर कहा—तारा, देखो, तुमसे एक बात कहता हूँ, इनकार न करना। तारा का हृदय उछलने लगा। बोली—कहिए, क्या बात है ? ऐसी कौन वस्तु है, जिसे आपकी भेंट करके मैं अपने को धन्य समझूँ ?

बात मुँह से निकलने की देर थी। तारा ने स्वीकार कर लिया और हर्षोन्माद की दशा में रोती हुई कुँवर साहब के पैरों पर गिर पड़ी।

5

एक क्षण के बाद तारा ने कहा—मैं तो निराश हो चली थी। आपने बड़ी लम्बी परीक्षा ली।

कुँवर साहब ने जबान दाँतों-तले दबायी, मानों कोई अनुचित बात सुन ली हो!

'यह बात नहीं है तारा ! अगर मुझे विश्वास होता कि तुम मेरी याचना स्वीकार कर लोगी, तो कदाचित् पहले ही दिन मैंने भिक्षा के लिए हाथ फैलाया होता, पर मैं अपने को तुम्हारे योग्य नहीं पाता था। तुम सद्गुणों की खान हो, और मैं...मैं जो कुछ हूँ, वह तुम जानती ही हो। मैंने निश्चय कर लिया था कि उम्र भर तुम्हारी उपासना करूँगा। शायद कभी प्रसन्न हो कर तुम मुझे विना माँगे ही वरदान दे दो, वस, यही मेरी अभिलाषा थी। मुझमें अगर कोई गुण है, तो यही कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। जव तुम साहित्य या संगीत या धर्म पर अपने विचार प्रकट करने लगती हो, तो मैं दंग रह जाता हूँ और अपनी क्षुद्रता पर लज्जित हो जाता हूँ। तुम मेरे लिए सांसारिक नहीं, स्वर्गीय हो। मुझे आश्चर्य यही है कि इस समय मैं मारे खुशी के पागल क्यों नहीं हो जाता।'

कुँवर साहब देर तक अपने दिल की बातें कहते रहे। उनकी वाणी कभी इतनी प्रगल्भ न हुई थी !

तारा सिर झुकाये सुनती थी, पर आनंद की जगह उसके मुख पर एक प्रकार का क्षोभ—लज्जा से मिला हुआ—अंकित हो रहा था। वह पुरुष इतना सरल हृदय, इतना निष्कपट है ? इतना विनीत, इतना उदार !

सहसा कुँवर साहब ने पूछा—तो मेरे भाग्य किस दिन उदय होंगे, तारा ? दया करके बहुत दिनों के लिए न टालना।

तारा ने कुँवर साहब की सरलता से परास्त होकर चिंतित स्वर में कहा—कानून का क्या कीजिएगा ? कुँवर साहब ने तत्परता से उत्तर दिया—इस विषय में तुम निश्चिंत रहो तारा, मैंने वकीलों से पूछ लिया है। एक कानून ऐसा है जिसके अनुसार हम और तुम एक प्रेम-सूत्र में बँध सकते हैं। उसे सिविल-मैरिज कहते हैं। बस, आज ही के दिन वह शुभ मुहूर्त आयेगा, क्यों ?

तारा सिर झुकाये रही। बोल न सकी।

'मैं प्रातःकाल आ जाऊँगा। तैयार रहना।'

तारा सिर झुकाये रही। मुँह से एक शब्द न निकला।

कुँवर साहब चले गये, पर तारा वहीं मूर्ति की भाँति बैठी रही। पुरुषों के हृदय से क्रीड़ा करनेवाली चतुर नारी क्यों इतनी विमूढ़ हो गयी है !

6

विवाह का एक दिन और बाकी है। तारा को चारों ओर से बधाइयाँ मिल रही हैं। थिएटर के सभी स्त्री-पुरुषों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे अच्छे-अच्छे उपहार दिये हैं, कुँवर साहब ने भी आभूषणों से सजा हुआ एक सिंगारदान भेंट किया है, उनके दो-चार अंतरंग मित्रों ने भाँति-भाँति के सौगात भेजे हैं; पर तारा के सुन्दर मुख पर हर्ष की रेखा भी नहीं नजर आती। वह क्षुब्ध और उदास है। उसके मन में चार दिनों से निरंतर यही प्रश्न उठ रहा है—क्या कुँवर के साथ विश्वासघात करे ? जिस प्रेम के देवता ने उसके लिए अपने कुल-मर्यादा को तिलांजलि दे दी, अपने बंधुजनों से नाता तोड़ा, जिसका हृदय हिमकण के समान निष्कलंक है, पर्वत के समान विशाल, उसी से कपट करे ! नहीं, वह इतनी नीचता

नहीं कर सकती, अपने जीवन में उसने कितने ही युवकों से प्रेम का अभिनय किया था, कितने ही प्रेम के मतवालों को वह सब्ज बाग दिखा चुकी थी; पर कभी उसके मन में ऐसी दुविधा न हुई थी, कभी उसके हृदय ने उसका तिरस्कार न किया था। क्या इसका कारण इसके सिवा कुछ और था कि ऐसा अनुराग उसे और कहीं न मिला था।

क्या वह कुँवर साहब का जीवन सुखी बना सकती है ? हाँ, अवश्य। इस विषय में उसे लेशमात्र भी संदेह नहीं था। भक्ति के लिए ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो असाध्य हो; पर क्या वह प्रकृति को धोखा दे सकती है ? ढलते हुए सूर्य में मध्याह्न का-सा प्रकाश हो सकता है ? असम्भव। वह स्फूर्ति, वह चपलता, वह विनोद, वह सरल छवि, वह तल्लीनता, वह त्याग, वह आत्मविश्वास वह कहाँ से लायेगी, जिसके सम्मिश्रण को यौवन कहते हैं ? नहीं, वह कितना ही चाहे, पर कुँवर साहब के जीवन को सुखी नहीं बना सकती। बूढ़ा बैल कभी जवान बछड़ों के साथ नहीं चल सकता।

आह ! उसने यह नौबत ही क्यों आने दी ? उसने क्यों कृत्रिम साधनों से, बनावटी सिंगार से कुँवर साहब को धोखे में डाला ? अब इतना सब कुछ हो जाने पर वह किस मुँह से कहेगी कि मैं रंगी हुई गुड़िया हूँ, जवानी मुझसे कब की बिदा हो चुकी, अब केवल उसका पद-चिह्न रह गया है।

रात के बारह बज गये थे। तारा मेज के सामने इन्हीं चिंताओं में मग्न बैठी हुई थी। मेज पर उपहारों के ढेर लगे हुए थे; पर वह किसी चीज की ओर आँख उठा कर भी न देखती थी। अभी चार दिन पहले वह इन्हीं चीजों पर प्राण देती थी, उसे हमेशा ऐसी चीजों की तलाश रहती थी, जो काल के चिह्नों को मिटा सकें, पर अब उन्हीं चीजों से उसे घृणा हो रही है। प्रेम सत्य है—और सत्य और मिथ्या, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

तारा ने सोचा—क्यों न यहाँ से कहीं भाग जाय ? किसी ऐसी जगह चली जाय, जहाँ कोई उसे जानता भी न हो। कुछ दिनों के बाद जब कुँवर का विवाह हो जाय, तो वह फिर आ कर उनसे मिले और यह सारा वृत्तांत उनसे कह सुनाये। इस समय कुँवर साहब पर वज्रपात-सा होगा—हाय न-जाने उनकी क्या दशा होगी; पर उसके लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है। अब उनके दिन रो-रो कर कटेंगे, लेकिन उसे कितना ही दुःख क्यों न हो, वह अपने प्रियतम के साथ छल नहीं कर सकती। उसके लिए इस स्वर्गीय प्रेम की स्मृति, इसकी वेदना ही बहुत है। इससे अधिक उसका अधिकार नहीं।

दाई ने आकर कहा—बाई जी, चलिए कुछ थोड़ा-सा भोजन कर लीजिए, अब तो बारह बज गये।

तारा ने कहा—नहीं, जरा भी भूख नहीं है। तुम जाकर खा लो।

दाई—देखिए, मुझे भूल न जाइएगा। मैं भी आपके साथ चलूँगी।

तारा—अच्छे-अच्छे कपड़े बनवा रखे हैं न ?

दाई—अरे बाई जी, मुझे अच्छे कपड़े लेकर क्या करना है ? आप अपना कोई उतारा दे दीजिएगा।

दाई चली गयी। तारा ने घड़ी की ओर देखा। सचमुच बारह बज गये थे। केवल छह घंटे और हैं। प्रातःकाल कुँवर साहब उसे विवाह-मंदिर में ले जाने के लिए आ जायँगे। हाय! भगवान् जिस पदार्थ से तुमने इतने दिनों तक उसे वंचित रखा, वह आज क्यों सामने

लाये ? यह भी तुम्हारी क्रीड़ा है।

तारा ने एक सफेद साड़ी पहन ली। सारे आभूषण उतार कर रख दिये। गर्म पानी मौजूद था। साबुन और पानी से मुँह धोया और आईने के सम्मुख जा कर खड़ी हो गयी—कहाँ थी वह छवि, वह ज्योति, जो आँखों को लुभा लेती थी ! रूप वही था, पर कांति कहाँ ? अब भी वह यौवन का स्वाँग भर सकती है ?

तारा को अब वहाँ एक क्षण भी और रहना कठिन हो गया। मेज पर फैले हुए आभूषण और विलास की सामग्रियाँ मानो उसे काटने लगीं। यह कृत्रिम जीवन असह्य हो उठा, खस की टट्टियों और बिजली के पंखों से सजा हुआ शीतल भवन उसे भट्टी के समान तपाने लगा।

उसने सोचा—कहाँ भाग कर जाऊँ। रेल से भागती हूँ, तो भागने न पाऊँगी। सवेरे ही कुँवर साहब के आदमी छूटेंगे और चारों तरफ मेरी तलाश होने लगेगी। वह ऐसे रास्ते से जायगी, जिधर किसी का खयाल भी न जाय।

तारा का हृदय इस समय गर्व से छलका पड़ता था। वह दुःखी न थी, निराश न थी। वह फिर कँवर साहब से मिलेगी, किंतु वह निःस्वार्थ संयोग होगा. प्रेम के बनाये हुए कर्तव्य-माग पर चल रही है, फिर दुःख क्यों हो और निराशा क्यों हो ?

सहसा उसे खयाल आया—ऐसा न हो, कुँवर साहब उसे वहाँ न पा कर शोक-विह्वलता की दशा में अनर्थ कर बैठें। इस कल्पना से उसके रोंगटे खड़े हो गये। एक क्षण के लिए उसका मन कातर हो उठा। फिर वह मेज पर जा बैठी, और यह पत्र लिखने लगी—

प्रियतम, मुझे क्षमा करना। में अपने को तुम्हारी दासी बनने के योग्य नहीं पाती। तुमने मुझे प्रेम का वह स्वरूप दिखा दिया, जिसकी इस जीवन में मै आशा न कर सकती थी। मेरे लिए इतना ही बहुत है। मैं जब तक जीऊँगी, तुम्हारे प्रेम में मग्न रहूँगी। मुझे ऐसा जान पड़ रहा है कि प्रेम की स्मृति में प्रेम के भोग से कहीं अधिक माधुर्य और आनंद है। मैं फिर आऊँगी, फिर तुम्हारे दर्शन करूँगी; लेकिन उसी दशा में जब तुम विवाह कर लोगे। यही मेरे लौटने की शर्त है। मेरे प्राणों के प्राण, मुझसे नाराज न होना। ये आभूषण जो तुमने मेरे लिए भेजे थे, अपनी ओर से नववधू के लिए छोड़े जाती हूँ। केवल वह मोतियों का हार, जो तुम्हारे प्रेम का पहला उपहार है, अपने साथ लिये जाती हूँ। तुमसे हाथ जोड़कर कहती हूँ, मेरी तलाश न करना। मैं तुम्हारी हूँ और सदा तुम्हारी रहूँगी...।

तुम्हारी,

तारा

यह पत्र लिख कर तारा ने मेज पर रख दिया, मोतियों का हार गले में डाला और बाहर निकल आयी। थिएटर हाल से संगीत की ध्वनि आ रही है। एक क्षण के लिए उसके पैर बँध गये। पंद्रह वर्षो का पुराना सम्बन्ध आज टूटा जा रहा था। सहसा उसने मैनेजर को आते देखा उसका कलेजा धक् से हो गया। वह बड़ी तेजी से लपक कर दीवार की आड़ में खड़ी हो गयी। ज्यों ही मैनेजर निकल गया, वह हाते से बाहर आयी और कुछ दूर गलियों में चलने के बाद उसने गंगा का रास्ता पकड़ा।

गंगा-तट पर सन्नाटा छाया हुआ था। दस-पाँच साधु-बैरागी धूनियों के सामने लेटे थे। दस-पाँच यात्री कम्बल जमीन पर बिछाये सो रहे थे। गंगा किसी विशाल सर्प की भाँति

रेंगती चली जाती थीं। एक छोटी-सी नौका किनारे पर लगी हुई थी। मल्लाह नौका में बैठा हुआ था।

तारा ने मल्लाह को पुकारा—ओ माँझी, उस पार नाव ले चलेगा ?

माँझी ने जवाब दिया—इतनी रात गये नाव न जाई।

मगर दूनी मजदूरी की बात सुन कर उसने डॉड़ उठाया और नाव को खोलता हुआ बोला—सरकार, उस पार कहाँ जैहें ?

'उस पार एक गाँव में जाना है।'

'मुदा इतनी रात गये कौनों सवारी-सिकरी न मिली।'

'कोई हर्ज नहीं, तुम मुझे उस पार पहुँचा दो।'

माँझी ने नाव खोल दी। तारा उस पर जा बैठी और नौका मंद गति से चलने लगी, मानो जीव स्वप्न-साम्राज्य में विचर रहा हो।

इसी समय एकादशी का चांद, पृथ्वी से उस पार, अपनी उज्ज्वल नौका खेता हुआ निकला और व्योम-सागर को पार करने लगा।

[हिन्दी कहानी। हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी', अक्टूबर, 1927 में प्रकाशित। 'मानसरोवर' भाग-5 में संकलित।]

●●●